

करके निर्माण की है। इस परिस्थिति में मेरे अन्तेवासी सुमित्र भिक्षु ने यथा सम्भव इस पुस्तकके मुद्र देखकर सहायता की है अतः इसका नाम लिखते समय मुझे प्रसन्नता होती है -

इस पुस्तकमें अज्ञताके कारण यदि कहीं भूल होगई है तथा सूत्रसिद्धान्तसे विरुद्ध कुछसे कुछ लिख गया हूं तो उसका निखालिस हृदयसे "मिथ्या दुष्कृतम्"

वीरस्तुतिके अभ्यासियों! इसे भावशुद्धि पूर्वक पढ़िये, पठन और मननके द्वारा ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके समान बनिये, एवं अपने हृदयसे पुरानी रुढ़ियें एवं पक्षवाद-टोलावाद-सम्प्रदायवाद-गच्छवाद-पार्टीवार्जी और मतभेदका कालापान निकाल डालिये, और समदृष्टि बनकर भारतके दासत्वको दूर कीजिये जगतको भूखेमरनेसे बचाइये, अपने धर्मगुरुओंको राग-द्वेष-ईर्ष्या एवं मत्सरताके कीचड़से निकालिये, समाजमें सचरित्रता और पारस्परिक सहायभूति पैदा करनेका प्राण सधार कीजिये, मेरी अन्तिम भावना यही है।

---

## प्रस्तावना

काव्यं चैतदमूल्यमम्यनुपमं शब्दाद्यैरजाकरं, श्रीवीरस्तुतिनामतोऽति-  
 प्रथितं पुच्छिस्तुणस्याऽपि च । धीमत्सूत्रकृताऽसूत्रकरसाध्यायस्यसारात्मकं,  
 यच्चित्तं प्रपठन्ति श्रावकगणाः साधूत्तमाः सादरम् ॥ कण्ठेनैव मुमुक्षुवक्ष्ये पठनं  
 कुर्वन्ति यस्यानिशं, एवं जैनसमाजकेऽपि निरताः स्वाध्यायमस्य प्रियम् । पाठं  
 चास्य महत्प्रियात्प्रियतरं कुर्वन्ति प्रेमान्विता, जातं संस्करणं यद्विजजननं यस्याऽ-  
 प्यनेकं मुहुः ॥ यत्राऽनन्तदयाकरस्य निखिलं सामर्थ्यसंवर्धनं, तच्चात्पन्नमनुष्य-  
 जस्य नितरां शक्येव वाढ्यं भवेत् । आचार्येण सुधर्मणा विरचितं यद्वै कृते योगिनां,  
 योग्यं प्रोचामिदं विद्यार्थ्यं सुधियां मोदप्रमोदाधिनाम् ॥ कल्पेऽस्मिन्पुनश्चिरस्त्रि  
 मुनिभिर्नोद्गावनीया कच्चिदृष्ट्वाऽध्येतृगणस्यपाठकरणाच्छब्दार्थधर्तौरवात् । धीम-  
 देवगणस्य वाक्यतुलना तादात्म्यदृष्ट्यात्मकात्सत्यासत्यविचारचाश्चनयनारसम्पूर्णतत्वं  
 महत् ॥ सर्वाङ्गस्य रहस्यबोधजनने स्पष्टं भवेद्बोधनं, धीमदभ्रममयस्य धीगण-  
 धराचार्यस्य कथाशयः । प्रत्येकार्थगतं कियत्कतिविधं भिन्नं तथा प्रस्फुटं, सर्वं  
 काव्यगतं समस्तविधयो विज्ञानरूपात्मकम् ॥ आचार्येण सुधर्मणा रसयुते काव्येऽत्र  
 शिष्याय च, स्वान्तःस्थाय च जम्बुदेवमुन्वये यद्दर्शितं प्रेमतः । ज्ञानं शासनना-  
 यकत्तमखिल तीर्थद्वरत्वं तथा, अमृत्यं धेष्टममत्वमेव जगतामुद्धारकत्वं पुनः ॥  
 श्रीयोगीन्द्रशिसामणेर्भगवतो वीरस्य ज्ञान तथा, चारित्रं खलु दर्शनं च बहुधा  
 स्वाध्यायज्ञानं मुहुः । सुस्पष्टं च निदर्शितं प्रविततं केन प्रकारेण च, तद्वत्तद्गुण-  
 साम्यमेवमखिलब्रह्माण्डभाण्डोदरे ॥ स्वाध्यायं प्रतिप्रेमिणा च महतां सम्भावु-  
 कानां पुरः, धीमद्वीरगणदेवनायकवराणां सुन्दरं चोत्तमम् । सच्चित्तं हितकारका-  
 शययुतं तेनैव साकं तथा, अध्यात्म्याख्यरसान्वितागत्तमहाचार्यान्वराणामलम् ॥  
 एवं कोविदकाव्यकौशलयुजां सद्गुण सर्वाशयं, टीकायां सुलभमन्वितं प्रविततं  
 कृत्वाऽत्र सन्दर्शितम् । जैनानां च नृणां तदन्यविदुषां स्थानं प्रदत्तं पुनः,  
 शास्त्राणां निखिलं समन्वयमदोऽभेदेन शश्वःकृतम् ॥ अयं निर्विवादः स्वयं सिद्ध-  
 रूपः, समस्तस्य काव्यस्य मूलं शिखेति । द्वयं सिद्धमध्यात्मतत्वाम्भया च, कुतो  
 आजते गणपत्यापदेन ॥ महा सुप्रभावस्य तेजोमयस्य, सुधर्माख्यदेवस्य चेहकू-  
 वीश्व । नरो जीवने स्वस्य चालोपरिष्ठात्प्रभावस्य संस्थापनार्थं प्रयात्तात् ॥ तथाऽ-  
 ध्यात्मतत्त्वोत्तमं पाठमेवं, सदा सम्प्रयष्टुं तथाऽध्यासकार्थम् । मुदा तस्य तत्त्वार्थ-

मावार्धकस्य, प्रबोधार्धमत्यन्तमावश्यकत्वम् । अतोऽप्यस्य मुख्यार्थं सम्प्रधार्य, बृहत्सुखमेतत्तथाऽध्यात्मपूर्णम् । शुभाऽध्यायजस्य यथा बुद्धिशक्तिः, समस्तं ययार्थानुभावं च ज्ञात्वा ॥ सुसंस्कारसन्धेन वा भाषया च, समृद्धं कृतं तस्य मुख्योऽस्ति हेतुः । तथा मातृभाषानिवद्धं प्रसिद्धं, जनानामनेकार्थतत्त्वप्रदीपम् ॥ तथा ज्ञापनार्थं च भावस्य तस्य, ऋजुर्वा मृदुर्वाऽस्य भाषानुवादः । तदाऽऽवश्यकत्वं च तस्यैव भावं, मृदुत्वं प्रशस्तं स्फुटं भाषते च ॥ गुर्जरे चानुवादोऽस्य कालीय-कच्चानिवासेन क्षेमेन्दुनाऽस्य प्रकाशः । कृतः धावकेणाय तस्यैव तत्त्वं, तथा सुप्रसिद्धोऽनुवादः स्वतन्त्रः ॥ कदाचिज्जेनानां त्रिपुटदलवृन्दे च जनता, प्रसक्तानानेवं यदि सदुपयोगश्च भवति । सदेतद्भावेन विबुधजनसेवामु निरतः, प्रकाशं सर्वत्राऽखिलविशदबोधाय कृतवान् ॥ पवित्रोऽयं पाठो बहुरुचिकरो मेऽस्ति मनसा, करोमि स्वाध्यायं मननपरिपूर्णेन सुखतः । महानन्दस्वादो भवति कर-ण्यकास्य सततं, सुलब्धं सौभाग्यं प्रतिदिनवितृष्णो निरमति ॥ सुमुख्यं चित्तं सुखरससुशान्तिं विलनुते, मुहुर्जिज्ञासा नो बहुविधमलं चास्य विवृतिः । तदा जाता मावाखिलमतिमुपूर्तिर्निगदिता, सदैव ज्ञातव्यं यतिमुनिगणैर्मुक्तिनिलयैः ॥ यदाऽऽ-वश्यकत्वेन यस्याऽस्ति पूर्तिः, प्रजाता च संस्कारतोऽनेकवारम् । समर्थश्च सर्वाङ्गतो लब्धमेतत्तदाऽस्योत्तरं पत्रमेतद्ददातु ॥ अथो पाठकानां जनानां च व्यर्थं, तथा वाचकोपर्यतो मुक्तमेतत् । ममाऽस्य प्रलेखेन वा ज्ञानेन, न वाऽऽवश्यकत्वं न वा कारणत्वम् ॥ यदा पीयते चामृतं स्वादवद्विस्वदा नोच्य-तेऽमर्त्यता मेऽस्ति कीदृक् । सुमिष्टं च तित्तं मदीयं कियद्वा, प्रसिद्धं हि लोके रसस्वादुक्तवम् ॥ मुदा वर्णनं तस्य जिह्वा करोति, स्वयं वर्णनस्यातिसेतुं विधत्ते । मया न्यायमार्गानुरोधेन चैव, स्वकीयायसी ज्ञेयनी स्थाप्यतेऽत्र ॥

भाषार्थ-यह काव्य श्रीमत्सूत्रकृतान्नसूत्रके छठवें अध्यायकी अनुपम और मौलिक वस्तु है, और 'धीरस्तुति' या 'पुच्छिष्ठस्तुणं' के नामसे अतिप्रख्यात है । बहुतसे जैनबन्धुओंको तो यह सुखस्थ होती है, अनेक जिज्ञासु महानुभाव इसका प्राप्तःसाथ व्यवधान रहित नित्य पाठ करते हैं, और जैन समाजमें यह पवित्र पाठ इतना अधिक प्रिय है कि इसके कई संस्करण प्रकाशित-हो चुके हैं ।

प्रभुके अनन्तसामर्थ्यका वर्णन करना तो मानो उन्नत-मानुषी शक्तिके शहर है, और इस विषयके वर्णनकरनेमें श्रीमान् सुधर्माचार्य जैसे महान् ज्योतिर्धर और परम योगीको ही योग्य अभिप्राय समझ गया है ।

अपलक दृष्टिसे स्वाध्यायकरनेपर पाठकोंको इस काव्यमें कई स्थलोंपर कुछ पुनरुक्तिएँ भी प्रतीत होंगी, परन्तु प्रत्येक शब्द और शब्द-स्वामी गणधर-देवके वाक्यका तुलनात्मकदृष्टिसे मनन करनेपर तत्त्वका सम्पूर्ण और सर्वाङ्ग-रहस्य इस प्रकार सरलतासे समझमें आता है कि गणधरभगवान्‌का मुख्य आशय प्रत्येक शब्द और अर्थमें कितना भिन्न और स्पष्ट है ।

इस काव्यमें भगवान्‌ मुधर्माचार्य अपने अन्तेवासी शिष्य जम्बूको यह बताते हैं कि शासननायक-चरमतीर्थङ्कर-जगदुद्धारक-श्रीमहावीरयोगीन्द्रचूडामणिके ज्ञान-दर्शन और चरित्र आदि गुण किस प्रकारके थे, उन गुणोंकी तुलना जगत्-भरकी सर्वोत्तम धारभूत वस्तुओंके साथ करके प्रभुका महत्व बताया गया है ।

स्वाध्यायप्रेमी महानुभावोंके सन्मुख श्रीमद्गणधरोंके परमसुन्दर और हितरूप आशयके साथ मिलते जुलते भाव तथा अन्यान्य अध्यात्मरसिक आचार्य और कविकोविदोंके आशयोंका भी इस विवृतिमें समन्वय किया है और जिसमें जैन तथा जैनेतर ग्रन्थोंको स्थान देते समय किसी प्रकारका भेद नहीं रक्खा है ।

यह निर्विवाद और अपने आप सिद्ध है कि इस काव्यका मूल और शिखा दोनों ही अध्यात्मरसमें परिसिद्धित हैं क्योंकि गणधरपदविराजित महा-प्रभावशाली श्रीमुधर्माचार्य भगवान्‌की तो यह कृति है, और मनुष्यमात्रको अपने जीवनमें अपने आत्माके ऊपर अध्यात्मविषयक प्रभाव डालनेके लिये इस प्रकारके उत्तमोत्तम पाठोंको सदैव बोलते रहनेका अभ्यास रखनेकी तथा उसके तत्वमयभावार्थको समझनेकी भी अत्यन्त आवश्यकता है, अतः इसी मूल आशयको लेकर इस महान् एवं स्तुत्य अध्यायको यथामति यथाशक्ति एवं यथानुभव संस्कृतविवृति तथा भाषानुवादसे समृद्ध किया है । इसका एक मुख्यकारण यह भी है कि हमें भगवान्‌ महावीर प्रभुकी देन है और उसे उनके तत्वको संसारके कोने कोने तक पहुंचाकर ही पूरा किया जा सकता है । और, मातृभाषानें सर्वसाधारण जगत्‌को तत्वबोध और उसका अन्तर्भाव समझानेकेलिये उसके सरलातिसरल भाषान्तरकी भी बड़ी आवश्यकता है । इन्हीं भावोंको लेकर इसका गुर्जर-अनुवाद श्री कलकत्ता निवासी श्रीक्षेमचंद श्रावकसे कराया है, और इन्होंने ही इसका गुर्जरगिराणें स्वतन्त्र अनुवाद किया है । यदि कदात्रिदु यह त्रिपुटी जैनसम्राज तथा प्राणीमात्रके लिए शुद्ध उपयोगी रहे

सके इस भावसे प्रेरित होकर इसका प्रकाशन किया है । मुझे तो इसके प्रति-  
समयके स्वाध्याय और पाठसे भरपूर शक्तिमुधाधाराका अन्यवच्छिन्नरूपसे  
आस्वादन करनेका पूर्ण सौभाग्य मिल रहा है । अतः मुझे पूर्ण आशा है  
कि अन्यान्य सुमुमुक्षुमहानुभावोंको भी इसके निरन्तर पाठ तथा मननात्मक  
स्वाध्यायसे अवश्य शान्तरसकी प्राप्ति होगी । यद्यपि इसकी कई आवृत्तिएँ निक-  
लकर प्रकाशित हो चुकी हैं परन्तु यह संस्करण जिस आवश्यकताकी पूर्तिमें  
सर्वाङ्ग सफल हुआ है इसका उत्तर पाठकगणोंके ऊपर ही छोड़ दिया जाता है,  
कहने सुनने और लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । कारण यह है कि जिस  
समय अमृतका पान किया जाता है उस समय वह जनताको यह नहीं कहता  
है कि मेरा स्वाद कैसा है? उसका वर्णनतो जिह्वा स्वयं करने लगती है तथा  
उसकी प्रशंसाके पुल बांध देती है । अतः इस न्यायको लक्ष्यमें रखकर इस  
लघुलेखनीको विराम देता हूँ ॥

लघुतम—

‘पुष्प भिक्खु.

## सहायक

बीरस्तुतिकी विवृतिके अर्थ जिन जिन पुस्तकों का अवलोकन करके अपने अनु-  
बन्धानुसार जिन जिनके प्रमाण अङ्कित किये हैं उनका नामोठेख इस प्रकार है।

श्यामस्यमृत्ति-आचाराङ्ग-विशेषावश्यकभाष्य-अन्यकुमारचरित-समवापाङ्गसूत्रविवृति-  
सूत्रगर्हागमुत्त-शब्दार्थचिन्तामणि-भ्रमरकोप-कुष्माण्ड-भेदिनी-वनशयनाममाला-वनशय-  
कोश-शब्दस्तोत्रमहानिधि-वर्णनिर्णय-वर्णसारममुद्ध्य-उत्तराध्ययनसूत्र-दशवैकालिकसूत्र-  
मार्कण्डेयपुराण-सुधावितरत्नसन्दोह-कल्पाध्यायिगम-मनुस्मृति-बृहद्ब्रह्मसंह-परमात्म-  
काण्ड-याज्ञवल्क्यरमृति-स्थानाङ्गसूत्र-भक्तिगतीध्यावकाचार-समयसार-भवचनसार-नियम-  
सार-योगशास्त्र-पतञ्जलियोगदर्शन-महाराजनिखपाठ-सागारभर्मासूत्र-पद्मस्यपाशंभाधचरित्र-  
अभिधानपरदीपिका-महाभारत-ज्ञानार्णव-भाष्यव्यक्तचूर्ण-त्रैलोक्यकाण्डकाठधानार्क-परिशिष्ट-  
पर्व-वात्स्यायनसूत्र-बुद्धचर्या-मज्झिमनिकाय-पुष्पार्थसिन्धुनाय-रत्नकरण्डध्यावकाचार-भव-  
लसिद्धान्त-मूलाचार-आवश्यकभाष्य-पञ्चापनासूत्र-भवचनसारोद्धार-भगवती-आराधना-  
सार-स्योत्रसमुच्चय-स्तोत्ररत्नाकर-काव्यमाला।

इन सब पुस्तकोंके सुलेखक एवं अनुवादकोंका एक साथीदारोंके नातेसे इनके  
साथको मैं कभी नहीं भूल सकता। तदुपरान्त प्रत्यक्ष या परोक्षमें जिन जिन महानुभा-  
वोंने प्रोत्साहन प्रेरित किया है उन मन्का जठेख करना भला मैं क्योंकर विस्मृत करसकूँ ?

विवृतिकारः

## निदर्शन

उपासकके अन्तरमें भक्तिभावका ओष उल्लाने लगता है तब स्तोत्र या स्तुतिका साहित्य-सर्जन होता है, इस प्रकारकी भारतीमें कई बार अमूल्य रत्न चहकर निकल आते हैं। विवेक इन रत्नोंका मूल्य आंकने एवं समझनकेलिये लम्बे चौड़े भाष्य और टीकाएँ बनाते हैं। जैन साहित्यमें तीर्थंकर-भगवान्की स्तुतिओंका साहित्य पुष्कल प्रमाणमें पाया जाता है। यहाँ तक तो है, कि अन्य कोई दर्शन उसकी बराबरी नहीं करसकता, यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। समर्थ नैयायिक और वैयाकरणी भी काव्यसाहित्यमें जो कुछ अपनी प्रतिभा उडेलनेको उद्यत हुये हैं तो वह भी स्तुतिसाहित्यका ही प्रताप है। आमका वृक्ष फलोंसे लदा हो, मज्जरी महकती हो और वसन्तका वायु चलता हो तो कोयल परवश होकर भला पंचमस्वर निकाले विना क्योंकर रह सकेगी? इसी प्रकार न्याय-दर्शन-व्याकरण या अन्यान्य कठिनसे कठिन शास्त्रोंमें पारंगत समझे जानेवाले पुरुषोंके अन्तरमें किसी समर्थपुरुषके प्रति भक्तिभाव जागृति हो तो वे स्तुतिके साहित्यकी उपेक्षा कभी न कर सकेंगे। चन्द्रदर्शनसे उभरकर बढनेवाले महासागरकी भांति अन्तर भी भक्तिसे संशुद्ध बन जाता है। परन्तु परमपुरुषकी स्तुतिओंमें केवल काव्य अथवा साहित्यका ही अंश हो यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। स्तुतिका रचयिता उस समय जब कि कृत्तिका आसन स्वीकार करता है परन्तु अपनी विशिष्टताको नहीं छोंडता। इसीलिये कि स्तुतिओंके साहित्यमें तत्वज्ञान अध्यात्म झलक और बुद्धिचातुर्यके अत्यद्भुत अंश उसे उस समय भी प्राप्त होते हैं।

समग्र आगम-सग्रहके उपोद्घातके समान गिने जानेवाले नन्दीसूत्रमें श्रीदेव धावक क्षमाप्रमणने मन्त्रलाचरणके रूपमें जो गाथायें प्रयन की हैं उसमें मूलमें तो श्रमण भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुतिका ही प्राधान्य है परन्तु उसमें इतना अधिक गम्भीर अर्थ है कि आचार्यमलयागिरि रचित संस्कृत टीकारूप तालिकाको समझे विना उस स्तुतिके गंभीर अर्थकी कल्पना शायद ही किसीकी समझमें आयेगी।

श्रीमलयगिरिने स्तुतिके ओकोंकी व्याख्या करते समय आसवाद-स्याद्वाद-आत्मवाद-प्रमाणवाद जैसे तत्वज्ञान सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तोंको स्पष्ट कर दिखाया है।

इसी प्रकार महाकवि धनपालने भी महावीर स्तुति संस्कृतमें रची है। परन्तु उसमें विरोधाभासके अलंकारोंका ऐसा संग्रह किया है कि कोई भी रसिक आत्मा उसके रसास्वादनसे पुलकित हुये बिना न रहसकेगा।

आद्यय यह है कि खोत्रके या स्वप्नके साहित्यमें कवित्वके उपरान्त अलंकार और तत्त्वज्ञानके असंख्य विषयोंके समाविष्ट करनेका एक कालमें रिवाज था। और जो श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रके छठवें अध्यायमें समाई हुई वीरस्तुतिके विचारपूर्वक पढ़ेगा, अवधारण करेगा उसे उसमेंसे उपासनाके रस-आनन्दके उपरान्त प्रभु महावीरके यथार्थस्वरूपका भी विचार सहजमें आ सकेगा।

प्रकृतिके इन प्रवाहरूप सिद्धान्तारात्मक नियमानुसार मुनिधीने भी यथासम्भव शुद्धतापूर्वक संस्कृतवाणीमें टीका रचकर इस स्तुतिके मूलके साथ प्रकृत किया है, और जैनसाहित्यकी, जैनउपासकोंकी अत्यधिक सेवा की है।

जनोंका अधिकांश भाग वीरस्तुतिको प्रेमसे कण्ठस्थ करता है तथा आनन्दके साथ भावुकता पूर्वक पढ़नेका गौरव प्राप्त करता है। अन्यान्य खोत्र-स्वप्न और स्तुतिओंकी अपेक्षा इसमें एक प्रकारकी विशेषता है जिसके कारण यह स्तुति कण्ठस्थ रहकर इतनी स्वीकृति और आदरको प्राप्त है। यह इसमें एक विशेषता है, परन्तु वह विशेषता क्या है?

महावीरस्वामीके एक समर्थ गणधर श्रीगुधर्मस्वामी स्वयं अपने अन्तेवाणी जम्बूके सन्मुख भक्तिपूर्वक गद्गद होकर वीरप्रभुका प्रताप, प्रभाव और माहात्म्य वर्णन करते हैं। श्रीगुधर्मस्वामीने अपने जीवनकी धन्य पण्डियोंमें जो कुछ देखा सुना एवं अनुभव किया है उसीका वर्णन अपने शिष्यके सामने किया है। स्तुतिको पढ़ते या सुनते समय हमें भी यही प्रतीत होता है कि गुधर्मस्वामी महावीर परमात्माकी महिनाका वर्णन करते समय गुप्त दृष्टिसे मानो यही कह रहे हैं कि "अभी बहुत कुछ रोय दे, अभी और बहुतसा अनिवेचनीय है" वे प्रभुके स्वरूपका कुछ भान करानेकेलिये जगत्की उत्तमोत्तम धामनीओंके साथ उनकी तुलना करते हैं। मेघ पर्वत, नन्दनवन, चंद्रमा, स्वप्नभूषण समुद्र इनमेंसे सभी कुछ, मानी किसी भी सुन्दर वस्तुको वे नहीं मूढे हैं। तथापि अन्तमें नेत्रि-नेत्रि कहकर मानो विराम पा रहे हैं। प्रभुके गुण अपार होनेसे उनका अन्त ही न भावणा ऐसी सूचना करनेका आभास भी इसमेंसे मिल रहा है।



जिस वीरपरमात्माका शब्दविषय इतना भव्य है तब उनके साक्षात् परिचयमें आनेवाले श्रीसुधर्मास्वामीके अन्तरमें इस स्तुतिकाव्यकी स्फुरण हुई होगी तब उन्होंने कैसी रमणीय अन्यमनस्कताका अनुभव किया होगा। तीन-लोककी उत्तमोत्तम रससामग्री भी भगवान्के सत्य स्वरूपके सम्मुख उनको तुच्छ लगती होगी। इतनेपर भी भगवान्की पहिचान करानेके लिये वे प्रयत्न करते हैं और एक अमर स्तुतिकाव्य रचकर जगत्को सौंप देते हैं।

महावीरके भक्तोंके मनको महावीर भगवान्के यथार्थ स्वरूपकी सुन्दर और गहरी झांकी हो, उसकी अपेक्षा मूल्यवान् उपादेय वस्तु और क्या हो सकती है। जैनसंघ इस स्तुतिके पठन पाठन और चिन्तनके प्रतापसे उनके सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेके लिये भाग्यशाली हो! इतनी ही प्रार्थना करना बस है।

**ज्ञातसेवक**

## ॥ अभिप्रायाः ॥

ज्ञातृपुत्रमहावीरः, सर्वज्ञस्तु जगद्गुरुः ।  
 तस्य स्तुतेर्मनोरम्या, सा टीका कस्य न प्रिया ॥  
 निखिलागमविज्ञेन, सिन्धवङ्गविहारिणा ।  
 निर्भिता पुष्पचन्द्रेण, सा टीका कस्य न प्रिया ॥  
 गीर्वाणी हैन्दवीभाषा, गुर्जरीया तथैव च ।  
 त्रिभाषासङ्गमो यत्र, सा टीका कस्य न प्रिया ॥  
 भवबन्धापहर्त्री च, सूत्रबोधस्य दीपिका ।  
 शरण्या सर्वजीवानां, सा टीका कस्य न प्रिया ॥  
 वाच्यवाचकभावस्तु, स्फुटो यत्र विधीयते ।  
 लालित्यादिगुणैराद्या, सा टीका कस्य न प्रिया ॥  
 विबुधेन्द्रमुनीन्द्राणां, चरतां शास्त्रयत्नसु ।  
 कंठाभूषणकं भाति, सा टीका कस्य न प्रिया ॥  
 विद्यार्पाठे तु संस्वाप्य, टीकां पाठ्यविधायकाः ।  
 धर्मोन्नतिश्च कर्तव्या, हि पुष्करमुनेर्मतम् ॥

व्याकरण—काव्य—न्यायतीर्थः

पुष्करो मुनिः—

संसारार्णवसेतुतानुपगता सिद्धान्तचिन्तापरा,  
 कल्याणायनदर्शिकाऽस्त्यपिरतं सत्प्राणिनां सर्वतः ।  
 हिन्दी-संस्कृत-गुर्जरी प्रभृतिभिर्भाषाभिराभूषिता,  
 श्रीपुष्पेन्दुमुनीरिता विजयते वीरस्तुतेर्विश्रुतिः ॥ १ ॥

भा० १-१-१९  
 विद्यामन्दिर  
 कानपुर

पाण्डेय देवेन्द्रनाथ शर्मा

## मुनि सिरि उवज्झाय आयारामस्स सम्मइ

मए वीरत्थुइ नामा लहुवी पोत्थियं अवलोइया, सा धुइ पोत्थिया भत्ति भावेण अलंक्रिया, पोत्थिया भत्तिभावेण विज्जस्सा, अम्भुअरस्सस्स प्पयाण कत्ता-जहावि कइ वाहं विसएमु मयमेयोऽत्थि किन्तु कत्तुणा भत्तिभावं अणुवमं दंसिता । मम नणो अइव प्पसन्नभूओ, कत्तुणो पुणो पुणो धम्मवायं देमि । जेण अइपरीसमेण भत्तिवसेण अइव संग्गह कट्टु, जणयाए भत्तिमगं पदंसिया । सत्थेवि उत्तं, अरिहंताइणां भत्तिभावेणं जीवो तित्थयर नामगोयं कम्मं निवंधइ । इयं रयणा म्भंइराऽत्थि, भव्वजणणं अवस्समेव भणणिज्जो, कत्तुणा जहाअणे अइवउवओगी उद्धरणणं पसेसणिज्जो संग्गह कट्टं, तहा उत्तरज्जयणस्स तव-मगोऽवि उत्तं, 'गुरुभत्तिभावमुस्सुसा, विणओ एस वियाहिओ' एवं वीरभत्ति वा वीरत्थुइ वि विणयरूओऽत्थि, तहा उत्तराज्जयणस्स एगूणतीसाए अज्जयणं थूइस्स एवं फलं वणिअ जहा—“धय धुइमंगलेणं भंते जीवे किं जणयइ १ थ० नाणदंसणचरित्तबोहित्थभं जणयइ । नाणदंसणचरित्तबोहित्थभसंपत्ते य णं जीवे अन्तकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहूणं आराहेइ ॥ १४ ॥ अओ वीरत्थुइ अवस्स भणणिज्जो ।

१९९६ सावणसुद्धा एगादसी, सुकवारे,  
दुहियाणा णयरे, उवज्झाय जइणमुनि

आयारामो

देहली शहर महावीर जैनभवन  
ता० २७ अगस्त १९३९ ई०

शान्तस्वभावी, वीरगममूर्ति, विद्वान् श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यथी स्व-चन्द्रजी म० साहबकी सम्मतिः—

“वीरस्तुतिः” नामक पुस्तक भाई पंचमलालजी द्वारा पठनार्थ मिली, पुस्तक सरसरी नजरसे देखी, अहिंसाके अवतार भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुति मूल गाथाओंके साथ हिन्दीभाषामें अच्छे ढंगसे लिखी है । वर्तमान समयमें ऐसे २ शुद्ध हिन्दीभाषायुक्त धार्मिक साहित्यकी विशेष आवश्यकता है ।

जैनधर्मोपदेश विद्वान् मुनिश्री फूलचन्द्रजी ने वीरस्तुति लिखनेका सुख कार्य किया है । आशा है स्वाध्यायप्रेमी महानुभाव इस वीरस्तुति पुस्तकके स्वाध्यायसे आत्मकल्याणका लाभ अवश्य उठायेंगे । अस्तु ।

इत्याक्षर-भार्य जैन सुखमुनि  
दिलीयं श्रावण शु० १२, रविवार, सं० १९९६

पुस्तक दर्शनीय है, मूलगत भावोंको काफी सरलताके साथ समझानेकी चेष्टा की गई है। यद्यपि प्रसंग अन्य ग्रन्थोंके उद्धरण सोनेमें मुगन्धिक्रम काम करते हैं यह अतिशयोक्ति न होगी। यदि मैं कहूँ कि वीरस्तुतिका इतना लोक-प्रिय संस्करण अभी तक कहींसे भी प्रकाशित नहीं हुआ।..... कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहाँ लेखक स्वतंत्र होकर चल पड़ा है, अस्तु तत्तद् स्थलोंपर लेखकसे हमारा 'मत' भेद है। परन्तु वे सब बातें "एको हि दोषो गुणसंनिपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाद्भः" की सजुक्तिके अनुसार अन्य धेष्टताओंमें छुप जाती हैं। स्थानकवासी (जैन) समाजकी ओरसे ऐसी सुन्दर कृति उपस्थित करने के उपलक्ष्यमें श्रीयुत पुष्पभिक्षु वास्तवमें बधाईके पात्र हैं।

जैनाचार्य-पूज्यश्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज

ता० २५ अगस्त, सन् १९३९

पुस्तक काफ़ी सुन्दर लिखी गई है, बहुतसे स्थलोंपर तो व्याख्या काफ़ी प्रभावोत्पादक ही गई है। संस्कृत हिन्दी और गुजराती तीनों भाषाओंमें व्याख्या को ढालकर लेखकने क्या विद्वान् क्या सर्वसाधारण सभीके लिये अध्ययनका मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

श्रीयुत पुष्पभिक्षुने अन्य भी उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु प्रभु महा-धीरके चरणोंमें उनकी यह अज्ञाप्रति तो अतीव उत्कृष्ट धेणीपर पहुंच गई है। मैं आज कहूँगा कि समाज उक्त कृतिको अधिकसे अधिक अपनायेगा और प्रभु वीरके गुणगान द्वारा लेखकके धर्मकी सफल कृता हुआ अपने जीवनको भी सफल बनायेगा ॥

व्याख्यान वाचस्पति पंडितश्री मदनलालजी म०,

ता० २५ अगस्त, सन् १९३९

ग्रन्थ परमोपयोगी है, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि मुनिजीने हर एक विषयको बड़ी गम्भीरता और साथ ही सरलतासे सुसजित किया है। आशा है कि ईश्वर संस्त्रवन प्रेमी संसार इस ग्रन्थसे महान् लाभ उठावेगा। मुनिजीका परिश्रम और विज्ञानबोध इस ग्रन्थके अवलोकन करनेसे अतिप्रसंगीय प्रतीत होता है।

सम्नति प्रदाता—

"मुनि बालभिक्षु प्रेमेन्दुः"

वीरस्तुति नामकी पुस्तक देखी, लेखक मुनिश्रीने अत्यन्त परिधमसे तैयार कर जन समाजपर उपकार किया है। तीर्थकरोंकी स्तुति करना आत्माको पवित्र बनाना है। तीर्थकरोंकी स्तुतिकरते हुवे उचकॉटिकीभावना आजाय तो तीर्थकर जैसी आत्मा बनजाती हैं। अतः जन समाजको सम्मति देता हूँ कि वीर-प्रभुकी स्तुति हमेशा पढा करें। जैनाचार्य पूज्यधी-ख्वचन्द्रजी महाराजका सम्प्रदायानुयायी—आर्य जैन मुनि हीरालाल २६-८-३९, अंवाला शहर

...साहित्याकाशप्रमणभानु पुष्पभिक्षु रचित संस्कृत और हिन्दी भाषामें वीरस्तुतिकी दर्शन किया। आपने इस उन्नतिके युगमें इस प्रकार लेखनी उठाकर जैन संसार पर ही क्या बल्के भव्यसाक्षरसृष्टिका कल्याण कार्य किया है। यह रचना रोचक और हृदयद्रम है, मानवके आन्तरिक विचार इसका स्वाध्याय करते करते भक्तिसागरमें लहरायमान होने लगते हैं।

वीरस्तुतिके विषयमें मेरा इतना ही कहना बस है कि इसका सम्पादन विज्ञानके युगमें वैज्ञानिक ढंगसे किया गया है, अतः स्थानकवाची जैनसमाजके लिये यह बड़े गौरवकी वस्तु है। जैन समाजके मुनि धार्मिक ग्रन्थ शास्त्र अथवा अन्यान्य ग्रन्थोंपर टीका रचना कुछ भूलसे गये थे। लोकाशाहके अनन्तर स्वतन्त्र साहित्य विकासका उत्सर्जन रुकसा गया था परन्तु पुष्प भिक्षुने वीरस्तुतिके प्रभावसे उस कमीकी पूर्ति कर दी। हे पुष्पभिक्षु ! साधुवाद !

शासन प्रेमी—धनचन्द्र भिक्षु ता० २८-८-३९, इंदौर (मध्यभारत)

अग्नि, असीमशेमुषिमुषितदोषाः ! अजितविद्याकोपाः ! धियाधीताध्याताशेष-जैनमुनिप्रवराः ! विदितमस्तु अत्र भवतां श्रीमतां, यन्मुनि पुत्रवेन धीफूलचन्द्रेण रचितं ममा क्रन्दनकं काव्यं मया सम्यक्समवलोकितं, यन्निधितं स्वस्थान्ते यदेतत्काव्यं शिक्षयति जैनमुनीन् यदीदृशेन गुरुणा भाव्यं तथेदक्षेण च शिष्येण। ये हि मुनयः पूर्वमपरीक्ष्यैव शिष्यान्दीक्षयन्ति तेऽचिरादेव विकृतिं प्रयान्ति। तान् एषा मुनीन्द्ररचिता कृतिः सम्यगवबोधयति, ये च जिनधर्माचारप्रचरणे परित्यक्तनिजप्रयोजनाः सन्ति, तथा परस्परेर्ष्यामोहनिद्रया निद्रिता वर्तन्ते तेषु मातेषु जाग्रतभावमुत्पादयतीति, नाद्यावधि केनापि जैनमुनिना स्वसंप्रदायपोषकमीदृक्षं संस्कृतकाव्यं विरचितं दृष्टिपथमवतरति। एतद्धि न्यूनतापूरकमिति मे मतिः। अहो एतत्काव्यमुपारक्तं स्वार्दं सन्नुष्यमाणो मेऽन्तरात्मा नान्तर्माति, नूनं हि एतस्य कवित्वतत्त्वमनुकरोति कालीदासादीनां कविपुत्रानां कविताम्। अस्मिन्सम्यगवबोधिता जैनसम्प्रदायानुसारं गुरुशिष्यव्यवस्था, तस्यामपि कवित्वसंग्रहेन हेत्रि सौरभसन्दोह उत्पादितः। नूनमेषा कृतिर्जैनसम्प्रदायानुयायिभिर्मुनिभिः समादरणीया तेषु बहूपकरिष्यतीति मनुचे—

पण्डित—हंसराजशास्त्री, व्याकरणरत्नः, साहित्याचार्यश्च,  
प्रधानाध्यापकः, संस्कृतविद्यालय मलेरकोट्यग्रज्ये (पावालः)

## प्राक्थन

धोमस्तूत्रकृतास्तूत्रके पंचम अध्यायमें 'नरकविभक्ति' का अधिकार प्रदिपादन किया गया है और वह ज्ञातपुत्र महावीर भगवान्ने स्वयं कहा है । इसके अनन्तर उनका ही चरित्र इस शुण्धीर्तनविभूतिरूप छठवें अध्यायमें वर्णन किया है ।

शास्त्रोपदेशकके महत्त्वसे शास्त्रग्र महत्त्व है इस सम्बन्धसे इस अध्यायके उपक्रमदि चार अनुयोग होते हैं । उसमें भी उपक्रमके अन्तर्गत जो अर्थाधिकार है वह महावीर प्रभुके गुणसमूहका उत्पीर्तनरूप है । अनुयोगका दूसरा भेद निक्षेप है, जिसके दो प्रकार हैं । ओपनिषद् और नामनिषद् । ओपनिषद् निक्षेपके रूपमें यह अध्याय और नामनिषद्के रूपमें महावीर स्तुति । उसमें 'महत्' 'वीर' और 'स्तव' के निक्षेप उल्लेखनीय हैं ।

'जैसा उद्देश वैसा निर्देश' इस न्यायके अनुसार प्रथम 'महत्' छन्दका निर्णय किया जाता है । यह 'महत्' छन्द बहुरूप है । जैसे कि 'महाजन' बड़ा आदमी है । 'महाघोष' अतिरूप है । महामय-प्राधान्य रूप है । महापुरुष सबमें बड़ा पुरुष है । ये चार अर्थ 'महत्' छन्दके प्राधान्य अर्थमें प्राप्त हैं । यथा—

पाहमे महासहो, दृष्ये खेसे य फाले भाषेय ।

वीररस उ णिफखेयो, चउकओ होर णायव्यो ॥

महावीर छन्दमें 'महत्' छन्द प्राधान्य अर्थ में है, और वह नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव इन भेदोंसे छ प्रकारका है । इस प्राधान्यमें नाम और स्थापनाके भेद तो युगम ही हैं । द्रव्य प्राधान्य में शरीर-भव्य शरीर और अ भव्य व्यतिरिक्त ये तीन भेद हैं । अ भव्य व्यतिरिक्तके सचित्त-अचित्त और मिथ ये तीन प्रकार हैं । उनमें सचित्त भी द्विपद-चतुष्पद और अपदके भेदसे तीन तरहका है । तथा द्विपदमें तीर्थहर-चक्रवर्ती आदि, चतुष्पादमें हाथी घोडा आदि और अपदमें कल्पवृक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप-रस-गंध और स्पर्शमें उत्कृष्ट पुण्डरीक कमल आदि पदार्थोंका प्राधान्य है ।

अचित्तमें वैदूर्य आदि विविध प्रभावतुक्त मणिरत्नोंका प्राधान्य है । मिथमें विभूषित तीर्थहर आदि ।

## विषयानुक्रमणिका ।



विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रथम गाथा—मंगलाचरण	१	ब्राह्मणके १० प्रकार, देव,	
संस्कृतटीका ... ..	२-१६	द्विज, मुनि, गृप । ...	२३
दानधर्मकी विशेषता, झीलमें		वैश्य, शूद्र, विलव, म्लेच्छ,	
दानधर्मका समावेश, तपमें		चांडाल, खर, भयोग्य	
दानधर्मका अन्तर्भाव ।	१७	ब्राह्मण, ब्राह्मण परम्परा ।	२४
भावधर्म दान ही है, क्या साधु		अब्राह्मण, ब्राह्मणोचित यज्ञ,	
भी दान देता है? धर्म-		ब्राह्मणोचित तीर्थज्ञान,	
रत्न, कर्मनाश करनेकी		गुजराती अनुवाद ।	२५
कसौटी । ... ..	१८	द्वितीय गाथा—टीका ...	३३
वीरप्रभुकी स्तुति, उनकी		भाषा टीका ... ..	३६
अनेक स्तुतिएँ और मेरा		ज्ञान ... ..	३७
असामर्थ्य । ... ..	१९	दर्शन ... ..	३८
वीरप्रभुका युगमान करते		चरित्र, ज्ञातपुत्र ... ..	३९
समय गुरुशिष्यकी बातें,		गुजराती अनुवाद ... ..	४०
आचार्य और उसकी पह-		तृतीय गाथा— ... ..	४२
चान । ... ..	२०	सं० टीका, ... ..	४३
आचार्यके ३६ गुण, आचा-		भाषा टीका, ... ..	४५
र्यको चतुर म्वालेकी उपमा,		३४ अतिशय, ... ..	४६
उन्हें नमस्कार करनेका		३५ वाणी गुण, ... ..	४७
प्रयोजन, आचार्यकी विशे-		खेदज्ञ-क्षेत्रज्ञ-कुशल-आशुप्रज्ञ-	
पता । ... ..	२१	महर्षि, ... ..	४८
जम्बू अन्तेवासीका मुधर्मा-		धर्म, गुजराती अनुवाद, ...	४९
चार्यसे प्रथम, ब्राह्मण,		चतुर्थ गाथा—सं० टीका—	५३
ब्राह्मणलक्षण । ... ..	२२		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
धीसुधर्माचार्य वीरप्रभुके		चारहवीं गाथा- ... ..	८१
गुणोंको प्रकट करते हैं,		तेरहवीं गाथा- ... ..	८४
उपयोगमय, अगुन, कर्ता,		चौदहवीं गाथा- ... ..	८९
सदेह परिमाण, ...	५१	उपमेयका वर्णन, ... ..	८७
भोक्ष, संसारस्थ, सिद्ध, ...	५५	पन्द्रहवीं गाथा- ... ..	८८
ऊर्ध्वगामी, प्रस, ...	५८	निपथ पर्वत और हचकपर्वतकी	
स्थावर, द्रव्यप्राण, गुजराती		उपमा ... ..	८९
अनुवाद, ... ..	५९	सोलहवीं गाथा- ... ..	८९
पृथ्वीकाय, अपकाय, ...	६२	छेदयाओंका वर्णन, ... ..	९०
तेजस्काय, वायुकाय, वन-		कृष्णछेदया-नीलछेदया-कापीती-	
स्पतिकाय, ... ..	६३	छेदया, ... ..	९३
पञ्चम गाथा- ... ..	६४	त्रैजोछेदया, पद्मछेदया-शुक्र-	
सं० टीका, ... ..	६५	छेदया, उनपर उदाहरण,	९४
भाषाटीका, ... ..	६६	सतरहवीं गाथा- ... ..	९८
गुजराती अनुवाद, ... ..	६७	सिद्धिवर्णन ... ..	१००
छठवीं गाथा- ... ..	६७	अठारहवीं गाथा- ... ..	१०१
सं० टीका, ... ..	६८	शात्मली वृक्ष और नन्दन-	
भाषाटीका, ... ..	६९	वनकी उपमाका वर्णन,	१०२
सातवीं गाथा-... ..	७०	उन्नीसवीं गाथा- ... ..	१०३
आठवीं गाथा-... ..	७३	भेषगर्जना-चन्द्र और चन्द्र-	
नववीं गाथा- ... ..	७५	नदी उपमाका वर्णन, ... ..	१०४
नेरकी उपमा, ... ..	७६	बीसवीं गाथा-... ..	१०४
दशवीं गाथा- ... ..	७७	महावीर प्रभुमें स्वयंभूरमण	
मेरु पर्वतका वर्णन, ... ..	७८	समुद्र, धरणिंद्र, इक्षुरसधे	
ग्यारहवीं गाथा- ... ..	७९	भी अधिक महत्ता, ... ..	१०५
शुभेरु पर्वत तीनों स्त्रोत्रोंमें		इकीसवीं गाथा- ... ..	१०६
म्यात दे, ... ..	८०		



विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ऐरावत हाथी, सिंह, गंगा और वेणुदेवकी उपमा- सेभी बढकर उपमेयकी विशेषता, ... ..	१०७	गृहस्थके लिये त्याज्य असत्य क्या है? ... ..	१४०
चाईसवीं गाथा- ... ..	१०८	असत्यका युग परिणाम, ...	१४१
कृष्ण-कमल-चक्रवर्तीकी उप- माका वर्णन, ... ..	११०	मौनसे कल्याण, ... ..	१४३
तेईसवीं गाथा-... ..	११०	तपोमें ब्रह्मचर्यकी उत्तमता, कुशीलताके दोष, ... ..	१४४
दानका लक्षण, ... ..	१३१	कदाचारका परिणाम, वात्स्या- यनका मत, मैथुन सेवनसे	१४७
दानके प्रकार, अभयदान सबसे बडा दान है, ... ..	१३१	कामज्वर नहीं घटता,	१४७
याज्ञवल्क्यका मत, यजुर्वेद, मनुका मत, दशधर्म, ... ..	१३३	ब्रह्मचर्यसे ही पूजा, ब्रह्म- चर्यका फल, महावीरप्रभु- के नाम, शातपुत्र शब्दकी उत्पत्ति, ... ..	१४८
नियमसारकामत, समन्तभद्रा- चार्यकामत, लोकोंका मन्तव्य, ... ..	१३४	चौबीसवीं गाथा-लवस- त्तमदेव, सुधर्मसभा, सर्व- धर्मकी उपमाका वर्णन,	१८२
राज्यसे भी अधिक प्राण प्रिय हैं-पीडा-मतलबकी हिंसा भी हानिकर, ... ..	१३५	पच्चीसवीं गाथा- ... ..	१८४
अहिंसाका माहात्म्य, अहिं- साका फल, लोकमत, परिणाम, ... ..	१३६	छब्बीसवीं गाथा- ... ..	१८६
अभयदानपर उदाहरण, ... ..	१३७	कपाय वर्णन, कपायसे हानि, इनके हटानेके साधन, कपाय त्यागका फल, वीत- रागताद्वारा अलग २ कपा- यके जीतनेका फल, ... ..	१९२
सबसे बडी शल्य भाषा, मनुका अभिप्राय, अस- त्यका सुलभा, ... ..	१३८	कपायकी आगको बुझाओ, सताइसवीं गाथा- मर्तोका वर्णन, ... ..	१९३ १९६ १९६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अट्टाहसर्ची गाथा- ...	१९८	बटवाणवाडे धीजीवराज	.
स्त्रीसंसर्गके दोष: ...	२०९	सुखलाल कृत, महावीर	
रात्रिभोजनके दोष, ...	२१०	मुद्दने गुजरगती काम्बाजु-	
पुरुषोंके प्रकार, ...	२११	वाद. ... ..	२६१
रात्रिभोजन त्याग, ...	२१२	प्राकृतस्रोत्र विभाग, ...	२६६
सुदोंके आठ उपदेशोंमें रात्रि		संस्कृत स्रोत्रविभाग, ...	२७२
भोजन वर्जित, ...	२१३	हिन्दी कविता विभाग ...	२८३
रात्रिभोजनके प्रत्यक्ष दोष, ...	२१४	शान्तरस पूर्ण शान्तिप्रसाध,	२९०
आयुर्वेदमें रात्रिभोजन त्याज्य है,	२१५	वीरस्तु भगवान् स्वयम्, ...	३१०
रात्रिभोजन त्यागनेवालोंके गुण,	२१७	वीरयोगतरङ्गा, ... ..	३४३
उनतीसवीं गाथा- ...	२२७	आलोचना पुष्पाञ्जलि: ...	३६७
प्रशस्ति: ... ..	२३७	भगवान् महावीरकी वैराग्य	
परिशिष्ट भाग-देवचंद्रजी		भावना, ... ..	३७०
कृत महावीर भगवान्की		महत्त्वचरणम्, ... ..	३७७
स्तुति, ... ..	२४२	मनाकन्दनधाम्यम् ...	३८१
आनन्दघनकृत वीरस्तुति,	२५०	मनाकन्दनधाम्यस्तोत्रार्द्रम्	३९९
कुंभट विनयचंद्रकृत वीरस्तुति,	२५८	ज्ञातगुप्त महावीरके सिद्धान्त	४११
		शुद्धिपत्रम् ... ..	४१३

नमोत्थुणं समणस्स भगवओ णायपुत्त महावीरस्स

## वीरस्तुतिः ।



हिन्दी-गुर्जरभाषान्तरसमुल्लसितया  
संस्कृतटीकया सनाथीकृता

मूल—

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य,  
आगारिणो या परतित्थिआ य ।  
से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु,  
अणेलिसं साहुसमिक्खयाण् ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

अप्राक्षु थमणा ब्राह्मणाश्च, अगारिणश्च परतीर्थिकाश्च ।  
सं क इत्येकान्तहित् धर्ममाहु, अनीदृश साधुसमीक्षया ॥ १ ॥  
अथ ज्ञानपुत्रमहावीरजनसधीया-संस्कृतटीकाकर्तुर्भगवाचरणम् ।

ध्यायं ध्यायमशेषशक्रप्रमुखाऽमर्त्याऽर्चिताद्विद्वयं,  
मोक्षश्रीपरिणीतिसम्भवमहानन्दोल्लसन्मानसम् ।  
श्रीवीरप्रभुमीश्वरं तदनु च ज्ञानप्रदं श्रीगुरुं,  
तामं नाममशेषभव्यमुहितं श्रीफूलचन्द्रो मुनिः ॥ १ ॥

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गमध्यविलसत्सुश्लोकवीरस्तुते-  
 भव्यानां भवबन्धभेदमनसासानन्दसंवर्द्धिनीम् ।  
 कुर्वेऽहं विवृतिं तदर्थगतिकृद्भापान्तरोद्भासितां,  
 तेन श्रीत्रिशलात्मजाऽन्तिमजिनः प्रीयात्समाराधितः

टीका—इहापारावारसंसारद्वयां परिभ्रमणं कुर्वतां प्राणिनां  
 चुल्लुकादिदशभिर्ज्ञैरतिदुर्लभं मानुष्यं, तत्राप्याय्यदेश-कुलाऽऽयु-रारो-  
 म्य-समग्रेन्द्रियानुकूलसामग्रीसंयोगो दुर्लभतरः, तत्राप्यतिदुर्लभतमा  
 श्रीजिनधर्मप्रवृत्तिः । तत्रेह जगतीदृष्टः श्रीसर्वशोक्तधर्मः परममङ्गलः  
 समस्तशारीरमानसादिदुःखोच्छेदकध्याप्यस्ति । धर्मध्यासौ चतुर्धा दान-  
 शीलतपोभावभेदाः, तत्र चतुर्णां धर्मभेदानां मध्ये सर्वज्येष्ठो धर्मो दान-  
 धर्मः, सर्वेष्वपि धर्मभेदेष्वन्तश्चारित्वात् । तथाहि—लौकिके लोकोत्तरे  
 च सर्वत्र दानप्रवृत्तिर्ज्येष्ठतरा, श्रीमन्तस्तीर्थकरा अपि प्रथमं वर्षीयदानं  
 दत्त्वा पश्चाद्भिक्षुव्रतं गृह्णन्ति; पुनश्च शीलधर्मेऽपि दानधर्मोऽविच्छिन्न  
 एव, यतो ब्रह्मचर्यव्रतग्रहणेऽसंख्यद्वीन्द्रियाणामसंख्यसम्मूर्च्छिमपद्ये-  
 न्द्रियाणां नवलक्षगार्भिजपद्येन्द्रियाणां च कृते प्रतिदिनं मक्षमतिनाऽ-  
 भयदानं दत्तम्, स्वजीवस्याऽप्यभयदानमाप्तं तेन गर्भादिदुःखनाशक-  
 त्वाच्चेति; व्यवच्छिन्नतया हि ज्ञीलैष्वपि दानस्य मुख्यता । तथैव तपो-  
 धर्मेऽपि दानमन्तर्भवति, यतो पद्मजीवनिकायविराधनया च आहारो  
 निष्पाद्यते, परन्तूपवासादितपसि कृते तु तेभ्योऽभयदानं प्रदत्तं तस्मा-  
 दपस्त्वपि दानमन्तर्भूतम् । भावधर्मे तु सुतरामेव, यतः 'परमकरु-  
 णया जीवाजीवाऽर्हिसनपरिणतिर्भावः' तत्राऽप्यभयदानद्वारा दानमेव  
 पर्यवस्यति, जैनमुनयोऽपि प्रतिदिनं देशनादानं ज्ञानशिक्षादानं च  
 ददति; अतो दानस्य त्रिष्वप्यन्तर्भावान्मुख्यतया प्रथमं दानस्योपादानं

कृतम् । परं तद्भावपूर्वकं हि सफलतामेति । दानादिरूपं हि धर्मरत्नं प्राप्य सुकुलोत्पत्तिसमस्तेन्द्रियसामग्र्याद्युपेतेनाऽनेकान्तवादरूपमार्हतदर्शनपरिज्ञाय चाशेषकर्मोच्छिद्येऽवश्यं प्रयतितव्यं भव्येनेति । परन्तु कर्मोच्छेदश्चापि सम्यग्विवेकसव्यपेक्षोऽसावपि ह्याप्तोपदेशमन्तरेण न सुलभः, आसश्चात्यन्तिकादोपक्षयात्, स चार्हन्नेव, स हि श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरचरमतीर्थकरस्तस्य स्तुतौ कृतयत्नोऽस्तीति, कोविदमुख्यैरिह जगति तस्य गुणवर्णनं बहुधा कृतं परन्त्वहमपि तद्गुणवर्णनोत्कटेच्छया तरलीकृतः सम्यग्दर्शनबलेन क्षयोपशमबलेन च किञ्चिद्विवरीतुं यतिष्ये । किमनन्तमाकाशे पक्षिराजगतं सम्यगवगम्य तेनैव पथा शलभो गन्तुं न चाञ्छति ? वाञ्छत्येवैवमनया रीत्याऽहमप्यल्पज्ञप्रायः परं किञ्चिद्वि श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रे यज्ज्ञातृपुत्रमहावीरस्तुतिनामाध्यायस्य व्याख्यां वितनोमि, तद्वीरकृपयैव, न ममाल्पज्ञस्य माहात्म्येनेति । अथ श्रीमन्महावीरस्य प्रभोगुणा निगद्यन्तेऽतोऽत्र जम्बूनामधेयोऽन्तेवासी सुधर्माणं धर्माचार्यं आ=मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यते सेव्यन्ते जिनशासनोन्नत्यर्थोपदेशकतया तदाकांक्षिभिरित्याचार्यास्तमाचार्यम्; उक्तं च—

सुत्तत्थविज्ज लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेदिभूओ य,  
गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरिया ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

सूत्रार्थं विलक्षणयुक्तो, गच्छस्यालम्बनभूतश्च ।

गणतत्तिविप्रमुक्तः सन्नर्थं वाचयंत्याचार्या इति ॥

अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पंचधा, आ=मर्यादया वा चारो विहार आचारस्तत्र साधवः स्वयं करणात्मभाषणात्पददर्शनाच्चेत्याचार्याः ।  
आह च—

पंचविहै आयारं, आयरमाणा तहा पयासंता,  
आयारं दंसंता, आंयरिया तेण चुचंति ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

पंचविधमाचारमाचरमाणास्तथा प्रकाशमानाः ।

आचारं दर्शयन्त आचार्यास्तेनोच्यन्त इति ॥

इति च विशेषावश्यकै—

अथवा आ=ईपत् अपरिपूर्णा इत्यर्थः, चारं हेरिका ये ते  
आचाराः, चारकल्पा इत्यर्थः, युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया  
अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्याः । एषामा-  
चारोपदेशकतयोपकारित्वात्, तमाचार्यम् । \*द्वादशाङ्गशास्त्राध्याप-  
यितारमित्यर्थः । “मद्यव्याख्याकृदाचार्य इत्यमरः” । मोक्षशा-  
स्त्रोपदेष्टरि, श्रीधर्मगुरौ, “इति शब्दार्थचिन्तामणिः” । अथवा=

\* समवायंगसूत्रगतो द्वादशाङ्गः परिचयः संक्षिप्यात् उद्धृतः स वैयम् ।

आचाराङ्गः—आयारेणं समणानं निगमंभाणं आयार-गोयर-विणय-  
बेणइअ-टाण-गमण-चंद्रमण-पमान-जोग-जुंजण-भासा-समिति-गुत्तिसेज्जे  
बहि-भत्त-पाण-उग्गम-उप्पाय-एधुणा-विस्सेहि-मुत्तामुत्तग्गहण-वय-निवण-  
तवो-वहाणमुपसात्थमाहिज्जइ X X X X पदमे अगे दो मुअक्खंभा, पण-  
वीसं अज्जयणा, पंचायी उदेसणकाला, पंचायी समुदेसणकाला, अटारमपय-  
यहरसाई ।

भाचार्यः—समवायंगसूत्रगत द्वादशांगी वाणीया संज्ञेपत्ते इत प्रकार  
परिचय उद्धृत किया जाता है ।

आचार्यंगः—आचार्यंग सूत्रमें इस प्रकार के विषयों का वर्णन किया  
गया है यथा—धमण निप्रेयोका मुप्रच्छत्त आचार, गोचर (भिशाविधि), दिनय,  
वैनविक, कायोत्सर्पादि मुन्दर और एरान्त स्थान, विहारभूम्यादि गमन, चंद्र-  
मण अर्थात् टहलना, या साधिरिक धम दूर करने के लिए उपाधयमें बनके  
बहि में गमन, सिधाम, आहाएदि खाय पेय पदार्थों का माप, स्नाभ्यायादि

स्वयमाचरते शिष्यानांचारे स्थापर्यत्यपि । आचिनोति हि शास्त्रार्थ-  
माचार्येण कथ्यते । इति कुलार्णवः । “आम्नायतत्वविज्ञाना-  
चराचरसमानतः । यमादियोगसिद्धत्वादाचार्य इति कथ्यते” ॥ १ ॥  
इति शांकरे ॥ अतोऽत्र जिनधर्म एव मग्नस्तस्य व्याख्याकृत्, श्रीमान्-  
सुधर्माचार्य इति भावः । तं सुधर्माचार्यं प्रति श्रीमन्महावीरचरमतीर्थ-  
ऋद्रुणान् पृष्टवान्, विनयेनेति शेषः “सन्मतिर्महतिर्वीरो, महावीरो-

नियम, नियोग, भाषा समिति, शुक्ति, शम्भा, उपवि, भक्त, पान, उद्गमादि  
( उद्गम, उत्पाद, एषण ) दोषोक्ती विशुद्धि, शुद्धाशुद्धमहण, मत, नियम,  
तप और उपधान ।

प्रथम सूत्र आचारांग में दो श्रुतस्कन्ध, ८५ उद्देशनकाल, ८५ समु-  
द्देशनकाल, तथा १८००० पद संख्या है ।

सूत्रकृतः—सूत्रगणे णं ससमथा सूद्भन्ति, परसमया सूद्भन्ति, स-  
परसमया सूद्भन्ति, जीवा सूद्भन्ति' अजीवा सूद्भन्ति, जीवाजीवा सूद्भन्ति, लोके  
सूद्भन्ति, अलोलोके सूद्भन्ति, लोगलोलोके सूद्भन्ति, सूत्रगडेणं जीवाजीवे पुष्णपावा  
सयसंवरनिज्जरेणाबंधमुक्खायघाणा पयत्था सूद्भन्ति । × × × × × असी-  
इत्त किरियावाइयसयस्स, चउरासीए अकिरियवाइणं, सत्तट्ठीए अष्णाणिय-  
वाइणं, वत्तोसाए वेणइअवाइणं, तेतीसं उद्देशणकाला, तेतीसं समुद्देशणकाला,  
छत्तीसं पदसइत्तथाई ।

सूत्रकृतः—सूत्रगङ्गांग ( सूत्रकृतांग ) में प्ररूपित विषय इस प्रकार  
हैं । स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, स्व-परसिद्धान्त, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक,  
अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आसव, संवर, निर्जेरा, बंध और  
मोक्ष तकके सब पदार्थ, इतर दर्शन मोहित नवीन संदिग्ध शीक्षितभी बुद्धिको  
शुद्ध करनेके लिए १८० क्रियावादी के मत ८४ अक्रिया वादीके मत, ३२  
विनयवादीके मत, अज्ञानवादीके ६७ मत, सब मिलकर ३६३ अन्वष्टिके  
मतोंका परिक्षेप करके स्वसमय स्थापन,

सूत्रकृतांग सूत्रमें दो श्रुत-स्कंध हैं, २३ अध्याय हैं, ३३ उद्देशन काल  
हैं, ३३ समुद्देशन काल हैं । ३६००० पद संख्या है ।

ऽन्तकाश्यपः । नाथान्वयो वर्धमानो, यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् ।" इति धनंजयनाममाला । अथाऽसावपि भगवान् सुधर्मात्त्वाम्येवं गुणविशिष्टो 'ज्ञातृपुत्रो महावीर इति' कथितवांश्च मां प्रतीति शेषः । एवं चासौ वर्धमानोऽर्हन् "सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्, केवली धर्मचक्रभृत्" इति धनंजयः । विष्टपस्य संसारस्य सांसारिकविषयस्येत्यर्थः सकृच्चन्दनव-

**स्थानांगः**—अणुणं ससमया ठाविज्जंति, परसमया ठाविज्जंति, ससम-  
यपरसमया ठाविज्जंति, जीवा ठाविज्जंति, अजीवा ठाविज्जंति, जीवाजीवा ठावि-  
ज्जंति, लोगा, अलोगा, लोगालोगा ठाविज्जंति, × × × × × तदए अगे  
पणमुअम्खंधा दस अज्जयणा, एएवीसं उरेशणकाला, एएवीसं समुरेशण-  
काला, वावत्तरि पदसहस्ताई ।

**स्थानांगः**—स्थानांग सूत्र में निरूपण किए हुए ये विषय हैं । ससमय,  
परसमय, स्व-परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक  
का स्थापन,

तीसरे ( स्थानांग ) अंग में पांच श्रुतस्कन्ध, दस अध्याय, २१ उद्देश-  
नकाल, २१ समुद्देशनकाल, और ७२००० पद संख्या है ।

**समवायांगः**—समवाएणं ससमया सूहज्जति परसमया सूहज्जंति, सस-  
मयपरसमया सूहज्जंति, समवाएणं एकाइयाणं एगठणं एगुत्तरियं, परिखुत्तिए,  
दुवालसंगस्य य गमिपिटगस्य पाइवग्गे समलुगाह्वइ, × × × × × चउत्थे  
अगे, एगे अज्जयणे, एगे मुयक्खणे, एगे उरेशणकाले, एगे समुरेशणकाले एगे  
चउत्थाले पदसहस्रे ।

**समवायायाङ्गः**—समवायांगमें सविद्वान्त, परसिद्वान्त, स्व-परसिद्वान्त,  
और एक संख्यासे लगा कर अधिकसंख्यातक पदार्थोंका परिगणन एकोत्तरिक,  
परिशुद्धिपूर्वक प्रतिपादन है, अर्थात् प्रथम एकसंख्यक पदार्थोंका निरूपण  
करके फिर द्विसंख्यक पदार्थों का वृत्तान्त है । इस क्रमसे प्रतिपादन करने के  
बाद द्वादशांग गमिपिटकके पार्यवोद्य प्रतिपादन किया गया है । चतुर्थ  
समवाय ( अंग ) में एक अध्याय, एक श्रुत स्कन्ध, एक उद्देशन काल, एक  
समुद्देशन काल, और एक लाख चत्वारिंशहजार पद संख्या है ।



नितादेरिति यावज्जयं तिरस्क्रियां चकार । “विष्टपं भुवनं लोको जगदिति कोपः” । “परिभवः पराभवस्तिरस्क्रियेति कोपः” । अतो

व्याख्याप्रशस्तिः—(भगवती) विआहेणं ससमया विआहिजंति, परसमया विआहिजंति, ससमय-परसमया विआहिजंति, जीवा विआहिजंति, अजीवा विआहिजंति, जीवाजीवा विआहिजंति, लोगे विआहिजंति, अलोगे विआहिजंति, लोगालोगे विआहिजंति, विआहे णं नाणाविहसुरनरिदरायारिसिविविहसंसइअ पुच्छिआणं, जिजेणं विरथरे ण, भासिआणं, दम्बगुण-खित्त-काल-पञ्चव-पदेस-परिणाम-जहत्थि अभाव अणुगम-निक्खेव-णय-प्पमाण मुनिउ-णोवक्कम विविहप्पकारपगउपयासिआणं. संसारसमुद्दंउत्तरणसमत्थाणं, मुखइ-सेपूजिआणं, भवियजणपयहिअयाभिनंदिआणं, तमरयविद्धंसणाणं, मुदिठ्ठवीव भूअइंहामतिबुद्धिबद्धमाणाणं छत्तीससइस्समणूणया णं वागरणाणं दंसणाओ, मुअत्यवहुविहप्पगारा, सीसहिअत्या × × × × × पंचमे अंगे एगे सुअ-क्खंघे, एगे साइरेगे अउत्तयणसथे, दसउइसगसइस्साइं, दससमुइंसगसइस्साइं, छत्तीसं वागरणसइस्साइं, चउरासीइं पयसइस्साइं ।

व्याख्याप्रशस्तिः—(भगवती) सूत्र में स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, इत्यादि कथनके अतिरिक्त, भिन्नभिन्न प्रकारसे देव, राजा, राजपिं, और अनेक प्रकारके सन्दिग्ध पुरुषोंके पूछे हुए प्रश्नोंका जिनेन्द्रदेवने विस्तारपूर्वक जो उत्तर दिए हैं । और वे उत्तर इव्य, गुण, क्षेत्र, काल, पर्यव, प्रदेश और परिणाम के अणुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण और विविध तथा मुनिपुण उपक्रम पूर्वक यथास्तिभावके प्रतिपादक हैं । जिससे लोक और अलोक दोनों प्रकाशित हैं । जो विशाल संसार समुद्रसे पार कर देनेमें समर्थ हैं । इन्द्रों द्वारा पूजित हैं, भव्य लोकोंके हृदयके अभिनन्दक हैं, अन्धकार रूप मैलके नाशक हैं । सुन्दर और दर्शनीय हैं, दीपक की तरह वस्तुका तथ्य निर्णय देने वाले हैं । ईहा, मति, और बुद्धिके बढानेवाले हैं, जिनकी संख्या ३६००० में पूर्ण होती है, और जो उत्तरोंके उपनिबन्धसे बहुत प्रकारके श्रुतार्थोंके समुदायरूप शिष्योंके हितार्थ गुणहस्वरूप हैं । पंचम अंग (भगवती) सूत्रमें एक श्रुतस्कन्ध, साधिक अति उत्तम सौ १०० अध्याय हैं । दशहजार उद्देशक, १०००० समुद्देशक, ३६००० प्रश्न और ८४००० पद संख्या है ।

धीरः संसारं यथा जितवान्, वयमपि तथैव तज्जयाय प्रयत्नं कुर्मः ।  
भगवन् ! बहुविधां नरकविभक्तिं च श्रुत्वा संसारादुद्धिममर्नसः 'कनेयं  
नरकविभक्तिः प्रतिपादितः' इति मामप्राक्षुरिति, पुनश्चैवं भूतो धर्मः

**ज्ञाता-धर्मकथांगः**—पाया-धम्म-कहामु पं पायापं नगराहं, उज्जानाहं,  
वणसण्ठा, राणाणो, अम्मापियरो, समोसरणाहं, धम्मायरीआ, धम्मकहाओ,  
इहलोइअ-परलोइअ-इद्धिविसेसा, भोग परिचाया, एवञ्चाओ, मुयपरिग्गहा,  
तेवोवहाणाहं, परियागा, संखेहणाओ, भत्तपञ्चस्थाणाहं, पाओवगमणाहं, देवलो-  
गमणाहं, मुकुलपचाया, पुण बोहित्थओ, अंतकिरिआओ, अ आघमिञ्जंति,  
× × × × × छट्ठे अणे दो मुअक्खंथा, एगूनतीसं अज्जयणा, ते समासओ  
दुविहा, पणत्ता, संजहा, चरित्ता अ, कप्पिआ अ, दया धम्म कहानं पग्गा,  
तत्थणं एगमेगाए धम्म कहाए पंच पंच, अनत्ताइयासयाहं, एगमेगाइ अत्ताइ-  
आए पंच पंच उवत्ताइआसयाहं, एगमेगाए उवत्ताइआए पंच पंच अत्ता-  
इअ, उवत्ताइअसयाहं, एगमेव सपुब्बावरणं अजुत्ताए अत्ताइअओठिओ,  
भवंतीति अत्तायाओ, एगूनतीसं उरंखनकात्ता, एगूनतीसं समुरंखनकत्त,  
सखेच्चाहं पयसदहसाहं, ।

**ज्ञाताधर्मकथा**—इय सूत्रमें उदाहरणभूत पुराणों के नगर, उद्यान,  
वनराष्ट्र, राजा, माता पिता, मनवतरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहिक और  
पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रयत्न, श्रुत परिग्रह, तप, उपधान,  
पर्याय, संखेधना, भक्तप्रलाङ्घन, पादपोषणमन, देवलोकगमन, फिर उत्तम  
कुल में अवतार, पुनर्जन्म, बोधिल्लभ और अन्तक्रिया इत्यादि अनेक विषयों-  
पर कथन विद्यालये शिक्षणका है । छठवें ज्ञाता धर्मकथांगमें दो भुक्तकण्ठ हैं,  
जिनमें २९ अध्याय हैं, वे अध्याय खरित्र और कल्पिक भेदसे दो तरहके  
रताए हैं । धर्मकथाके १० वर्ष हैं । जिसकी एक-एक धर्म कथामें ५००-  
५०० आख्यायिकाएँ हैं, एक एक आख्यायिकामें ५००—५०० उपख्यायिकाएँ  
हैं, एक-एक उपख्यायिकामें ५००—५०० आख्यायिकोपाख्यायिकाएँ  
हैं, और फिर इसी प्रकार से सपुष्पांवर ( सबमितलर ) साठे तीन ओड़ आख्या-  
यिकाएँ हो जाती हैं । इसमें २९ उरंखनकत्त, तथा २९ समुरंखनकत्त हैं,  
और संख्यात्र अत्र पद हैं, यानी ५ अत्र ७६ हजार पद हैं ।

संसारोच्चारणसमर्थः केन प्रतिपादितः । इत्येतद्ब्रह्मो भामिति भावः ।  
ते के इत्याकांक्षायामाह श्रमणाः=साधवो निर्ग्रन्थादयः । “तपस्वी

**उपासकदशांगः**—उवासगदसामु णं उवासगणं नगराई, उज्जाणाई,  
चणखंडा, रायाणो, धम्मापियरो, समोसरणाई, धम्मायरियाई, धम्मकहाओ,  
इहलोअ, परलोइअइड्डिविसेसा, उवासयाणं, सीलव्वय वैरमणगुणपचक्खाण,  
पोसहोववासपडिवंजिआओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाई, पडिमाओ, उवसग्गा,  
सखेहणा, भत्तपचक्खाणाई, पाओवगमणाई, देवलोअगमणाई, सुकुलपच्चाया, पुणो  
बोहिल्लओ, अंतकिरिआओ, आपविजंति, × × × × × सत्तमें अगे एगे  
सुअअरंधे, दशअज्जयणा, दशउद्देशणकाल, दश समुद्देशणकाल, सखेज्जाई  
पयसहसाई ।

**उपासकदशांगः**—इयमें उपासकोंके ( भावकोंके ) नगर, उद्घरण,  
चणखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, इसलोक और परलोककी  
ऋद्धिविशेषका तथा धावकोंका सीलव्रत, विरमण, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौष-  
थोपचास, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, प्रतिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्तप्रत्या-  
ख्यान, पादपोषणमन, देवलोकगमन, श्रेष्ठकुलजन्म, बोधिल्लभ और अन्त-  
कियातकका वर्णन है × × सातवें उपासकदशांगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश  
अध्ययन, दश उद्देशनकाल, दश समुद्देशनकाल, और सख्यातलापद  
अर्थात् ११५२००० पदोंकी संख्या है ।

**अन्तर्दृशांगः**—अंतगडदसामु णं अंतगडा णं नगराई, उज्जाण,  
चणखंड, राया, धम्मापिय, समोसरण, धम्मायरिय, धम्मकहा, इहलोइअ,  
परलोइआ, इड्डिविसेसा, भोगपरिआया, पच्चज्जाओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहा-  
णाई, पडिमाओ, बहुविहाओ, रत्ता, अब्बवं, महवं, सोअं च राचसहिअं,  
सत्तरस्सविहोसजमो, उत्तमं च बंभं, अकिंचणया, तपो, किरियाओ, समिइगु-  
त्तिओ चं, तह अप्पमायजोगो, सज्जाय ज्जाणेष य, उत्तमाणं दोण्हं, लक्ख-  
णाई, पत्ताणय संजमं, जिअपरिसहाणं, चउव्विहकम्मक्खवियम्मि, जइ केवलस्स  
लंभो, परियाओ जत्तिओ य जइ पालिओ मुण्हि, पाओवगओ जहिं, जत्तियाणि  
भत्ताणि, छेअइत्ता, अंतगडो मुणिवरो, तमरयोधविमुक्को, मुअखसुहमणंतर, च  
पत्ता ए ए अग्नेय एवमाइत्थ वित्थरेण पुरुवेइ, × × × × × अट्टमे अगे

वीरः संसारं यथा जितवान्, ययमपि तथैव तज्जयाय प्रयत्नं कुर्मः ।  
भगवन् ! बहुविधां नरकविभक्तिं च श्रुत्वा संसारादुद्धिममर्नसः 'केनेयं  
नरकविभक्तिः प्रतिपादितः' इति मामप्राक्षुरिति, पुनश्चैवं भूतो धर्मः

**ज्ञाता-धर्मकथांगः—**णाया-धम्म-कहामु षं णायाणं नगराई, उच्चाणाई,  
चणरखण्डा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाई, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ,  
इंहलोइअ-परलोइअ-इह्वियिसेसा, भोग परिआया, पवच्चाओ, सुयपरिग्गहा,  
तंबोवहाणाई, परिआया, सडेहणाओ, भत्तपञ्चस्खाणाई, पाओवगमणाई, देवलो-  
गगनणाई, सुकुलपञ्चाया, पुण बोहिल्लभो, अंतकिरिआओ, अ आपविच्चंति,  
× × × × × छट्टे अगे दो सुअक्यंथा, एगूणतीसं अज्जयणा, वे समासओ  
दुविहा, पत्तता, तंजहा, चरित्ता अ, कप्पिआ अ, दस धम्म कदाणं यग्गा,  
तत्थणं एगमेगाए धम्म कहाए पंच पंच, अस्साइयासयाई, एगमेगाइ अस्साइ-  
आए पंच पंच उवस्साइआसयाई, एगमेगाए उवस्साइआए पच पंच अक्सा-  
इअ, उवस्साइअसयाई, एकमेव सपुन्वावरणं अजुट्टाए अक्साइअओडिओ,  
भवंतीविअस्सायाओ, एगूणतीसं उइसणकाला, एगूणतीसं समुइसणकाला,  
सकखेआई पयसइस्साई, ।

**ज्ञाताधर्मकथा—**इस सूत्रमें उदाहरणभूत पुरुषों के नगर, उद्यान,  
वनखण्ड, राजा, माता पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहिक और  
पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरिल्लाण, प्रमज्जा, श्रुत परिग्रह, तप, उपधान,  
पर्याय, सडेवना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोषणमन, देवलोपगमन, फिर उत्तम  
कुल में अवतार, पुनर्जन्म, बोधिल्लभ और अन्तकिया इत्यादि अनेक विषयों-  
का कथन विस्तारसे किया गया है । छठवें ज्ञाता धर्मकथांगमें दो श्रुतस्वप्न हैं,  
जिनमें २९ अध्याय हैं, वे अध्याय चरित्र और कल्पिक भेदसे दो तरहके  
बताए हैं । धर्मकथाके १० वर्ग हैं । जिसकी एक-एक धर्म कथाके ५००-  
५०० आख्यायिकाएँ हैं, एक एक आख्यायिकामें ५००-५०० उपाख्यायि-  
काएँ हैं, एक-एक उपाख्यायिकामें ५००-५०० आख्यायिकोपाख्यायिकाएँ  
हैं, और फिर इसी प्रकार से सगुणपर ( सम्मितपर ) पाठे तीन कोठ आख्या-  
यिकाएँ हो जाती हैं । इनमें २९ उद्येयनमाल, तथा २९ समुइसणकाल हैं,  
और उक्सात खण्ड पद हैं, यानी ५ खण्ड ७६ हजार पद हैं ।

संसारोत्थरणसमर्थः केन प्रतिपादितः । इत्येतद्ब्रह्मो भामिति भावः ।  
ते के इत्याकांक्षायामाह श्रमणाः=साधवो निर्ग्रन्थादयः । “तपस्वी

**उपासकदशांगः**—उवासगदसासु णं उवासगणं नगराई, उज्जाणाई,  
चणखंडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाई, धम्मायरियाई, धम्मकहाओ,  
इहलोअ, परलोइअइड्डिविसेसा, उवासयाणं, सीलव्वय वेरमणगुणपच्चक्खाण,  
पोसहोववासपडिवंजिआओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाई, पडिमाओ, उवसग्गा,  
सुखेहणा, भत्तपचक्खाणाई, पाओवगमणाइ, देवलोगगमणाई, सुकुलपच्चाया, पुणो  
बोहिलाओ, अंतकिरिआओ, धाघविज्जंति, × × × × × सत्तमं अगे एगे  
सुअक्खंथे, दशअज्जयणा, दशउद्देशणकाला, दश समुद्देशणकाल, संखेजाई  
पयसहस्साई ।

**उपासकदशांगः**—इसमें उपासकोंके ( धावकोंके ) नगर, उद्यान,  
वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, इसलोक और परलोककी  
शुद्धिविशेषता तथा धावकोंका शीलव्रत, विरमण, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौष-  
धोपवास, श्रुतपरिग्रह, तप, उपवास, प्रतिमा, उपसर्ग, संखेखना, भक्तप्रत्या-  
ख्यान, पादपोषणमन, देवलोकगमन, श्रेष्ठकुलजन्म, बोधिलभ और अन्त-  
क्रियातककी वर्णन है × × सातवें उपासकदशांगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश  
अध्ययन, दश उद्देशनकाल, दश समुद्देशनकाल, और संख्यातलासपद  
अर्थात् ११५२००० पदोंकी संख्या है ।

**अन्तकृद्दशांगः**—अतगदसासु णं अतगडा णं नगराई, उज्जाण,  
चणखंड, राया, अम्मापिय, समोसरण, धम्मायरिय, धम्मकहा, इहलोइअ,  
परलोइआ, इड्डिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहा-  
णाई, पडिमाओ, बहुविहाओ, खमा, अन्नवं, मद्दवं, सोअं च सच्चउद्दिअं,  
सत्तरस्वविहोसजमो, उत्तमं च बंभं, अक्किचणवा, तवो, किरियाओ, समिइगु-  
त्तिओ खेव, तह् अप्पनायजोगो, सज्जाय उज्जाणेण य, उत्तमाणं दोण्हंपि, लक्ख-  
ग्गाहं, पत्ताणय संजमं, जिअपरिसहाणं, चउल्लिहकम्मक्खवियम्मि, जह् केवलस्स  
ल्लंभो, परियाओ जत्तिओ य जह् पाळिओ मुण्हिं, पावोवगओ जहिं, जत्तियाधि  
भत्ताणि, छेअइत्ता, अतगडो मुण्णिवरो, तमरयोपविमुक्को, मुक्खमुहमणंतर, च  
पत्ता ए ए अग्नेय एवमाइत्थ विरथरेण परुवेह, × × × × अट्टमे अगे

संयमी वर्णी, योगी साधुश्च तापसः । ऋषिर्यतिमुंनिर्भिक्षुः संयतः  
 श्रमणो व्रतीति" धनंजयः । "यतिभेदे, साधुभेदे वा, भिक्षाजीविनि,  
 शरीरभेदे वेति शब्दस्तोममहानिधिः" । "तपस्विनि, श्रमणः परिघ्राद्,  
 संन्यासीति पूज्यपादाः" । जैनभिक्षुके, निर्मन्ये चापि, 'श्राम्यतीति

एणे मुअकखंवे, दस अण्णवणा, सत्तवग्गा, दस उदेणकाल, दस समुरेण-  
 काल, संखेब्बाई पयसहस्साई,

अन्तकृद्दशांगः—अन्तगडदशांग सूयमें अन्तकृत् ( तीर्थरूपरि )  
 पुरुषोंके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य,  
 धर्मकथा, ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धि, भोगपरित्याग, प्रयत्न्याग्रहण, श्रुतपरिमह,  
 तप, उपधान, बहुविधप्रतिष्कारधन, क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्व रहित शौच,  
 सतरह प्रकारका संयम, उत्तम ब्रह्मचर्य, अकिंचनता, तप, क्रिया, समिति, गुप्ति,  
 अप्रमादयोग, उत्तमस्वाध्याय, ध्यान और कयोरसर्ग का स्वरूप, उत्तम संयम-  
 प्राप्ति और परिश्रम जीतनेवाले पुरुषोंका चारप्रकारके पातिक कर्म क्षय होने से  
 केवलज्ञानका प्राप्त करना, ( अनन्त चतुष्टयकी प्राप्ति ) मुनि पर्यायके फलन  
 करनेकी अवधि, पादपोषणत पवित्र मुनिवर जितने भक्तों ( भोजन समयों ) को  
 बिताकर जहां अन्तकृत् हुए वह विवरण और भी मुनिराज कि जो मुक्तिके  
 अचल मुहूर्तको प्राप्त हुए, इत्यादि सब वर्णन आठवें ( अंतगड ) अंगमें एक  
 श्रुतस्कन्ध के ही अन्दर है, इसके दस अध्ययन हैं, सात वर्ग हैं, दस उद्देश्य  
 काल हैं, दस समुरेण काल हैं, और संख्यात सप्त पद हैं, अर्थात्  
 २३०४००० पद संख्या है ।

अनुत्तरोपपातिकदशांगः—अनुत्तरोपपादक दशांग में अनुत्तरोप-  
 पादभाग नगराई, उज्जाणार्ह, वणखटा रागाणो, अम्मापियरे, समोसरणाई,  
 धम्मावरिया, धम्मकहाओ, इहलोग-परलोगस्य इट्टिविसेवा, भोगपरिष्वाया,  
 पम्बजाओ, मुअपरिग्गहाओ, तवोवहाणाई, परियाणो, पडिमाओ, संखेहणाओ,  
 अत्तपाण-पञ्चउत्तणाई, पावोवगमणाई, अनुत्तरोपपाद ओ, शुद्धक पचाया,  
 पुणोबोदित्ताओ, अंतकिरियाओ, आपविजंठि, + + + + नववे अगे एणे  
 शुअकखंवे, दस अण्णवणा, त्रिणि वग्गा, दस उदेणकाल दस समुरेण-  
 काल, संखेब्बाई पयसहस्साई,

श्रमणः ।' इति "शब्दार्थचिन्तामणिः" श्राम्यति परदुःखं जाना-  
तीत्यपि ।' च पुनर्ब्राह्मणाः ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः । "द्विजात्य-  
प्रजन्म, भूदेववाडवाः । विप्रश्च ब्राह्मण" इत्यमरः । ब्रह्म परमात्मानं

**अनुत्तरोपपातिकः**—इस सूत्रमें अनुत्तरोपपातिकोंके नगर, उद्यान,  
वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इत्यादिकका  
वर्णन है, और ऐहिक तथा पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या-  
प्रदूषण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, पर्याय, प्रतिज्ञा, संलेखना, भक्तपान-  
प्रत्याख्यान, पादपोषणमन, श्रेष्ठकुलमें पुनर्जन्म, बोधिलभ, अन्तक्रिया,  
इत्यादि विषयोंका वर्णन है । × × नवम ( अनुत्तरोपपातिक ) अंगमें एक  
श्रुतस्कन्ध, दश-अध्याय, तीन वर्ग, दश उद्देशनकाल, दशसमुद्देशनकाल,  
संख्यातलाख पद—अर्थात् ४६०८००० पद हैं ।

**प्रश्नव्याकरण**—पण्डवाग्रणेमु अद्भुतरं अपसिणसयं, अद्भुतरं पसि-  
णापसिणसयं, विज्ञादसया, नागसुवणे हिं सद्धिं दिव्या सवाया आघविजंति,  
विह्वयकरणं अइसयमइ अकालदमसमतिथ्यकरुतमसम ठिइकरणकारणार्ण, दुर-  
हिगमदुरवगाहस्त, सव्वसव्वणुसम्मअस्त, अवुहजणबोहकरस्त, पचक्खपच्च-  
यकरणं, पण्हाणं, विविहगुणमहरया, जिणवरप्पणीआ आघविजंति, + + +  
+ दसमे अगे एगे मुअक्खंधे, पणयालीस उद्देशनकाला, पणयालीसं समुद्देशन-  
काला, संक्खेजाणि पयसहस्साणि ।

**प्रश्नव्याकरण**—इस सूत्रमें एकसौ आठ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८  
प्रश्नाप्रश्न, विद्याओं का अतिशय, और नागकुमार तथा सुवर्णकुमारके साथ होने  
वाले दिव्य संवाद का वर्णन है । × × × दशम ( प्रश्नव्याकरण ) अंगमें,  
एक श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देशनकाल, और संख्यात लख पद  
अर्थात् १२१६००० पद संख्या है ।

**विपाकश्रुत**—विवागसुए णं मुक्कड-दुक्कडा णं कम्मार्णं फलविवागे  
आघविजंति, से समासओ, दुविहे पभते तंजहा; दुहविवागे सुहविवागे चेष,  
त्तत्थणं दस दुहविवागाणि, दस सुहविवागाणि से किं तं दुहविवागाणि ? दुहवि-  
वागे मु णं दुहविवागाणं नगराई, उज्जाणाई, वणखंडा, रायाणो, अम्मापियरो,  
समोसरणाई, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, नगरगमणाई, संसारपबंधे; दुहपरप-

संयमी वर्णा, योगी साधुश्च तापसः । ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुः संयतः  
श्रमणो व्रतीति” धनंजयः । “यतिभेदे, साधुभेदे वा, भिक्षाजीविनि,  
शरीरभेदे वेति शब्दस्तोममहानिधिः” । “तपस्विनि, श्रमणः परित्राद्,  
संन्यासीति पूज्यपादाः” । जैनभिक्षुके, निर्मन्ये चापि, ‘श्राम्यतीति

एते शुभसंघे, दस अज्ज्ञयणा, सततवग्गा, दस उद्देशणकाल, दस समुरेण-  
काला, संखेब्बाई पयसहस्ताई,

अन्तकृद्दशांगः—अन्तगद्दशांग सूत्रमें अन्तकृत् ( तीर्थकरदि )  
पुरुषोंके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य,  
धर्मकथा, ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धि, भोगपरित्याग, प्रमत्त्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह,  
तप, उपधान, बहुविधप्रतिज्ञारक्षण, क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य सहित शौच,  
सतरह प्रकारका संयम, उत्तम ब्रह्मचर्य, अकिंचनता, तप, क्रिया, समिति, श्रुति,  
अप्रमादयोग, उत्तमस्वाध्याय, ध्यान और कर्मयोग का स्वरूप, उत्तम संयम-  
प्राप्ति और परिग्रह जीतनेवाले पुरुषोंका चारप्रकारके पातिक कर्म क्षय होने से  
केवलज्ञानका प्राप्त करना, ( अनन्त चतुष्टयकी प्राप्ति ) मुनि पर्यायके पालन  
करनेकी अवधि, पादपोषणत पवित्र मुनिवर जितने भक्षों ( भोजन समयों ) को  
बिताकर जहां अन्तकृत् हुए वह विवरण और भी मुनिराज कि जो मुक्तिके  
अचल मुक्तोंको प्राप्त हुए, इत्यादि गण वर्णन आठवें ( अंतगद्द ) अंगमें एक  
श्रुतस्कन्ध के ही अन्दर है, इनके दस अध्ययन हैं, सात वर्ग हैं, दस उद्देशन  
काल हैं, दस समुरेणन काल हैं, और संख्यात लख पद हैं, अर्थात्  
२३०४००० पद संख्या है ।

अनुत्तरोपपातिकदशांगः—अनुत्तरोपपादक दशांगु वं अनुत्तरोप-  
पादकानं नमराई, उज्जाणाई, वणखंडा रामाणो, अम्मापियठे, समोसरणाई,  
धम्मामरिया, धम्मकहाओ, इहलोग-परलोगस्य इत्थिसिंघेगा, भोगपरिष्वाया,  
पम्बजाओ, मुअपरिगहाओ, तवोवहाणाई, परिमाओ, पडिमाओ, संखेहणाओ,  
अत्तपाण-पणत्ताणाई, पावोवगमणाई, अनुत्तरोपपाद ओ, मुकुत्त पणया,  
पुषोवोहिलाओ, अंतकिरियाओ, आपविजंठि, + + + + नवमे अगे एते  
शुभसंघे, दस अज्ज्ञयणा, त्रिगिण वग्गा, दस उद्देशणकाल दस समुरेणन-  
काल, संखेब्बाई पयसहस्ताई,



श्रमणः ।' इति "शब्दार्थचिन्तामणिः" श्राम्यति परदुःखं जानां-  
तीत्यपि ।' च पुनर्ब्राह्मणाः ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः । "द्विजात्य-  
प्रजन्म, भूदेववाडवाः । विप्रश्च ब्राह्मण" इत्यमरः । ब्रह्म परमात्मानं

**अनुत्तरोपपातिकः**—इस सूत्रमें अनुत्तरोपपातिकोंके नगर, उद्यान,  
वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इत्यादिकछ  
वर्णन है, और ऐहिक तथा पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या-  
ग्रहण, श्रुतपरिमह, तप, उपधान, पर्याय, प्रतिज्ञा, संलेखना, भक्षपान-  
प्रत्याख्यान, पादपोषणमन, श्रेष्ठकुलमें पुनर्जन्म, बोधिलभ, अन्तक्रिया,  
इत्यादि विषयोंका वर्णन है । × × नवम ( अनुत्तरोपपातिक ) अंगमें एक  
श्रुतस्कन्ध, दश-अध्याय, तीन वर्ग, दश उद्देशनकाल, दशसमुद्देशनकाल,  
संख्यातलाख पद—अर्थात् ४६०८००० पद हैं ।

**प्रश्नव्याकरण**—पण्डवाग्रणेषु अद्भुतरं अपसिणसयं, अद्भुतरं पसि-  
णापसिणसयं, विज्वाइसया, नागमुवण्णे हिं सद्धि दिव्वा सवाया आपविजंति,  
विम्वयकराणं अइसयमइ अकालदमसमत्तियकरुत्तमस्व ठिइकरणकारणाणं, दुर-  
हिगमदुरवगाइस्त, सब्वसन्वणुसम्मअस्त, अबुइजणबोइकरस्त, पच्चक्खपच्च-  
यकराणं, पण्हाणं, विविहगुणमहाया, जिणवरप्पणीआ आपविजंति, + + +  
+ दसमे अगे एगे सुभक्खंभे, पणयालीसं उइसणकाला, पणयालीसं समुदेसण-  
काला, सक्खेज्जाणि पयसहस्सणि ।

**प्रश्नव्याकरण**—इस सूत्रमें एकसौ आठ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८  
प्रश्नाप्रश्न, विद्याओं का अतिशय, और नागकुमार तथा सुवर्णकुमारके साथ होने  
वाले दिव्य संवाद का वर्णन है । × × × दशम ( प्रश्नव्याकरण ) अंगमें,  
एक श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देशनकाल, और संख्यात लाख पद  
अर्थात् १२१६००० पद संख्या है ।

**विवाकश्रुत**—विवाकश्रुतं णं सुक्कड-दुक्कडा णं कम्माणं फलविवागे  
आपविजंति, से समासभो, दुविहे पत्तते तंजहा; दुहविवागे सुहविवागे च्चव,  
तत्थणं दस दुहविवागाणि, दस सुहविवागाणि से किं तं दुहविवागाणि ? दुहवि-  
वागे सु णं दुहविवागाणं नगरइं, उज्जाणाइं, वणखंडा, रायाणो, भम्मापिवरो,  
समोसरणाइं, भम्मावरिया, भम्मकहाभो, नगरगमणाइं, संसारपवधे; दुहपरं-

सिद्धं जानातीति ब्राह्मणः । परब्रह्मज्ञे ब्राह्मण इति शब्दस्तोममहा-  
निधिः । ब्राह्मणलक्षणानीत्थं ध्रुवन्ति वृद्धाः । यथा—

‘क्षमा, तपो, दया, दानं, सत्यं, शौचं, ह्यनुमतम् ।

विधाविनयसम्पन्नं प्रथमं ब्रह्मलक्षणम् ॥ १ ॥

शान्तो दान्तः सुशीलश्च, सर्वभूतहिते रतः ।

क्रोधावेशं न जानाति, द्वितीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥ २ ॥

निर्लोभो निरहंकारः पापत्यागं करोति यः ।

रागद्वेषविनिर्मुक्तस्तृतीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ३ ॥

परद्रव्यं यथा दृष्ट्वा, पथि गेहेऽथवा वने ।

अदत्तं नैव गृह्णाति, चतुर्थं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ४ ॥

मद्यमांसमधुत्यागी—त्यक्तोदुंबरपञ्चकः ।

भुनक्ति न निशाहारं, पञ्चमं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ५ ॥

राओ, य आपविज्जति, से तं दुहविवागाणि; से किं तं मुहविवागाणि ? मुहविवा-  
नेमुणं मुहविवागाणं नगराहं, उज्जाणाहं, वणखंडा, रायाणो, अम्मापियरो,  
समोत्तरणाहं, धम्मायरिवा, धम्मकहाओ, इहलोअ—परलोअ इड्ढिविसेया, भोग-  
परिचाआ, पणज्जाओ, मुअपरिउगहा, तवोवहाणाहं, परिचागा, पडिमाओ, संले-  
हणाओ, भत्तपाणपच्चक्खाणाहं, पावोवगमणाहं, देवत्योगमणाहं, सुकुल पचाया,  
‘पुणबोहिलाहो, अतकिरियाओ, आपविज्जति, × × × × × एकारसमे अने  
वीसं अज्जयणा, वीसं उहेसणकाला, वीसं समुहेसणकाला, संकखेज्जाहं पयसय-  
सहस्साहं ।

विपाकश्रुत—इसमें मुहूतकम्मोंका और दुष्कृत कम्मोंका फलविपाक-  
परिणाम बताया गया है । वह फलविपाक संक्षेपसे दो प्रकारका है । यथा  
दुःखविपाक और सुखविपाक । जिनके १०—१० भेद हैं । दुःखविपाकमें  
दुःखविपाकबालोके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण,  
धर्म्मचार्य्य, धर्म्मरूथा, नगरगमन, सत्तार प्रबन्ध, दुःखपरम्पराका ध्यारे  
चार वर्णन है ।

‘कैश्चित्तु ब्राह्मणा दशधा प्रोक्तास्त एवम्’

यथा—दैवो द्विजो मुनी राजा, वैश्यः शूद्रो विडालकः ।

सरो म्लेच्छश्च चाण्डालो, विप्रास्तु दशधा मताः ॥ १ ॥

देवः—एकाहारेण सन्तुष्टो, मद्यमांसविवर्जितः ।

पारीणस्तत्त्वविज्ञाने, स विप्रो देव उच्यते ॥ १ ॥

द्विजः—यामिको नियमी चैव, संयमी संयतेन्द्रियः ।

समो दमक्षमायुक्तो द्विजो विप्रः स उच्यते ॥ १ ॥

मुनिः—रूक्षाऽऽहारी दिवाहारी, वनवासे रतः सदा ।

कुरुतेऽङ्गनिःशं ध्यानं, स विप्रो मुनिरुच्यते ॥ १ ॥

नृपः—अश्वादिवाहनेच्छुर्यो विप्रहे चातिवर्तते ।

आरंभः शासकः शूरः, स विप्रो हि नृपः स्मृतः ॥ १ ॥

वैश्यः—कृपिवाणिज्यगोरक्षां, न्यायं सेवां करोति यः ।

धातूनां संग्रही नित्यं, स विप्रो वैश्य उच्यते ॥ १ ॥

मुखविपाकमें मुखविपाकवालोके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इसलोक परलोक सम्बन्धी ऋद्धि विक्षेप, भोगपरित्याग, प्रत्रज्याग्रहण, धुतपरिमह, तप, उपधान, पर्याय, प्रक्षिप्ता, सलेखना, आहारपानीका त्याग, पादपोषणमनसंस्कारक, देवलोक-गमन, मुकुलावतार, बोधिलाभ और अन्तर्किया तकम्य अनुक्रमसे वर्णन है । इसमें २० अध्याय हैं । २० उद्देशनकाल हैं, २० समुद्देशनकाल हैं । और संख्यात सात् अर्थात् १, ८४, १२७०० पद संख्या है ।

दृष्टिवादः—द्विद्विवाणं, सर्वभावपरुषण्या, आपविजांति से समाप्तओ पंच विदे पण्यते, तं जहाः परिक्रमं, मुत्तादं, पुण्यगयं, अनुओगो, चूडिआ, १, १११ दृष्टिवाद—इसमें सब पदार्थों की प्ररूपणा है, और बृहदृष्टिवाद परिक्रमं, सम, पूर्वगत, (पूर्व) अनुयोग और चूडिआ इन चैरोसे ५ प्रकरका कहा है ।

शूद्रः—लाक्षातैलकयं चैव, विक्रयं व्याजमक्षकः ।

विक्रेता मद्यमांसानां, स विप्रः शूद्र उच्यते ॥ १ ॥

बिडालः—भक्ष्याभक्ष्यं न जानाति, नाट्यं वाद्यं करोति यः ।

परस्त्रीगमनं कर्ता, बिडालः स हि प्रोच्यते ॥ १ ॥

म्लेच्छः—वार्पाकूपतडागानामपूतजलसंग्रहः ।

परदुःखं न जानाति, विप्रो म्लेच्छः स कथ्यते ॥ १ ॥

चाण्डालः—अहिंसां नैव जानाति, सर्वदा प्राणिघातकः ।

वनं दग्ध्वा कृषिं कुर्यात्, विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥ १ ॥

खरः—शास्त्राध्ययनजाप्यादिकर्मपटुविवर्जितः ।

जातमृत्युगृहे भोजी, खरो विप्रः स उच्यते ॥ १ ॥

वर्ज्यः—नाच्छादयति परदोषं, कुर्यात्स्वपापगोपनम् ।

शुनः पुच्छमिव व्यर्थं, ब्राह्मधर्मविवर्जितः ॥ १ ॥

जन्मकाले भवेच्छूद्रो, वृद्धिकाले भवेद्विजः ।

शास्त्रान्यासे भवेद्विप्रो, ब्रह्मविद्ब्राह्मणः स्मृतः ॥ १ ॥

स तत्राऽब्राह्मणो यथा—

कोहो य माणो य बहो य जेसिं,

मोसं अदत्तं च परिग्रहं च ।

ते माहणा जाइविज्जाबिहूणा,

ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥ १४ ॥

(संस्कृतच्छाया)

क्रोधश्च मानश्च धधश्च येषां, मृपाऽदत्तं च परिग्रहं च ।

ते ब्राह्मणा जातिविद्याविहीनास्तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि ॥१४॥

[ ब्राह्मणोचितधेष्टयज्ञः ]

सुसंबुडा पंचहिं संवरे हिं,  
इह जीवियं अणवकंस्वमाणा ।  
वोसट्टकाया सुइचत्तदेहा,  
महाजयं जयइ जन्नसेट्टं ॥ ४२ ॥

सुसंबुताः पंचभिः संवरैः, रिह जीवितमनवकांक्षमाणाः ।  
प्युत्सृष्टकायाः शुचित्यकदेहाः, महाजयं यजन्ते धेष्टयज्ञम् ॥ ४२ ॥

उत्तराध्ययन अ० १२

[ ब्राह्मणोचितज्ञानतीर्थम् ]

धम्मे हरए वम्भे संति तित्थे,  
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।  
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,  
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ ४६ ॥  
एयं सिणाणं कुसले हि दिट्ठं,  
महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।  
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा,  
महारिसि उत्तमं ठाणं पत्ते ॥ ४७ ॥

संस्कृतच्छाया

धम्मो हृदो ब्रह्म शान्तितीर्थं, अनाविल आत्मप्रसन्नलेदये ।  
यस्मिन् छातो विमलो विशुद्धः सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥ ४६ ॥  
एतत्त्वानं कुशलैर्दृष्टं, महाज्ञानमृषीणां प्रशस्तम् ।  
यस्मिन् छाता विमला विशुद्धा, महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ॥ ४७ ॥  
। तथाऽगारिणो=गृह्यासिनः 'सदनं सन्न भवनं धिष्ण्यं वेदमाऽथ  
मन्दिरम्; रोहं निकेतनागारमिति' घनंजयः । आ-गू, कर्मणि

घञ्, आगमृच्छतीति, प्राप्नोति वेति, आग, आ-न् गतावण् वेति आगारं,=गृहमस्यास्तीत्यागारी, ते । आगारिणः, क्षत्रियादयश्चेति भावः । परतीर्थिकाः परमतावलम्बिनः शाक्यादयश्चेति वा; ते सर्वेऽपि, किं तदिति दर्शयति, स को योऽसावेनं धर्मम् । आगारानागारविच्छिन्नमाहोक्तवान् । धृञ् धारणे धातौ मन्, "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसीं सुकृतं वृष" इत्यमरः । 'वत्सुसहायो धम्मो' यतोऽभ्युदयो निःश्रेयसी स धर्मः, 'दुर्गतौ प्रपततां प्राणिनां धारणाद्धर्मं रक्षकमेकान्तहितमाहोक्तवानिति । किंभूतं धर्ममनीदृशमनुलम् । कयोक्तवान्? साधुसमीक्षया समतयेति भावः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(समणा) भिद्यु (माहणा) ब्राह्मण (य) और (अगारिणो) भद्राल गृहस्थ (य) तथा (परतिथिया) और और जैनतरमतावलम्बी (पुच्छिस्तु) पूछेंगे कि-जिन्होंने (साधुसमिस्त्रयाए) अच्छी तरह स्वाभाविक ज्ञानद्वारा (जेगंतहियं) सब प्रकारसे कल्याण और उद्धार करनेवाला (अणेलिसं) उपमा रहित (धम्मं) आत्म-धर्म (आहु-) कहा है (से) वे (केइ) कौन थे? ॥ १ ॥

भावार्थ—आर्य सुधर्माचार्य भगवान्से उनके सदैव समीपमें रहनेवाले आयुष्मान् जंबू शिष्यने पूछा कि-हे आर्य्य! संसारसमुद्रसे पार करनेवाला, एकान्त हितकारी एवं अनुपम आत्म-धर्म किसने प्रतिपादन किया है? मुझसे इस प्रकार अनेक भिद्यु-गृहस्थ एवं अन्यान्य-मतवालोंने प्रश्न किया है ॥ १ ॥

भाषाटीका—इस संसाररूपी गहन वनमें धूमते फिरते प्राणिओंके लिए दश दृष्टान्तोंसे मनुष्यजन्मका मिलना अत्यन्त कठिन है, इसके अतिरिक्त आर्यदेश [ आर्य भोजन, आर्य वृत्ति, आर्य वेशभूषा, आर्य पडोस, आर्य सहवास, आर्य भाषा, ] उत्तम कुल, लम्बा आयु, आरोग्य शरीर, समस्त इन्द्रियोंकी इच्छानुकूल सामग्रियोंका संयोग मिलना तो और भी कठिन है, परन्तु धीवी-तरंगों 'मंगलान्के धर्ममें' प्रवृत्त होना सबसे अधिक मुश्किल है, और जगत्के जीवोंको सर्वज्ञोक्त धर्म ही कल्याण और मंगलका करने वाला है । 'इसी' भाव औपधके अनुपानसे शरीर और मन सम्बन्धी कर्म रोग नाश होते हैं, और यह धर्म शतंपुत्रमहावीर प्रभुने; चाहे प्रकारका प्रतिपादन किया है । ओंकि-ज्ञान, सील, तप और भ्रातृसे प्रह्वाना जाता है ।

### दान धर्म की विशेषता-

दानको सबसे प्रथम इसलिए कहा है कि यह दान धर्म पिछले तीन भेदोंमें भी समाया हुआ है, लोकोंमें इसलोक, तथा परलोककी अपेक्षासे दान देनेकी प्रणाली सबसे पुरानी है, श्रीमान् तीर्थंकर भगवान् सबसे पहले एक वर्ष दान देकर फिर दीक्षा लेते हैं।

### शीलमें भी दान धर्मका समावेश-

शील धर्ममें भी दानधर्म ज्योंका त्यों समाया हुआ है, क्योंकि ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करनेपर असह्य द्वीन्द्रिय, और असंख्य सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीवोंको तथा नवलाख गर्भजपंचेन्द्रिय जीवोंको ब्रह्मचर्य पालन करनेसे प्रतिवार अभयदान मिलता है। इतर शास्त्रकारोंने भी इसका बड़ा माहात्म्य लिखा है।\*

शील व्रतको स्वीकार करके वीर्य (आत्मशक्ति) का रक्षण करता हुआ गर्भादिके जन्ममरण संबंधी कष्टोंसे मुक्त होजाता है, और मानो वह अपने को भी अभयदान देता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शीलमें भी दान ही गर्भित है।

### तपमें भी दानधर्मका अन्तर्भाव-

शीलही तरह तपधरण करनेमें भी दानधर्मकी आराधना छुपी हुई है। यह सब जानते हैं कि-छः कायकी विराधना (हिंसा या आरभ) के बिना भोजनका बनना असंभव है। परन्तु साधक उपवासदि तप करनेपर इच्छाओंको रोकतेहुए छःकायका आरभ रोककर उस दिन अनन्त जीवोंको अभय दान देता है, अतः तप करनेसे भी दान धर्मका अनायासही पालन हो जाता है।

\* पुरात्रोपितस्यापि, या गतिर्ब्रह्मचारिणः ।

न सा ऋतुसहस्रेण, प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर ! ॥

.. (मार्कण्ड, ऋषिः)

भाषार्थ—एक रात भर ब्रह्मचर्य पालन करने से भी जो उत्तम गति तथा धेष्ट फल उस ब्रह्मचारी को मिलता है वह है युधिष्ठिर ! हजार यज्ञोंसे भी अप्राप्य है।

### भावधर्म तो दान धर्म है ही-

भाव प्रकृतिको रोक कर करुणा पैदा करनेका नाम है । तथा जीव और अजीवकी अप्रमत्तयोगसे रक्षाकरना भाव है, वहाँ भी सबको भावकी दृष्टिसे अगम्यदान ही मिलता है । अतः प्राणीरक्षाका नाम ही भाव या भावशुद्धि है ।

### क्या साधु भी दान देता है ?

जैन मुनि भी प्रतिदिन उपदेशदान, ज्ञानदान, शिक्षादान, रुचिच्छेदक शिक्षा दान देकर मानव समाजपर महान् उपकार करते हैं । इसपर लोक कभी यह भी कह देते हैं कि-साधुको अन्नदाता न कहकर दानी या राजाको ही अन्नदाता कहना चाहिए । साधु क्या कभी किसीको रोटी पानी दे सकता है ? मगर इतना तो अवश्य समझ लेना चाहिए कि-क्या भोजन अन्न ही हो सकता है ? और कोई वस्तु नहीं, क्या अन्नसे ही तृप्ति होती है ? यदि सब पूछा जाय तो आत्माकी सुराक अन्न पानी नहीं है । यह तो परवस्तु तथा शरीरको पोषण करनेवाली पौद्गलिकवस्तु है । और आत्माकी निजी सुराक तो उसका ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, धर्म, संवेद, निर्वेद, अनुकम्पा आस्तिक्य ही है । इस वास्तविक सुराकको प्राप्त करनेपर आत्माकी सदाके लिए तृप्ति हो जाती है । अतः पूज्य मुनिवर्य ज्ञान, दर्शन चरित्रकी आत्मीय सुराक देनेके नाते अन्नदाता भी हो सकते हैं । और इस दानके सुन्दर कार्य भारके संचालक मुनि ही होते हैं जोकि दोनों प्रकारसे निर्द्वन्द्व हैं ।

शील, तप और भाव गुप्त रीतिसे दानमें ही छुपे हुए हैं । अत एव चारों धर्मोंमें पहले दानको प्रमुखस्थान प्राप्त है । परन्तु दान, शील, तप भी भावके सद्भावसे अर्थात् पवित्रभावरूपी सुन्दरलहरके आनेपर सफल हो सकते हैं अन्यथा नहीं ।

### धर्मरत्न-

चतुर्विध अमून्य धर्मरत्न पाकर श्रेष्ठकुलनीप्राप्ति, समस्त इन्द्रियादिक की अनुकूल सामग्री युक्त मानवका कर्तव्य है कि-वह अनेकान्तवादकी शैलीको समझकर जिनेन्द्रके धर्मतरवका आश्रय पाकर आठकर्मरूप पदोंको तोड़नेका प्रयत्न करे ।

### कर्म नाश करनेकी कसौटी-

कर्मोंका नाश त्याग, वैराग्य, संयम, नियम, तपकी अभिमें आत्मासे इस



प्रकार होता है जैसे अग्निमें सुवर्णका मल नाश होता है अतः उपरोक्त साधनोंको साधकका कर्तव्य है कि उन्हें समझनेकेलिए सर्वज्ञप्रभुका उपदेश सुनना चाहिए। और आप्तका रहस्य जानना चाहिए। यह निस्संदेह है कि आप्त अठारह दोषों से रहित होते हैं। वे चार घनघातिक कर्म क्षय करके अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और वह अनन्तसुख बेहावस्थामें भी प्राप्त कर सकते हैं। वे साधु, साध्वी, धावक, धाविकारूप चार धर्मतीर्थ स्थापन करनेके नाते तीर्थकर कहलाते हैं। और धर्मका आय प्रयत्न करनेसे तथा अनन्त विभूति प्राप्त करनेपर वे अखण्ड देव और इन्द्रकी सेवा के योग्य होते हैं अतः अर्हन् भी हैं। और इस वर्तमान अवसर्पिणी-कालके चतुर्थ-आरकमें हमारे इस भारत वर्षमें २४ अर्हन् हो गए हैं जिनमें अन्तिम अर्हन् महावीर प्रभु हुए हैं।

### वीर प्रभुकी स्तुति-

ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुका हमपर पूर्ण उपकार है। उनके उपकारों का भूलजाना कृतघ्नता है। उन्हें निर्वाण हुए यद्यपि २४६५ वर्ष होगए हैं तथापि उनका अनुकरण करनेके लिए उनके गुणोंका स्मरण करना, तथा उनकी स्तुति करना हमारा परम कर्तव्य है, अतः आज उनकी स्तुतिरूप व्याख्या करनेकेलिए प्रयत्नशील हुआ हूँ।

### उनकी अनेक स्तुतिएँ और मेरा असामर्थ्य-

तत्वके अध्येताओंमें मुख्य विद्वानोंने उनके अनन्तगुणोंका अनेक उत्तम शब्दोंमें वर्णन किया है, परन्तु मैं भी अपने सम्पददर्शनके बलसे कुछ स्तुति करूँ मुझे ऐसी सूझ पैदा हुई है। यद्यपि मुझमें उन विद्वानों जैसी गतिभा तो नहीं, मगर मेरा उत्साह और भक्तिरी निर्भरता मुझसे बलत्कार रेणा कर रही है। कारण जिस रास्तेसे गहड़ अपनी चण्डगतिसे उड़कर निकल गया हो क्या उसके पीछे एक छोटीसी तितलीसे जानेकी इच्छा नहीं होती! भवदय होती है।

इसी प्रकार अल्पज्ञप्रायः मैं भी नानसोत्सुकता से भरपूर होकर ज्ञातपुत्र महावीर स्वामीकी स्तुति 'वीरस्तुति' सूत्रकृतांग नामा सूत्रके छठवें अध्यायकी व्याख्याके बहाने अवदन करसकता हूँ। मुझे आशा है कि उसने मुझे सफलता

अवश्य प्राप्त होगी। क्योंकि मणिमें जोय पिरोने की अपेक्षा उसका वेध करना कठिन होता है। अतः उनकी स्तुति रूप कृति तो पहलेसे ही विराजमान है किन्तु मैं तो उनकी स्तुतिरूप मणि को अपनी अननुभूत दृढ़ी फूटी लोक भापाके जोरेमें ही पिरोनेका सतत प्रयत्न करूंगा। और यह मेरी अनलीयसी भक्तिके कारण अधिक कठिन नहीं है। परन्तु यह सब प्रभुकी कृपा ही है। मेरी इसमें कुछ विशेषता नहीं है। क्योंकि उन्होंने २५०० वर्ष पहले आत्म-ज्ञानका मार्ग भगव्यात्माओंकेलिए परिमार्जित कर दिया है। इसमें मुझ सम अल्पमति की मजाल नहीं कि-कुछ विशेषता पैदा कर सकूँ, यह सब प्रकिया उनकी ही बताई हुई तो है।

**वीर प्रभु का गुण गान करते समय-  
आरंभमें गुरु और शिष्यकी बातें ।**

अन्तिम तीर्थंकर ज्ञातनन्दन-महावीर प्रभुके गुणोंको जाननेकेलिए जिज्ञासु जम्बू ने जोकि एक सुगुह्र अन्तेवासी शिष्य थे, वे वस्तुका निश्चय करनेमें सदैव सचेष्ट रहते थे, वे तत्वको पाकर असीम श्रद्धा और प्रतीति के साथ मनन करनेवाले महापुरुषों में से एक थे;

**आचार्य और उसकी पहिचान**

वे भगवान् सुधर्माचार्यकी सेवामें सदाचाल तत्पर रहते थे। सुधर्मा एक विशेष आचार्य तथा समझदार जैनममाजके सचे नेता थे। वे चतुर समाजको हमेशा संगठन और सचरित्री रहनेका पूर्णतया प्रभावोत्पादक उपदेश कियाकरते थे। वे स्वयं भी विनयशील और आचारयुक्त थे। क्योंकि जो स्वयं परिशुद्ध और गुणसमन्वित होता है वही चरित्रकांधीकी अध्यात्म-मनोरथ माला को गूँथ सकता है अतः वही आचार्य होनेका सर्वाधिकारी है। कहा भी है कि-“जो सूत्र और अर्थका जाननेवाला है, आत्माके ज्ञानलक्षणको माँजकर जिसने चमकील्य कर दिया है। चारोंसंघकेलिए जो (पृथ्वी की भान्ति) अवलम्बनभूत है, संघकी अशान्तिका नाश करदेता है, आत्म-तत्व का उपदेशक है, वही आचार्य होता है”,

यह पांच प्रकारके आचारोंका स्वतः पालन करता है। आपकी देखा देसी संघ भी सदाचारका अनुकरण करता है। इस प्रकारसे आचारका गाम्भातम्य उपदेश आचार्यके द्वारा ही मिलता है। क्योंकि—

“जो पांच प्रकारके आचारोंका स्वयं समाचरण करता है, अध्यात्म-ज्ञानका प्रकाशक है, चरेत्रको प्रगटमें पवित्र दृष्टिसे भावके रूपमें भर देता है, वही आचार्य होता है।”

### आचार्य के छत्तीस गुण-

पांच इन्द्रियोंको वश करते हैं, नववाडविशुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभको दूर करते हैं, पांच महाव्रतोंका पालन करते हैं, पांच आचारोंका समाचरण करते हैं, पांच समिति, तीनगुणि इन आठ प्रवचनोंको धारण करते हैं, ये छत्तीस-गुण उत्पन्न होनेपर आचार्यकी योग्यता आ सकती है अन्यथा नहीं।

### आचार्य को चतुर गोपाल की उपमा-

चतुर ग्वाल सब पशुओंको अपनी विचारदृष्टिमें रखता है। उन्हें किसीके खेतमें नहीं घुसने देता। इसीप्रकार आचार्यभी अपने संपको अशान्ति, कुसम्प, कपाय, रुढिवाद और वैषम्यकी ओर नहीं जाने देता, समाजमें क्लेश होते ही आचार्य तुरन्त मिटा देते हैं। या भग्यात्माओंके जन्म जन्मान्तरोंके क्लेश मिटा देते हैं। उन्हें सन्मार्ग-भग्यदर्शनका राह मुझा देते हैं, युक्त, अयुक्त, संसार-मोक्ष, हित-अहित, धर्म-अधर्मका रहस्य भिन्न भिन्न करके समझा देनेका उपकार प्रस्तुत करते हैं।

### उन्हें नमस्कार करने का प्रयोजन-

आचार विषयक उपदेश उन्हीं से प्राप्त होता है, इसलिए तीसरे पदमें उनकोभी नमस्कार किया है, क्योंकि उन्होंने चरित्रोपदेशकताद्वारा हम पर खूब प्रभाव डाला है, हम उन्हें उपकारकी दृष्टि से निरहंकार होकर नमस्कार करते हैं और द्वादशांगी-शास्त्र बाणीके पूर्णपाठी तथा औरोंको पढानेका कार्य भी इन्हींके हाथ है।

### आचार्य की विशेषता-

“ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप रूप उक्त मन्त्रकी उत्तम शैली से ये ही व्याख्या करते हैं।”

“ये मोक्ष शास्त्रके उपदेशक हैं ।”

“शिष्योंको सदाचारमें स्थापन करते हैं ।”

“शिक्षाके पूर्ण-स्वामी होते हैं ।”

“आत्मयोग-सिद्धिकर मार्ग इन्हीं से मिलता है ।”

श्रीमान् सुधर्म्म-आचार्य=आचार्यके समस्त गुणों से मण्डित हैं ।

### जम्बू अन्तेवासी का सुधर्म्माचार्य से प्रश्न ।

अगाध गुणसमुद्ररूप सुधर्म्माचार्यसे जिज्ञासु शिष्य जम्बूने अंतिम-तीर्थकर भगवान् शत्रुघ्न-महावीरस्वामीके गुणोंका परिचय प्राप्त करनेके लिए यह पूछा कि वे प्रभु कैसे थे । धर्म-वर-चक्रसे संसारमें रुखनेवाले कर्मोंका अन्त उन्होंने किस प्रकार किया । जिसमार्गका अनुसरण उन्होंने किया था यदि हम भी उसी मार्गका आश्रय लें तो हमारा प्रभुके साथ कैसे साम्य हो सकता है ? नरकके दुःखोंको सुनकर जिनका मन अत्यन्त उदास हो गया है, स्वर्ग और वैराग्यसे जो समलंकृत होना चाहते हैं, वे धमणादि सुलभे पूछते हैं कि-संसारसे पार करनेवाला धर्म किसने प्रतिपादन किया है ? संसारमें विचरण करते समय बहुतसे धमण भी यही प्रश्न करेंगे । वे धमण-साधु होते हैं । परिग्रह प्रन्थीके काटनेवाले हैं । निष्काम तप करते हैं । वे दूसरेके दुःख सुखको अपनी तरह समझनेके कारण खेदज्ञ भी होते हैं ।

### ब्राह्मण—

इसके अतिरिक्त सुलभे कई ब्राह्मण भी यही पूछेंगे । और वे ब्रह्मचर्यपालन करने से, सिद्ध-परमात्माका ज्ञान-मार्ग सुननेसे, परका आत्मा अपने सदृश जाननेसे, ब्रह्मके नामसे प्रसिद्ध हैं ।

### वृद्ध पुरुषों के यथाए ब्राह्मण लक्षण-

जिसमें सहनशीलता, निरीहता, अहिंसकता, उदारता, सत्य, शौच, पांच अणुमत, विया, विनय सम्पन्नता है उस पुरुषमें ब्राह्मणका पहला लक्षण है ।

जो शान्त है, इन्द्रियोंको अपने वशमें करता है, पवित्र और दृढ ब्रह्मचारी है । सब प्राणियोंके हित और कल्याणमें सदैव लगा रहता है । जो कभी भी क्रोधके आवेशमें नहीं आता । यह ब्राह्मणका दूसरा लक्षण है ।

जो निर्लोभी है, अभिमानसे रहित है, सर्वथा पापको त्याग चुका है, राग, द्वेष और मोहसे मुक्त है, यह तीसरा लक्षण है।

मार्गमें, जंगलमें, या किसीके घरमें पर वस्तुको देख कर जिसका चोरी करनेको जी नहीं चाहता, चोरी करके परवस्तु नहीं लेता है वह ब्राह्मणका चतुर्थ लक्षण है।

जो मांस, मदिरा, मधुका कभी सेवन नहीं करता है; गूलर, अंगीर आदि गठे सके झीड़ोंवाले फल नहीं खाता है, तथा रातको भोजन नहीं करता है, यह पांचवां लक्षण है।

**किसीने ब्राह्मण के १० प्रकार भी कहे हैं।**

देव, द्विज, मुनि, राजा, वैश्य, शूद्र, बिलाव, गधा, श्लेच्छ, चाण्डाल, इन भेदोंसे ब्राह्मण १० प्रकार के होते हैं।

**देव-**

जो एक वक्त्र भोजन करता है, मांस, मदिरा नहीं खाता पीता, तत्व ज्ञानके पारको पहुँच गया है, वह देव ब्राह्मण है।

**द्विज-**

महाव्रती-नियमयुक्त-संयम पालक इन्द्रियविजेता-समतोलन शक्ति बाला, आत्मा और मनका विजेता-क्षमा और सहिष्णु ब्राह्मण द्विज कहलाता है।

**मुनि-**

जो रुखा, सूखा खाकर सन्तोष कर लेता है, दिन में भोजन करता है, सदैव वनमें रहता है, दिन, रात आत्म-ध्यान में लगा रहता है। योगाभ्यासके साधनमें संलग्न है, वह मुनि-ब्राह्मण है।

**नृप-**

जो हाथी पोंडोंपर चढ़नेकी इच्छा रखता है, समर भूमि में जाकर युद्ध करता है, अपने देशको दासत्व की शंखला से मुक्त करके स्वतन्त्रता दिलाता है। जिसे अन्यायका नाश करते दया न आवी हो, न्यायसे शासन चलता हो, साम्यवादीकी स्थितिपालकतामें शूर वीर हो, जिसमें कायरता का नाम तक नहीं है। वह ब्राह्मण राजाके समान होता है।

### वैश्य-

जो खेती करता है, न्याय नीतियों व्यापार करता है, पशु पालन करता है, सदैव न्यायका पक्ष लेता है, जन समाज की सेवा में तत्पर है, जो दानके अर्थ सब प्रकारके धातुओंका अनुकूल-आर्य वृत्ति से संग्रह करना जानता है, वह ब्राह्मण वैश्यके समान है ।

### शूद्र-

जो लख और तैलका क्रय, विक्रय करता है, व्याज खाता है; मांस, मदिरा बेचता है, वह शूद्र ब्राह्मण है,

### बिलाव-

जिसे भक्ष्याभक्ष्यका ज्ञान नहीं है, जो गाने बजानेका काम करता है, परकी गायी है, वह ब्राह्मण बिलाव प्रकृति का है ।

### म्लेच्छ-

बाचवी, कुँवा, तास्यसे जो अनछना पानीका व्यवहार करता हो, परके आत्मसंबन्धी दुःखको न जानता हो, वह म्लेच्छ ब्राह्मण है ।

### चाण्डाल-

जो जंगलमें आग लगा कर खेती करता है, जो हरेक जीवको मार डालता है, अहिंसा धर्म से अनभिज्ञ है, वह विप्र चाण्डाल है ।

### खर-

शास्त्र अध्ययन और जप तप आदि अध्यात्मीय पद कर्म करना नहीं जानता है, मृतक के घर आहार करता है, उसे खर-ब्राह्मण समझना चाहिए ।

### अयोग्य ब्राह्मण-

जो अन्वके दोषोंको प्रगट करता है, और अपने पापको गुपा देता है, वह ब्राह्मण धर्मके अयोग्य है, उसका जीवन कुत्ते की पूंछ की तरह न्यर्थ है ।

### ब्राह्मण-परम्परा-

जन्म कालमें वह शूद्र रहता है, गुण वृद्धि पाकर द्विज होता है, साधन-भ्यास करनेसे विप्र है, और वह अध्यात्मयोग तथा प्रज्ञान पाकर ब्राह्मण हो जाता है ।

अब्राह्मण- जो क्रोध और मान तथा प्राणि-हिंसा करता है, असत्य-बोलता है, चोरी करता है, परिग्रह-सृष्टा युक्त है। वह ब्राह्मण जाति और विद्यासे हीन तथा पतित है, वही अब्राह्मण और पाप क्षेत्र कहलता है।

### ब्राह्मणोचित-सर्वश्रेष्ठ यज्ञ-

जो पांच संवर भावोंसे आसन्नद्वारा आनेवाले पापको रोकता है, जिसे जीवित रहनेकी आकांक्षा नहीं होती; जो कायोरसर्ग द्वारा आत्म-चित्तनमें लगा रहता है, मन, वाणी तथा कायके पापविकारोंसे अलग हटकर जो सर्व्वेया पवित्र हो गया है। जिसने देहका मोह त्याग दिया है, वह महाजय पानेका उत्तम अधिकारी है, यही श्रेष्ठ यज्ञ करता है।

### ब्राह्मणोचित तीर्थज्ञान-

धर्मरूपी ब्रह्म है, ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है, आत्माका प्रसन्न लेइया रूप पवित्र जल है, इसीमें ज्ञान करनेसे कमरहित और निर्मल होकर जन्म मरणसे मुक्त होता है। उसमें सदाके लिए अपुनरावृत्तिरूप पवित्रता आ जाती है। अध्यात्म दोषोंका सर्व्वेया अभाव तब ही होता है ॥ ४६ ॥

यह ज्ञान आत्मज्ञानके मर्मज्ञाने देखा है, ऋषियोंका श्रेष्ठतम और महाज्ञान (महाप्रत) ही है। जिसमें ज्ञान करनेवाले, पवित्र और कमरहित, होनेवाले महापिंगण उत्तम मोक्ष स्थानको प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणवाले ब्राह्मणोंकी तरह गृहवासी, क्षत्रियादिक तथा परमतावलम्बी भी यही पूछेंगे कि साधु और गृहस्थके भेदसे जो धर्म दो प्रकार का है वह किसने बताया है? उसका प्रणेता कौन है? जो धर्म दुर्गतिमें पडनेसे धारण करके आत्माको बचानेवाला है, समदृष्टिसे एकान्त कल्याण और हित करनेवाला है। जिसकी महिमा अनुल और अपार है। उसे किस प्रणेताने समतापूर्वक कहा है? जिसमें विषमता और पूर्वापर विरोधका नाम तक भी नहीं है ॥ १ ॥

गुर्जराती अनुवाद—आ संक्षाररूपी गहन वनमां भ्रमण करता प्राणिओने माटे दृष्ट दृश्यन्ते दुर्लभ एव मनुष्य जन्मनी प्राप्ति धवी अति कठम-  
छे, तदुपरान्त आर्यदेस, [आर्यभोजनं, आर्यवृत्ति, आर्यवेश, आर्यसहवास]

**वैश्य-**

जो खेती करता है, न्याय नीतिसँ व्यापार करता है, पशु पालन करता है, सबैव न्यायका पक्ष उठाता है, जन समाज की सेवा में तत्पर है, जो दानके अर्थ सब प्रकारके धातुओंका अनुकूल-आर्य्य श्रुति से संग्रह करना जानता है, वह ब्राह्मण वैश्यके समान है ।

**शूद्र-**

जो लोख और तैलका क्रय, विक्रय करता है, व्याज खाता है; मांस, मदिरा बेचता है, वह शूद्र ब्राह्मण है,

**विलाव-**

जिसे भक्ष्याभक्ष्यका ज्ञान नहीं है, जो गाने बजानेका काम करता है, परकी गानी है, वह ब्राह्मण विलाव प्रकृति का है ।

**म्लेच्छ-**

बावरी, कुँवा, तालाबसे जो अनछना पानीका व्यवहार करता हो, परके आत्मसंबन्धी दुःखको न जानता हो, वह म्लेच्छ ब्राह्मण है ।

**चाण्डाल-**

जो जंगलमें भाग लमा कर खेती करता है, जो हरेक जीवको मार डालता है, अहिंसा धर्म से अनभिज्ञ है, वह विप्र चाण्डाल है ।

**खर-**

शास्त्र अध्ययन और जप तप आदि अध्यात्मीय पद कर्म करना नहीं जानता है, मृतक के घर आहार करता है, उसे खर-ब्राह्मण समझना चाहिए ।

**अयोग्य ब्राह्मण-**

जो अन्धके दोषोंको प्रगट करता है, और अपने पापको छुपा देता है, वह ब्राह्मण धर्मके अयोग्य है, उसका जीवन कुत्ते की पूंछ की तरह व्यर्थ है ।

**ब्राह्मण-परम्परा-**

जन्म कालमें वह शूद्र रहता है, गुण वृद्धि पाकर द्विज होता है, शास्त्र-भ्यास करनेसे विप्र है, और वह अध्यात्मयोग तथा ब्रह्मज्ञान पाकर ब्राह्मण हो जाता है ।



अब्राह्मण-

जो क्रोध और मान तथा प्राणि-हिंसा करता है, असल बोलता है, चोरी करता है, परिग्रह-तृष्णा युक्त है। वह ब्राह्मण जाति और विद्यासे हीन तथा पवित्र है, वही अब्राह्मण और पाप क्षेत्र कहल्यता है।

ब्राह्मणोचित-सर्वश्रेष्ठ यज्ञ-

जो पांच संवर भावोंसे आसन्नद्वारा आनेवाले पापको रोकता है, जिसे जीवित रहनेकी आकांक्षा नहीं होती; जो कायोत्सर्ग द्वारा आत्म-चित्तनमें लगा रहता है, मन, वाणी तथा कायके पापविकारोंसे अलग हटकर जो सर्वथा पवित्र हो गया है। जिसने देहका मोह त्याग दिया है, वह महाजय पानेका उत्तम अधिकारी है, यही श्रेष्ठ यज्ञ करता है।

ब्राह्मणोचित तीर्थज्ञान-

धर्मरूपी ब्रह्म है, ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है, आत्माका प्रसन्न लेखा रूप पवित्र जल है, इसीमें स्नान करनेसे कर्मरहित और निर्मल होकर जन्म मरणसे मुक्त होता है। उसमें सदाके लिए अपुनराकृतिरूप पवित्रता आ जाती है। अध्यात्म दोषोंका सर्वथा अभाव तब ही होता है ॥ ४६ ॥

यह ज्ञान आत्मज्ञानके मर्मज्ञाने देखा है, ऋषियोंका श्रेष्ठतम और महाज्ञान (महाव्रत) ही है। जिसमें ज्ञान करनेवाले, पवित्र और कर्मरहित, होनेवाले महापिंगण उत्तम मोक्ष स्थानको प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणवाले ब्राह्मणोंकी तरह रहवासी, क्षत्रियादिक तथा परमतावलम्बी भी यही पूछेंगे कि साधु और रहस्यके भेदसे जो धर्म दो प्रकार का है वह किमने बताया है? उसका प्रणेता कौन है? जो धर्म दुर्गतिमें पडनेसे धारण करके आरमाको बचानेवाला है, समष्टिसे एकान्त कल्याण और हित करनेवाला है। जिसकी महिमा अतुल और अपार है। उसे किम प्रणेताने समतापूर्वक कहा है? जिसमें विपमता और पूर्वापर विरोधका नाम तक भी नहीं है ॥ १ ॥

गुर्जराती अनुवाद—आ संघाररूपी गहनं वनमा भ्रमणं करता प्राणिओने माटे दश दृष्टान्ते दुर्लभ एवा मनुष्य जन्मभी प्राप्ति थकी अति कठण-छे, तदुपरान्त आर्यदेस, [आर्यभोजन, आर्यवृत्ति, आर्यवेद, आर्यसहवास]

आर्यभाषा, आर्यजीवन,] उत्तम कुल, दीर्घ आयुष्य, आरोग्य शरीर, समस्त इन्द्रियोने इच्छानुकूल सामग्रीनो संयोग अने अध्यात्मिकजीवन गाळनार साधुपुरुषोनो सत्संग ए तेनाथी वधु कठण छे । पण वीतराग प्रणीत धर्ममां प्रयत्नशील बनवुं, ए सौधी वधु कठण छे । जगतना जीवोने कल्याणकर सर्वज्ञ कथित धर्मज छे, आ भाव औषधिना सेवनधी शारीरिक तेमज मानसिक सर्व रोगो नाथ पाभे छे, ते धर्म ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर प्रभुए दान-शील-तप-भाव ए चार प्रकारे बतावेलो छे ।

**दान धर्मनी विशेषता**—दानने सौधी प्रथम एटला माटे कहेवामां आवेल छे के दान धर्मनो पाछलना त्रणे प्रकारोमां पण समावेश थएला छे, जगतमां आ लोक तथा परलोकनी पातर दान देवानी प्रणाली सौधी पुराणी छे । श्रीतीर्थकर भगवान् सौधी पहलां वरसीदान आपीने पछी दीक्षा अंगीकार करे छे ।

**शीलमां दान धर्मनो समावेश**—शील धर्ममां पण दानधर्मनो समावेश थाय छे, ब्रह्मचर्य पालनधी दरेक बराते असंख्य वेदन्द्रिय असंख्य सम्मूर्छिमपंचेन्द्रिय तथा नव लाख गर्भज पंचेन्द्रिय जीवोने अभयदान मळे छे । अन्य शास्त्रकारोए पण आ व्रतनुं बहु ज माहात्म्य दर्शावेल छे ।

एकराशोपितस्यापि, या गतिर्ब्रह्मचारिणः ।

न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर ॥

[ मार्कण्ड ऋषि ]

**भावार्थ**—एक रात्रिना पण ब्रह्मचर्य पालनधी जे उत्तम गति तथा श्रेष्ठ फल ब्रह्मचारिने मळे छे, ते हे युधिष्ठिर ! हजार यज्ञोथी पण मळता नथी ।

शीलव्रतनुं पालन करीने वीर्य (आत्मशक्ति) नुं रक्षण करनार गर्भ, जन्म मरणादि दुःखोथी मुक्त थाय छे । एटले के ते पोताने पण अभयदान थावे छे । आथी शीलमां पण दान गर्भित होवानुं स्पष्ट जणाय छे ।

**तपमां पण दानधर्मनो अन्तर्भाव**—शीलनी माफक तपधर्यामां पण दानधर्मनी आराधना छुपायेली छे । आ बात सर्व कोई जाणे छे के छद्मयनी विराधना [ हिंसा या आरम्भ ] वगर भोजन तैयार थई सकतुं नथी । परन्तु

इच्छानिरोधरूप उपवासादि तप करवाधी छकायनो आरम्भ बंध थतो ते दिवसे अनन्त जीवोने अभयदान मले छे, तेथी तप करवाधी पण दानधर्मनुं अनायासे पालन थई जाय छे ।

### भाव धर्म तो दानधर्म छेज-

प्रवृत्तिने रोक्री करुणा राखवी तथा अप्रमत्तयोगधी जीव तथा अजीवनी रक्षा करवी, तेनुं नाम भाव छे, त्या पण भावनी दृष्टिए बधाने अभयदान मळे छे, तेथी प्राणीरक्षानुं नामज भाव अथवा भावशुद्धि छे ।

### शुं साधु पण दान दे छे ?

हा, जैन मुनि पण हमेशा उपदेशदान, ज्ञानदान, शिक्षादान, रुढि-च्छेदक दान दे छे, अने तेथी मानवसमाजपर महान् उपकार करे छे, कोई बखते लोको एम पण कहे छे, के साधुने नहि पण दानी अथवा राजानेज अन्नदाता कहेवा जोइए, साधु शुं कोईने भोजन पाणी व्यापी शके छे ? पण एटलुं तो जरूर समजी लेवुं जोइए के शुं अनाज मात्र भोजन कहेवाय छे ? बीजी कोई वस्तु नहि, तृप्ति शुं मात्र अनाजधीज धाय छे ? खरी रीते आत्मानो खोराक अन्न पण नधी, ए तो पर वस्तु तथा मात्र देहजुंज पोषण करनारी पौद्रलिक वस्तु छे. पण आत्मानो पोतानो खोराकतो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शम, सवेद, निवेद, अनुकंपा, आस्तिक्य छे । ते वास्तविक खोराकनी प्राप्तिथी आत्मानी हमेशाने माटे तृप्तिज थई जाय छे । तेथी पूज्य मुनिवर ज्ञान, दर्शन चरित्ररूपी आत्मीय खोराक आपता होवाधी तेओने अन्नदाता पण कही शक्य, अने आ दानरूपी सुन्दर कार्यना संचालक मुनिज होव छे, के जे बने प्रचारे निर्बन्ध होय छे ।

शील तप तेमज भाव शुसरिते दानमां समायेला छे तेथी चारे धर्ममां दानने प्रथम स्थान आपवामां आवेल छे, परन्तु दान, शील, तप पण भावन सद्भावधी एटले के पवित्र भावरूपी सुंदर लहर आववाधी सफल बनी शके छे, बीजी रीते नहि ।

### धर्मरत्न-

चतुर्विध अमृत्य धर्मरत्न मेळवीने श्रेष्ठकुल तेमज इन्द्रिमादिकनी अनुकूल सामग्री प्राप्त भयेल, मनुष्यनुं कर्तव्य छे के अनेकान्तवादीनी शैलीने समझीने

જિનેન્દ્ર કથિત ધર્મતત્વનો આશ્રય લઈને આઠકર્મરૂપી જાલને તોડવાનો તેને અવશ્ય પ્રયત્ન કરવો જોઈએ ।

### કર્મનાશનો ઉપાય—

જેવી રીતે અગ્નિથી મુવર્ણનો મેલ નાશ પામે છે તેવીજ રીતે લાગ, વૈરાગ્ય, સંયમ, નિયમ, તપરૂપી અગ્નિથી કર્મોનો નાશ થઈ જાય છે । સાધકનું એ કર્તવ્ય છે કે ઉપરોક્ત સાધનોને સમજવાને માટે તેને સર્વજ્ઞ પ્રભુની વાણીરૂપ ઉપદેશ સાંભળવો જોઈએ અને આત્મ [સર્વજ્ઞ] કોને કહેવાય તે સમજવું જોઈએ ।

આત્મ અઢાર દોષ રહિત છે, ચાર ધનપાતી કર્મનો ક્ષય કરી અનન્ત ચતુષ્ટય [ અનન્તજ્ઞાન, અનન્ત દર્શન, અનન્ત મુખ, અનન્ત શક્તિ ] ને વરેલા છે સાધુ, સાધ્વી, ધાબક ધાલિકા એ ચાર તીર્થના સ્થાપક હોવાથી તીર્થકર કહેવાય છે । ધર્મની આદિ કરવાથી તેમજ અનન્ત વિભૂતિમય હોવાથી તેઓ અસંખ્ય દેવ તેમજ ઇન્દ્રોથી સેવવા યોગ્ય છે । તેથી અર્હત-પણ કહેવાય છે । ચર્તમાન અવસર્પિણી કાલના ચોથા આરામાં આ ભારતવર્ષમાં ૨૪ તીર્થકર, એટલે આત્મ પુરુષો થઈ ગયા છે । જેમાંના અન્તિમ તીર્થકર જ્ઞાતૃપુત્ર મહાવીર પ્રભુ છે ।

### વીરપ્રભુની સ્તુતિ—

જ્ઞાતૃપુત્ર મહાવીર પ્રભુનો આપણાપર અલ્પન્ત ઉપકાર છે । તેમના ઉપકારોને મૂલી જવામાં જીતપ્રતા છે, તેથી જોકે તેમનું નિર્વાણ થયા ૨૪૬૫ વર્ષ થઈ ગયા છતાં તેમના ગુણોનું સ્મરણ કરવું તથા તેમની સ્તુતિ કરવી, એ આપણું પરમ કર્તવ્ય છે, તેથી આજે હું તેમની સ્તુતિરૂપ વ્યાખ્યા કરવા પ્રયત્નશીલ બન્યો છું ।

### તેમની અનેક સ્તુતિ અને માર્હ અસામર્થ્ય—

તત્ત્વજ્ઞોમાં મુખ્ય વિદ્વાનોએ અનેક ગુણોનું અનેક ઉત્તમ શબ્દોમાં વર્ણન કરેલું છે, પરન્તુ હું પણ પોતાના સમ્યક્દર્શનના ચલથી ચંદ્રક સ્તુતિ કરું, એવી ઉચ્ચ અને પવિત્ર અભિલાષા પ્રગટ થઈ । જો કે મારામાં તે વિદ્વાનો જેવી પ્રતિભા નથી, છતાં મારા ઉત્સાહ અને ભક્તિ મને ચઢાત્કારે પ્રેરણા કરી રહેલ છે, કારણ કે જે રસ્તે મહાદ-પોતાની પ્રચંડ મતિથી ડહીને પસાર થઈ ગયેલ હોય છે, તે રસ્તે તેની પાછલ એક નાના પરીને જવાની ઇચ્છા શું નથી બત્તી ? જરૂર ધાય છે ।

एरीते अल्पज्ञ प्राय- हुं पण मानवोचित उस्तुकताथी भरपूर बनीने 'वीरस्तुति' नामे श्रीमूत्र कृताज्ञना पठम अध्यायनी व्याख्यारूपे ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर प्रभुनी स्तुति करुं हुं मने आशा छे के तेमा मारी प्रसन्न भक्तिरूप सफलता जरूर थसे ।

मणिमां दोरो परोववा करता तेने वींधयुं बधु कठण छे, तेमनी स्तुतिरूप कृति तो प्रथमथी ज छे पण हुं तो तेमनी स्तुतिरूप मणिमां मारी वीनअनुभवी तूटीफूटी बालभाषारूपी दोरो परोववानो सतत प्रयत्न करीश, अने ते मारी अल्प अल्प भक्तिना कारणे अबिक मुश्केल नथी । पण ते वधी प्रभुनी कृपाज छे । तेमां मारी कशी विशेषता नथी । कारण के तेओथ्रीए २५०० वर्ष पहेल्य भव्या-त्माओ माटे आत्मज्ञाननो मार्ग सरल करी दीधेलो छे तेमा विशेषता उत्पन्न कर-वानी मारी अल्पजनी कशी शक्ति नथी । आ सर्व प्रक्रिया तेमनीज बतावेली छे ।

### वीरप्रभुना गुणगान करतीवखते प्रारंभमां गुरुशिष्य संवाद-

जिज्ञासु जंबुस्वामी मुमुक्षु तेमज मुख्य अन्तेवासी शिष्य हता, तेओ वस्तुनो निर्णय करवामा सदा तत्पर रहेता हता । तेओ तत्वने प्राप्त करीने असीम भ्रद्धा तेमज प्रतीति साथ मनन करवाबळ्ळा महापुरुषोमाना एक हता, तेओ भगवान् मुधर्माऽऽचार्यनी सेवामा सदा तत्पर रहेता हता ।

### आचार्यनी ओळख-

ते बखते मुधर्मा एक विशेष आचार्य तेमज समजदार जैनसमाजना माचा नेता हता. तेओ चतुरस्रमाजने सगटित तथा सबरिध्रवान् बनाववानो पूर्ण प्रभा-वगाळी उपदेण आप्या करता हता । तेओ पोते पण विनयशील अने आचारयुक्त-हता, कारण के जे पोते विगुद्ध तेमज गुणी होय छे तेज वीजाओ माटे चारित्रा-कांशीनी अध्यात्म मनोरथमाला मुंथी शके छे, तेथी आचार्यपणामाटे पूर्ण अधिकारी छे । कसुं पण छे के "जे सूत्र तेमज अर्थना जाणकार छे, आत्माना ज्ञानलक्षणने निर्मल बनावीने जेमणे प्रकाशित करेल छे, चारे प्रकारना संघने जेओ पृथ्वीनी पेटे आधारभूत छे । संघनी अशान्तिनो नाश करे छे, आत्मतत्त्वनुं उपदेश छे, ते आचार्य होई शके" ।

तेओ पाच प्रकारना आचारोनुं पोते पालन करे छे, तेमनी देखादेखीवी संघ पण सदाचारनुं अनुसरण करे छे, आ रीते आचारनो यथातथ्य उपदेश आचार्य द्वाराज मळी शके छे । कारणके तेओ अध्यात्मज्ञानना प्रकारक छे ।

### आचार्यना छत्रीश गुण-

पांच इन्द्रियोने वश करे छे, नव काड विशुद्ध मल्लचर्यनुं पालन करे छे । क्रोध-मान-माया-लोभ दूर करे छे । पांच महाव्रतनुं पालन करे छे, पांच आचार्यनुं समाचरण करे छे, पांच सम्मिति-धनगुप्ति ए आठ दया माताना प्रवचनने धारण करे छे । ए छत्रीश गुणवाला आचार्य कही शक्य, बीजा नहीं ।

### आचार्यने चतुर गोपालनी उपमा-

चतुर गोपाल बधा पशुओ पर पोतानी दृष्टि राखे छे, तेमने कोईना खेतरमई दाखल बधा देतो नहीं, तेबीज रीते आचार्यदेव पण पोताना संघने अशान्ति-जुसम्प-कषाय-स्फुटिकाद-विषमता-तरफ बधा देता नहीं, क्लेश धर्ता बेतज आचार्य तरल तेने शमावी दे छे, भव्यात्माओना जन्म जन्मान्तराओना क्लेशने मट्टाही दे छे, तेमने सन्मार्ग-सम्यग्दर्शननो सरल रस्तो बतावे छे । योग्य-अयोग्य, संसार-मोक्ष, हित-अहित, धर्म-अधर्म-विगेरेनी समजण आपे छे । एवा आचार्यप्रभु वादवा योग्य छे ।

### आचार्यने नमस्कार करवानुं प्रयोजन-

आचार्य सम्बन्धी उपदेश तेओनी पासेधी मळे छे, सेधी तेमने व्रीजा पदमां नमन करैछे छे, कारणके चरित्रोपदेशनो आपणा पर तेओ प्रभाव पाडे छे, आपणे तेमने उपकारनी दृष्टिधी निरभिमानी बनीने नमस्कार करैए छीए । द्वादशांगी- [शास्त्र-] वाणीना तेओ पूर्णपाठी छे, तेमज बीजाओने भणववानुं बर्य पण तेमने हाथ छे ।

### आचार्यनी विशेषता-

ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तप रूप गुण मंत्रनी उत्तम शैली थी तेओ व्याख्या करैछे, तेओ मोक्ष शास्त्रना उपदेशक छे, शिष्योने सदाचारमां स्थिर करे छे, शिक्षाना पूर्ण स्वामी छे, आत्म-योग-सिद्धिनो मार्ग तेमनी पासेधी प्राप्त थाय छे, थीमान् सुधर्माचार्य आचार्यना बधा गुणोधी विराजमान हता ।

### अन्तेवासी जंबूनो सुधर्माचार्यने प्रश्न-

अगाध गुण समुद्ररूप सुधर्माचार्यने ज्ञानसु जंबूए अन्तिम तीर्थकर भगवान् ज्ञानपुत्र महावीर स्वामीना गुणोनी परिचय प्राप्त करवाने माटे प्रश्न कर्यो छे "तेओ केवा हता ? ए धर्मवर-चक्रवर्तीए पोताना धर्मचक्रधी संसारना रचडा-

वनारां कर्मोन्नो अन्त तेओए कइ रीते कर्यो ? जे मार्गनुं अनुसरण तेओए कर्नुं, ते मार्गनो आधय जो अमे लइए तो प्रभु साथे अमारुं साम्य केवी रीते थई शके ? नरकरां दुःखो सांभळीने जेमनुं मन अलन्त उदास थई गयुं छे, ह्याय भने वैराग्यथी जेओ अलंकृत बनवा इच्छे छे, ते धमणादि मने पूछे छे के "संसार रूप समुद्रथी पार उतारनार धर्मनुं प्रतिपादन कोणे करेलुं छे ?" संसारमां विचरता घना धमणो आ प्रश्न पूछशे, ते धमण-साधु छे, परिग्रह धन्थीने कापनारा छे, निष्कम तप करे छे, तेओ पोतानी माफक बीजाभोनां मुसु दुःख समजे छे, तेथी ते खेदज्ञ पण होय छे ।

ब्राह्मण-

तदुपरांत मने कोई ब्राह्मणो पण पूछशे, ब्रह्मचर्यनुं पालन करता होवाथी, सिद्ध-परमात्माना ज्ञान-मार्गनुं धवण करता होवाथी, अन्य-आत्माभोने पोताना समान जाणता होवाथी, ते ब्राह्मण नामथी प्रसिद्ध छे ।

वृद्ध पुरुषोप वतायेला ब्राह्मणना लक्षणो-

जेनामा सहनशीलता, निरासक्ति, अहिंसकता, उदारता, सत्य, शौच, पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, विद्या विनयसम्पन्नता होय छे, तेमां ब्राह्मणनुं पहेलुं लक्षण छे । जे शान्त होय छे, इन्द्रियोनुं दमन करे छे, पवित्र अने दृढ ब्रह्मचारी छे, बधा प्राणिओना कल्याण-कार्योमां जे हमेशा तत्पर रहे छे, जे क्रोध करता नथी, ते ब्राह्मणनुं बीजुं लक्षण छे । जे निर्लोभी छे, निरभिमानी छे, सर्वथा पापना त्यागी छे, राग-द्वेष अने मोहजाळथी मुक्त छे, ते त्रीजुं लक्षण छे । मार्गमां, जंगलमां, अथवा कोईना घरमा पर वस्तुने जोईने चोरी करवानी इच्छा सरखी जेमने नथी थती, तैमज चोरी करीने पर वस्तुनुं ग्रहण जेओ करता नथी, ते ब्राह्मणनुं चोथुं लक्षण छे । जे मास, मदिरा, मधुनुं क्यारे पण सेवन करता नथी, गुलर-अजीर विगरे अभक्ष्यफळ तथा गळेलो-सळेल्यो फळ खाता नथी, तथा रात्रिभोजनना त्यागी होय छे, ते पाचमुं लक्षण छे ।

कोईए १० प्रकारना ब्राह्मण कहेला छे-

देव, द्विज, मुनि, राजा, वैश्य, शूद्र, बिलाव, गधा, म्लेच्छ, चाण्डाल ए जेदोथी ब्राह्मण दृष्ट प्रकारना होई शके छे.

देव ब्राह्मण—जे एक व्रत भोजन करे छे; मास, मदिरांनुं सेवन करता नथी, तत्वज्ञानना पारने पहुँची गया छे, ते देव ब्राह्मण छे ।

**દ્વિજ વ્રાહ્મણ**—મહાપત્ની, નિયમયુક્ત, સંવમપાલક, દ્વિદ્રવ્યવિજેતા, સમ-  
તોલનવૃત્તિવાદ્ય, આત્મા અને મનના વિજેતા, ધર્માવાન્, અને સહિષ્ણુ છે તે દ્વિજ  
વ્રાહ્મણ છે ।

**મુનિવ્રાહ્મણ**—જે ઉત્તો મુક્તો આહાર લઈને પણ સન્તોષ માને છે, માત્ર  
શિવશેજ. મોજન કરે છે, હમેશાં વનમાં વસે છે, દિનરાત આત્મધ્યાનમાં મગ્ન રહે છે,  
ભોગાન્યાસની સાધના કરે છે, તે મુનિવ્રાહ્મણ છે ।

**નૃપવ્રાહ્મણ**—

જે હાથી, ઘોડા પર સ્વારી કરવાની ઇચ્છા રાખે છે, રણ ભૂમિમાં જઈ યુદ્ધ  
કરે છે, સ્વદેશને ગુલાનીની જંજીરથી મુક્ત કરી તેને સ્વતંત્ર પચાવે છે, અન્યાયનો  
નાશ કરવાને જે પ્રયત્નશીલ છે, ન્યાયથી શાસન ચલાવે છે, સામ્યવાદની સ્થિતિ-  
પાલકતામાં શૂરવીર છે, વાયરતાનો અંશમાત્ર જેનામાં નથી, તે નૃપવ્રાહ્મણ હોય છે ।

**વૈશ્ય વ્રાહ્મણ**—જે છેલ્લી કરે છે, ન્યાયનીતિથી વેપાર કરે છે, યશુનું  
પાલન કરે છે, હમેશા ન્યાયનો પક્ષ ત્યે છે, જનસમાજની સેવામાં તત્પર રહે છે,  
જે દાન દેવા અર્થે સર્વ પ્રકારની ધાતુઓનો આર્યવૃત્તિથી સંગ્રહ કરવાનું જાણે છે,  
તે વૈશ્ય વ્રાહ્મણ છે ।

**શૂદ્ર વ્રાહ્મણ**—જે ત્યાગ, તેમજ તેલનો વેપાર કરે છે, વ્યાજ રાખે છે,  
માંસ મદિરા વેચે છે, તે શૂદ્ર વ્રાહ્મણ છે ।

**વિલાય વ્રાહ્મણ**—જેને ભક્ષ્યાભક્ષ્યનું જ્ઞાન નથી, જે ગાવા વજાવવાનું  
કાર્ય કરે છે, પરસ્ત્રીગામી છે, તે વ્રાહ્મણ વિલાય પ્રકૃતિનો છે ।

**મ્લેચ્છ વ્રાહ્મણ**—વાય-કુવા-તટાવમાથી જે અળગલ પાણીનો ઉપયોગ  
કરે છે, પરના ડુલોનો જે વિચાર કરતો નથી, તે મ્લેચ્છ વ્રાહ્મણ છે ।

**ચાણ્ડાલ વ્રાહ્મણ**—જે અંગલમાં આગ લગાડીને સેતી કરે છે, જે  
દરેક જીવને મારી નાખે છે, અર્હિસા ધર્મથી અજાત છે, તે ચાંડાલ વ્રાહ્મણ છે ।

**ચર વ્રાહ્મણ**—શાસ્ત્ર નું અધ્યયન કરતાં છતાં અધ્યાત્મ-પદ્ધત્ત કરવાનું  
જે જાણતા નથી, પ્રેતમોજન કરે છે તે ચર વ્રાહ્મણ છે ।

**અયોગ્ય વ્રાહ્મણ**—જે અન્યનાં દોષો પ્રગટ કરે છે, અને પોતાનાં પાપોને  
છુપાવે છે, તે વ્રાહ્મણ ધર્મ માટે અયોગ્ય છે, તેનું જીવન કુતરાની પૂછડી માફક  
અર્થ છે ।



**ब्राह्मण परम्परा-**

जन्मकालमां ते शूद्र होय छे, गुण वृद्धि पामीने द्विज बने छे, साक्षान्व्यान करवाथी विप्र धाय छे, अने अध्यात्मयोग तेमज ब्रह्मज्ञान प्राप्त करीने ते ब्राह्मण धाय छे ।

**अब्राह्मण**—जे क्रोध-मान-प्राणी हिंसा-करे छे, असत्य बोले छे, चोरी करे छे, परिग्रह राखे छे, तृष्णा युक्त छे, ते ब्राह्मण जाति अने विद्याथी हीन तथा पतित छे । अने ते पापक्षेत्र कहेवाय छे ।

**ब्राह्मणोचित श्रेष्ठ यज्ञ**—पाच इन्द्रियोनुं नियमन करनारा, जीवितन्वनी पग परवा नहि करनारा, कायोत्सर्ग द्वारा आत्मचिन्तकन करनारा; मन, वाणी, तथा कायना पाप विकारोधी दूर रहेनारा, अने कायनी आसक्तिधी रहिन, एवा महापुरुषो बहारनी शुद्धिनी दरकार न करतां उत्तम अने महाविजयी भाववज्ञने ज आदरे छे ।

**ब्राह्मणोचित तीर्थस्नान**—धर्मरूपी कुंड छे, ब्रह्मचर्यरूपी पुण्यतीर्थ छे, आत्मानी प्रसन्नलेदयारूप पवित्र जळ छे, तेमां स्नान करवाथी कर्मरहित अने जन्ममरणथी मुक्त धाय छे, हमेशने माटे अपुनरागृतिरूप पवित्रता आवी जाय छे, दोषोनो सर्वथा अभाव ल्यारेज धाय छे ।

एवुं स्नान आत्म कुशल पुरोए कर्युं छे, अने ऋषिओए तेज महास्नानने बलाप्युं छे, जेमां स्नानकरेला पवित्र महर्षिओ निर्मल धईने [कर्मरहित यईने] उत्तमस्थान (मुक्ति) ने पाय्या छे ।

उपरोक्त लक्षणवाला ब्राह्मणोनी पेटे गृहस्थो, क्षत्रियो, अने परधर्मिओ पग मने पूछे छे के एकत्र हितकारी अने अनन्य धर्म यथास्थित कोणे कयो छे ? ते धर्म दुर्गतिमा पडता जीवोने धरी राखे छे, बधानुं एकान्त कल्याण करे छे, ते अपार महिनामय छे ॥ १ ॥

**मूल**

कहं च णाणं कहं दंसणं से,

सीलं कहं णायसुपरस आसी ?

जाणासि णं भिक्खु ! जहातहेणं,

अहासुयं बूहि जहा णिसंतं ॥ २ ॥

## संस्कृतच्छाया

कथञ्च ज्ञानं कथं दर्शनं तस्य, शीलं कथं ज्ञातस्तुतस्याऽऽसीत् ?  
जानीये भिक्षो ! यथातथ्येन, यथाश्रुतं ब्रूहि यथानिशान्तम् ॥२॥

सं० टीका—तथैव तस्य भगवतो ज्ञातस्तुतस्य महावीरस्यान्तिम-  
तीर्थकृतः सम्यग्ज्ञानादिगुणावाप्तये प्रश्नयन्नाह—कथं केन प्रकारेण  
स वीरो “वि=विशिष्टां, ई=लक्ष्मीं, राति=ददातीति सः । अथवा  
विशेषेण ईर्ते=सकलान् पदार्थान् जानातीति वीरः, यद्वा वि=विशिष्टा  
इरा=वाग्दिव्यध्वनिरूपा, इरा=पृथ्वी-ईपत्प्राग्भारा स्वरूपाऽस्ति  
यस्यासौ वीरः, अथवा वीरयति, वीर इवाचरतीति वा वीरः । वीर-  
सपूर्णतामासाद्य कामराज-यमराज-मोहराजान् निराकरोतीति वीरः ।  
यद्वा वि=विशिष्टा इरा गगनगमनं अपुनरावृत्तिरूपं यस्यासौ वीरः ।”

तस्य भगवतो, ज्ञानं “हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो  
ज्ञानमेव तत्” “तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वाद्नुमानवत्”

अथवा—

“त्रिकालगोचरानन्त-गुणपर्य्यायसंयुताः,

यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ।

ध्रौव्यादिकलितैर्भावंनिर्भरं फलितं जगत्,

चिन्तितं युगपद्यत्र, तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥”

पुनश्च—

“अनेकपर्य्यायगुणैरुपेतं, विलोक्यते येन समस्ततत्त्वम् ।

तदिन्द्रियानिन्द्रियमेदभिन्नं, ज्ञानं जिनेन्द्रैर्गदितं हिताय ॥

रत्नत्रयीं रक्षति येन जीवो, विरज्यतेऽत्यन्तशरीरसौख्यात्,

रुणद्धि पापं कुरुते विगुद्धि, ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थवद्भिः ॥

क्रोधं धुनीते, विदधाति शान्तिं, तनोति मैत्रीं, विहिनस्ति मोहम् ।  
पुनाति चित्तं, मदनं लुनीते, येनेह बोधं तमुशन्ति सन्तः ॥”

तथाच—

“आत्मानमात्मसंभूतं, रागादिमलवर्जितम् ।

यो जानाति भवेत्तस्य, ज्ञानं निश्चयहेतुजम् ॥”

अथवा ज्ञायते सदसदनेनेति ज्ञानम् । “मोक्षे धीर्ज्ञानमित्यमरः” ।  
अवासवान्, किंभूतं भगवतो ज्ञानम् । विशेषावबोधकम्, लोकालोकावबोधकं-सर्वभावग्राहकं लोकालोकविषयं, नातः परं ज्ञानमस्ति ।  
न च केवलज्ञानविषयात्परं किञ्चिदन्यज्ज्ञेयमस्ति । तत्केवलज्ञानं,  
केवलं परिपूर्णं समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभावज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्य्यायमित्यर्थः । शुद्धात्मोत्थसहजपरमानन्दरूपमतीन्द्रियसुखं च केवलज्ञानादेवावाप्नोति । अनेन केवलज्ञानचेतनामयत्वेन  
केवलं ज्ञातृत्वादन्येषां कर्मबन्धं वाथवा कर्मफलं च शुभाशुभं केवलज्ञानेनैव ज्ञायते, सूक्ष्मबादरं चराचरं वा पूर्णसर्वज्ञत्वमिति भावः ।  
किंभूतं तस्य दर्शनं, सामान्यार्थपरिच्छेदकं दर्शनावरणरहितं चेति ।  
“निर्वर्णनं तु निर्घ्यानं, दर्शनालोकनेक्षणमित्यमरः ।” अथवा दृशेरव्यभिचारिणी सर्वेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिस्तत्सम्यग्दर्शनमिति । प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । संगतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । वाथवा जीवादीनि तत्त्वानि त एवार्थास्तेषां श्रद्धानं तेषु प्रत्यवधारणं, तदेवं प्रशमसंवेदनिर्वेदानुकम्पास्तिक्थाभिव्यक्तिलक्षणं सम्यग्दर्शनम् । यस्य मोहनीयसप्तकक्षयेन दर्शनं विशुद्धं तदेव सावरणं केवलं दर्शनं भवसंभूतक्लेशप्राग्भारभेषजमनेन चरणज्ञानयोर्बीजं महाव्रतविशुद्धभावजीवितं भवति । एतत्सद्दर्शनरत्नं मुक्तिदं विश्वलोकैकभूपामणिसदृशं । एवमेव

तच्छीलं चरित्रं यमनियमरूपं "शुचौः तु चरिते शीलमित्यमरः" ।  
 अतस्तत् स्वात्मभावेऽपि, यदाह मेदनी कोपे,—“शीलं स्वभावे  
 सद्वृत्ते योगान्तरे सिते” इति । “शीलं स्वभावे सद्वृत्त” इत्यमरोऽपि ।  
 तत्कीदृक् । ज्ञाताः क्षत्रियास्त्रैपां पुत्रो ज्ञातपुत्रः । “राजन्यः क्षत्रियो  
 ज्ञात इति कोपः” । “णायपुत्रे विसोगे” “गच्छति णायपुत्रे असणाए”  
 “इत्याचाराङ्गसूत्रे नवमाध्याये” । ज्ञातृपुत्रो भगवान् महावीरप्रभुरिति ।  
 तस्यासीदिति । यदेतन्मया पृष्टं तच्च हे भिक्षो ! “भिक्षुः परिव्राद्  
 कर्मन्दीत्यमरः” । सुधर्मस्वामिन् ! याथातथ्येन सम्यक्प्रकारेण जाना-  
 स्यवगच्छसि । तत्कृत्स्नं त्वया यथा श्रुतं कर्णगोचरी [ यथा भवति  
 तथा ] कृतं, यथा निशान्तं नितरामतिशयेन शान्तं ब्रूयाच्चक्षेति भावः ।  
 “निशान्तमित्यवधारितं यथा दृष्टं तथेति केचित् ।”

अन्वयार्थ—( हे ) उस ( णायमुयस्व ) ज्ञातपुत्र-महावीर भगवान्श्च  
 ( णायं ) ज्ञान ( कर्ण ) कँसा था, ( दंसणं ) दर्शन ( कर्ण ) कँसा था, और ( शीलं )  
 चरित्र ( कर्ण ) कैसा था, [ भिक्षु ! ] हे सुधर्मस्वामिन् ! आप [ जहातहेणं ]  
 अच्छे प्रकार [ जानासि ] जानते हो अत एव [ अहासुयं ] आपने जैसा मुझा है  
 एवं [ जहाणिसंतं ] जैसा निर्धारण किया है उसी प्रकार [ ब्रुहि ] फर्माइए ।

भावार्थ—आर्य जम्बू नामक जिज्ञासु-शिष्यने निवेदन किया कि-हे  
 सुधर्मस्वामिन् ! गुरुवर्य ! आप सब कुछ अच्छीतरह जानते हैं अत एव कृप  
 करिए और यह फर्माइए कि-भगवान् ज्ञातपुत्र महावीरका ज्ञान कैसा था ?  
 उन्होंने उस सम्यग्ज्ञानको किस प्रकार प्राप्त किया ? और उनका दर्शन सामान्य  
 प्रतिभास तथा यम-नियम और संयमादि शील-चरित्र किसभान्तिके थे ? ॥ २ ॥

भाषाटीका—मोक्ष लक्ष्मीके प्रदाता, सर्ववदार्थोंके ज्ञाता, जिगरी वाणी  
 विनश्य और अमोघ है, जो अष्टम पृथ्वी [ मोक्ष ] को प्राप्त कर नुस्रदे, वीर  
 रक्ष पूर्ण है, वीरता पूर्वक जिनने कामराज, मृत्युराज और मोहराजको  
 जीत लिया है, जिसका अविरल ज्ञानमें विशेष गमन अर्थात् प्रवेश है, वह वीर

रूपसे मंत्री भाव पैदा करनेका स्वभाव होजाता है। इसके अनन्तर मोह, अवि-  
वेक, चित्त विकारके पदें तोड़ डालता है। मोहका सर्वथा नाश होनेपर चित्त  
निर्मल और पवित्र हो कर स्थिर होता है, पवित्र चित्तवाला कामदेवका  
नाश करता है। जिसके ज्ञान-आत्माका उदय होगया हो उसमें इतनी किबाओं-  
का भी मननात्मक उदय हो जाता है, इससे ज्ञानी अटल मुखके पदको पानेका  
पूर्ण साधक बन जाता है।”

‘जो आत्माको राग द्वेषसे निकालकर निधय हेतु बन जाता है बुद्धि-  
मानोंने उसे भी ज्ञान कहा है।’

‘जिससे सत् अर्थात् उत्पाद, व्यव, ध्रौव्यका और असत्का विवेक हो  
उठता है, उसे भी ज्ञान ही कहा है।’

ज्ञान विशेष वस्तुका बोध कराता है, लोक और अलोकके परदे खुल जाते  
हैं। हथेली पर रखे हुए आमलेकी भांति सत्कारका सब स्वरूप और घटनात्मक  
भाव जानने लगता है। वह संपूर्ण ज्ञान केवलज्ञान या ब्रह्मज्ञान है। इससे  
बढकर ज्ञान-री और बोधे भूमिका नहीं है। केवल नाम ही पूर्णताका है, वह  
ज्ञान असाधारण है, निरपेक्ष और परमशुद्ध है, सब पर्यायों और भावोंका  
ज्ञापक है। इससे लोक और परलोक अवगम्य हैं। ज्ञानसे महज और उत्कृष्ट  
अनन्त आनन्द मिलता है। यही ज्ञान प्राणिजोंके कर्मबन्धना समय, तथा उनके  
शुभाशुभ फलका बोध कराता है। तथा सूक्ष्म-वादर, चर-अचरकी पूरी  
सबर रखने वाला सर्वज्ञ कहलाता है।

### दर्शन-

जिसमें किसी प्रकारका व्यभिचार नहीं पाया जाता; संशय, विपर्यय,  
मिथ्यात्व-या अनप्यवसाय आदि दोषों से रहित हो, इन्द्रिय और मनके विषय  
भूत समस्त पदार्थोंकी दृष्टि-श्रद्धारूप प्राप्तिको, अथवा संगत मुक्तिसे विद्व दार्शनको  
सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा जीव आदि नव पदार्थोंके भावों पर श्रद्धान पूर्वक  
-यथातुस्त्य धारण करना; जिससे क्रि-समता भाव, अस्थिर वस्तुजोसे विरकि  
दिलानेवाला वैराग्य, कर्म बन्धसे मुक्त होने की निरन्तर अभिलाषा, शत्रु  
मित्रके जटिल प्रधको उठाकर अभेद रूप अनुकम्पा और आत्मीय कर्मोंका उदय  
होने पर ही सुख दुःख होता है। इस रीतिका आत्मिक्यादि लक्षणोंका मनुष्य

होता है। त्याग, वैराग्य तथा विवेक शुद्ध होनेसे वही मुक्तिका अंग है। संसारके क्लेशरूपी रोगोंके भारको मिटानेमें आप्त रूप सम्यग्दर्शन ही है। जोकि ज्ञान और चरित्रका बीज रूप है। इसीसे महान्तोंके पालन करते २ परम आत्मामें स्थिर रहनेकी भावना जागृत होती है। ज्ञानात्माओंका विश्वमें सर्वोपरि भूषण रूप है। इस श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनसे निःसंशय मोक्ष पाता है जिसके निशंकसे लगाकर प्रभावना तक आठ अंग हैं।

### चरित्र-

उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्यायमें वीरप्रभुने स्वयं प्रतिपादन किया है कि मिथ्यात्व, अव्रत, कपाय, प्रमाद और मन बचन कायके अशुद्ध विचारोंसे जो पाप कर्म बांधे गए हैं, जिनका कि शुभाशुभ फल परिवर्तन करना अपने अधिकारमें अब न रह गया है उन कर्मोंको जिस पुरुषार्थ-बलसे नष्टकरके आत्माके कपायात्मा, योगात्मासे रिक्त करदेना चरित्र कहलाता है, चरित्रसे भविष्यके लिए प्रवृत्ति मार्गका अवरोध करके तपसे उसे अग्निमें सुवर्णकी भांति मल शोधन करता है। जिससे जन्मान्तरके कर्मोंका ध्वय होनेसे सब दुःखांसे रहित हो जाता है।

और यह चरित्र अणुव्रत और महाव्रतके भेदसे दो प्रकारका है। जिससे अपने भावोंको कपाय रहित करनेपर मूलगुण और उत्तरगुणरूप चरित्र एक देश या संबंधा संवम गुण प्राप्त करता है।

अतः भगवान् ज्ञातनन्दन महावीरका चरित्र कैसा था ?

### ज्ञातपुत्र-

वे ज्ञात-वंशके क्षत्रियोंके कुलमें उत्पन्न होनेसे ज्ञातपुत्र कहलाते थे। मुनि बनकर ज्ञातपुत्र कभी किसी वस्तु की वियोग दशामें शोक प्रगट न करते। ज्ञातपुत्र किसीके शरण नहीं जाते, तथा सदैव स्वावलम्बी रहते थे। उनकी भावना राग और द्वेषसे रहित-मध्यस्थ थी। वे अनुकूल, प्रतिकूल प्रसंगों पर लक्ष्य न देकर समय मार्गमें स्थिर बुद्धिसे अपनी धर्मप्रतिज्ञाओंमें सदा प्रवृत्त एवं दृढ़ रहते थे।

अतः गुरो ? मैंने उनके ज्ञान, दर्शन और चरित्रके विषयमें जो कुछ पूछा है। उसका आपने यथानुरूप अनुभव कर लिया है, अतः जो कुछ मुना देखा है, वह शान्त चित्त होकर मुझसे कहिएगा ?

**ગુજરાતી અનુવાદ—વીરભગવાનનાં રત્નત્રય સમ્યન્ધી પ્રશ્નો—**

મોક્ષલક્ષ્મીના દાતા, મર્ષ પદાર્થોના જ્ઞાતા, જેમની વાણી અમોઘ અને વિલક્ષણ છે, જે અટમ પૃથ્વી મોક્ષને પ્રાપ્ત કરીતુલ્યા છે, વીર રત્ન મરપૂર છે, વીરતાથી જેમણે કામરાજ મૃત્યુરાજ અને મોહરાજને જીતી લીધેલ છે, તે વીર કહેવાય છે, મહાવીર પ્રભુ મહાવીરજ હતા, તેમનામાં આ ચર્ચી વાતો હતી ।

**જ્ઞાન—**

તેનનું જ્ઞાન કેવું હતું ? કારણકે પ્રમાણજ હિનની પ્રાપ્તિ અને અહિનનો ત્યાગ કરવામાં મમર્થ છે, તેથી જ્ઞાનજ પ્રમાણ હોઈ શકે છે ।

વડી જ્ઞાનજ વસ્તુ તત્વનો નિર્ણય કરાવે છે, તેથી જ્ઞાનજ પરમ ઉપદ્યયી છે ।

પુનઃ વાગું છે કે—જેમા પ્રણે વાલ ગોચર અનન્તગુણ પર્યાય સંયુક્ત પદાર્થ અતિશય સાથ પ્રતિભાષે છે, તેને જ્ઞાનીજનો એ જ્ઞાન કહેઈ છે, આ ધામાન્યપણે પૂર્ણ જ્ઞાનનું સ્વરૂપ છે, આચારાદ્રવ્ય અનન્તપ્રદેષી છે તેના મધ્યમાં અસંખ્યાત પ્રદેષી લેખકાચ છે, તેમાં જીવ-અજીવ-પુદ્ગલ-ધર્માસ્તિશાય-અધર્માસ્તિકાય અને વાલ એ અનન્તદ્રવ્ય છે । તેના પ્રણ વાલ સમ્યન્ધી ભિન્નનિષ્ઠ અનન્ત પર્યાય છે, તે વધાને યુગપત્ [ એક સમયમા ] જાણવાનો પૂર્ણજ્ઞાન આત્માનો નિશ્ચય સમાવ છે ।

ઉત્પાદ-વ્યય-ધ્રોવ્ય સ્વભાવવાલા પદાર્થોથી આ જગત્ અતિશય મયું પમું છે, જે જ્ઞાનના આ મયું એકદમ પ્રતિબિમ્બિત થાય છે, તે જ્ઞાન પરમ યોગીધરોને માટે તો નેષ સમાન છે ।

તદુપરાન્ત પણ વાગું છે કે—“જેની દ્વારા મયાં તત્વોને વિચાર મેલિથી આત્મા સ્પટ રૂપે જુએ છે, જે તત્વમાં અનન્ત પર્યાય-યુગની મતા છે, તેને સમ્યક્ પ્રચારે જાણવાને માટે જ્ઞાનજ હિતકર અને પ્રથમ સાધન છે, તેનાથી આત્મા જડ-સસારથી અલગ થઈ શકે છે ।”

આત્માનો કન્યાપ કરવાવાલાનો માટે જ્ઞાનનું આગધન સૌથી પ્રથમ એટલામાટે હૃદ છે કે તેનાથી જીવ પાંડુલિક તેમજ શારીરિક મુલથી વિરલ્લ મની જાય છે । પોતાના આત્મીય ગુણરજની રક્ષા તેની છત્ર છવામાં મઈ શકે છે । વડી તેનાથી પ્રગુલ્તિ-પાપદાર જે રોડીને આમસોધમાં ઝાળી જાય છે ।

જ્ઞાનની પૂર્ણ માપાના પ્રભાવથી ક્ષેપ શાન્ત મઈ જાય છે । તેનાથી આત્માને અર્પું સમભાવની કાંચી થાય છે । શાન્તિના ધરણે સર્વપ્રાણિભોનાં અનેદરૂપે

मैत्रीभाव पेदा करवानो स्वभाव थई जाय छे । मोह अविवेक अने चित्त विकारनो पडदो तूटी जाय छे । मोहनो सर्वथा नाश थई जवाधी चित्त निर्मल अने पवित्र बनीने स्थिरता प्राप्त करे छे । पवित्र चित्तवाळो कामदेवनो नाश करे छे । जेनामां ज्ञानात्मानो उदय थएलो छे, तेनामां आटली क्रियाओनो उदय थई जाय छे, तेनाधी अटल मुखना पदने प्राप्त कराववानुं ते साधन बनी जाय छे ।

जे आत्माने राग-द्वेष अने मोहमांथी बहार काढवामां निश्चय हेतुरूप छे तेने पण बुद्धिमानोए ज्ञान कहेछं छे ।

ज्ञान विशेष वस्तुनुं बोधक छे, लोकालोकनुं प्रगट स्वरूप समजाय छे हस्तामलकवन् संसारना सर्व स्वरूपनुं तथा घटनात्मक भावनुं जाणपणुं थाय छे । ते सम्पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान छे । तेनाधी अधिक ज्ञाननी बीजी कोई भूमिका नथी । केवल एटले पूर्णता, ते ज्ञान असाधारण, निरपेक्ष अने परम शुद्ध छे, सर्व पर्याय तेमज भावोनुं ज्ञायक छे । तेनाधी लोकालोकनुं ज्ञान थाय छे । तेनाधी सहज तेमज उत्कृष्ट अनन्त आनन्द मळे छे । ते ज्ञान प्राणिओना कर्मबन्धनो समय तथा तेना शुभाशुभ परिणामोनो बोध करावे छे । सूक्ष्म-वादर-चराचरनुं पूर्णज्ञान सर्वजने होय छे ।

### दर्शन-

जेना कोई प्रमारनो व्यभिचार नथी होतो; सशय, विपर्यय, मिथ्यात्व अथवा अनप्यवसाय आदि दोषोधी जे रहित छे, इन्द्रिय अने मनना विषयभूत सर्व पदार्थोनी दृष्टि-श्रद्धारूप प्राप्तिने सम्यग्दर्शन कहे छे, जीवादि नवतत्वना भावोपर श्रद्धानपूर्वक तेनुं यथानुरूप धारण करवुं, जेनाधी समता भाव अस्थिर वस्तुओनी विरक्ति रूप वैरान्य, कर्म बंधधी मुक्त होवानी निरन्तर अभिलाषा, राज्ञु मित्र पर अमेदरूपे अनुकम्पा, आत्मीय कर्मोनो उदय थवाधीज सुख दुःख थाय छे, ते जातना आस्तिक्यादि लक्षणोनो उदय थाय छे, लाग-वैराग्य तथा विवेक शुद्ध थवाधी जे मुक्तिनुं अग छे, संसारना क्लेश रूपी रोगोना समूहने मटाडवामा जे औषधरूप छे, ते सम्यग्दर्शन छे, ज्ञान अने चरित्रना बीजरूप छे, तेनाधी महाव्रतोनुं पालन करतां करता स्थिरतानी भावना जागृत थाय छे, ज्ञानीओनुं विश्वमा ते सर्वोपरि भूषण छे, ते श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनधी निःशंसय मोक्षनी प्राप्ति थाय छे, तेना निःशंकधी मांसीने प्रभावना सुधीना आठ अग छे ।



### चरित्र-

उत्तराध्ययनना २८ मां अध्यायमा धीवीरप्रभुए स्वयं प्रतिपादन करेलुं छे के सिध्यात्, अवत, कगाय, प्रमाद अने मन-वचन-कायना अशुद्ध योगधी जे यापकर्म बंधाएत्तं छे के जेनां शुभाशुभ फलमां परिवर्तन करवानी सत्त आगण्य ह्ययनां नथी रही, ते कर्मोना पुरुषार्थबळधी नाश करीने आत्माने कयावात्मा अने योगात्माथी अलग करी देवो, तेनुं नाम चरित्र छे, चरित्रधी भविष्यनी प्रवृत्तिमार्गो अवरोध करीने जेम अग्निधी सुवर्णो मेल दूर धाय छे, तेम तपधी जन्मान्तरना कर्मोना नाश करीने आत्मा सर्व दुःखोशी रहित धाय छे ।

आ चरित्रना अणुव्रत तथा महाव्रत एम बे भेद छे, पोताना भावोने कपा-यरहित करवाथी मूल गुण तथा उत्तरगुण रूप चरित्र एक देस अथवा सर्वथा संयम गुण प्राप्त करे छे ।

जम्बूमुनि सुधर्माचार्यने पूछे छे के भगवान् ज्ञातृपुत्र-महावीरजुं रत्रत्रय केवुं हतुं ?

### ज्ञातृपुत्र-

तेओ ज्ञातृ वंशना क्षत्रिय कुलमां जन्म्या होवाथी ज्ञातृपुत्र कहवात्ता हता, मुनि बनोने ज्ञातृपुत्र कोई वस्तुनी वियोग दशाना शोक नहोता करता, ज्ञातृपुत्र कोईने वश न थता, पण सदैव स्वाकल्यी रहेता, तेमनी भावना रागद्वेष रहित मध्यस्थ हती । तेओ अनुहृत प्रतिकूल प्रसंगो पर ध्यान आप्या बगर संयम मार्गमां स्थिर रहीने पोतानी धर्मप्रतिज्ञाओमा हमेशां प्रवृत्त रहेता हता ।

तेधी हे आचार्य्य भगवान् ! में तेमनां ज्ञान-दर्शन अने चरित्र गम्बन्धी जे प्रश्न कयो छे, तेनो आपे यथानुरूप अनुभव प्राप्त कयो छे ते जेम तमे सांभळ्युं होय अने धायुं होय ते शान्त चित्त मने कहो ।

### मूल

खेयन्नए से कुसले महेसी,  
अणंतनार्णीय अणंतदंसी ।  
जसंसिणो चक्रवृपहे ठियस्स,  
जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥ ३ ॥

संस्कृतच्छाया

खेदज्ञः [क्षेत्रज्ञः] स कुशलो महर्षिः,

अनन्तज्ञानी च अनन्तदर्शी ।

यशस्विनः चक्षुःपथे स्थितस्य,

जानीहि धर्मं च धृतिं च प्रेक्षस्व ॥ ३ ॥

सं० टीका—स ज्ञातनन्दन-महावीरो भगवान् चतुर्दशदतिशय-समेतः, पंचत्रिंशद्वाणीगुणोपपेतः “उप अप इतः ‘शकन्द्वादिषु पर-रूपं वाच्यमिति वासिकेन’ पररूपत्वे उपपेत इति” । खेदं संसारान्त-र्वर्तिजीवानां कृतकर्मविपाकजं शारीरिकं मानसिकं च दुःखं क्लेशं, आत्मीयज्ञानेन जानातीति खेदज्ञः—सदयः । “खेदज्ञः सदयो वीर इति कोपः” । तं परकीयात्मदुःखं विज्ञाय समस्तप्राण-भूत-जीव-सत्वानां दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानादियुक्त इति । अथवा ‘स्वेयन्नप’ इत्यस्य ‘क्षेत्रज्ञ’=इतिच्छाया तत्रायमर्थः क्षेत्रमाकाशं तद्वक्षणया तन्म-ध्यवर्ती धर्माधर्मात्मकालपुद्गलसमूहस्तज्जनातीति क्षेत्रज्ञः । लोकालोक-स्वरूपपरिज्ञातृत्वादिति । पुनश्च वा यथाऽवस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादनुभ-वनादात्मज्ञ इत्यपि साधुरेव । अथवा क्षेत्रं=शरीरं तदसारतया जाना-तीति (दर्शयतीति) वा, क्षेत्रं स्त्रीविषयदोषं तद्रमणानुरक्तजं तज्जाना-तीति क्षेत्रज्ञः । “क्षेत्रं नारीशरीरयो” रित्यमरः । कुशलो=निपुणः, सदसज्ज्ञानप्ररूपकत्वात् । “प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षितः । वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल” इत्यमरः । अथवा तानष्टकर्मकुशान् लुनातीति कुशलः । प्राणिनां कर्मोच्छिद्ये निर्जरार्थाय निपुणः समर्थः । “पर्याप्तिक्षेमपुण्येषु कुशलं शिक्षिते त्रिष्वित्यमरः” । अथवा प्राणिनां भावुको भद्रकारको मङ्गलप्रदः । “श्वः श्रेयस शिवं भद्रं कल्याणं मंगलं शुभम् । भावुकं भविकं भव्यं कुशलं” इत्यमरः । ‘आमुपपत्ते’

इति पाठान्तरं तस्याऽयमर्थः । आमुपन्ने=आशु शीघ्रं प्रज्ञा यस्यासावा-  
 शुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगत्वात् [न तु छद्मस्यः शाठ्योऽल्पज्ञ इव  
 विचिन्त्य जानातीति भावः । छद्मनि शाठ्येऽल्पज्ञत्वे तिष्ठतीति  
 छद्मस्यः । “कपटोऽस्त्रीव्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे, कुसृतिर्निष्कृतिः  
 शाठ्यमित्यमरः ।” छाद्यते स्वरूपमनेनेति छद्म, कपटे, छले, व्याजे,  
 अपदेशे, स्वरूपाच्छादने, रजते, नवनीते, शुद्धे, ऽक्षिरोगभेदे च, ]  
 महर्षिः=महार्थासावृषिश्चेति महर्षिरित्यत्यन्तोऽप्रतपश्चरणानुष्ठायित्वाऽनु-  
 कूलप्रतिकूलपरिपहोपसर्गादिमहातितिक्षासहनाच्चेति वा, याथातथ्येन  
 तत्वानां प्रकाशकत्वात्सत्यवाक्त्वान्महर्षिः । “ऋषयः सत्यवचस इत्य-  
 मरः” । अनन्तज्ञानी=अनन्तमवसानरहितमविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छे-  
 दकं वा विशेषार्थग्राहकं ज्ञानमस्यास्तीति अनन्तज्ञानी । एवं सामान्या-  
 र्थपरिच्छेदकत्वादनन्तदर्शीत्यथवा विशेषार्थज्ञानमनन्तमनवधिकमपरि-  
 च्छिन्नमित्यर्थः सर्वज्ञतेति भावः । सामान्यार्थग्राहकदर्शनं ते द्वे अपि  
 यस्यानन्ते । “अनन्तोऽनवधावित्यमरः” तदेवं भूतस्य युक्तस्य, अनन्त-  
 गुणसहितस्य भगवतो यशःसुरासुरनरातिशाय्यतुलं प्रमाणरहितं चास्ति  
 यस्य स यज्ञस्त्री=तस्य यज्ञस्त्रिनो, लोकस्य=जगतश्चक्षुःपथे=नयनमार्गे  
 भवनस्य केवलावस्थायां विद्यमानस्य लोकाः सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भ-  
 वनेन च दृग्भूतस्य स्थितस्य जानीद्वगच्छ । धर्म संसारोद्धरणस्वभा-  
 वत्वावच्छिन्नं श्रुतचारित्ररूपं । समतातपस्तुष्टियमार्जवोचमक्षमादिवि-  
 हितात्मपुरुषार्थं वा । “श्रुतिः क्षमा दमोऽस्त्रेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।  
 धीर्विद्या सत्यमक्रोधं दशकं धर्मलक्षणमिति” स्मृतिः ।

तथा च—

धारणाद्धर्ममित्याह, धर्मो धारयते प्रजाः,

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

देशकालवयोवस्थाबुद्धिशक्त्यनुरूपतः

धर्मोपदेशभैषज्यं, वक्तव्यं धर्मपारगैः ॥ इति वृद्धाः ।

निष्प्रकम्पां चारित्राचलनस्वभावं धृतिं संयमे धैर्यं, अथ वा प्रति-  
ज्ञायाः पालने दृढत्वं धैर्यम् । “धृतिर्धारण-धैर्ययोरित्यमरः ।” संयमे  
धृतिं रतिमेतीति, तत्प्रणीतां प्रेक्षस्व सम्यगवबुध्य पर्यालोचयेति  
भावः । यदि श्रमणैस्त्रैः सुधर्मस्वामिभिः कथितस्तत्त्वं भगवतो यशस्वि-  
नश्चक्षुःपथे स्थितस्य धर्मं धृतिं चावबुध्यसे तथैव रीत्यास्माकं कथयेति  
संगतिः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—[ से ] भगवान् महावीर [ खेयजे ] खेद अथवा क्षेत्र-  
आत्माके जानने वालोंमें [ युगले ] प्रवीण [ महेसी ] महर्षिं [ अणंतनाणी ]  
अनन्त-ज्ञानयुक्त [ अणंतदर्शी ] अनन्त-दर्शनसमन्वित [ य ] और [ जसंमिणो ]  
यशस्वी थे, अतः अर्हन्दर्शानं ही भगवान्को [ चक्रगुणहे ] आखोंके विषयरूपसे  
[ त्रिस्त ] स्थित [ जाणाहि ] जान । ( च ) और ( धम्मं ) भगवान्के प्रतिपा-  
दित धर्मको ( च ) और ( धिईं ) संयमकी दृढताको देख ।

भावार्थ—आर्य्य-मुधमाने आर्य्यजम्बूसे प्रभुके ज्ञान-दर्शन-चरित्रके  
तथा यद्यः कीर्तिके सम्बन्धमें यह वर्णन किया कि-वीरप्रभु जगत्के दुःखोको  
कर्मोंके फलसे पैदा होना मानते थे, क्योंकि उनको आत्मासे अलग करनेका उप-  
देश करते थे । आत्माके सत्-चित्त-सुरात्मक स्वरूपके ज्ञाता थे । कर्मरूपी  
कुशाको उरगाडनेमें उद्यमशील थे, महान् ऋषि थे, अनन्त-पदार्थोंको एक सम-  
यमें जाननेके कारण अनन्तज्ञानी थे, अनन्तदर्शन-केवलदर्शनसमन्वित थे, तथा  
अखंडकीर्तियुक्त थे, इसलिए भगवान्को अर्हन्दर्शानं मे आखोंके समान सूक्ष्म-  
पदार्थ दीखते थे, अतः उनके कहे हुए धर्मको तथा चरित्र सम्बन्धी स्थिरताका  
धृढायुक्त दृढविचार करो ॥ ३ ॥

भाषाटीका—ज्ञातनन्दन महावीर प्रभु शासनके प्रति ३४ अतिशय  
युक्त और ३५ वाणीके गुणोंसे अलंकृत एवं शोभित थे ।

## ३४ अतिशय-

(१) केश तथा दाढ़ी मूछ के बाल बढ़ते नहीं, या अमुन्दर रीति से नहीं बढ़ते । (२) शरीर नीरोग रहता है । (३) उनके शरीरका छदिर तथा मांस दुग्धकी तरह सुन्दर और स्वच्छ होता है, अद्वैत होता है, धिनीना नहीं लगता । (४) मुखमें कमलकी सी सुगंधि रहती है, असल्य अथवा दुग्ध नहीं होती । (५) आहार और नीहारको चर्मचक्षुवाले नहीं देखते, क्योंकि ये क्रियाएँ गुप्त की जाती हैं । (६) आकाश गत छत्र रहता है, अर्थात् सिद्धों का स्मरण अभेद रूपसे करते रहते हैं । (७) आकाश गत चमर शुभ्र शुभ्र, चरित्र रूप धर्म ऊंचा रहता है । (८) आकाश गत स्फटिकमय सिंहासन, उनका १३ वां गुणस्थान शोभित है । (९) पादपीठिका सहित ध्वजरूप तीर्थकर नाम कर्मकी कीर्ति आकाशमें गूंजती रहती है । (१०) प्रभु अशोकमय छायामें रहते हैं, वहा जानेसे औरोंका शोक निवारण करते हैं । (११) मार्गमें चलते समय कंटकेकी तरह तीक्ष्ण और पंने हठवासी विनीत हो जाते हैं । (१२) ऋतु अर्थात् समय अनुकूल तथा धर्मकदल हो जाता है । (१३) १२ योजन तक शान्तिका वायु चलता है । (१४) ज्ञान धारा प्रवाहित होनेसे कर्म रजकर अभाव हो जाता है । (१५) भगवाद् के समवसरणमें समभावका साम्राज्य छा जाता है । (१६) शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्शमें अनुकूलता और प्रतिकूलता रूप प्रवृत्ति विवृति भाव जाता रहता है । (१७) निधय और व्यवहार नय रूपी चर्वर दुलते रहते हैं । (१८) प्रभा या अनन्तज्ञानप्रतिभा रूप भामंडल पीठ आसन या आत्माकी शोभा युक्त हैं । (१९) उनकी मधुर भाषा एक योजन तक सुनई पडती है । (२०) स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी उनकी सांकेतिक अर्थ मागधी भाषाको अपनी भाषामें समझते हैं । (२१) गर्व्य लेकर आनेवाले लोक प्रभुकी बाणीसे न्याय लेकर निरहंकार होजाते हैं । (२२) प्रभु जहां विचरते हैं वहासे १२५ योजन चारों ओर सात इतियोंमेंसे कोईभी इति (भय) नहीं होती । (२३) मनुष्य और तिर्यंच आपसका जातीय द्विप भाव तथा वैर विरोध छोड देते हैं । (२४) जनता में किसी प्रकार का भय नहीं होता । (२५) मारि आदिक रोग नहीं होते । (२६) अतिदृष्टि नहीं होती । (२७) अनादृष्टि नहीं होती । (२८) दुर्भिक्ष नहीं होने पाता । (२९) स्वचक्र-अग्ने राजा या अशुभ कर्मोंका उपाद्रव नहीं होता । (३०) पर चक्र-पर राजा या पुद्गल प्रपंचकर

विग्रहादि उपद्रव नहीं उठता । (३१) पहलेका फेला हुआ व्याधि रोगादिक नष्ट होजाता है । (३२) बलवान् दुर्बलको नहीं सताता । (३३) पुराण रोगकी उपशान्ति होजाती है । (३४) नवीन रोगका संवरण होजाता है ।

### ३५ वाणी गुण-

(१) सुन्दर संस्कारित भाषा होती है । (२) स्वर उच्च होता है । (३) भाषा प्रानीण और साधी होती है । (४) स्वर और भाषोच्चारणमें गंभीरता होती है । (५) बोलते समय ध्वनि निकलती है । (६) वाणी सरस होती है । (७) राग युक्त भाषा होती है । (८) मूत्र थोडा और अर्थ अधिक होता है । (९) वाणीमें पूर्वापर विरोध नहीं होता । (१०) सन्देह रहित भिन्न २ अर्थ प्रकाशन होता है । (११) निश्शंकित गुण दाता हैं । (१२) वाणी अकाम्य युक्ति युक्त होती है । (१३) चित्त अन्यथा न होकर स्थिर होजाता है, अतः वाणी आकर्षक होती है । (१४) वाणी देश और कालसे उचित संबंध रखती है । (१५) अधिक विस्तृत होकर भी अनमेल या अस्वच्छिन्न नहीं होती । (१६) जीवादि वस्तु विचारका ज्ञान कराने वाली भाषा होती है । (१७) उपदेश करते समय किसीका मर्म प्रकाश नहीं करते । (१८) भाषा पूर्वापर सापेक्ष होती है । (१९) आख्यायिकाकी तरह वाणी मनको प्रेमास्पद बना देती है । (२०) भाषा मधुर और अनादिकालकी भूख मिटाने वाली होती है । (२१) उनकी श्रद्धेय भाषा स्वयं सिद्ध होती है । (२२) वस्तुका वास्तविक ज्ञान प्रकट कराती है । (२३) परनिन्दा रूप और अपनी प्रशंसा रूप भाषा नहीं होती । (२४) प्रशंसनीय भाषा होती है । (२५) बोलते समय अधिक कालक्षेप नहीं करते । (२६) चित्तको सन्तोष होता है । (२७) व्याख्यान मध्यम गतिका होता है । (२८) श्रोता कर्म रोगसे मुक्त हो जाता है परन्तु मनन करने पर । (२९) वाणी अनादि कालकी भ्रमणा मिटाती है । (३०) जिसका वर्णन करते हैं उसका संक्रमण उसी विशेष रूपसे करते हैं । (३१) उनकी भाषा वचनान्तर नहीं होती । (३२) पद, अर्थ अलग २ करके बोलते हैं । (३३) सत्व और साहस श्रोताओंका बढ जाता है । (३४) धर्मश्रवण करते हुए लोक अघाते नहीं । (३५) जीवादिक की अविच्छिन्न प्ररूपणा करते हैं ।

**खेदज्ञ-**

संसारके प्राणियों द्वारा अर्जन किए हुए मारमिक दु खविपाकको जानते हैं। कर्म विपाकमें उत्पन्न शारीरिक मानसिक क्रेशोंको प्रभु सदय होकर जानते तथा देखते हैं। उनको दुःखोंका ज्ञान करानेके अनन्तर प्राण, भूत, जीव और सत्वकी अशान्ति दूर करनेके लिए अहिंसा, सत्य, निस्तृष्ण आदिका उपदेश करके संगारमें शान्तिकी स्थिति-स्थापना करते हैं। अतः खेदज्ञ हैं।

**क्षेत्रज्ञ-**

आकाशके अनन्त प्रदेशोंमें धर्म, अधर्म, जीव, फाल और पुद्गलके अनन्त समूहको जाननेके कारण प्रभु क्षेत्रज्ञ भी हैं। क्योंकि लोक और अलोकके गुप्त और प्रगट सब भावों और विषयोंके शाता हैं। यथातथ्य स्व-स्वरूप और परस्वरूप जाननेसे आत्मज्ञ हैं। तथा इम नखर शरीर क्षेत्र में आत्मा या धर्म रूप सार जाननेसे, तथा लोके विषय दोष और उसके रमण और अनुरक्त रहनेमें जो दोष हैं उसे जाननेके कारण क्षेत्रज्ञ हैं।

**कुशल-**

सत् और असत्को अलग करके बता देते हैं, अछ प्रकारके कर्मरूपी तीक्ष्ण कुशको काटनेमें कुशल हैं। निर्जराका पथ बतानेमें समर्थ हैं, धर्मोपदेश देनेमें मंगलप्रद हैं अतः कुशल भी हैं।

**आद्युप्रज्ञ-**

आपका उपयोग अनन्त होनेसे आद्युप्रज्ञ हैं, परन्तु वह उपयोग दृश्यस्वो-कासा नहीं है। [वह तो कुछ देर सोच विचार करनेके पश्चात् जानता है, कार्माण वर्गणाओंद्वारा आत्म-स्वरूप पर पर्दा पड जाने के कारण उस कर्म सहित संसारी आत्मा की दृग्स्थ सज्ञा है। परन्तु भगवान् तो 'वियद द्युमाणं' इम दोषसे निवृत्त हैं]

**महर्षिः-**

अनन्त उग्र तपरूपी अनुष्ठान करनेसे, अनुकूल प्रतिकूल परिपह और उपसर्ग सहन करनेसे, माना तितिक्षाओं को सहनेसे, तत्व वस्तुका बालाविक रूपमें प्रकाश करनेसे, सत्य वाणीका उच्चारण करनेसे महर्षि थे।

अतीत, अनागत, वर्तमानका अनन्त स्वरूप जाननेकी दृष्टिसे अनन्तज्ञानी; तथा सामान्य अर्थका भिन्न करण करनेसे अनन्तदर्शी थे।

उनके अक्षय और अतुल यश का गायन मनुष्य-असुर और देव सब मिल कर करते थे । संसारकी दो आंखों द्वारा प्रत्यक्षतया सूक्ष्म और बादर पदार्थोंका ज्ञान भलिभांति करा देनेसे उनके प्रतिपादित धर्मको तथा उनकी धीरताको देख !

### धर्म-

संसारके प्राणिओंका दुःखोंसे उद्धार करना उसका स्वभाव है अतः वह धर्म है तथा ज्ञान और क्रियाके भेदसे धर्म दो तरहका है ।

“समता, तप, सन्तोष, सरलता, उत्तम क्षमा, आदिक विहित पुरुषार्थको भी धर्म कहा है ।”

“मनुने धैर्य रखना, शान्ति करना, अकिंचनवृत्ति रखना, इन्द्रिय दमन करना, आत्माको बुरे विचारोंसे हटा कर पवित्र करना, आत्मदोषका निग्रह करना, बुद्धि द्वारा सत्, असत् युक्त अयुक्तका निर्णय करना, निष्पाप तथा निस्पृह सत्य बोलना, आए हुए क्रोधको निष्फल करना, यह १० प्रकारका धर्म बताया है ।”

धर्मके पारको पानेवाले पुरुषोंने देश काल, अवस्था, बुद्धि, शक्ति, आदि के अनुरूपसे धर्मोपदेशको ही औपध रूप कहा है ।

इसके अतिरिक्त उनकी चरित्रमें निधलता धीरता देख ! क्योंकि वे अपनी प्रतिज्ञामें सदैव दृढ रहते थे । संयम के अतिरिक्त वे किसीमें अनुरक्त न थे ॥ ३ ॥

**गुजराती अनुवाद**—शातनन्दन शासनपति महावीर प्रभु ३४ अतिशय तथा ३५ प्रकारना वाणी गुणे करी अलंकृत हता ।

**३४ अतिशय**—( १ ) माथाना केस-दाडीमूछ तथा शरीरना वाळ अने नख मर्यादित होय । ( २ ) नीरोगी अने मेल, रज आदिभी निलैप शरीर होय । ( ३ ) मास अने लोही गायना दूध जेवा उज्वल अने भीठां होय । ( ४ ) श्लाघे-इवास कमळ जेवा सुगन्धित होय । ( ५ ) प्रभुना आहार अने निहार चर्नचु-ओधी अदृश्य होय, कारणके से क्रियाओ गुप्त करवानां आवे छे । ( ६ ) आद्य-शर्मा धर्म चक्र चाळे । ( ७ ) आकाशर्मा छत्र रहे । ( ८ ) आद्यशर्मा श्वेतस-चामरो विंशायः । ( ९ ) आद्यशर्मा अत्यन्त खच्छ स्पष्टिक सिंहासन पादपीठ सहित धरे आवे । ( १० ) आद्यशर्मा लघुपदाकरओधी प्रतिनिहित सुवर्ण इन्द्र-वीर । ४



ध्वज प्रभुनी आंगल चाले । ( ११ ) अशोकवृक्ष थई आवे, त्यां जवाभी वीजा-  
ओना शोकतुं निवारण थाय । ( १२ ) जरा पाछलना भागमां, मस्तक प्रदेशे  
तेजोमंडल थई आवे, ते दशे दिशाओना अंधकारने दूर करे । ( १३ ) पृथ्वी  
बहु सपाट अने रमणीय बनी जाय । ( १४ ) कांटा ऊंधां थई जाय, तेनी  
माफक बहु हठवाची विनीत थई जाय, ( १५ ) विपरीत ऋतु मुख्यस्पर्शां थई  
जाय, समय अनुकूल तथा धर्म माटे सौम्य थई जाय । ( १६ ) स्तीतल-मुखकर-  
सुगन्धयुक्तवायु एक योजन क्षेत्रमां वहे । अने सर्व प्रकारनी अशुचि दूर करे ।  
( १७ ) सुगन्धि वृष्टि थाय तेथी आकाशनी रज अने भूमि ऊपरनी रेणु ढंकाई  
जाय, ज्ञानधारा वरसवाची कर्म रज दूर थई जाय । ( १८ ) रमणीय पंचवर्ण  
फूल प्रगटे । ( १९ ) अमनोञ्ज ( अशुभ ) शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध उपसमे  
अर्थात् नाश पावे । ( २० ) मनोञ्ज शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध उत्पन्न थाय ।  
( २१ ) चारे वाजुए चेठेळी परिपद भगवान्‌नो योजनातिक्रमी स्वर बराबर  
ध्वन करी शके अने ते शब्दो श्रोताओने प्रिय लागे । ( २२ ) प्रभु अर्धमागधी  
भाषामां धर्मदेशना आपे । ( २३ ) आर्य अनार्य देशना मनुष्यो-पशुओ-पक्षीओ  
विचारेने आ भाषा पोतानी भाषामा परिणमे, ते हितकर-मुक्तकर-आनन्दकर अने  
मोक्षदायी लागे । ( २४ ) जन्मवेर, जातिवेर, शान्त थायः । ( २५ ) भगवान्‌ने  
देखतां अन्व दर्शन-मताभिमानी हठ छोडी नत्र घने छे । ( २६ ) प्रतिवाची  
निहत्तर बने । ( २७ ) प्रभु विचारे छे त्यांथी २५ योजन चारे दिशापा दुष्काल-  
उंदर-तीड विगेरेनो उपद्रव रहे नहिं । ( २८ ) महामारी मरकी त्रेण न होय ।  
( २९ ) स्वचक्रनो मय नहीं थाय । ( ३० ) पर लडकरने भय न होय । ( ३१ )  
अति वृष्टि न थाय । ( ३२ ) अनावृष्टि न थाय । ( ३३ ) दुकाल न पडे ।  
( ३४ ) उत्पातो अने व्याधिओ तुरत शमी जाय ।

### सत्यवाणीना ३५ गुण-

( १ ) भगवान्‌नी वाणी संस्वर—लक्षण युक्त होय । ( २ ) बुलंद  
आवाज वाली वाणी । ( ३ ) सावी । ( ४ ) गंभीर । ( ५ ) पडछेदा युक्त ।  
( ६ ) सरल । ( ७ ) उपनीत रागत्व-धोताओ धारे के भगवान्‌ मने उद्देशीनेज  
उपदेश आपे छे । ( ८ ) महार्थ—सूत्र थोडो अर्थ घणो । ( ९ ) पूर्वापर वाक्यनी  
अविरोधी । ( १० ) शिष्ट । ( ११ ) असंदिग्ध, ( १२ ) वाणीर्मा-अर्थमां दृषण  
रहित । ( १३ ) हृदयप्राही, ( १४ ) देश कालने अनुकूल । ( १५ ) तत्वनी.

व्यर्थ स्वरूप दर्शक । ( १६ ) जे सम्बन्ध चाँलतो होय तेनी सिद्धि पुरजुंज कहेवुं ते । ( १७ ) पद वाच्यजुं परस्पर सापेक्ष पणुं । ( १८ ) इष्ट रीतिपुं तात्वजुं कहेवुं । ( १९ ) अत्यन्त मधुर-मुखकर । ( २० ) परना रहस्य विगेरेने प्रकट नहि करनारी । ( २१ ) वस्तुना अर्थ तथा धर्म सहित । ( २२ ) अर्थनो झलकाट उठे एवां पदो सहित । ( २३ ) पर निन्दा अने आत्मप्रशंसा सहित । ( २४ ) कहेला गुणोना योगधी प्रशंसा करवा लायक । ( २५ ) व्याकरणना दोष रहित । ( २६ ) श्रोताओने पोताना विषयनो जवान मळवाधी आश्चर्य अने वैराग्य उत्पन्न करनारी । ( २७ ) अद्भुत । ( २८ ) अत्यन्त विलम्ब रहित । ( २९ ) मननी भ्रान्ति तथा वाच्य बोलवानी अक्षति विगेरे दोष रहित । ( ३० ) सर्व सुर-असुर-नर-अने तिर्यंच पोतानी भाषामां समजे तेवी । ( ३१ ) बीजा पुरुषोनी अपेक्षाए शिष्योने विषे विशेष बुद्धिने पेदा करनारी । ( ३२ ) पदो, वाच्यो स्पष्ट रीते समजाय तेवी चोक्खी । ( ३३ ) पराक्रमवाढी अनायासे वाणी प्रकाशे जाय । ( ३५ ) कहेवा धारेला अर्थोनी सारी रीते सिद्धि थाय ह्यां मुधी अविच्छिन्न वाग्धारण बोल्या जवाय तेवी ।

### खेदज्ञ-

संसारना प्राणिओए सचय करेला मार्मिक कर्मना दुःखविपावने तेओ जाणे छे । कर्मना परिणामे उत्पन्न शारीरिक तथा मानसिक क्लेशोने प्रभु दयार्द्र बनीने जाणे छे तेमज देखे छे । तेमनां दुःखोनुं ज्ञान कराववाने तथा प्राण-भूत-जीव-सत्त्वनी अशान्ति दूर करवाने तेओ अहिंसा-सत्य-निस्तृण्य विगेरेनो उपदेशकरीने संसारमां शान्तिनी स्थापना करे छे । तेथी भगवान् खेदज्ञ छे ।

### क्षेत्रज्ञ-

आध्यात्मना अनन्त प्रदेशोमां धर्म-अधर्म-जीव-काल अने पुद्गलना अनन्त समूहने तेओ जाणे छे । तेथी क्षेत्रज्ञ पण छे । अथवा लोक-अलोकना गुप्त अने प्रगट सर्व भाव अने विषयना ज्ञाता छे । यथातथ्य स्वस्वरूप तथा परस्वरूपना ज्ञाता होवाधी आत्मज्ञ छे । आ नधर शरीर क्षेत्रमां तेमना आत्माना अथवा धर्मरूप सारना जाणकार होवाधी, तेमज स्त्रीना विषय दोष अने तेमां रमण करवाधी जे दोषो उत्पन्न थाय छे, तेना पण जाणकार होवाधी तेओ क्षेत्रज्ञ छे ।

### कुशल-

सन्-असत्ने भिन्न भिन्न करीने बतावे छे । आठ प्रकारना धर्मरूपी तीक्ष्ण

કુચને કાપવાનાં કુસલ છે । નિર્જરાનો માર્ગ બતાવવામા સમર્થ છે, ધર્મોપદેશ દેવામાં મંગલપ્રદ છે ।

### આશુપ્રજ્ઞ-

તેઓનો ઉપયોગ અનન્ત હોવાથી આશુપ્રજ્ઞ છે । પરન્તુ તે ઉપયોગ છદ્ધ-સ્થોના જેવો હોતો નથી । [ છદ્ધસ્થ તો ધોડો સમય વિચારણા કર્યા બાદ જાય છે । કર્મણ વર્ગનાઓ દ્વારા આત્મ સ્વરૂપ પર પડદો પડતાં કર્મ સહિત સંસારી આત્માને છદ્ધસ્થ કહે છે । પરન્તુ મગવાન્ તો “વિવદ્દ છઝમાળ” એ દોષ થી મુક્ત છે ।

### મહાર્પિ-

અત્યન્ત ઉપ તપશ્ચર્યા કરવાથી અનુકૂલ પ્રતિકૂલ પરિપદ્ધ તથા ઉપસર્ગ સહન કરવાથી નાના પ્રચરના ડુ.સો સહવાથી તત્ત્વસ્તુનું વાસ્તવિક રૂપ પ્રગટ કરવાથી, સત્ત્વવાળી બોલતા હોવાથી, તેઓ મહાર્પિ હતા ।

મૂલ-ભવિષ્ય અને વર્તમાનના અનન્ત સ્વરૂપ જાણવાની અપેક્ષાએ તેઓ અનન્તજ્ઞાની તથા સામાન્ય અર્થનું ભિન્નરૂપ કરવાથી અનન્તદર્શી હતા ।

તેમના અધ્ય અને અતુલ યજ્ઞનું ગાન મનુષ્ય-મુર-અનુર વિગેરે સર્વે મઢીને કરતા હતા ।

લોકને ચક્રુમૂલ એવા ધ્રીમહાવીરદેવના પરુપેતા ધર્મને તથા તેમની ધીર-જને જાણ અને દેશ ।

### ધર્મ-

સસારના પ્રાપ્તિઓને ડુ.ચર્માથી ઉદ્ધાર કરવાનો તેનો સ્વભાવ છે । જ્ઞાન અને ક્રિયા એ બે પ્રચરનો ધર્મ છે । સમતા-તપ-સન્તોષ-ચરઢતા-ઉત્તમ ધના-વિગેરેને પણ ધર્મ કહેવામાં આવે છે । ધીરજ રાઘવી-જ્ઞાન્તધારણ કરવી-અક્રિ-ચનશુત્તિ-મજવી-શુદ્ધિય દમન-આખાને ચરણ વિચારોથી હટાવીને પવિત્રચનાવર્ગો-આત્મદોષાનેપ્રહ-સુદ્ધિ દ્વારા મનુ-અમલ-યુક્ત-અયુક્તનો નિર્ણય, નિષ્ઠાપ-નિષ્ટુદ્ધ-ચરઢ, ક્રોધ નિષ્ફલ કરવો-એન દશ પ્રચરનો ધર્મ મનુએ પણ મતારેલો છે ।

ધર્મ પારંગત પુરુષોએ દેશ-કાલ અવસ્થા-શુદ્ધિશક્તિને અનુરૂપ ધર્મોપદેશ આપ્યો છે ।

મહાવીરપ્રમુની ચારિત્રનો નિષ્કલતા, ધીરતા ઇટલે તેઓ ઘોડાની પ્રતિક્ષાનાં દનેચ રહે રહેતા હતા, સર્વ સંચમનોજ તેઓ મમ રહેતા ।

मूल

उहं अहेयं तिरियं दिसासु,  
तसा य जे थावर जेय पाणा ।  
से णिच्चणिचेहि समिक्ख पत्ते,  
दीवेव धम्मं समियं उदाहु ॥ ४ ॥

संस्कृतच्छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यङ्क्षु दिक्षु,  
त्रसाश्च ये श्वापरा ये च प्राणिनः ।  
स नित्यानित्याभ्यां समीक्ष्य प्राज्ञः  
दीप [ द्वीप ] इव धर्मं समितमुदाह ॥ ४ ॥

सं० टीका—अधुना सुधर्माचार्यस्तद्गुणान् स्फुटं प्रकटनचिकी-  
पुराह—ऊर्ध्वमधस्तिर्यङ्क्षु दिक्ष्वथवा चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके ये जीवाः  
“शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यावसानवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधि-  
शुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवन्ति, तथाप्यशुद्धनिश्चय-  
नयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवन्तीति जीवाः । ‘उप-  
योगमयाः’ शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्श-  
नोपयोगमयास्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिवृत्तत्वाज्ज्ञा-  
नदर्शनोपयोगमया भवन्ति । “अमूर्तयः” यद्यपि व्यवहारेण मूर्त-  
कर्माधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या सहितत्वान्मूर्तास्तथापि  
परमार्थेनामूर्तातीन्द्रियशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्ताः । “कर्तारः” यद्यपि  
मूर्तार्थनयेन निष्क्रियटंकोल्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽयं तथाऽप्यमूर्तार्थ-  
नयेन मनोवचनकायव्यापारोत्पादककर्मबीजसहितत्वेन शुभाशुभकर्म-  
कर्तृत्वात् कर्तारः । “सदेहपरिमाणा” यद्यपि निश्चयनयेन सहजशुद्ध-  
लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशास्तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीन-

त्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजन-  
 स्थप्रदीपवत् सदेहपरिमाणाः । “भोक्कारः” यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थि-  
 कनयेन रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वात्मोत्थमुखामृतभोक्कारस्तथाऽप्य-  
 शुद्धनयेन तथाविधमुखामृताभावाच्छुभाशुभकर्मजनितमुखदुःखभोक्तृ-  
 त्वाद्भोक्कारः । “संसारस्थाः” यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन निस्संसारनि-  
 त्यानन्दैकस्वभावास्तथाप्यशुद्धनयेन द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपञ्चप्रकारसं-  
 सारे तिष्ठन्तीति संसारस्थाः । “सिद्धा” व्यवहारेण स्वात्मोपलब्धि-  
 लक्षणसिद्धत्वप्रतिपक्षभूतकर्मोदयेन यद्यप्यसिद्धास्तथापि निश्चयनयेना-  
 नन्तज्ञानानन्तगुणस्वभावत्वात् सिद्धाः । त एवंगुणविशिष्टा जीवाः ।  
 “विस्रसोर्द्ध्वगतिकाः ।” यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदय-  
 वशेनोर्द्ध्वस्थिर्यगातिस्वभावास्तथापि निश्चयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगु-  
 णावासिलक्षणमोक्षगमनकाले विस्रसा स्वभावेनोर्द्ध्वगतिकाश्चेति । अत्र  
 शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन नयार्था अप्युक्ताः । आगमार्थः पुनः  
 “अस्त्यात्माऽनादिवद्धः” इत्यादिप्रसिद्ध एव शुद्धनयाश्रितं जीवस्व-  
 रूपमुपादेयं शेषं च हेयम् । एवंविधा जीवास्वस्यन्त्युद्वेगं भयं प्राप्नु-  
 वन्ति यद्वा नरन्ति चेतस्ततो गच्छन्तीति त्रसाः । “चरिष्यु जंगम-  
 चरं त्रसमिगं चराचरमित्यमरः ।” ते त्रसास्तु द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिय-  
 भेदाच्चतुर्धा । तथा ये च स्वावराः पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतिभेदा-  
 त्पंचधा । तिष्ठन्तीति स्वावरा भूताः सत्त्वाश्चापि, यथा च—

“प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ता भूतास्तु तरवः स्मृताः ।

जीवाः पंचेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥”

“स्वावरो जंगमेतर इत्यमरः ।” एते प्राणानां धारकत्वात्प्राणिनो  
 भवन्ति । प्राणास्तु दशधा यथा—“पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं

च, ह्युच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः, प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरणं हि हिंसा ।” एते विद्यन्ते यस्य ते प्राणिनो, जीवस्याधुना तु बाह्यप्राणधनपराक्रमत्वात् “शक्तिः प्राणः पराक्रम इत्यमरः ।” चार्वाकशाक्यादिमतनिराकरणेन पृथ्व्याधेकेन्द्रियाणामपि जीवत्वमित्यावेदितम् । तान् जीवान्नित्यानित्याभ्यां ध्रुवव्ययाभ्यां समीक्ष्य—ज्ञात्वा केवलज्ञानित्वात्मकत्वेण जानातीति प्राज्ञः । द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयाश्रयणादावेधेति भावः । स ज्ञातृपुत्रो महावीरो भगवान् तत्त्व-पदार्थ-स्वरूपाणां ज्ञापकतया दीपवद्दीपः प्रकाशकत्वात् यथार्थधर्ममाह—उक्तवान् । सम्यक्तया समतया श्रुतचरित्रात्मकं धर्मं वीतरागभावेन रागद्वेषरहितत्वेन सदनुष्ठानितया चेति । परमकारुणिको हि भगवान् लोकाननुग्रहीतुमेव धर्ममावेदितवान्तु निजोत्कर्षप्रकाशनार्थमपीति सहृदयैर्ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—[से] उस [पक्षे] आत्मपक्ष केवलज्ञानी प्रभुने [उद्ध] ऊपर [अद्वैत] नीचे और [तिरियं] तिरछी [दिशासु] दिशाओंमें [जे] जो [तस] तस-हिलने सरकनेवाले (य) और [धवर] स्थावर [पाणा] प्राणी हैं, उनको [गिचणिचेहि] नित्य और अनित्यदृष्टिसे [समिक्त्त] जान कर [सीचे व] सीवेकी सदृश अथवा विधवागरमें डूबते जीवोंकेलिए टापूकी तरह (धम्मं) धर्मको [समियं] समानभावसे [उदाहु] बताया ॥ ४ ॥

भावार्थ—आर्य्य सुधर्म फिर्यों बोले कि-भगवान् महावीर तस और स्थावर जीवोंको जोड़ि-ऊपर-नीचे और इधर उधर भरे पडे हैं, सब जगह विद्यमान हैं, और जीवोंको उन्होंने पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य और द्रव्यकी दृष्टिमें नित्य बताया है । और उनके उत्तम धर्मका उद्देश जगत्-सागरमें डूबते हुए प्राणिओंको टापूके समान सहारा देते हैं, और अज्ञानताके अधरेको मिथानके-लिए सीवेके समान है । इन प्रवचनसे अनात्मवादका खण्डन हो जाता है

एवं वृक्ष-वायु-पृथ्वी आदिमें जीव है यह सिद्ध किया है, और जैनदर्शनके प्राणभूत स्याद्वाद-विद्वान्तक्य सम्यक् दिग्दर्शन कर दिखाया है ॥ ४ ॥

**श्रीसुधर्माचार्य वीर प्रभुके गुणों को प्रकट करते हैं !**

**भाषा-टीका—**सर्वज्ञ-वीर भगवान्ने ऊर्ध्वलोक, मानवलोक, अधो-श्लोक के सब जीवोंका स्वरूप इस भांति वर्णन करके बताया है कि-“जीव” यद्यपि जीवसमूह शुद्ध निश्चयनयसे आदि, मध्य और अन्त से रहित, अपने और परके गुणोंका प्रकाशक, उपाधिरहित और शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राणसे ही जीवित है, तथापि अशुद्ध-निश्चयनयसे अनादि कर्मबन्ध के बशसे जो अशुद्ध द्रव्यप्राण और भाव प्राण हैं उनसे जीवित रहने के कारण यह जीव है ।

**उपयोगमय-**

यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे परिपूर्ण तथा निर्मल ज्ञान और दर्शन ही उपयोग हैं इसी से जीवसंज्ञा है, तौ भी अशुद्ध-नयसे धावोपशमिकज्ञान और दर्शनसे बना हुआ है, इस लिए ज्ञानदर्शनोपयोगमय है ।

**अमूर्त-**

यद्यपि व्यवहारनयसे यह जीव मूर्त कर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाली मूर्तिके द्वारा रचित रहनेके कारण मूर्त है तथापि निश्चय नयसे अमूर्त, इन्द्रियोंसे अगोचर, शुद्धरूप स्वभावका धारक होने से अमूर्त है ।

**कर्ता-**

यद्यपि जीव निश्चयनयकी दृष्टिसे क्रिया रहित, उपाधिरहित जाननेके स्वभावका धारक है । तथापि व्यवहारनयसे मन, बचन तथा कबके व्यापारको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंसे युक्त होनेके कारण शुभ और अशुभ कर्मोंका करनेवाला है, अतः कर्ता है ।

**सदेह परिमाण-**

यद्यपि जीव निश्चयनयपूर्वक स्वभावसे उत्पन्न शुद्धलोकत्रयशके समान है और असंख्य प्रवेशोंका धारक है, तथापि शरीर नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न-संकोच तथा विस्तारके अधीन होने से घटे आदि पात्रोंमें रहे हुए दीपकी सदृश अपने देहके परिमाण जितना है ।

### भोक्ता-

यद्यपि जीव शुद्धद्रव्याधिक्य नयसे रागादिविकल्परूप उपाधिधोते शून्य है, और अपने आत्मसे उत्पन्न हुए अमृतको भोगनेवाला है, तथापि अशुद्ध-नयसे उस सुखरूप अमृतपदार्थके अभावसे शुन्य कर्मसे उत्पन्न सुख और अशुभ कर्मसे उत्पन्न दुःखको भोगता है अतः भोक्ता भी है ।

### संसारस्थ-

संसारमें स्थित रह कर अनेक पर्याय बदलता रहने के कारण संतारी है । यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनयसे संसार रहित है और नित्य आनन्दरूप एक स्वभावका धारक है तथापि अशुद्ध निश्चय नयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव इन भेदोंसे पांच प्रकारके संसारमें रहता है अतः यह आत्मा-जीव संसारस्थ भी है ।

### सिद्ध-

यह आत्मा सिद्ध भी है । यथाह प्रज्ञापनायाम्—सितं वद्धं—  
अष्टप्रकारं कर्मेन्धनम्, ध्मातं दग्धं जाज्वल्यमानशुक्लध्यानानलेन यैस्ते  
निरुक्तविधिना सिद्धाः । अथवा 'पिधु गतौ' इति वचनात् सेधन्ति  
स अपुनरावृत्त्या निवृत्तिपुरीमगच्छन्, अथवा 'पिधु सराद्धौ' इति  
वचनात् सिद्धन्ति स निष्ठितार्था भवन्ति स । अथवा "पिधून्  
शास्त्रे मांगल्ये च" इति वचनात् सेधन्ति स शास्त्रारोऽभूवन्, मांगल्य-  
रूपतां चानुभवन्ति सेति सिद्धाः । अथवा सिद्धा नित्या अपर्यवसान-  
स्वितिक्रवात्, प्रख्याता वा भव्यैरुपलब्धगुणसन्दोहत्वात्, आह च,

“ध्मातं सितं येन पुराणकर्म, यो वा गतो निर्वृत्तिसौधमूर्ध्नि;

ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमंगलो मे”

अतः स सिद्धो नमस्करणीयधैषामविप्रणाशिज्ञान-दर्शन-मुक्त-  
शक्त्यादिगुणयुक्ततया स्वविषयप्रमोदप्रकरोत्पादनेन भव्यानामतीवो-  
पकारहेतुत्वादिति ।



भावाय—“आठ प्रकारके कर्मरूपइन्धनको शुक्रध्यानकी आंगसे जिसने जल दिया हो वह सिद्ध होता है, अथवा गल्यर्थक ‘विधु’ धातुसे सिद्ध अर्थात् अपुनरावृत्ति की अपेक्षा जो निश्चिन्तिपुरीमें पहुँच गए हैं वह सिद्ध हैं; अथवा निष्पत्यर्थक ‘विधु’ धातु द्वारा ‘सिद्ध’ यानी जिसने अपने अर्थको निष्पन्न किया है, और जो कृतकृत्य होगया हो, वह सिद्ध है; अथवा शास्त्रार्थक और मागल्यार्थक ‘विधुन्’ धातुसे ‘सिद्ध’ यानी जो शासनकर्ता हो, अथवा जो मंगलत्वके स्वरूपका अनुभव कर्ता हो, या जो स्वयं मंगलरूप हो वह ‘सिद्ध’ है; अथवा निल कारण जिनकी स्थिति अविनाशी है, अथवा भव्य जीवोंकी जिनके गुणसमूह उपलब्ध होने से प्रसिद्धि प्राप्त हैं, या जिन्होंने बाधा हुआ पुराना कर्म जल दिया है, जो निश्चिन्तिरूप महलके शिखरके ऊपर जा पहुँचा है, जो प्रसिद्ध है, अनुशासन करनेवाला है, शून्यार्थ है, वह सिद्ध प्रभु हमारे लिए कृत मंगल है नमस्कार करने योग्य है, इसीलिए कि—वे अविनाशी—ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति, आदिकसे युक्त हैं और स्वविषय आनन्दोत्सर्ग के उत्पादक होनेसे भव्य जीवोंके ऊपर अप्रतिम उपकार करने से वे नमन करने योग्य हैं;” यद्यपि जीव व्यवहार नयके कारण अपनी आत्माकी प्राप्ति रूप उपरोक्त सिद्धत्व युक्त है, और उसके प्रतिपक्षी कर्मोंके उदयसे असिद्ध है, तथापि निधय नयसे अनन्तज्ञान और अनन्तगुण स्वभावका धारक होनेसे सिद्ध है;

### ऊर्ध्वगामी-

इन कहे हुए गुणोंका धारक जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगमनकरनेवाला है, यानी व्यवहारसे चार गतियोंको पँश करनेवाले कर्मोंके उदयसे ऊँचा, नीचा, तथा तिर्छा गमन करनेवाला है, तथापि निधयनयसे केवलज्ञान, आदि अनन्त-गुणोंकी प्राप्ति स्वरूप मोक्षमें चला जानेके कारण स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करने वाला है, इस प्रकार जीवका स्वरूप शुद्ध और अशुद्ध नयनी दृष्टिसे गमनाया गया है । और अनादि कालसे कर्मोंद्वारा आत्मा स्वयं बंधन संसारमें दल रहा है इसादि आगमका अर्थ तो प्रसिद्ध ही है । और शुद्ध नय के आधित जीवका स्वरूप उपादेय यानी ग्रहण करने योग्य है और बाकी सम ह्व है तथा उनके त्रय और स्थावर ये दो नेद हैं ।

### प्रस-

प्रय प्राणी वे हैं जो किसी के द्वारा भय, डार, और उद्वेग प्रकर, या

सताया जाकर अपने बचनेके लिए जो इधर उधर भाग फिर सकते हैं, जिनके दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय, ये चार प्रकार हैं।

### स्थावर-

पृथिवी, पानी, आग, हवा, वनस्पतिके भेदसे पांच स्थावर हैं। ये अपने ऊपर आए हुए संकट से बचनेके लिए उद्यम करनेमें सर्वथा अशक्त हैं, बहुत धोरी समझ है, और जन्म मरण भी अधिक करते रहते हैं, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु के जीव ४८ मिनट में १२८२४ बार मर कर जन्म लेते हैं, वनस्पतिमें निगोदजीवकी अपेक्षा ६५५३६ बार जन्मते मरते हैं। हमारा एक धाग मुँहसे आता है और ये १७ बार जन्म कर मरते हैं। अतः ये सब स्थावर कहलाते हैं। इन्हीं में भूत सत्व भी हैं यथा-

२-३-४ इन्द्रियवालोंको प्राणी संज्ञक जानना चाहिए। वनस्पतिकी भूत संज्ञा है। पांच इन्द्रिय वालोंको जीव संज्ञक माना है। पृथ्वी, पानी, आग, हवाको सत्व संज्ञासे पहचानते हैं। इन सब जीवोंमें १० द्रव्य प्राण होते हैं। जिनकी गणना इस भाँति है।

१० द्रव्य प्राण—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयुके प्रमाण, श्वास उच्छ्वासका लेना छोडना, इत्यादि १० प्राण हैं। यह प्राण धन सब जीवोंको अल्पन्त प्रिय है। जब इन पर मुसीबतका कुहाडा बजता है तब उस धनसे मोह एक दम हटा देता है। स्थावरोंमें जीव सिद्धि होनेसे चारवाँकादि का खण्डन हो जाता है। भगवान्ने इन सब जीवोंको द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य और पर्याय की दृष्टिसे अनित्य फर्माया है। इसे द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नयके आशयसे भी समझाया है। प्रभु स्वयं आपू की तरह हूबते हुए ससारी जीवोंको सहायक भूत हैं, और उनका ज्ञान सत्व-परदार्य का पृथक् ज्ञान करानेके कारण दीपकके समान हैं। दीपककी तरह स्व-पर रूपका ज्ञान प्रकट हो जाता है। यही भगवान्का धर्म है; जिसे उन्होंने और तीर्थकरोंकी भाँति समता अर्थात् तुलनात्मक दृष्टिसे कहा है। इनका धर्मोपदेश करनेका आशय लोकोंको समभाव-उपशानभाव-अहंभाव तथा सत्वस्य स्वरूप समझकर ससारमें परोपकारिता फैलाना था इस जन्य उत्कर्ष प्रकट करनेका उद्देश नहीं ॥ ४ ॥

गुजराती अनुवाद—सुधर्माचार्य वी. प्रभुना गुणोर्तु वन्नं करे ते।

સર્વેણ પ્રમુ શ્રીવીરભગવાને ઝર્ષલોક અધોલોક અને ત્રિહાલોકના સનસ્ત્ર જીવોનું સ્વરૂપ આ રીતે વર્ણવેલું છે ।

### જીવ-

જો કે જીવ સમૂહ શુદ્ધ નિશ્ચય નયથી આદિ-મધ્ય અને અન્ત રહિત, સ્વ તથા પર શુણ પ્રકાશક, ઉપાધિ રહિત, અને શુદ્ધ ચૈતન્ય (જ્ઞાન) રૂપ નિશ્ચય પ્રાણથી જીવિત છે । તો પણ અશુદ્ધ નિશ્ચય નયે અનાદિ કર્મ બંધના કારણે જે અશુદ્ધ દ્રવ્ય પ્રાણ અને ભાવ પ્રાણ છે તેનાથી જીવિત રહેવાને કારણે જીવ છે ।

### ઉપયોગમય-

જો કે શુદ્ધ દ્રવ્યાર્થિક નયે જીવ પરિપૂર્ણ તથા નિર્મલ જ્ઞાન દર્શન મય છે, તો પણ અશુદ્ધ નયે ક્ષાયોપશમિક જ્ઞાન દર્શન શુષ્ક છે, તેથી જીવ જ્ઞાનદર્શનોપ-યોગમયી છે ।

### અમૂર્ત-

વ્યવહારનયથી આ જીવ મૂર્તે કર્મોને વશ હોવા થી સ્પર્શ-રસ-ગંધ-વર્ણ વાઙ્મી મૂર્તિથી રચિત હોવાના કારણે મૂર્ત છે । પણ નિશ્ચય નયે અમૂર્ત, હિન્દ્રિયોથી અગોચર શુદ્ધરૂપ સ્વભાવનો ધારક હોવાથી અમૂર્ત છે ।

### કર્તા-

જીવ નિશ્ચયનયે ક્રિયા રહિત, ઉપાધિરહિત, જાણવાનો સ્વભાવનો ધારક છે; પણ વ્યવહાર નયે મન-વચન-ક્રમના વ્યાપારને ઉત્પન્ન કરવાવાર્તા કર્મોથી સહિત હોવાના કારણે શુભાશુભ કર્મનો કર્તા છે ।

સદેહ પરિમાણ—જીવ નિશ્ચય પૂર્વક સ્વભાવથી ઉત્પન્ન શુદ્ધ લોચનમય સમાન છે, તેમજ અસંસ્થ્ય પ્રદેશોનો ધારક છે, પણ શરીર નામકર્મના ઉદ્યે ઘટ્ટા વિગેરે પાત્રમાં રહેલા લીવાની માફક સંકોચ વિકોચમય હોવાના કારણે દેહપ્રમાણ રહે છે ।

મોષ્ટા—શુદ્ધ દ્રવ્યાર્થિક નયે જીવ રાગાદિ વિશ્લેષરૂપ ઉપાધિથી રહિત છે, તેમજ નિજાન્મથી ઉત્પન્ન અમૃતનો મોષ્ટા છે, પણ અશુદ્ધનયે તે મુસરૂપ અમૃત પદાર્થોના અભાવે શુભકર્મથી ઉત્પન્ન મુસ અને અશુભ કર્મથી ઉત્પન્ન ડુ.સનો મોષ્ટા છે ।

**संसारस्थ**—संसारमां रहीने पर्याय बदलता रहेवाने कारणे संसारी छे, जो के शुद्ध निश्चय दृष्टिए जीव संसार रहित छे, तेमज नित्य आनंदधनरूप स्वभावनो धारक छे, तो पण अशुद्ध निश्चय नये द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भव ए पांच प्रकारे संसारमां रहे छे, तेथी आत्मा-जीव संसारस्थ पण छे ।

**सिद्ध**—आठ प्रकारना कर्मरूप ईंधणने शुरुष्याननी आग बडे जेणे बाळी दीधा होय, ते सिद्ध छे; अथवा मूलार्थक “पिध्” धातु थी सिद्ध अर्थात् अपुनरा-वृत्तिनी अपेक्षा जे निवृत्ति पुरीमा पहुँची गया छे, ते सिद्ध छे, अथवा निष्पल-यर्थक “पिधु” धातु थी सिद्ध एटले जेणे पोताना अर्थ निष्पन्न कर्षा छे, अने जे कृतकृत्य थई गया छे, ते सिद्ध छे, अथवा शास्त्रार्थक तेमज मांगल्यार्थक ‘पिधुक्’ धातुथी सिद्ध अर्थात् जे शासन कर्ता छे, अथवा जे मंगलरवना स्वरूपना अनुभव कर्ता छे, अथवा जे स्वयं मंगलरूप छे, ते सिद्ध छे; अथवा नित्य होवाना कारणे जेनी स्थिति अविनाशी छे, अथवा भव्य जीवोमां जे गुणसमूह उपलब्ध होवाना कारणे प्रतिदि पामेला छे, अथवा जेणे पूर्वे बाधेलां जुनां कर्मों बाळी नाख्या छे, जे निवृत्ति महेलना भिखर पर बिराजे छे, जे प्रसिद्ध छे, शासन कर्ता छे, कृतार्थ छे, ते सिद्ध प्रभु उदासीन रूपेण आपणा मंगलना करनार छे, नमस्कार करवा योग्य छे, एटल माटे के तेओ अविनाशी ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति आदि थी युक्त छे, अने स्रविषय आनन्दोत्कर्ष उत्पादक होवाथी भव्य जीवो पर अप्रतिम उपकार करवाने लीधे नमन करवा योग्य छे, जो के जीव व्यवहार नये पोताना आत्मानी प्राप्तिरूप उपरोक्त सिद्धत्व गुणवालो छे, ने तेना प्रतिपथी कर्मोंना उदये असिद्ध छे, तो पण निश्चय नये अनन्तज्ञान अने अनन्तगुण स्वभावनो धारक होवाथी ते सिद्ध छे ।

**ऊर्ध्वगामी**—उपरोक्त गुणो धारण करनार जीव स्वभावथी ऊर्ध्वगमन करवा बाळो छे, अने व्यवहारे चतुर्गतिमां रखडावनार कर्मोंना उदयथी ऊँची, नीची तथा तिरछी दिशामां गमन करवावाळो छे, तो पण निश्चय नये केवलज्ञानादि अनन्त गुणोनी प्राप्ति स्वरूप मोक्षमां जवाना कारणे स्वभावथी ऊर्ध्वगमन करवावाळो छे, आ रीते शुद्ध अने अशुद्ध नये जीवतुं स्वरूप समजावेहुं छे, अनादिकालथी कर्मबंधथी बंधाएलो आत्मा संसारमां रखडीज रखो छे, इत्यादि आगमथी प्रसिद्ध छे, शुद्ध नये जीवतुं स्वरूप उपादेय अर्थात् ग्रहण करवा योग्य छे, अने बाकी बीजुं वहुं होय छे, तेना प्रस अने स्थावर एवा वे मेद छे ।

વ્રસ-શ્લેષ્મી ધી મય, વ્રાસ, હરેગ પાનીને અથવા સતામળી પામતાં પોતાના બચાવ અર્થે જે અહીં તહીં હરી ફરી કે ભાગી શકે છે, તે વ્રસ છે, તેના વેદિય, તેન્દ્રિય, ચૌરિદ્રિય અને પંચેન્દ્રિય એવા ચાર ભેદ છે;

સ્થાવર-પૃથ્વી-પાણી-અગ્નિ-વાયુ અને વનસ્પતિ એ પાંચ સ્થાવરના ભેદ છે । તેઓ પોતાનાં પર આવી પડેલાં સંકટોમાંથી બચવાનો પ્રયત્ન કરવામાં સર્વથા અશક્ત છે, ઘણીજ ઓછી સમજવાલા છે, જન્મ-મરણ ઘણાં કરે છે; પૃથ્વી-પાણી-અગ્નિ અને વાયુના જીવો ૪૮ મિનિટમાં ૧૨૮૨૪ વાર જન્મે છે ને મરે છે, વનસ્પતિનાં નિર્ગોદના જીવો ૬૫૫૨૬ વાર જન્મે મરે છે, એક ધ્વાસોદ્ઘાસમાં તે એટલા ભવ કરે છે, આથી આ મધા સ્થાવર કહેવાય છે । આ દરેકના જીવ છે, અને તે કેવા સ્વરૂપે છે તે નીચેની હૃદીકરે સમજાશે તે તમામને શરીર છે, અને તેના શરીરને મનુષ્યના શરીર સાથે જુદી જુદી રીતે સરસાવવામાં આવે છે ।

પૃથ્વીકાય—જેમ મનુષ્યને ધાંદ વાગેલું હોય અને ઘા પડેલ હોય, તે શ્વાતા ધીમે ધીમે મરાઈ જાય છે, તેમ શ્લેષ્મી સાળો પણ સ્વયં મરાઈ જાય છે, જેમ ડાહાડાપણે ચાલનાર મનુષ્યના પમનું તલ્લિઝં પસાય છે તેમ વધતું જાય છે, તેવીજ રીતે માળતો-પશુપક્ષી તથા વાહનોની આવજાવ ધવાથી પૃથ્વી પણ રોજ પમાય છે, ને રોજ વધવા પામે છે, જેમ ચાલક વધે છે તેમ પર્વત પણ ધીમે ધીમે નિલ્લ વધે છે, માળસને લોટું પકડવું હોયતો માળસને લોટા પાસે જવું પડે છે, સારે લોહ પુંચક નામનો પન્થર પોતાને સ્થાને રહીને પોતાની ચૈતન્ય શક્તિ ધી શ્લેટાને પોતાની પાસે સંચી છે છે, માળસના પેટનાં પથરીનો રોય ધાય છે તે સચેત પત્થર હોવાથી નિલ્લ વધે છે, માછલીના પેટમાં રહેલ મોટી પણ એક જાતનો પત્થર છે, અને તે પણ નિલ્લ વધે છે, જેમ માળસના શરીરમાંના હાડકામાં જીવ હોય છે, તેમ પત્થરમાં પણ જીવ હોય છે ।

અપકાય—જેમ પક્ષીના હંડામાં રહેલ પ્રવાહી પદાર્થ પંચેન્દ્રિય પક્ષીના પિંડ સ્વરૂપે છે, તેમ પાણીના જીવો પણ તે એકેન્દ્રિય જીવોના પિંડ રૂપે છે, મનુષ્ય તથા તિર્યંચ ગર્ભ અવસ્થામાં શરૂઆતમાં પ્રચારી પાણી રૂપે હોય છે, તેમ પાણીમાં પણ જીવ સમજવા, જેમ શિયાળામાં મનુષ્યના મુઠમાંથી વરાહ નીકળે છે, તેમ કુવાના પાણીમાંથી પણ વરાહ નીકળે છે, જેમ શિયાળામાં મનુષ્યનું શરીર ગરમ હોય છે, તેમ શિયાળામાં કુવાનું પાણી પણ ગરમ હોય છે, જેમ ગરમીમાં મનુષ્યનું શરીર શીતલ હોય છે, તેમ ડનાલાનાં કુવાનું પાણી પણ શીતલ હોય છે,

જેમ મનુષ્યની પ્રકૃતિમાં પણ શરવી તથા ગરમી હોય છે, તેમ પાણી ની પ્રકૃતિમાં પણ શરવી તથા ગરમી હોય છે, જેમ મનુષ્યનું શરીર શિયાળામાં અકડાઈ જાય છે, તેમ શિયાળામાં તટાવનું પાણી પણ અકડાઈ જઈને બરફ બને છે, જેમ મનુષ્ય શ્વાત્વાવસ્થા, યુવાવસ્થાને વૃદ્ધાવસ્થા જેવાં નવાં રૂપ ધારણ કરે છે, તેમ પાણી પણ બરાલ-બરફ ને વરસાદ આદિ રૂપ ધારણ કરે છે, જેમ મનુષ્યનો દેહ માતાના ગર્ભમાં પાકે છે, તેમ પાણી પણ છ માસ વાદલામાં ગર્ભ રૂપે પાકીને વર્ષાનું રૂપ ધારણ કરે છે, જેમ મનુષ્યનો કાચો ગર્ભ કોઈક ધાર ગઢી જાય છે, તેમ પાણીનો પણ કાચો ગર્ભ ગઢી જાય છે, જેને કરા પચ્ચા કહેવાય છે;

**તેજસ્કાય**—જેમ મનુષ્ય શ્વાસોશ્વાસ સિવાય જીવી ન શકે, તેમ અમ્લિ પણ શ્વાસોશ્વાસ સિવાય જીવી શક્તો નથી, જેમ તાવમાં મનુષ્યનું શરીર ગરમ રહે છે, તેમ અમ્લિના જીવો પણ ગરમ હોય છે, ભરણ પામવાથી મનુષ્યનું શરીર ટંડુ પડી જાય છે, તેમ અમ્લિના જીવો પણ મરી જવા થી ઠંડા પડી જાય છે, જેમ આગીયાના શરીરમાં પ્રકાશ હોય છે, તેમ અમ્લિના જીવોમાં પણ પ્રકાશ હોય છે, જેમ માણસ ચાલે છે, તેમ અમ્લિ પણ ચાલે છે, એટલે અમ્લિ ફેલાઈને તે આગઠ વધતો જાય છે, જેમ મનુષ્ય ઑક્સીજન [પ્રાણવાયુ] હવા લે છે, ને કાર્બન [વિપવાયુ] બહાર કાઢે છે, તેમ અમ્લિ પણ ઑક્સીજન હવા લઈને કાર્બન હવા બહાર કાઢે છે ।

**ધાયુકાય**—હવા હજારો ગાઠ મુઠી સ્વતન્ત્ર રીતે ચાલી શકે છે, હવા પોતાના ચતન્ય વલ્લથી મોટા વિદાઠ રુદ્ધ તથા મોટા મહેલોને પાડી નાલે છે, હવા પોતાનું શરીર નાનામાંથી મોટું બનાવે છે, વર્તમાનકાલમાં વિજ્ઞાનિઓએ શોધ કરી છે, કે હવામાં થેકમસ નામનાં સૂક્ષ્મ જંતુઓ હલે છે ને તે એટલા સૂક્ષ્મ છે કે, સોયની અળી જેટલા માગમાં એક લાલ જંતુઓ સુલેથી આરામ પૂલેક બેસી શકે છે ।

**વનસ્પતિ કાય**—મનુષ્યનો જન્મ માતાના ગર્ભમાં રહ્યા પછી થાય છે, તેમ વનસ્પતિના જીવો પણ પૃથ્વીમાતાના ગર્ભમાં અમુક સમય રહ્યા પછી બહાર નીકલે છે, જેમ મનુષ્યનું શરીર નિલ્ય વધે છે, તેમ વનસ્પતિનું શરીર પણ નિલ્ય વધે છે, જેમ મનુષ્ય શ્વાત્વાવસ્થા-યુવાવસ્થા ને વૃદ્ધાવસ્થા મોગવે છે, તેમ વ્રજે અવસ્થા વનસ્પતિ પણ મોગવે છે, જેમ મનુષ્યના શરીરને કાપવાથી લોહી નીકલે છે, તેમ વનસ્પતિના શરીરને કાપવાથી તેમાંથી પ્રવાહી પ્રદાર્થ વિવિધ રગના નીકલે છે,

જેમ ધોરાક મઠવાથી મનુષ્યનું ગરીર પુટ થાય છે, અને ન મઠવાથી મુકાઈ જાય છે, તેમ વનસ્પતિ પણ ધાતર તથા પાણીનો ધોરાક મઠવાથી તે વિકાસ પામે છે, અને તેના અભાવે તે મુકાઈ જાય છે, જેમ મનુષ્ય શ્વાસ લે છે, તેમ વનસ્પતિ પણ શ્વાસ લે છે, દિવસે કાર્બન હવા લઈને રાત્રે વનસ્પતિ ઓક્સીજન હવા બાહર વાડે છે, જેમ કેટલાક મનુષ્યો માસાહારી હોય છે, તેમ વનસ્પતિ પણ માછી-પતંગ આદિ નાના જીવોના સત્વને પોતાના પાંદડા વતી ખુસી લે છે, યા ધાતર અને હવા ધારા માંસાહાર કરે છે, ચન્દ્રમુખી પુષ્પ ચન્દ્રમાની સામે ને સૂર્યમુખી પુષ્પ સૂર્યની સામે રીલે છે, અને તેમના અલ્લ ધવાથી વીડાઈ જાય છે ।

તેમાં મૂત-સત્વ પણ છે, જેમકે બે-ત્રણ-ચાર ઇન્દ્રિયવાલા જીવો પ્રાણી કહેવાય છે, વનસ્પતિને મૂત, પાંચ ઇન્દ્રિયવાલાને 'જીવ,' અને પૃથ્વી-પાણી-અગ્નિ-વાયુને 'સત્વ' કહે છે, એ વધા જીવોમાં ૧૦ દ્રવ્ય પ્રાણ હોય છે, જેની ગણતરી નીચે મુજબ ની છે ।

પાંચ ઇન્દ્રિય, મન, વચન, ક્રમ્ય, આયુષ્ય, ડવાસોડવાસ, એ દશ પ્રાણ છે, આ પ્રાણધન સર્વ જીવોને અલ્પન્ત પ્રિય છે ।

સ્થાવરોમાં જીવ હોવાનું સામિત ધવાના પુટ વરણે ચાર્વાક-નાસ્તિક આદિનું સંકલન થઈ જાય છે, આ સર્વ જીવો દ્રવ્ય દષ્ટિએ નિત્ય અને પર્યાય દષ્ટિએ અનિત્ય છે, એમ મહાવીર મગવાને ફરમાવેલું છે, પ્રમુ પોતે બેટ સમાન ડૂબતા સંસારી જીવોને સહાયક છે, તેમજ તેમનું જ્ઞાન તત્વનો નિર્ણય કરાવવાને વરણે ડીપરુ સમાન છે, ડીપરુ સમાન સ્વરૂપ-પરરૂપનું જ્ઞાન પ્રગટ થઈ જાય છે, આ મગવાનો ધર્મ છે, કે જે તેઓએ તુલ્લાત્મક દષ્ટિ થી કહેલો છે । ધર્મોપદેશ કરવાનો તેમનો ઉદ્દેશ લોકોને સમભાવ-શાન્તિ-અર્હિયા-સલ્લનું સ્વરૂપ સમજાવીને પરોપકાર કરવાનો હતો, પણ પોતાનો ઉત્કર્ષ પ્રગટ કરવાનો ન હતો ॥ ૪ ॥

મૂલ

સે સઘદંસી અભિભૂય નાણી,

ણિરામગંધે ધિદ્મં ઠિયપ્પા;

અણુત્તરે સઘજગંસિ વિઝ્ઞં,

ગંધા અતીતે અમ્પે અણાઙ્ગ ॥ ૬ ॥

संस्कृतच्छाया

स सर्वदर्शी अभिभूय धानी, निरामगन्धो धृतिमान् स्थितात्मा ।  
अनुत्तरः सर्वजगति विद्वान्, ग्रन्थादतीतोऽभयोऽनायुः ॥ ५ ॥

सं० टीका—स ज्ञातृपुत्रमहावीरो भगवान् सर्वदर्शी समासीत्, किं कृत्वा, अभिभूय=यावद्वाविंशतिपरिपहान् तिरस्कृत्य पराजयं कृत्वेति । पुनः केवलाख्यं ज्ञानमस्यास्तीति सः । “अत इनिठनौ ।” परतीर्थाधिपाधिकत्वमावेदितमित्यनेन ॥ अथ ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष इति तस्य भगवतो ज्ञानं प्रदर्श्य क्रियां दर्शयितुमाह ॥ निर्गतोऽपगत आमो विशोधिकोटिरूपो गन्धो यस्मात् सोऽस्ति निरामगन्धो=मूलोत्तरगुणसमन्वितां चरित्रक्रियां कृतवान् इति । धृतिमान् स्वैर्यसम्पन्नो निश्चलतया चरित्राराधकः । स्थितात्मा=निर्मलात्मा शुक्लध्यानीति, यावदथवा स्थित्यात्मा मर्यादान्वितात्मा, यथा “संस्वातुं मर्यादा धारणा स्थितिरित्यमरः ।” अशेषकर्मविगमात्स्थितो व्यवस्थित आत्मा यस्य स स्थितात्मा । परिणामद्वारेण विशेषणं ज्ञानक्रिययोरेतच्चेति भावः । अनुत्तर=उत्कृष्टः श्रेष्ठो नास्मादुत्तरं प्रधानं सर्वसिद्धपि जगति विद्यते सोऽनुत्तरः । “अनुत्तर एषां विपर्यये श्रेष्ठ इत्यमरः” । विद्वान्=सर्वहेयोपादेयज्ञेयपदार्थवेत्ता, सकलद्रव्याणां करतलामलकवत्प्रत्यक्षदर्शीति भावः । “विद्वान् विपश्चिदोपज्ञः सन्मुधीः कोविदो बुधः, धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञ, इत्यमरः” । ग्रन्थादतीतो=ऽन्तर्बाह्यपरिग्रहग्रन्थादतीतो रहितः, अथवा कर्मरूपाद्ग्रन्थादतिक्रान्तो रहितो निर्ग्रन्थ इत्यर्थः । प्रवृत्तिभावेऽथवा कर्मपर्वणोऽतीत इत्याशयः । “ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी इत्यमरः” । अभयः=सप्त प्रकारकं भयं न विद्यते यस्यासावभयो भीतिरहितः । “दरस्त्रासो भीतिर्भीः साध्वसं भयमित्यमरः” । अनायुः=नारकतिर्य्यङ्मसुरायुररहितत्वात् । दग्धकर्मवीजत्वेन पुनरु-  
बीर. ५



त्पादस्याभावाच्चेत्यर्थः । “दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः ।  
कर्मबीजे तथा दग्धे, नारोहति भवांकुर इति” ॥ ५ ॥

**अन्वयार्थ—**[से] वह [मन्वदंती] सब कुछ देखनेवाले भगवान्  
[अभिम्यूय] धायोपशमिक ज्ञानोंको जीतकर [नाणी] केवलज्ञान संयुक्त,  
[गिरामगंधे] निर्दोष चरित्र पालनेवाले [धिइमं] धीरता समन्वित [ठिनप्पा]  
अपने आत्म-स्वरूपमें स्थिर-सत्य [सन्वजगंति] अखिल विश्वमें [अणुत्तरे]  
सबसे उत्कृष्ट [विजं] पदार्थोंके जाननेवाले सर्वज्ञ-सर्वविषयज्ञ [गंधा] परिग्रह-  
ग्रन्थीसे [अर्ताते] रहित [अभए] सात भयोंसे रहित [अणाउ] और  
आयु रहित थे ॥ ५ ॥

**भावार्थ—**भगवान् महावीर स्वामी सामान्यरूपसे पदार्थोंके जाननेवाले  
तथा मति-श्रुति-अवधि और मन-पर्यव इन चार धयोपशमजन्य ज्ञानोंको ज्ञाप-  
कर केवलज्ञानसमुत्पन्न थे; और उन्होंने वह भी यथाया कि-ज्ञान और चरित्रसे  
ही मोक्ष होता है अतः प्रभुके ज्ञानका वर्णन करके चरित्रका वर्णन करते हैं । भग-  
वान्ने भूलगुण और उत्तरगुणोंका पूर्णतासे पालन किया तथा अनेक विघ्न बाधा  
और परिग्रह पड़नेपर भी स्वचरित्रमें निश्चल रहे । भगवान् तीनों लोकमें सबसे धेष्ठ  
विद्वान् परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ और सातभयसे रहित तथा सब कर्मोंसे मुक्त थे ॥५॥

**भाषा-टीका—**प्रभु २२ परिग्रह और शारीरिक मानसिक कष्ट तथा रागा-  
द्विक एवं ज्ञानावरणीयादिक भ्रान्तरिक शत्रुओंको जीत कर केवल ज्ञानी होगए ।  
आपने ज्ञानको प्रमुख पद देकर संसारको क्रियाका भी भान कराया । और  
वह सिद्ध कर दिखाया कि ज्ञान और क्रिया इन दोनोंका आश्रय लेनेसे मोक्ष  
है । अतः ये स्वयं आमगन्ध-मूल गुण और उत्तर गुणरूपी दोषोंसे रहित  
थे । आपने धीरतासे चरित्रका पालन किया, आत्माको शूद्रभ्रान्तमें स्थिर किया ।  
कर्मोंका सर्वथा नाश करनेके लिए निरुत्तात्मा होकर स्थित रहे, स्थिरता उनका  
प्रधान गुणथा । और ब्रह्मज्ञान-पाकर हाथ पर धरे आमलेकी तरह सब चरा-  
चरको जान लिया । क्योंकि अन्तर और याज्ञ परिग्रहसे रहित होकर कर्म  
प्रभियका सर्वथा भेदनकर चुके थे अतः आप निर्ग्रन्थ थे । यही कारण है कि  
बौद्धादिक आपको अब तक भी निगण्टके नामसे स्मरणमें रखते हैं । आप  
स्वयं अभय रहकर औरोंको निर्भय बनानेके अर्थ उपदेश देते और लोकोंमें

सञ्चा वीर रस पैदा करते । देव, मनुष्य, पशु और नरकके आयुके लम्बे तारोंको तोड़ फोड़ कर नष्ट कर दिया । क्योंकि जब बीजको सँक भून दिया जाता है तब उसे बोया भी जाय तब भी वह अंकुर नहीं देता अर्थात् उसकी सृष्टि अगाधी नहीं बढ़ती, इसी प्रकार कर्मबीज नष्ट होने पर संसारका अंकुर अर्थात् जन्म और मरण नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

गुजराती अनुवाद—२२ परिग्रह, शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, रोगादिक तथा ज्ञानावरणीयादिक आन्तरिक शत्रुओंने जीतीने प्रभु केवलज्ञानी थया, अने ज्ञानने प्रमुख पद आपीने सत्कारने क्रियानुं पण मान कराव्युं, अने सिद्ध करी बताव्युं के ज्ञान अने क्रियाधी मोक्ष छे, मूल तथा उत्तरणुने दोष रहित संयमना पाळनारा, धैर्यवान्, सर्व कर्म नाश यवाधी स्थित आत्मवान्, सर्व जगतने विषे प्रधान ज्ञानवान्, बाह्य अने अभ्यन्तर परिग्रह रहित तेमज कर्म-ग्रन्थीनो नवंधा नाश करवाधी निर्ग्रन्थ थया आ कारणे बाँद्धादिक आपनुं 'निर्गन्थ' ( निर्ग्रन्थ ) एवा नामधी स्मरण करे छे, आप सात भय रहित थया, अने बीजाओने निर्भय बनववाने माटे उपदेश देता, अने लोकोमां साचो वीर रस पैदा करता, चार यतिना आयुष्य रहित ज्ञातृपुत्र श्रीमहावीर देव हता, कारणके ज्यारे बीजने शेकी नासवामां आवे ल्यारे तेने वाववामां आवे तो पण ते उगनुं नशी, आ रीते कर्मबीजनो नाश भई जवाधी संसारना अंकुर जन्म-मरण नाश पामी जाय छे ।

मूल

से भृङ्गपत्त्रे अणिए अयारी,  
ओहंतरे धीरे अणंतचक्खु ।  
अणुत्तरे तप्पइ सूरिए वा,  
वहरोइणिंदे व तमं पगासे ॥ ६ ॥

संस्कृतच्छाया

स भूतिप्रशोऽनियतचारी, ओघंतरो धीरोऽनन्तचक्षुः ।  
अनुत्तरं तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशः ॥ ६ ॥

सं० टीका—‘से इति’ । भूति शब्दो. वृद्धौ, सम्पदि, ऐश्वर्ये, भस्मनि वर्तते, भूतिप्रज्ञस्त्रय प्रवृद्धज्ञानोऽनन्तज्ञानवानिति, तथा च भूतौ भस्मनि कर्मणां भस्मसात्करण इत्यर्थः कर्मक्षय इति यावत् प्रज्ञा यस्य स भूतिप्रज्ञः, तथा समग्रात्मैश्वर्योदयवान् च । “भूतिर्भस्मनि सम्पदि, इत्यमरः” । पुनस्तथा भूतिप्रज्ञो जगद्द्रष्टाविषयको भूतिप्रज्ञः । सर्वमंगलभूतिप्रज्ञ इत्यपि; । अनियतचारी=अप्रतिबन्ध-विहरमाणत्वात्, वायुरिवेतिभावः । ओषं संसारं तरितुं शीलमस्येति ओषतरः । उत्पादव्यययोः ओषं परम्परां तरतीति सः । “ओषो वेगे जलस्य च । वृन्दे परम्परायां च, द्रुतनृत्योपदेशयोरिति” मेदिनी । अथवा कर्मणामोषः समूहस्तं तरतीति सः । “ओषो वृन्देऽम्भसां रय इत्यमरः” । धीर्बुद्धिस्तया राजत इति धीरः,=परिपहोपसर्गेऽक्षोभ्यो दृढो वेति धीरः । “धीरोमनीषी ज्ञः प्राज्ञ इत्यमरः ।” अनन्तत्वा-श्चक्षुर्ज्ञानं तत्केवलज्ञानमेव तदेव चक्षुर्भूतः सोऽनन्तचक्षुरिति । यथाऋः सूर्योऽनुत्तरमुत्कृष्टं सघृतोऽधिकं तपति न तस्मादधिकस्तापे कश्चनास्ति, तथैव भगवानपि ज्ञानेन सर्वोत्कृष्टः । पुनः कथंभूतो हि सूर्यो, विदोषेण रोचनो दीप्तिमान्, प्रकाशकाधिकत्वात्, इन्द्रोऽसौ यथा तमोऽपनीय-दूरीकृत्य प्रकाशयति, एवमसावपि भगवानज्ञानत-मोऽपहृत्य यथावसितपदार्थान्प्रकाशयतीत्यर्थः । ‘विरोचन इत्यत्र स्वार्थे-ऽणि, वैरोचनः सूर्योऽथवाग्निरिव कर्मन्धनं ज्वालयित्वा अकर्मकः परिशुद्धो जात इत्यपि । “विरोचनः प्रल्हादस्य तनयेऽर्केऽग्निचन्द्र-योरिति मेदिनी ।” विरोचनो रविरेवेति बहुमतम्, यथा—“तरणि स्तपनो भानुर्ब्रह्मः पूषार्थ्यमा रविः, तिग्मः पतंगो शुभणिर्नार्तण्डोऽर्को महाधिपः इनः सूर्यस्तमोर्ध्वांतस्त्रिमिरारिर्विरोचनः । इति धनञ्जयना-

ममालायाम्" । "शुभगित्तरणिमित्रश्चित्रभानुविरोचन इत्यमरः" विरोचन एव वैरोचनः सूर्यः । स इव प्रकाशोऽतिप्रसिद्धो, जगद्विरूपात्तो ज्ञातपुत्र-महावीरप्रभुरित्यर्थः । "प्रकाशोऽतिप्रसिद्धोऽपीत्यमरः" । अथवा सः प्रभुर्ज्ञानात्पने महान् इति । "प्रकाशोद्योत आतप इत्यमरः ।" ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—[ से ] वे भगवान् [ भूदृष्ये ] अत्यन्त बुद्धिमान् [ अणिए अचारी ] विचरते समय प्रतिबन्ध रहित [ ओहंतरे ] संसार समुद्रसे पार होनेवाले [ धीरे ] धैर्यवान् [ अणंतचक्रु ] अनन्तज्ञानवान् [ अणुतरं ] सबसे अधिक पवित्र-धेष्ट [ तप्यति ] तपधरण करनेवाले [ मूरिए या ] सूर्यके समान तथा [ वदरोयगिरे व ] वैरोचन नामक अग्नि के सरस [ तमं ] अज्ञानान्धकारको नष्ट करके [ पगात्ते ] ज्ञानद्वारा तत्वोंको प्रत्यक्षित करते थे ॥ ६ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीरकी प्रज्ञा संसारका मंगल कल्याण एवं रक्षा करनेवाली थी, उनका भ्रमण अप्रतिबद्ध था, क्योंकि वे सर्वथा परिग्रहसे रहित थे, उनका चरित्र संसार समुद्रसे पार करनेवाला था, परिग्रह-शत्रुओंका आक्रमण समान भावसे सहन करते थे, इसीसे धीर एवं धी-बुद्धिसे राजित-शोभित थे, अनन्त ज्ञेय पदार्थोंके ज्ञाता थे, इसी-स्वरण अनन्त ज्ञान सहित थे, विश्वमें सबसे अधिक तप करते थे, और जिसप्रकार सूर्य अन्धकारको नष्ट करता है अथवा वैरोचन नामक अग्निके जलनेसे अन्धकार या कष्टका नाश होता है उसी प्रकार महावीर भगवान् भी अज्ञान अन्धकार या कर्मकष्टके नाशक थे ॥ ६ ॥

भाषा-टीका—वीर भगवान्का ज्ञान चौथी भूमिकसे बढ़कर अनन्त-बुद्धिसे प्राप्त होगया । यह अनन्तज्ञानमय ऐश्वर्य सर्वथा पातिया कर्म क्षयकरनेपर ही मिला । तब संसारके लिए आप मंगलभूत और रक्षक बने तथा आपका वायुदेही समान अप्रतिबद्ध विचरणथा । आपने संसारके समुद्रको पार किया । उपदेश दान देकर औरोंको भी जन्म भरणसे मुक्त कर दिया, जिससे कहा जा सकता है कि-कर्मके समीपसे आप पार हुए । परिग्रह और उपसर्ग सहते समय किसी प्रकारका क्षोभ न होनेसे आप धीर थे । इसीके बाद आप अनन्त चतुर्वाके कहलाए । जिस तरह सूर्य बलकृत् तापसे तपता है

उसी तरह महावीर भगवान् भी ज्ञानकी अनन्तताकी अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट थे। उस ज्ञानसे भगवान् जनताके अज्ञानांधकारको अपहरण करके यथार्थ रीतिसे ज्ञानका आविर्भाव-प्रकट करनेवालोंमेंसे थे। प्रभुने अमिकी तरह कर्म रूप ईंधनको भी जलाकर अनन्त संसारकी अज्ञान आत्माओंको प्रकट रीतिसे परिशुद्ध किया। और सूर्यकी सदृश भगवान् महावीर प्रभु अखिल विद्यमें अद्वितीय प्रसिद्धि प्राप्त महापुरुष थे। अधिकतर संसारमें उनदिनों प्रभुकी ज्ञान-क्रान्ति ही सब ओर चमक रही थी ॥ ६ ॥

गुजराती अनुवाद—वीर परमात्मानुं ज्ञान चोधी भूमिअधी वधीने अनन्तताने प्राप्त थयुं, कर्मोनी क्षय ववाथी भगवान् अनन्तज्ञानवाळा यया, ह्यारे संसारना मंगळ समान तेमज रक्षक तेओ धया, वायु समान अप्रतिबंध विहारी, संसार समुद्रने तारनार भगवान् हता, मीजाओने उरदेश दान करीने जन्म मरणथी मुक्त करावनार हता, परिपह तेमज उपसर्ग सहती चखते आपने कोई पण प्रकारनी क्षोभ न वचाना कारणे धीरजवान्, अनन्तज्ञानरूप चणुवाळा, तथा सूर्य जेम सर्वथी अधिक तपे छे, तेम प्रभु ज्ञाने करी सर्वोत्तम छे, विरोचन अग्नि जेम मळगवाथी प्रकाश करे तथा इन्द्रनी पेटे अन्धकारने दूर करी प्रकाश करे छे, तेम धीमहावीर देव पण अज्ञानरूप अन्धकार दूर करी प्रकाश करे छे, अग्निनी माफक कर्मरूप ईंधणने वाळी अनन्त संगारना अज्ञान आत्माओने प्रकट रीते परिशुद्ध कर्या, अने सूर्यनी पेटे प्रभु अखिल विद्यमां अद्वितीय प्रसिद्धिने पामेल महापुरुष हता, ते दिवसोमां प्रभुनी ज्ञान-क्रान्ति अधिकतर प्रकाशती हती ॥ ६ ॥

मूल

अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं,  
 पेया मुणी कासव आसुपण्णे;  
 इंदेव देवाण महानुभावे,  
 सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे ॥ ७ ॥

संस्कृतच्छाया

अणुत्तरं धम्ममिमं जिनाणां, नेता मुनिः काश्यप आशुपण्डः ।  
 इन्द्र इय देवातां महानुभायः सहस्रनेता दिवि विधिष्टः ॥ ७ ॥

सं० टीका—अनुत्तरं० इति—अनुत्तरमुत्कृष्टं प्रधानं धर्म  
 नेनानामृषभादितीर्थकृतां सम्वन्ध्यं 'मुनिः, 'मनेरुचेत्युणादिसूत्रेणे  
 त्यये कृते चोपधोत्वे जाते 'मुनि'रिति सिद्धं, परन्वत्र लघूपधगुणा-  
 शः प्राप्तस्तथापि तपरोच्चारणासामर्थ्यात् किदित्यनुवर्तनाच्च न भव-  
 तेति भावः । "वाचं यमो मुनिरित्यमरः" । "मुनिभिर्भुक्ष्य संयमीति,  
 जेषः" । श्रीज्ञातृपुत्रमहावीराख्यः सुमुनिः, काश्यपो=गोत्रेण, आशु-  
 ज्ञः=केवलज्ञानी उत्पन्नदिव्यज्ञान इत्यर्थः । नेता,=प्रणेता चतुर्विधस्य  
 धस्य धर्मप्रणेता, चतुष्प्रकारधर्मोपदेष्टा दानशीलतपोभावभेदाद्वा ।  
 अथवा साधुसाध्वीश्राद्धश्राविकारूपचतुर्विधसंधस्य प्रभुत्वादपि नेता=  
 एकः । ताच्छीलिकस्तृन् । "अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽ-  
 नेपः" इत्यमरः । धर्ममित्यत्र कर्मणि द्विर्तायैव । ताच्छीलिकस्तृन्  
 योगे 'न लोकाव्ययनिष्ठेत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् । यथेन्द्रो दिवि=देव-  
 गेके=स्वर्गे महानुभावो महाप्रभावः । एवमेव याथातथ्येन सम्यक्प्रकारेण  
 सखिलद्रव्यपदार्थनिश्चयकर्ता महावीर इति । "अनुभावः प्रभावे च  
 तां च मतिनिश्चय इत्यमरः" । प्राकृतशैल्या णमिति वाक्यालंकारार्थे ।  
 महसनेत्रो=विलक्षणसहस्रनयनयुक्तोऽसाविन्द्रः । विशिष्टो रूपबलव-  
 र्णादिकैविंशिष्टो युक्तो हि प्रधानस्तथैव भगवानपि सर्वेभ्योऽपि विशिष्टः  
 णायको महानुभावश्चेति सर्वं पूर्ववृत्तान्तं संयोज्यमिति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—[ जिणानं ] जिन भगवानके [ इणं ] इस [ अपुत्तरं ]  
 एवं श्रेष्ठ [ धम्मं ] धर्मके [ नेया ] नेता [ मुनि ] मुनि [ काश्यप ] काश्यप-  
 गोत्रीय [ महाणुभावे ] महाप्रभावशाली भगवान् महावीर [ दिवि ] स्वर्गमें  
 सहस्र ] हजारों [ देवाण ] देव समूहके [ इंदे व ] इन्द्रके समान [ विशिष्टे ]  
 रूप और गुण आदिमें सबसे उत्तम और प्रधान [ नेता ] नेता अर्थात् संपूर्ण  
 जिनयुक्त ईश्वर ये ॥ ७ ॥

आत्माने माटे उद्यत मार्ग बतावनार हता, ते धर्म ऋषभादि २३ तीर्थं करोए  
 बतावेल धर्मधी भिन्न न हतो, देघ कालने अनुमार संशोधन अवश्य करेलुं  
 हतुं, पण तेओ जैनधर्मना आदि प्रवर्तक न हता, ते प्रभु काश्यप गोत्रीय  
 क्षत्रियोमानी विमल विभूति हता, दिव्य ज्ञान प्राप्त करीने चतुर्विध सधने धर्म  
 पथ बतावनार होवाकी तेओ नेता पण हता, कारणके सधने तेओएज ज्ञान-  
 दर्शन-चरित्र-अहिंसा-सत्य-तप-त्याग-सयनादिमां प्रवृत्त कयो हतो, सत्तारना  
 कल्याणार्थे तेओए सधने दान-शील-तप-भाव एम धर्मना चार भेद बताव्या,  
 साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप संधनी स्थापना करीने तेओए तेमने संगठननी  
 परम धाकिजुं तत्व बताव्युं हतुं, देवलोकने विपे इन्द्र जेम देवोमां महाप्रभावान्,  
 हजारो देवीनो नायक अने सर्वोत्तम छे, तेम पदार्थ विज्ञाननो निश्चय प्रगट  
 करवावाळा तत्ववेत्ताओमां महावीरप्रभु ऐश्वर्यशाली हता, संसार अने मोक्ष  
 तेमज खारभूत तत्वोने प्रगट करवामां प्रखर प्रकाशक हता । सात तत्व-नव  
 पदार्थ आदि महान् तेमज गंभीर पदार्थोनों सरळ आशय निपुणताधी जनतामां  
 तेओए प्रगट कयो हतो । जे तरफ इन्द्रनी दृष्टि रहे छे, तेज तरफ तेना ५००  
 प्रधानोनी नजर पण रहे छे, तेज रीते अनेकान्त पर तेओनी दृष्टि हती । तेज  
 मार्गजुं संसारे पण अनुसरण क्युं । जेधी तेओ पण सहस्रनेत्र गणाया । स्व-  
 यल-वर्ण-वीर्य विगेरेमां तेओ सर्वोत्तम हता । मुनिगणरूपी ताराओमां तेओ  
 मुनिचन्द्ररूप ईश्वर हता ॥ ७ ॥

मूल

से पन्नया अक्खयसागरे वा,  
 महोदही वा वि अर्णत्तपारे ।  
 अणाइले वा अकसायी मुक्के,  
 सक्केव देवाहिघई जुईमं ॥ ८ ॥

संस्कृतच्छाया

स प्रज्ञयाऽक्षयसागरो वा, महोदधिरिव अनन्तपारः ।  
 अनाविलो वा अकपायी मुक्तः, शक्र इव देवाधिपतिर्द्युतिमान् ॥८॥

सं० टीका—स इति, पुनरसौ भगवान् प्रज्ञयाऽक्षयोऽक्षीणज्ञानः,  
 प्रज्ञायत अनयेति प्रज्ञा तयाऽक्षयो, ज्ञातव्येऽर्थे तस्य बुद्धिर्न मक्षीयते

न प्रतिहन्यते वेति, “बुद्धिर्मनीषा धिपणा धीः प्रज्ञेत्यमरः” । अथवा तस्य बुद्धिः केवलज्ञानाख्या सा साधनन्ता-साध्यपर्यवसाना कालतो, द्रव्यक्षेत्रभावापेक्षयाऽप्यनन्ता तथाऽक्षयः, यथा सागरो महोदधिः स्वयंभूरमणः समुद्रः स इवानन्तपारः । यथासौ विस्तीर्णा गंभीरजलोऽक्षोभ्यस्तथैव तस्य भगवतो विस्तीर्णा प्रज्ञाऽनन्तप्रज्ञा, स्वयंभूरमण-समुद्रादनन्तगुणितो गंभीरोऽक्षोभ्यश्च, अनाविलोऽकलुपजलः, “कलु-पोऽनच्छ आविल इत्यमरः” । नाविलोऽनाविलो निर्मलस्तथैव कर्म-लेशाभावादकलुपज्ञानो निर्मलज्ञान इति । न कषायी-अकषायी ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनवियुक्तत्वात् । मुक्तःकर्मरहितोऽपुनरावृत्ति प्राप्तिः । सर्वलोके पूज्यत्वेऽपि, निश्शेषान्तरायक्षयेऽपि निरवद्यभिक्षा-मात्रोपजीवित्वाद्भिक्षुः । पुनश्च स ज्ञातृपुत्रीयो महावीरो भगवान् दीप्तिमान्, शक्र इव देवाधिपतिरिव कान्तिमानिति, “शक्र इन्द्रः सुना-सीरः शतक्रतुरिति धनञ्जयः” । “जिष्णुर्लेश्वरभः शक्र इत्यमरः” ॥ ८ ॥

अन्ययार्थ—[ से ] वे भगवान् महावीर [ पक्षया ] बुद्धिधी-अपेक्षा अनन्तपारवाले तथा [ अणाइले ] पवित्र जलसे भरपूर [ महोदहीवावि ] स्वय-म्भूरमण समुद्री तरह [ अकषयसायरे ] अक्षीण समुद्र थे तथा [ अकसाइ ] चार कषायसे रहित [ मुक्के ] आठ कर्मोंसे रहित [ देवाहिवर ] असंख्य देवोंके अधिपति [ सकेव ] इन्द्रकी तरह [ जुईमं ] दीप्तिमान्-चमकीले थे ॥ ८ ॥

भावार्थ—भगवानको किसी अन्य पदार्थसे उपमा न दी जा सकनेके कारण समुद्रसे ही एक देशीय उपमा दी गई है । अर्थात् जिसप्रकार स्वयंभूर-मणसमुद्र अनन्तपार युक्त है उसी प्रकार भगवान् भी द्रव्य क्षेत्र-काल और भावकी अपेक्षा अनन्त ज्ञानवान् थे, समुद्रके निर्मल जलके समान उनका ज्ञान भी स्पष्ट और आवरण रहित था, इसी प्रकार कषायसे रहित तथा आठ कर्मोंके बंधसे मुक्त थे, जैसे इन्द्रका प्रभाव देवोंपर होताही उसी प्रकार प्रभुका प्रभाव भी प्राणीमात्र पर था ॥ ८ ॥



**भाषा-टीका**—प्रभुका ज्ञान कोष अक्षय था, क्योंकि उनकी बुद्धि भी केवलज्ञानरूपा थी । जो कि आदि-अनन्त थी । जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी पूर्ण अनन्तता थी । विस्तीर्ण और खच्छ तथा गंभीर स्वयम्भूरमण समुद्र की सदृश प्रभु गंभीर तथा अक्षोभ्य और पवित्र गुणोंमें उससे भी अनन्तगुण अधिक थे । आपका अनुभव, विचार तथा ज्ञान जल अनाविल-यानी काल्प्यता-पूर्वापर विरोधरहित था, जिसमें कर्म मलका लेश कोई खोजेसे भी न पा सके । ज्ञानावरणीयादिक आठ कर्म-बन्धनसे रहित होनेके कारण आपमें कपाय कहाँ हो । इसीसे आप जीवन मुक्त थे । आप तीनों लोकोंके पूज्य होने पर भी निरवय भिक्षा लेते । आप शूरवीर शक्रेन्द्रकी तरह दुतिमान् और प्रतापी-महापुरुष थे । और यह बात विश्व विख्यात थी ॥ ८ ॥

**गुजराती अनुवाद**—प्रभुको ज्ञान भण्डार अखट हतो, कारणके तेमनी बुद्धि पण केवलज्ञान रूपे हती, जे सादि-अनन्त हती । जेम स्वयंभूरमण नामे मोटो समुद्र अनन्त-अपार अने निर्मल जलबाळो छे, तेमज प्रभु गंभीर-अक्षोभ्य-अने पवित्र गुणोमां लेनाशी पण अनन्तगणा अधिक हता । तेओतुं अनुभव-विचार तथा ज्ञान जल अखन्त निर्मल हतुं । शोधवा छतां पण कर्म-रूप मेल तेमां मळी शके नहि । ज्ञानावरणीयादिक कर्मबन्धनशी रहित थवाने कारणे तेओ अकपायी=कपाय रहित हता । तेथी आप जीवन्मुक्त हता, त्रिलोक पूज्य होवा छतां आप निरवय भिक्षाए आजीविका करनार हता । देवोना स्वामी शक्रेन्द्रनी पेठे तेओ तेजस्वी तथा अनन्त प्रतापी अने महापुरुष हता ॥ ८ ॥

मूल

से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए,  
सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे ।  
सुरालयवासि मुदागरे से,  
विरायए णेगगुणोपवेए ॥ ९ ॥

संस्कृतच्छाया

स वीर्येण प्रतिपूर्णेवीर्यः, सुदर्शन इव नगसर्व्वथेषुः ।

सुरालयवासिमुदाकरः स, विराजतेऽनेकगुणोपपेतः ॥ ९ ॥

सं० टीका—स इति, वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षीणत्वात्  
 स भगवान् वीरो वीर्येणौरसेन धृतसंहननादिवलेन प्रतिपूर्णवीर्यः,  
 अनन्तशक्तिमानित्यर्थः । अथवोत्कर्षवत्तया प्रतिपूर्णप्रभाववान् अथवा  
 सर्वशक्तिमान् । “सर्वीर्यमतिशक्तिभाक्” इति । “वीर्यं बले प्रभावे  
 चेत्यमरः” । नगानां पर्वतानां मध्ये यथा, “शैलवृक्षौ नगावगावित्य-  
 मरः” “नगः शिलोच्चयोऽद्रिश्च शिखरीति धनंजयः” । सुदर्शनो मेरुः  
 केवलकल्प्यजम्बूद्वीपमध्ये श्रेष्ठस्तथैव गुणैर्भगवान् श्रेष्ठः । यथा सुरा-  
 लयः स्वर्गस्तन्निवासिनां देवानां मुदाकरो हर्षकर आनन्दजनको मनो-  
 ऽनोकूलवर्णगंधरसस्पर्शप्रभावादिगुणै राजते । एवं भगवानप्यनन्त-  
 गुणैः शोभते, विराजतेऽनेकैर्गुणैरुपेतो भगवान् वीर इति ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—[ से ] वे भगवान् [ वीरिण ] बल-वीर्यसे [ पडिपुष्णवी-  
 रिण ] प्रतिपूर्ण शक्तिबाले थे, तथा [ वा ] जिसप्रकार [ सुदर्शणे ] सुमेरु पर्वत  
 [ णगसम्बन्धे ] सब पहाड़ोंमें अवलोकनीय और महान् एवं श्रेष्ठ है, उसी  
 प्रकार महावीर प्रभु भी सर्वश्रेष्ठ थे, और सुमेरु पर्वत जिसप्रकार [ सुदल-  
 वासिसुदागरे ] देवोंको प्रसन्नता उत्पादक होता है उसी प्रकार भगवान् सब  
 प्राणीवर्गकेलिए हर्षदायक थे, तथा जैसे सुमेरु [ णगगुणोववेण ] अनेक गुणोंसे  
 शोभित है वैसेही भगवान् भी अनन्त उत्तमोत्तम गुणोंसे समलभूत थे ॥ ९ ॥

भावार्थ—भगवान्का वीर्यान्तराय कर्म बिल्कुल नष्ट हो गया था, अत-  
 एव उनमें अनन्तवीर्य-अनन्त बलका प्रादुर्भाव हो गया था, जैसे सुमेरु-पर्वत  
 सब पहाड़ोंमें श्रेष्ठ है उध है उसी प्रकार भगवान् भी शक्ति आदि गुणोंमें उच्च  
 और सर्वश्रेष्ठ थे । तथा जिस प्रकार स्वर्ग देवोंकेलिए हर्षोत्पादक है उसी प्रकार  
 सुमेरु भी हर्ष जनक है वैसे ही भगवान् भी प्राणीमात्रकेलिए हर्षको उत्पन्न  
 करनेवाले थे । सुमेरु जैसे अनेक गुणोंसे—सुनहरी रंग और चन्दनादि गन्ध  
 तथा उत्तम फलोंसे शोभित होता है, भगवान् भी ज्ञान-शक्ति-मुखादि गुणोंसे  
 विराजमान थे ॥ ९ ॥

भाषा-टीका—वीर्यान्तरायका सर्वथा क्षय होनेसे भगवान् अनन्त  
 शक्तिमान् और धैर्य, शौर्य, सहिष्णुतादि शारीरिक बलसे बलिष्ठ थे,

प्रतिष्ठाशालिओं में भगवान् अद्वितीय प्रभाववाले थे । जहां जीवोंको केवलज्ञान प्राप्त होता है उस जम्बूद्वीपके मध्यमें जिस प्रकार सुमेरु पर्वत दृढ, अचल, और धेष्ट हैं इसी प्रकार प्रभुकी वाणी भी अनेकान्त रूप सकल धेष्ट हैं तथा वे स्वयं भी पर्वतकी तरह दृढ थे । सुमेरुपर्वत स्वर्गवासियोंको बड़ा सुहावना लगता है और हर्ष पैदा करता है इसी भांति प्रभु भी ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति आदिक अनन्त गुणोंसे युक्त और भव्य आत्माओंके लिए अनुपम आनन्ददायक थे ॥ ९ ॥

**गुजराती अनुवाद**—वीरान्तरायने सर्वथा नाश थवाथी भगवान् अनन्त-शक्तिमान् हता, तेमज धैर्य-शौर्य-सहिष्णुतादि शारीरिक बले करी प्रतिपूर्ण बलवान् हता । प्रतिष्ठा शालिओंमां भगवान् अद्वितीय प्रभाव वाळा हता, ज्या जीवोने केवलज्ञान प्राप्त थाय छे ते जंबूद्वीपमां मेरु पर्वत जेम दृढ-अचल-अने धेष्ट छे, तेम भगवान् पण वीर्यादिक गुणे करी धेष्ट तथा दृढ हता । मेरु पर्वत जेम स्वर्गवासी देवोने हर्ष उत्पन्न करे छे तथा अनेक गुणोए करी शोभित छे, तेमज प्रभु पण ज्ञान-दर्शन-सुख अने शक्ति आदिक अनन्त गुणोए करी शोने छे, तेमज भव्यात्माओने आनन्द प्रद छे ॥ ९ ॥

मूल

सयं सहस्राण उ जोयणाणं,  
 तिकण्डगे पंडगवेजयंते ।  
 से जोयणे णवणवति सहस्से,  
 उद्भुस्सितो हेट्ट सहस्समेगं ॥ १० ॥

संस्कृतच्छाया

शतं सहस्राणां तु योजनानाम्, त्रिकण्डकः पण्डकवैजयन्तः ।  
 स योजने नयनवतिसहस्रे ऊर्ध्वाच्छिन्नतोऽधः सहस्रमेकम् ॥१०॥

सं० टीका—पुनश्चापि मेरुवर्णनायाह, 'सयं इति,' स सुमेरुर्व्यो-  
 जनसहस्राणां शतमुच्छिन्नतोऽस्ति "मेरुः सुमेरुर्हेमाद्रिः रत्नसानुः सुरालयः  
 इत्यमरः ।" तथा त्रीणि कण्डकानि यस्य स त्रिकण्डकः । भूमिं-

जाम्बूनदं-वैदूर्यं चेति भेदात् । स किं भूतः, पण्डकवैजयन्तः,=पण्ड-  
 कवनं शिरसि व्यवस्थितं, वैजयन्तीकल्पं पताकाभूतं यस्य स तथोक्तः ।  
 “पताका वैजयन्ती स्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियामित्यमरः” । असौ मेरुर्न-  
 वनवतिसहस्रे योजने ऊर्ध्वोच्छिद्रतः=भूतलादुपरि प्रवृद्ध उन्नतो वा  
 “उच्चप्रांशून्नतोदग्नोच्छिद्रतास्तुङ्ग” इति, “जातोन्नद्ध प्रवृद्धाः स्युरु-  
 च्छिद्रता इति चामरः” । अधः=भूमेरधस्तादेशो एकं-सहस्रं योजन-  
 मवगाढ इत्यर्थः । एकसहस्रोनलक्षयोजनं पृथिवीत ऊर्ध्वं, सहस्रमेकं  
 च योजनं भूमाविति भावः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—[से] वह सुमेरु पर्वत [सयं सहस्राण] एक लाख  
 [जोयणणं] योजनका है, [तिकंडने] उसके तीन भाग हैं, [पंडकवैजयन्ते]  
 पाण्डुक वन जिसकी ध्वजाके समान है, तथा [णवणवते] ९९ निगानवे  
 [सहस्रे] हजार [जोयणे] योजन [उद्गुस्सितते] ऊंचा है, और [एणं] एक  
 [सहस्र] हजार योजन [हेट्ठं] धुनियादमें नीचा है ॥ १० ॥

भावार्थ—इम गाथामें भगवान्की उपमा भूत सुमेरुगिरिका वर्णन किया  
 है, सुमेरु एक लाख योजन ऊंचा है, निगानवे हजार योजन जमीनसे ऊपर  
 तथा एक हजार योजन जमीनमें है, इसके तीन कंडक-भाग हैं, उन तीन  
 कण्डिकाओंमें सबसे ऊपरकी कण्डिका पर पाण्डुक वन है । और मानो वह  
 ध्वजाकी तरह जान पड़ता है, जिसप्रकार वह सुमेरु पर्वत तीनों लोकोंमें व्याप्त  
 है उसी भांति भगवानके भी ज्ञान-दर्शन-चरित्रादि गुण समस्त स्थेसलोकमें  
 व्याप्त हैं ॥ १० ॥

भाषा-टीका—वह सुमेरु पर्वत ऊंचाईमें एक लाख योजन है, जिसके  
 तीन काण्ड-भाग हैं । जिनके क्रमसे भौम-जाम्बूनद-वैदूर्य नाम हैं । उस पर  
 पण्डकवन उंचाईमें सबसे अधिक होनेके कारण सुन्दर ध्वजाकी तरह उसकी  
 सुधोभाको और भी बढ़ाकर मानो चार चांद लगा रहा है । जिस भेदकी जड़  
 जमीनमें १००० योजन तक पाई जाती है । और वह ९९००० योजन पृथ्वीके  
 ऊपरी भागमें आकाशकी चोटीकी तरह शोभित है । उसके तीनों भाग तीनों  
 लोकोंमें अबकाश पाए हुए हैं । इसी तरह प्रभुके कथन किए हुए तीनों राज

सुमेरु की भांति विशाल और महान् हैं, तथा तीनों लोकके भव्यप्राणिजोंके मन-वचन-काय योगमें समाविष्ट-ओत-प्रोत हैं ॥ १० ॥

**गुजराती अनुवाद**—ते मेरु पर्वत उंचाइयां एक लाख योजननो छे, तेना एक भूमिमय, वीजो सुवर्ण मय अने व्रीजो वैदूर्य रत्न मय एषा त्रण कांड (भाग) छे, तथा ते मेरु पर्वतनी टोच ऊपर पंडेग वन ध्वजानी माफक घोभी रखुं छे । ते मेरु पर्वत नवाणुं हजार योजन ऊंचो अने एक हजार योजन नीचे जमीनमा छे । तेना त्रणे भाग त्रणे लोकमां अवकाश प्राप्त छे । तेवीज रीते प्रमुना बतावैला ज्ञान-दर्शन-चरित्र रूपो त्रणे रत्न सुमेरुनी पेठे विशाल छे, अने त्रणे लोकना भव्योना मन-वचन-काय मां सम्पूर्ण रीतिथी समाविष्ट छे ॥ १० ॥

मूल

पुष्टे णभे चिद्वृद्ध भूमिवद्विष्ट,  
जं सूरिया अणुपरिवद्वर्तयति ।  
से हेमवन्ने बहुनन्दणे य,  
जंसि रइं वेदयती महिदा ॥ ११ ॥

संस्कृतच्छाया

स्पृष्टो नभसि तिष्ठति भूम्यवस्थितः,  
यं सूर्याः अनुपरिवर्तयन्ति ।  
स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च,  
यस्मिन् रतिं वेदयन्ति महेन्द्राः ॥ ११ ॥

सं० टीका—स्पृष्टः संलग्नो नभस्याकाशेऽथवा नभो व्याप्य तिष्ठति स मेरुः, “स्पृष्टिः पृक्कावित्यमरः” । तथैव भूमिं पृथिवीं चावगाद्य स्थितः । ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् संस्पर्शीति भावः । यथा च यं मेरुं सूर्यादयो ज्योतिष्का अंगारकादिग्रहा अप्यनुवर्तयन्ति यस्य पार्श्वतः परिभ्रमन्तीत्यर्थः । हेमवर्णो वा कनकामो निष्टप्तकाञ्चनसदृशस्तथा बहुनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवनः । भूमौ तु भद्रशालवनं ततः पञ्चयोजनशतान्यारुह्यातिक्रम्योत्तंथ्य मेखलायां शैलः

नितम्बदेशे मध्यभाग इत्यर्थः । “मेखला सङ्गवन्धे स्वात्काशी शैल-  
नितम्बयोरिति मेदिनीकोशः” । नन्दनवनमायाति । तथा द्विषष्टि-  
योजनसहस्राप्यधिकान्यतिक्रम्य सौमनसवनम् । ततः पद् त्रिंशत्सह-  
स्राप्यारुढोल्लङ्घ्य शिखरे पण्डकवनमिति मेरोश्चत्वारि वनानि । यस्मिन्  
मेरौ महेन्द्रा त्रिदशाल्यात् स्वर्गात्समागत्य रमणीयतमशब्दादिगुणेन  
रतिं रमणक्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्ति । अतश्चतुर्नन्दनवनाद्युपेतो विचि-  
त्रकीडास्वलसमन्वितः स मेरुः ॥ ११ ॥

अन्ययार्थ—[से] वह सुमेरु [जमे] आकरच को [उठे] छहर  
[चिठ्ठ] ठहरा हुआ है, तथा [भूमिवर्ष्ण] भूमिमें छहर स्थित है, [ज]  
जिसकी [सूरिया] सूर्य [अणुगरेवद्यंति] प्रदक्षिणा करते हैं, और जो [हेम-  
वन्धे] सोनेके गमान परम वाग्नि युक्त है, जिनमें [बहु] बहुत अर्थात् चार  
[नन्दणे] नन्दनादि वन हैं [जंसी] तथा जिनमें [महिंदा] महेन्द्र आकर  
[रति] मुग्धा [वेदयती] अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—वह सुमेरु पर्वत ऊपरके भागमें आकरचके व्याप्त करके  
तथा नीचे भूमिमें स्थित करके स्थित है, इसलिये वह ऊर्ध्वलोक-अधोलोक और  
तिर्यक् लोकमें स्थित करता है । उच्चोत्तम मिमान उमदी प्रदक्षिणा करते हैं ।  
उत्तम रंग गुणोंकी तरह पीला है । उसके ऊपर चार वन हैं; उमान भूमिमें  
भद्रशाल वन है, उसके पाँचवो योजन ऊपर नन्दन वन है, उगके बागठ  
हजार योजन ऊपर गौमनग वन है, उसमें छलित हजार योजन ऊपर पाण्डुर  
वन है, इस प्रकार वह अनेक क्रीडास्थलोंसे युक्त है, और उगमें देव तथा  
देवेन्द्र आकर रति-क्रीडा अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

भाषा-टीका—उस सुमेरु पर्वतमें ऊर्ध्व लोक-राधोलोक और ननुध-  
लोक इस प्रकार तीनों लोकोंके आकरचको छू उंचा है । त्रिषष्टि तपसीदी  
जगह सूर्य चाँद तथा महगण चारों ओर परिभ्रमा देते रहते हैं । वह वह ठपे  
हुए सोनेकी तरह चमकनाट करने लगता है । उगके चारों ओर के बहुतसे  
वनोमें चार सुन्दर सुन्दर वन हैं । और प्रथम समस्त भूमि पर भद्रशाल  
वन है । उस जगहसे ५०० योजन ऊपर जानेसे मानो उमदी तपसीदी

जगह नन्दन वन आता है । उससे ६२००० योजन ऊपर सौमनस वन है । उससे ३६००० योजन ऊपर शिखरके पास पंडकवन है । ये सुमेरुके चार सपन वन हैं । यहां पर बड़े २ महेन्द्र और देव गण आकर मनोहर खेल कूद करते हैं । उसका सौन्दर्य निहारनेके लिए स्वर्गसे चल कर आते हैं । इसी भांति भगवान् भी सुवर्णके रंग जैसे सुन्दर हैं । इनके पास ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप तथा तत्व, पदार्थ, नय, निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल हैं, जिनमें आत्माका अनुपम आनन्द आता है । और इस क्रीडास्थली पर भव्य जन खावलम्बी होकर सहजानन्द लूटते हैं ॥ ११ ॥

गुजराती अनुवाद—ते मेरु पर्वत ऊर्ध्व दिशामां आकाशने स्पर्शां रक्षो छे, एटछे ऊर्ध्वलोक-अधोलोक अने मनुष्यलोकने स्पर्शां रक्षो छे, जे मेरु पर्वतनी आसपास सूर्यप्रमुख ज्योतिषी-देवो प्रदक्षिणा करी रखा छे । ते मेरु-पर्वत सुवर्णना जेवी कान्तिवाळो छे । तेनी चारे बाजुए घणा बनोमां चार मुख्य सुंदर वन छे । समतल भूमिपर भद्रशाल वन छे, स्थांथी ५०० योजन ऊपर जतां नन्दनवन आवे छे, स्थांथी ६२००० योजन ऊंचे सौमनस वन छे । स्थांथी ३६००० योजन ऊंचे शिखरनी पासे पंडकवन छे । मेरु पर्वतना आचार नन्दनवनमां मोटा इन्द्रो पण आवीने इच्छानुसार मनोहर क्रीडा करे छे । तेनुं मनोमोहक सौन्दर्य जोवाने स्वर्गमां बी आवे छे । ते रीते भगवान् महावीर प्रभु पण सुवर्ण समान सुंदर छे । तेमनी पासे ज्ञान-दर्शन-चरित्र तथा तप तेमज तत्व-पदार्थ-नय-निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल छे । जेमां आत्माने आनन्द आवे छे । तेमज ते क्रीडा स्थल पर भव्य जनो खावलम्बी बनीने सहजानन्द लूटे छे ॥ ११ ॥

मूल

से पद्ये सद्महप्पगासे,

विरायई कंचणमट्टयन्ने ।

अणुत्तरे गिरिसु य पद्यदुग्गे,

गिरिवरे से जलिय्य भोमे ॥ १२ ॥

## संस्कृतच्छाया

स पर्वतः शब्दमहाप्रकाशो, विराजते कञ्चनमृष्टवर्णः ।

अनुत्तरो गिरिषु च पर्वेदुर्गो, गिरिवरः स ज्वलित इव भौमः ॥१२॥

सं० टीका—स मेरुनामापर्वतः सुदर्शनः शोभनदर्शनः सुगिरि-  
मन्दरो हेमाद्रिरित्यादिभिःशब्दैःपर्यायवाचकैर्महान् प्रकाशः प्रसिद्धि-  
मानीतः । “प्रकाशोऽतिप्रसिद्धेऽपीत्यमरः” । यः, स शब्दमहा-  
प्रकाशो विराजते=शोभते, वा घुरासुरकिन्नरादिगन्धर्वगायनशब्दै-  
र्महाप्रकाशो दीप्यमानः । काञ्चनस्येव मृष्टः शुद्धो, “निर्णिकं शोधितं  
मृष्टं निश्शोध्यमनवस्करमित्यमरः” । वर्णो यस्य स काञ्चनमृष्टवर्णः ।  
अनुत्तरः प्रधानस्तथा गिरिषु पर्वतेषु मध्ये पर्वभिर्मैसलादिभिः सन्धि-  
भिर्वा “पर्वे क्लीवं भहे ग्रन्थौ, प्रस्तावे लक्षणान्तरे, दर्शः प्रतिपदोः  
सन्धाविति मेदिनी कोपः” । अथवा च दंष्ट्रापर्वतैर्वा दुर्गो दुर्गमः,  
“दुर्गो मानिल्योः स्त्री दुर्गमे त्रिष्विति मेदिनी” । सामान्यप्राणिनां  
दुरारोहो गिरिरिति भावः । स गिरिवरः पर्वतप्रधानो मणिभिरौषधिभिश्च  
ज्वलितो दीप्यमानो भौम इव मंगलग्रह इवाथवा भूदेश इवेति भावः ।  
“भौमः कुजे च नरके पुंसि भूमिभवे त्रिष्विति मेदिनी” ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—[ से ] वह [ पर्वत ] सुमेरु पर्वत [ सहमहपगगसे ] अनेक  
सुशब्दोंसे गुंजता है, तथा [ कंचनमृष्टवर्णे ] सोनेकी तरह पीले वर्णसे [ विरा-  
जते ] शोभा प्राप्त है, [ गिरिषु ] सब पर्वतोंमें वह [ अनुत्तरे ] सर्वथेष्ट है,  
[ पर्वदुर्गे ] यह पर्वत मेसला आदिके कारण दुर्गम है, और [ से ] वह [ गिरी-  
वरे ] सबमें प्रधान सुमेरु [ भोमे व ] मंगल ग्रह तथा पृष्ठीकी तरह [ जलितः ]  
चान्तियुक्त है ॥ १२ ॥

भावार्थ—शब्दका स्वभाव गुंजनेका है, छोटे पर्वत और गुंजनेमें  
आबाज करनेपर उसमें प्रतिध्वनि हो उठती है और वह पहली आबाजसे नी



अधिक गंभीर होती है, इसीप्रकार सुमेरु पर्वत देवोंका क्रीडास्थल है और वह भी उनकी प्रतिध्वनिओंसे गूँज उठता है तथा वह गूँज सबसे प्रबल है; इसी प्रकार महावीर-परमात्माकी दिव्यध्वनि सबसे प्रबल और जोरदार है, यही कारण है कि—भगवान्‌के सदुपदेशका प्रभाव अमिट और स्थायी होता है। पर्वतके मुनहरी रंगके समान प्रमुख पीतवर्ण युक्त शरीर दर्शनीय और मनोहर था। जिस-प्रकार सुमेरुपर चढ़ना कठिन है उसीप्रकार भगवान्‌की सर्वज्ञताको जीतना भी दुष्कर है ॥ १२ ॥

**भाषा-टीका**—वह सुमेरु पर्वत अधिराज है, दर्शनमें सौन्दर्यशाली है। बुद्धिमान् अच्छी २ शब्दोपमाएँ देकर प्रख्यात कर चुके हैं। जिसपर गान्धर्वोंका मनोमोहक गायन होता है, सोनेसे लीप पोत कर मानो अभी शुद्ध किया गया है इसीसे सब पर्वतों में उसे प्रधानता दी गई है, उसकी उंचाई और अधिक संधियोंके कारण उसपर मनुष्योंको पैरोंसे चढ़ना साँस लोडने जैसा है। अतः सामान्य प्राणी उसे चढ़ कर पार नहीं पासकते। इसी लिए उसे प्रधानता दी गई है। उस पर मणिमालिक्य जैसे बहुमूल्य रत्न और कई अलौकिक जड़ी बूटियाँ भंगलप्रह की तरह चमकती हैं। इसी भाँति वीर भगवान्‌का दर्शन अनेकान्त है, परम सुन्दर है। जिसकी अकाट्य तर्कमयता प्रसिद्ध है। जिसकी गौतम जैसे दार्शनिकोंने प्रशंसा की है। उस दर्शनका सुन्दर वर्ण अर्थात् शब्दों में निर्माण हुआ है। तथा वह सब दर्शनोंमें प्रधान है। साधारण तथा अनुभव शून्य मानवोंके लिए अगम्य और दुरारोह है। बिनकी २८ लन्घिरूप औषधियोंकी चमक विलक्षण है। जो धर्मकी प्रभावनारूप आरो-प्यता प्रदानकरनेके अर्थ काममें लाई जाती हैं। इसीसे दुराग्रहरूपी रोम शान्त होते हैं ॥ १२ ॥

**गुजराती अनुवाद**—बड़ी ते मेरु पर्वत मंदर १, मेरु २, मनोरम ३, सुदर्शन ४, स्वर्णप्रभ ५, गिरिराज ६, रत्नोच्चय ७, तिलकोपम ८, लोक-मध्य ९, लोकनाडि १०, राज ११, सूर्यावर्त १२, सूर्यवरण १३, उत्तम १४, दिशादि १५ और अवतंस १६, ए सोळ नामे करी महा प्रकाश (प्रसिद्ध) वान् थई शोभे छे। जेना पर गान्धर्वोंना मनोमोहक गायनो धाय छे। सुवर्णनी पेटे शुद्ध वर्णवाळो सर्वे पर्वतोमां प्रधान छे। तेनी उंचाई अने अधिक संधिओंने लीधे मनुष्योंने माटे तेना पर चढुं पण अशक्य छे। बर्डी ते गिरिराज मणि

अने औपधिओए करी देखीप्यमान छे, तेज रीते वीर भगवानुं अनेछत्त  
दर्शन परम सुंदर अने मनोहर छे । जेनी अछत्त तर्कमयता प्रसिद्ध  
छे । जेनी गौतम जेवा दार्शनिकेए पण प्रशंसा करेछी छे । ते दर्शननुं सुन्दर  
वर्ण अर्थात् चन्द्रोमां निर्माण थएलुं छे । तथा ते सवें दर्शनोमां प्रधान अने  
सर्वोत्तम छे । माधारण तथा अनुभव शून्य मनुष्योने माटे अगम्य तथा अति  
दुएछे छे । जेनी ३८ अन्धिरूप औपधिओनी चमक छहुसी शिक्त छे ।  
के जे धर्मनी प्रभावना करवामां उपयोगमां त्यजवामां आवे छे । तेबासी दुएछे  
स्ये जबनुकसी नष्ट थरने छान्त थरं जाय छे ॥ १२ ॥

मूल

महीइ मज्झंमि ठिते णगिंदे,  
पत्तायते सूरियसुद्धलेस्से;  
एवं सिरीण उ स भूरियण्णे,  
मणोरमे जोयइ अचिमाली ॥ १३ ॥

संस्कृतच्छाया

मद्यां मध्ये स्थितो नगेन्द्रः, प्रकायते सूर्ययच्छुद्धलेदयः ।

एवं धिया तु स भूरियणः, मनोरमो घोटपत्यार्चिमाली ॥१३॥

सं० टीका—मद्यां मध्यदेशेऽन्तर्भागे यो चन्द्रोपल्लवापि बहु-  
मध्यप्रदेशे स नगेन्द्रः स्थितः । पुनश्च सौमनस, विशुद्धम, गन्धमा-  
दन, माल्यवंतदंष्ट्रापर्वतचतुष्टयोपशोभितः समभूभागे दशसहस्रयोजन-  
विस्तीर्णः, शिरसि सहस्रमेकमथस्तादृशि दशसहस्राणि नवति योजनानि  
योजनैकदेशभागेर्दशभिर्भागीरपि कानि विस्तीर्णश्चत्वारिंशद्योजनोऽच्यु-  
तचूरोपशोभितो नगेन्द्रः पर्वतप्रधानो मेरुः । प्रकृपंचया उगति सूर्य-  
यच्छुद्धलेद्यो निर्मलछान्दिः सूर्यसमप्रभ इति । एवमनन्तरोक्त्या धिया  
तु शब्दाद्विशिष्टतरया छान्त्या समेरुभूरियणोऽनेहवर्णोऽनेकरंगामुपेतः

“वर्णो द्विजादौ शुक्लादावित्यमरः” वीरपक्षे भूरि=प्रभूतं बहुलं “प्रचुरं प्रभूतं प्राज्यं मदभ्रं बहुलं बहु, पुरुहः पुरुभूयिष्टं, स्फारं भूयश्च भूरि चेत्यमरः” । वर्णः परिस्त्रोमो यस्य स भूरिवर्णः, दीर्घसिंहासनस्य प्रवेणीति । “प्रवेप्यास्तरणं वर्णः परिस्त्रोमः कुथो द्वयोरित्यमरः” । अथवा भूरिः स्वर्णं काञ्चनं तस्येव वर्णो ( कान्तिः ) यस्य स तथा । “स्वर्णेऽपि भूरीत्यमरः” । अथवा भूरिर्वहुलो, वर्णःस्तुतिर्व्यस्य स तथा । “स्तुतिर्वर्णं तु वाऽक्षर इत्यमरः” । “वर्णः स्तुतौ ना इति मेदिनी” । अथ किं भूतः स मेरुर्मनोरमश्चारुःशोभनः, “सुन्दरं रुचिरं चारु, सुपमं साधुशोभनम्; कान्तं मनोरममित्यमरः” । एवमेव वीरोऽप्येवं विधो जगति मनोरमः । पुनश्च=अर्चिःकिरणस्तस्य माला विद्यते यस्य सोऽर्चिमाली सूर्य इव द्योतयति दिश इति शेषः । “दीधितिर्भानुरुत्तों-ऽशुर्गभस्तिः किरणः करः । पादो रुचिर्मरीचिर्मा तेजोर्चिरिति धनं-जयः” ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—[ महीइ ] पृथ्वीके [ मज्जाम्भि ] बीचमें [ टिये ] स्थित [ णगिदे ] पर्वतोंमें प्रधान सुमेरु [ पचायते ] लोकमें उत्कृष्ट रूपसे जाना जाता है, तथा [ सूरियमुदडेस्ते ] सूर्यके सदृश शुद्ध तेजवाला [ एवं ] इसी भाँतिकी [ सिरीए ] लक्ष्मीसे [ उ ] अधिकरूपिक [ भूरिवक्त्रे ] विचित्र रत्नोंसे शोभित रहनेके कारण नानावर्ण युक्त और [ मणोरमे ] मनको मोहित करने वाले [ अर्चि-माली ] सूर्यकी तरह [ जोयइ ] दशों दिशाओंको प्रकाशित करता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—रत्नप्रभा पृथ्वीके मध्यभागमें जम्बू द्वीप है, और इसके बीचमें सब पर्वतोंमें प्रधान सुमेरु पर्वत है, यद्यपि सुमेरु पर्वत दोनों धातु खंड और दोनों पुष्कराब्द द्वीपमें भी हैं, किन्तु उनकी लंबाई ८५ हजार योजन ही है, और जम्बूद्वीपके मध्यभागस्थ सुमेरु एक लाख योजन लंबा है, अतः यह सबमें प्रधान गिना जाता है । इसी प्रकार ऋषि-मुनि और महात्माओंमें महावीर प्रधान थे, सुमेरु पर सूर्यकी कान्ति पड़ने पर जैसे वह चमकने लगता है वैसे ही

भगवान्का शरीर भी प्रभाशाली था, वे अज्ञानान्धकारके नाशक थे, भगवान्का शरीर स्वयं प्रकाशित था, तथा औरोंको ज्ञान का प्रकाश भी देता था ॥ १२ ॥

**भाषा-टीका**—पृथ्वीके विचले प्रदेशमें जम्बूद्वीपके मध्यस्थलमें यह मेरु पर्वत समस्त पहाड़ोंके राजाकी तरह स्थित है । सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवन्त इन चार दाढापर्वतोंसे वह बड़ा मनोहर लगता है, वह पृथ्वीके सब भाग में दशहजार योजन विस्तीर्ण है, ग्यारह २ हजार योजन पर एक २ हजार योजन घट कर शिखर पर एक हजार योजन रह जाता है । वह जगत्में सूर्यकी तरह शुद्ध कान्ति और निर्मल आकृति युक्त है । और जिसमें अनेक बहु मूल्य धातु और उत्तमरत्न पाए जाते हैं ।

वीर पक्षमें—सोनेकी तरह जिनके शरीरकी चमक दमक है । जिनके गुण चान्दकी तरह स्वच्छ हैं । जिनकी स्तुतिएँ महती हैं । जिन्हें अपुनराद्यति रूप अक्षर—मोक्ष प्राप्त है । जिनका सत्संग अनन्त सुख दाता है । सुमेरुकी तरह मनोरम हैं, जो सूर्यकी किरणोंकी तरह तेजस्वी हैं ॥ १३ ॥

**गुजराती अनुवाद**—पृथ्वीना मध्य भागमां सर्व पर्वतोनो इन्द्र मेरु पर्वत सूर्यनी पेंठे शुद्ध कान्ति अने निर्मल आकृतिवाळो छे । सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवान, ए चार दाढाओधी पर्वत बहु सुन्दर देखाय छे । ते पृथ्वीना समभागमां १०००० योजन पहोळो छे । अग्यार अग्यार हजार योजन पर एक एक हजार योजन घटतां शिखर पर एक हजार योजन पहोळ्ये छे । तेमां अनेक बहुमूल्य धातुओ एवं रत्नो मळी आवे छे । वीर पक्षे—

सुवर्णसमान जेना शरीरनी घोभा छे, जेना गुणो चन्द्रमानी पेंठे स्वच्छ छे । जेणे अपुनराद्यतिरूप अक्षर—मोक्ष प्राप्त करेल छे, जेमनो सत्संग अनन्त सुख दाता छे । सुमेरु नी पेंठे जे मनोहर छे, ते सूर्यना किरण समान तेजस्वी छे ॥ १३ ॥

मूळ

सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्त,

पबुचई महतो पद्यस्त ।

एतोवमे समणे नायपुत्ते,

जाईजसोदंसणनाणसीले ॥ १४ ॥

संस्कृतच्छाया

सुदर्शनस्येव यशो गिरेः, प्रोच्यते महतः पर्वतस्य ।

एतदुपमः धमणो ज्ञातपुत्रो, जातियशोदर्शनज्ञानशीलः ॥ १४ ॥

सं० टीका—भगवतो वीरस्यैतदशः कीर्तनं महतः पर्वतस्य सुदर्शनस्य मेरुगिरिरिव प्रोच्यते, महतः पर्वतस्यैतदुपम एतत्तुल्यः । साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते । एपः=अनन्तरोक्तमेह-गिरिरित्यर्थः, उपमा=उपमानं सादृश्यप्रतियोगी यस्य स एतदुपमः । कः । श्राम्यति=तपस्यतीति श्रमणः । तपोनिष्ठसद्देहो ज्ञातपुत्रः श्रीमहावीरप्रभुर्जात्या=“जातिर्जातं च सामान्यमित्यमरः ।” यज्ञसा=कीर्त्या “यशः कीर्तिः समज्ञाचेत्यमरः ।” सकलदर्शनज्ञानचरित्रवतां-मध्ये श्रेष्ठः प्रधानः । जात्यादीनां कृतद्वन्द्वानामतिशायने ‘अर्श आदि-त्वादच्’ प्रत्ययविधानेनाक्षरघटना विधेयेति भावः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—[ महतो ] महान् [ पर्वतस्य ] पर्वत [ सुदर्शनस्येव ] सुदर्शन [ गिरिस्त ] मेरु पर्वतका [ जसो ] यशः कीर्ति जैसे प्रतिपादित है उसीप्रकार [ पद्युच्च ] भगवान्की कीर्ति करते हैं [ एतोवमे ] पूर्वव्रियत उपमासे अलंकृत [ समणे ] श्रमण [ नायपुते ] ज्ञातपुत्र-महावीर भगवान् [ जाइजसोर्दंक्षणनाण-सीडे ] जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शीलमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भावार्थ—भगवान्की एक देशीय उपमा तो सुमेरु पर्वतसे हीगई, और इसी प्रसंगको लेकर सुमेरुका यशोगायन कियाहै, और अब फिर उपमेयका-भगवान् महावीरका वर्णन करते हैं । वे ज्ञात वंशके क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न भगवान् समस्त जातिवालोंमें और अखिल यज्ञसियोंमें, समस्त ज्ञानियोंमें तथा दर्शनवालोंमें और सब चरित्रनिष्ठोंमें श्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भाषा-टीका—भगवान् वीरका यश सुमेरुकी सदृश महान् था, यह उपमा उनके ही ऊपर भलि भाति घटती है । वे श्रमण थे, तपसे शरीरको सोनेकी तरह तथा डाल था, ज्ञात वंशके क्षत्रिय पुत्र थे । जिनकी जाति-यज्ञः कीर्ति-समस्त ज्ञान, दर्शन और चरित्र समन्वित है । श्रेष्ठतर तथा प्रधानतर है ॥१४॥

गुजराती अनुवाद—भगवान् ज्ञातनन्दन वीरप्रभुनो अनुपम यस्य  
मुमेरु पर्वत समानं महान् छे । ए पूर्वोक्त उपमाए धर्मण भगवान् महावीरदेव  
जातिए-यद्ये-दर्शने-ज्ञाने-अने आचारे सर्वोत्तम छे ।

मूल

गिरिवरे वा निसहाययाणं,  
रूपए व सेष्टे बलयायताणं ।  
तओवमे से जगभूइपन्ने,  
मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥ १५ ॥

संस्कृतच्छाया

गिरिवरो वा निषध आयतानां, रुचको वा श्रेष्ठो बलयायतानाम् ।  
तदुपमः स जगद्भूतिप्रज्ञः, मुनीनां मध्ये तमुदाहुः प्रज्ञाः ॥ १५ ॥

सं० टीका—दृष्टान्तद्वारेण पुनरप्याह, निषधः=तल्लामा पर्वतो  
यथा गिरिवराणामायतानां=दीर्घाणां, “दीर्घमायतमित्यमरः” । मध्ये,  
जम्बूद्वीपेऽन्येषु वा द्वीपेष्वपेक्षया दैर्घ्येण श्रेष्ठ उत्तमः । पुनश्च बलया-  
यतानां कटकायतानां मध्ये “आचापकः पारिहार्यः कटकः बल्योऽ-  
स्त्रियाम्” इत्यमरः । रुचकः पर्वतः श्रेष्ठोऽन्येभ्यो बलयाकारत्वेनेति  
भावः । हि रुचको द्वीपान्तर्गतमानुषोत्तरगिरिवि वृषायतो वर्तुलायतः,  
“वर्तुलं निस्तलं वृषमित्यमरः” । असंख्येययोजनपरिक्षेपेण परिधि-  
नेति । तथा स वीरोऽपि तदुपमः । यथा वायुवृत्तताभ्यां प्रधानधेति ।  
तथैव भगवानपि जगति संसारे भूतिप्रज्ञः प्रभूतज्ञातपरिज्ञया श्रेष्ठ  
इत्यर्थः । परमुनीनामपेक्षया प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः सर्वज्ञधेति ।  
तदेवं स्वरूपविद—आहुः, उदाहृतवन्तः कथितवन्तः ॥ १५ ॥

अन्यथार्थे—[ वा ] जंछे [ निगइ ] निषध पर्वत [ आचयानं ] उद्वे  
पर्वतोमं [ गिरिवरे ] श्रेष्ठ पर्वत दे, तथा [ व ] जेछे [ रूपए ] रूपक पर्वत  
[ बलयायतानं ] गोलाकार पर्वतमिं [ सेष्टे ] श्रेष्ठ दे, [ तओवमे ] इनदी पाह

[छे] भगवान् महावीर भी [जगभूईपन्ने] संसारमें प्रभूतप्रज्ञा-अनन्त ज्ञान-युक्त हैं। अतः [पन्ने] प्रकृष्ट ज्ञानवालोंने [तं] उन्हें [मुणीण] सब मुनिराजोंके [मज्जे] बीचमें [उदाहु] उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—हरिवर्ष क्षेत्रके पर्वतका नाम निपथ पर्वत है, वह लम्बाईमें सबसे बड़ा है, तथा रुचक नामक पर्वत गोलार्धमें अद्वितीय है जिसके समान अन्य दूसरा नहीं है। उसी प्रकार भगवान् महावीर भी ज्ञानमें अद्वितीय थे, उनके समान पूर्णज्ञानी उस समय कोई और नहीं था, अत एव बुद्धिमान् अन्य दार्शनिकोंने उनको उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भाषा-टीका—निपथ पर्वत सब लम्बे पहाड़ोंमें श्रेष्ठ है, चूरीकी तरह गोल पहाड़ोंमें रुचक पर्वत सर्वाधिक सुन्दर है, इसी तरह वीरप्रभु भी जगत्में भूतिप्रज्ञ-अध्यात्म विद्यामें अद्वितीय है। और वह अन्य मुनिओंकी अपेक्षासे है। उनके स्वरूपको जाननेवालोंने यथार्थतया कहा है कि वह सर्वज्ञ हैं ॥ १५ ॥

गुजराती अनुवाद—लंबा पर्वतोमां निपथ नामक पर्वत भोटो छे। गोलकार पर्वतोमां रुचक पर्वत श्रेष्ठ छे। ते उपमाए श्रीमहावीर शासनदेव जगत्मां प्रज्ञाए करी श्रेष्ठ कखा छे, अध्यात्म विद्यामां अद्वितीय अने सर्वमान्य छे। तथा सर्व मुनिओने विषे प्रज्ञावन्त कखा छे। तेमना स्वरूपने जाणवावाळा-ओए यथार्थंज कहुं छे के तेओ सर्वज्ञ छे ॥ १५ ॥

मूल

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता,  
अणुत्तरं ज्ञाणवरं क्षियाई ।  
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं,  
संखिंदुएगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥

संस्कृतच्छाया

अणुत्तरं धर्ममुदीर्य्यं, अनुत्तरं ध्यानवरं ध्यायति ।

सुशुक्लशुक्लमपगण्डशुक्लं, संखेन्द्रेकान्तावदातशुक्लम् ॥ १६ ॥

सं० टीका—अनुत्तरं प्रधानमुत्कृष्टं धर्मसुत्पावस्येनेरयित्वा-  
कथयित्वा प्रकाश्य च, “प्रोक्ते प्रेरिते, क्षिप्त इति शब्दार्थचिन्ता-

वा \*गंडमुदकफेनं बुद्बुदं तद्वन्निर्मलं चेति, निर्दोषार्जुनसुवर्णक-  
च्छुक्लम्, तथा च शंखेन्दुवदेकान्तावदातं शुभ्रं शुक्लं शुक्लध्यानोचरं  
मेदद्वयं ध्यायतीति भावः । “गण्डः कपोले, पिटके, दोषजनके, जल-  
बुद्बुदे, इति शब्दार्थचिन्तामणिः” ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—[अणुतरं] सबसे उत्तम [धम्मं] धर्मको [उद्देशता]  
कहकर भगवान् [अणुतरं] प्रधान [ज्ञानवरं] व्युपरत-क्रिया-निर्गति नामक  
ध्यानको [क्षियाद्] चिन्तन करते हैं, अर्थात् [सुमुखं] उत्तम श्वेतवर्णकी  
तरह शुक्लनामक श्रेष्ठ और पवित्र ध्यान जोकि—[अपमंडसुखं] अर्जुन संतक  
सुवर्णकी तरह अथवा जलके फेनकी तरह या [संखिंदु एगंतऽवदातसुखं] शंख  
और चन्द्रमाकी तरह एकान्त सफेद है उसमें भगवान्ने ध्यान किया ॥ १६ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीरने ऐसे धर्मका पूर्ण उपदेश किया है, जोकि  
समस्त धर्मोंमें प्रधान है तथा शुक्लध्यानको धारण किया, वह शुक्लध्यान अर्जुन  
नामक सुवर्णके समान और जलके फेनकी तरह तथा शंखकी तरह और चन्द्रमाके  
समान खच्छ है । भगवान् सूक्ष्मकाययोगका निरोध करते हुए शुक्लध्यानके तीसरा  
मेद-भूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक ध्यानका विषय चिन्तन करते हैं, तथा फिर जब  
योगका निरोध करते हैं तब व्युपरतक्रियानिर्गति नामक चतुर्थं शुक्लध्यानके विषय-  
को धारण करते हैं ॥ १६ ॥

अत्रोदाहरणं यथा—

वैरिमानविघाताय, केपि पट्पुरुषाः पुरा । चलिताः समुद्रयेन, तेष्वेक इदम-  
ब्रवीत् ॥ १ ॥ सर्व्वं हन्तव्यमेवात्र, द्विपदं वा चतुष्पदम् ॥ अन्यः प्राह मनुष्याण्यं  
वधोऽस्तु पशुभिः किमु ?— ॥ २ ॥ तृतीयः प्राह हन्तव्या नरा एव नहि त्रियः ॥  
तृप्येणाभानि हन्यंता, पुरुषेष्वपि सायुधाः ॥ ३ ॥ पचमोऽप्याह ये प्रन्ति ते  
वध्याः सायुषेष्वपि, पट्टस्वाह विना शत्रून्, पातः वर्य्यो न कस्वचिन् ॥ ४ ॥ इति  
मिश्रं मनसोपानभूद्देश्याविशेषतः । ताः कृष्णनीलस्यपोत, तेजः पद्मसिताभिध्याः  
॥ ५ ॥ तदेवं तारतम्येन, विशुद्धपरिणामतः । येन सर्व्वं रिपुभ्योऽन्ये, रक्षिताः स  
हि सत्तमः ॥ ६ ॥

\* गंडो परेटे कपोलसिं इल्लनिधानप्यपीषिय ।



भाषा-टीका—जिसमें राग, द्वेष, लज्जा हो और ज्ञान पूर्वक त्याग, वैराग्य, संयम, स्वामिमान, सहायुभृति आदि गुण पाए जायें तथा मानव जीवन में उन्नत बनानेके लिए और संसारमें उत्कृष्ट धर्मकी प्रकट करनेके लिए प्रभुने उपदेश किया, जो कि—अभेद रूपमें था, और वह धर्म प्राणी मात्रके लिए कहा था । इसकी स्वयमेव सिद्धिके लिए उत्कृष्ट ध्यानका आशय लिया; उस ध्यानके प्रबल प्रतापसे उस पावन पुरुषको फल स्वरूप केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ । इसके अनन्तर भी मन, वचन, कायके योगोंका निरोधन करनेके कालमें सूक्ष्मकाययोगको रोककर शुकृध्यानके तीसरे पदको प्राप्त करना आरम्भ किया; जिस स्थितिमें मन और वचनके व्यापारको रोक दिया जाता है तथा काययोगका भी आधा भाग रुक जाता है । यह शुकृध्यानका तीसरा चरण तैरहवें गुणस्थानपर वर्तमान सूक्ष्म क्रिया रूप होजाता है ।

और जिस स्थितिमें मन, वचन, कायकी अप्रतिपाति रूप निवृत्ति होती है वह शुकृध्यानका चौथा पाद है । अर्थात् कर्मरहित केवलज्ञानरूपी सूर्यसे पदार्थोंका प्रकाश करनेवाले सर्वज्ञ भगवान् जब अनन्तरमुहूर्त प्रमाण आयु बाकी रह जाता है तब सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामक शुकृध्यानके योग्य बन जाते हैं, उस समयकी चेष्टा अचिन्त्य होती है, वादरकाययोगमें स्थिति करके वादरवचनयोग और वादरमनोयोगको वे सूक्ष्मतम करते हैं, पुनः भगवान् काययोगके अतिरिक्त वचनयोग मनोयोगकी स्थिति करके वादरकाययोगसूक्ष्म करते हैं, तत्पश्चात् सूक्ष्मकाययोगमें स्थिति करके क्षणमात्रमें उसी समय वचनयोग और मनोयोग इन दोनोंका सम्यक् प्रसरणसे निग्रह करते हैं, तब यह सूक्ष्म क्रिया ध्यानको साक्षात् ध्यानके करने योग्य बना लेती है, और वे वहा एक सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर उत्तम ध्यान करने हैं । इस तरह प्रभुका यह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति ध्यान है ।

और अयोग गुणस्थानके उपान्त्य अर्थात् अंत समयके प्रथम समयमें देवाधिदेवके मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्रतिबन्धक कर्मोंकी प्रवृत्तिएं क्षीणमेव नष्ट होजाती हैं । भगवान् अयोगी परमेष्ठीको उसी अयोगगुणस्थानके उपान्त्य समयमें साक्षात् रूप और निम्नैल "समुच्छिन्न क्रिया" नामक चौथा शुकृ ध्यान प्रकट हो जाता है ।

भगवान्का यह प्रशस्त और शुकृसे भी अधिक शुकृध्यान है । देवकी दृष्टिसे महान् शुकृलेख्य हैं । "देवता आत्मानं पुन्य पापको क्षित करके जब अपने

जैसा बनालेती है अतः उसे लेदया कहते हैं," यह दो तरहकी है। प्रशंति और यौगिकी ये दो भेद है । प्रशंति कषायके रंगमें रंग लेती है । भावसे असत् परिणति या परपरिणति रूपा है । योग, अविरति, मिथ्यात्व, कषाय, जन्म, कर्म, संस्कारोसे भावलेदया होती है । जोकि पाप और आस्रवका कारण हैं ।"

कापोती तीव्र भाव है, नीला तीव्रतर और कृष्णा तीव्रतम भाव है, यह अशुद्ध विचारोंका क्रम है । पीता उस पापकी मन्दताका नाम है, पद्मा मन्दतर है, शुक्ला मन्दतमको कहते हैं; अशुभ भावलेदया निर्म्मलताका नाश करती है, शुभभावलेदया कर्म कालिमाको प्रध्वंस कर देती है । अन्तिम लेदया सहजानन्द-निर्लेदय पद देनेमें निमित्त भूल है ।

### कृष्णलेदया-

आत्मा इस दुर्भावके फंदमें पड कर राग, द्वेषके ग्रहसे प्रसा जाता है, परपरिणति और जड पूजाका दुराग्रह इसीसे आता है, मन दुष्ट और म्लान रहता है, अनन्तानु बन्धीके तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ कषायसे प्रसित होता है, सर्व भावोंमें निर्दयता बनी रहती है निकल नहीं जाती, यह पापका समाचरण करके उसका कभी पछतावा नहीं करता, यह भास मदिराका लम्पट होता है, युत्सित कर्ममें आसक्ति बनी रहती है । इन लक्षणोंसे समन्वित मनुष्य कृष्णलेदयायुक्त समझना चाहिए ।

### नीललेदया-

जिसमें श्रेध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, शोक हो । नृपांसता, क्रूरता, हिंसकता रहती हो, चाण्डाल वृत्ति हो; चोर, मूर्ख, स्वध, औरोंका तिरस्कार करता हो, नीन्दकी अधिकता, कामुकता, मन्दबुद्धि, जडता तथा सत्-असत्में अविवेकी हो, महा आरम्भ, महामूर्च्छा-मोह हो तो समझो कि—इसमें नीललेदया है ।

### कापोतीलेदया-

शोक, भय, ईर्ष्या, मत्सरभाव, औरोंकी निन्दा, अपनी प्रशंसा करना, कोई अपनी स्तुति करे तो प्रसन्न होना, हानित्वाभको न जानना स्व और परमें विपर्यय विवेचना हो, अहंकार-ग्रह प्रसन्न हो; अच्छी, बुरी सब प्रकारकी कियार्थ कर डालता हो, अपनी प्रशंसा मुनकर अन्यको सर्वस्व तक अर्पण कर डालता हो, लड़ाईमें मरनेकी इच्छा रखता हो, अन्युष्टी यशः कीर्तिको नाश कर डालता हो, इन लक्षणोंसे कापोतीलेदया समझनी चाहिए ।

### तेजोलेख्या-

यह पुरुष समदृष्टि होता है, अधिकमात्रामें द्वेष नहीं रखता, औरोंके कल्याण और अहितको सोचता है, अपने बुद्धि बलसे युक्त और अयुक्तका ज्ञान कर लेता है, किसी अन्यकी सोचनीय दशा पर उसे दया आजाती है, चातुर्घ्यता पूर्ण और व्यभिच्य व्यवहार है, ये पीतलेख्याके लक्षण हैं ।

### पद्मलेख्या

कर्मकी निर्जरा करके पवित्र होनेकी प्रबल इच्छा हो, मुपात्रोंमें सात्विक दान वितरण करके सहजानन्द खूटता हो, जिसका अन्तर और बाह्य अत्यन्त मृदु और सरल हो, आत्मामें सर्वैष विजय और नम्रता रहती हो, शत्रुओंका प्रेमसे आदर करता हो, आत्म ज्ञानको उदयमें लाना ही जिसका ध्येयहो, सचरित्र पालक चाणु हो तो समझो कि इसमें, नीति युक्त किया है, यह पद्मलेख्याका लक्षण है ।

### शुक्ललेख्या

अभिमानका लेश तक न हो, अपने चरित्रका फल मांगनेकी अनिलापासे निदान न करता हो, पक्षपालका अत्यन्त अभाव हो, सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता हो, रागद्वेषका अत्यन्तभाव हो, समाधि और अध्यात्मिकतामें स्थायी भाव हो, आस्तिक्यता हो, ये लक्षण शुक्ललेख्याके हैं ;

तेजोलेख्या, पद्मा और शुक्ला ये तीन प्रशस्त लेख्या हैं, क्रमसे संवेगको उत्तम रीतिसे बढानेमें सहायिन्य हैं,

इन्हें उदाहरणसे समझाते हैं,

नोरोंका एक समुदाय किसी ग्रामको खूट कर भाग गया, तब उस बस्तीके व्येकभी उनसे बदला लेनेकी इच्छासे अपने समुदायको संगठित बनाकर चले जा रहे थे उनमें छः आदमी अलग २ छः प्रकृतिके थे । रात्रमें चलते २, पहले ने यह कहा कि—

[ १ ] हम सब वहां जाकर सारे ग्रामके जीवोंको मार देंगे, उनकी पत्नी हुई विधिया तबसे भी न छोड़ेंगे ।

[ २ ] दूसरेने कहा हम उनके पशु पक्षियोंको कुछ न कहेंगे ।

[ ३ ] उनकी स्त्रियोंको कुछभी कष्ट न देंगे । क्योंकि औरोंकी बहु चेष्टित् अपने जैसी ही होती है ।

[ ४ ] पुष्ट्योंमें भी उनको मारना चाहिए जिनके हाथोंमें शस्त्रों, निदरास्त्र शत्रुका मारना नीतिविरुद्ध है ।

[ ५ ] उसी शस्त्र-धारीको मारा जायगा जो हम पर आक्रमण करेगा,

[ ६ ] शत्रुको छोड़कर भूलकर भी किसी निरपराधके ऊपर हाथ न डाला जाय ।

इस प्रकार मित्र २ विचार मित्र २ छेद्योंओंके द्वारा होते हैं, अनुक्रमसे पवित्रविचारों द्वारा जो कर्मरूपी शत्रुके अतिरिक्त अन्य सबकी रक्षाकरता हो वही नरपुंगव सबमें प्रधान और उत्तम है ।

इसी प्रकार भगवान् वीर प्रभुका भी शुकुछेदया युक्त ध्यान है, जिसमें निर्दोष ज्ञान द्रव्य अर्थात् आत्माका अन्तरंग भाव स्वच्छ है । जिनका पवित्रध्यान चन्द्रमा और शंखकी तरह उज्वलवर्ण है, इस प्रकारके शुकुध्यानका उपदेश संसारकी आत्माओंके हितार्थ प्रभुने स्वयं किया है ॥ १६ ॥

**गुजराती अनुवाद-**जेमां राग द्वेपनो त्याग होय, एवा ज्ञानपूर्वक त्याग, वैराग्य, संयम, स्वामिमान, सहानुभूति विगेरे गुणो होय, एवो धर्म मानव जीवने उन्नत बनाववा माटे संसारमां सर्वोत्कृष्ट गणाय छे ते धर्मने प्रगट करवाने माटे प्रभुए उपदेश आप्यो के जे अमेद रूपे हतो । वडी ते धर्म प्राणिमात्रने माटे कहेले हतो । तेनी सिद्धिने माटे तेओए उत्कृष्ट ध्याननो आधय लीधो । तेना फल स्वरूपे तेमने केवलज्ञान प्राप्त थयुं । ते पछी पण मन, वचन, कायना योगोनुं निरुधन करवाना समये सूक्ष्म काय योगने रोकीने शुकुध्याननो व्रीजो पायो प्राप्त करवानो आरम्भ कर्यो, जे स्थितिमां मन-वचनना व्यापारोने रोकी देवामां आवेछे, तथा काय योगनो पण अर्धो भाग रोकाई जाय छे । आ शुकुध्याननो व्रीजो पायो वेरमे गुणस्थाने वर्तता जीवोने होय छे । अने जे स्थितिमा मन वचन कायनी अप्रतिपातिरूप निवृत्तिर्थाई जाय छे ते शुकुध्याननो चोद्यो पायो छे ।

कर्मरहित केवलज्ञानरूपी सूर्यशी पदार्थोंनो प्रकाश करवावाला सर्वज्ञ भगवान् ज्यारे अन्तर्मुद्दृत प्रमाण आयुष्य बाकी रही जाय छे, ल्यारे सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामे शुकु ध्यानने तेओ योग्य बनी जाय छे ते समयनी स्थिति अचिन्त्य होय छे । बादरकाय योगमां स्थिति करीने बादर वचनयोग अने बादर मनोयोगने ते सूक्ष्मतम करे छे । वडी भगवान् काययोग सिद्धय वचनयोग, मनोयोगनी स्थिति सूक्ष्म करीने बादर काययोग पण सूक्ष्म करे छे । ते पछी सूक्ष्मकाययोगमा स्थिति करीने क्षणमात्रमां तेअ समये वचनयोग अने मनोयोग

ए बनेनो सम्यक् प्रचरे निग्रह करे छे । त्यारे ते सूक्ष्म क्रिया ध्यानने साक्षात् ध्यान करवा योग्य बनावी छे छे । अने ते ह्यां एक सूक्ष्म कर्तव्ययोगमां स्थिति करीने तेनुं ध्यान करे छे । आ रीते प्रभुनुं आ “सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति” ध्यान छे ।

अयोग गुणस्थानना उपान्त्व अर्थात् अन्तसमयना प्रथम समये देवाधिदेवनी मुक्तिरूपी लक्ष्मीने प्रतिबन्धक कर्मोनी प्रकृतिओ शीघ्र नाश पामी जाय छे भगवान् अयोगी परमेष्ठीने ते अयोग नामा गुणस्थानना उपान्त्व समये साक्षात् रूप अने निर्मळ “समुच्छिन्नक्रिया” नामे शुद्धध्याननो चोथो पायो प्रगट भाव छे ।

ते भगवान् प्रधान धर्म प्रकृष्टीने प्रधान-उज्वळमां उज्वळ, दोष रहित, उज्वळ शंख अने चन्द्रमानी पेठे एकान्त निर्मळ सर्वध्यानमां सर्वोत्तम एवं शुद्ध ध्यान ध्याय छे ।

लेस्यानी दृष्टि ए पण तेमनी महान् शुद्धलेस्या छे ।

आत्मानां पुण्य पापने लिप्त करीने पोताना जेवां बनावी-त्ये, तेने लेस्या कहे छे, ते बे जातनी होय छे । ते प्रवृत्ति अने यौगिकी होय छे । प्रवृत्ति कपायना रंगमां रंगी त्ये छे । भावधी अमत् परिणति तथा पर परिणतिरूप छे । योग-अविद्वि-मिथ्यात्व-कपाय-प्रमादजन्य कर्मसंस्कारोधी भावलेस्या होय छे । के जे पाप अने आसक्तुं कारण छे ।

कापोती तीव्र भाव छे, नीला तीव्रतर अने कृष्ण तीव्रतम भाव छे । आ अशुद्ध विचारोनो फल छे । पीता पापनी मन्दतातुं नाम छे, पद्मा मन्दतर अने शुद्ध मन्दतमने कहे छे । अशुभ भाव-लेस्या आत्मानી निर्मलतानो नाश करे छे, शुभ भावलेस्या कर्मफलनो नाश करे छे, अन्तिम लेस्या सहजानन्द-निर्लेशीपद अभाववामां निमित्तभूत छे ।

### कृष्णलेस्या-

आ दुर्भावनाया फंदमा पाहीने जीवने राग-द्वेषना ग्रहणी प्रसाय छे, पर परिणति अने पुद्गलपूजा-जडपूजानो दुरामह तेना थी आवे छे, मन दुष्ट अने म्छान रहे छे, अनन्तानुबन्धीना तीव्र क्रोध-भान-भाया-ल्लेभधी घेरायेत्ये होय छे, भावोमां थी निर्दयता जती नथी, पाप कार्य करीने तेनो कही पछावो थतो नथी । मांस मदिरानो भोगी होय छे, कुकर्मनां आसक्त होय छे । आ लक्ष्मणो बाळो मनुष्य ‘कृष्णलेस्या’ बाळ्ये जाणवो ।

### नीललेइया-

जेनामा क्रोध-मान-माया-खेम-राग-द्वेष-मोह-शोक-भय-जुगुप्सा होय, वृशंसता क्रूरता-हिसक्रता होय, चाण्डालवृत्ति होय, चोर-मूर्ख-स्तब्ध होय, बीजाथेनो विरस्कार करतो होय, निशानी अधिभूता-रामासक्ति-भेद बुद्धि-जडता होय, सत् असत्मा अविवेकी होय, महाआरम्भ-महामूर्च्छा=मोह होय, आ लक्षणो वाळो जीव नीललेइया वाळो जाणवो ।

### कापोती लेइया-

शोक-भय-ईर्ष्या-भस्तर-अन्यनी निन्दा, पोतानी प्रशंसा तथा पोतानी कोई प्रशंसा करे तो प्रसन्न धवुं, आत्माना हानि लाभने न समजे, स्व-परमां विपर्यय बुद्धि होय, अहंकारप्रल-सारी नरसी सर्व प्रकारनी क्रियाओ करी बेसे, पोतानी स्तुति सांभळीने सर्वस्व पण आपी दे, लडाईमां मरवानी इच्छा राखे । आ लक्षणो वाळो जीव कापोती लेइया वाळो समजवो ।

### तेजोलेइया-

आ लेइयावाळो समदृष्टि होय छे, अधिक मात्रामां द्वेष नहीं करतो, अन्यना कल्याण अकल्याणनो विचार करे छे । पोताना बुद्धिबलधी युक्त अयुक्तनुं शान विचारे छे । कोई अन्यनी शोचनीय दशा पर तेने दया आवे छे । चानुर्य-तापूर्ण तेमज अनिय व्यापार होय छे । आ पीतलेइयाना लक्षण छे ।

### पद्मलेइया-

कर्मनी निर्जर करीने पवित्र तथा कर्मरहित बनवानी इच्छा होय । सुपात्रे दान दईने सहजानन्द लडे । आन्तर तेमज बाह्य व्यवहार जेनो अत्यन्त गूढ अने सरल होय । आत्मानां हमेशां विनय अने नम्रता होय । शत्रुपर पण प्रेम राखे । आत्मज्ञान प्राप्तिनो जेनो ध्येय होय । सचरित्र पालक साधक होय, नीति युक्त क्रियाबन्त होय । आ पद्मलेइया वाळानां लक्षणो छे ।

### शुक्लेइया-

अभिमान लेशमात्र पण न होय, पोताना चरित्रनुं फळ मागवानी अभिला-पारूप निदान न करे, निष्पक्षपाती होय, सम्यक् ज्ञाननी पूर्णता होय, राग द्वेषनो अत्यन्त अभाव होय, समाधि तेमज अप्यात्मिकतामा स्थिर होय, आस्तिक्य होय, आ लक्षणो शुक्लेइयाना जाणवो । . . . .

तेजो, पद्मा अने शुद्धा ए व्रण प्रसक्त छेदा छे, कमे करीने संवेगने उत्त-  
मरीते बधारवामां सहायरूप छे ।

**लेस्याओने उदाहरणधी समजावे छे—**

चोरोने एक ससुहाय कोई गामने टंडीने चाल्यो कसो त्तारे ते गामना  
लोको तेनो बदलो छेवानी इच्छाए संगठित बनीने चाल्यो जाय छे । ते मां छ  
माणसो जुदी जुदी छ प्रकृति ना हुता, रस्तामां चाल्ता चाल्ता पहोलाए कहुं के-

( १ ) आपणे बधा त्या जईने आखा गामना जीवोनो नाश करी नाखीछुं,  
तेमना पाठेळं पक्षिओने पण नहि छोदीछुं

( २ ) बीजाए कहुंके आपणे तेमना पशु पक्षिओने कई ईजा नहि करिए ।

( ३ ) धनीजाए कहुं के आपणे तेमनी स्त्रीओने कोई पण जातुं कइ नहि  
आपिए । कारणके अन्यनी बहु रीकरीओ आपणी बहु रीकरीओ जेवी छ ।

( ४ ) चोधाए कहुंके पुरुषोमां पण जेना हाथमां शस्त्र होय तेनेज मारवा  
जोहए, निरशस्त्र शत्रुने मारवा नीति विरुद्ध छे ।

( ५ ) पांचमाए कहुं के शस्त्रधारिओमां पण जेओ आपणा पर आक्रमण  
करे तेनेज मारवा ।

( ६ ) छट्टाए कहुंके शत्रु सिवाय भूलधी पण कोई निरपराधीने न मराय ।

आ रीते जुदा जुदा विचारो जुदी जुदी लेस्याओ द्वारा थाय छे । अनुक्रमे  
पवित्र विचारो द्वारा जे कर्मरूपी शत्रु सिवाय बीजा बधानी रक्षा करे ते नरपुं  
गन सर्वमां प्रधान भवे उत्तम छे ।

आ रीते भगवान् वीरप्रभुं पण शुक्लेश्या युक्त ध्यान छे । जेमां आत्माना  
अन्तरग भाव स्वच्छ होय छे, तेमनुं पवित्र ध्यान संखनी पेटे उज्वळ वर्णनुं छे ।  
आ रीते जगन् जीवोना हितार्थे शुक्रध्याननो उपदेश पण वीर प्रभुधीए करेल छे १६

**मूल**

अणुत्तरगं परमं महेशी,  
असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।

सिद्धिं गते साइमणांतपत्ते,

नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥ १७ ॥

( संस्कृतच्छाया )

अनुत्तराभ्यां परमां महर्षिः, अशेषकर्म स विशोध्य ।

सिद्धिं गतः साद्यन्तप्राप्तः, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥ १७ ॥

सं० टीका—तथा चासौ भगवान् शैलेश्यवस्वाऽऽपादितगुह्य-  
ध्यानस्य चतुर्थमेदानन्तरं साद्यपर्यवसानां सिद्धिं मोक्षं । “योग्यमे-  
देऽन्तर्धाने मोक्ष इति शब्दस्तोममहानिधिः” । “मोक्षो, निरोधो,  
निष्ठाणं, दीयो, तण्डकखयो, परं, । ताणं, लेणं, अरूखं च, सन्तं, सच्चं,  
अनालयं । असंखतं, सिवं, अमतं, सुदुदस्सं, परायणं, सरणं, अनी-  
तिकं, तथा । अनासवं, धुवं, अनिदस्सना, कता, अपलोकितं, निपुणं,  
अनन्तं, अक्खरं, दुक्खक्खयो अव्यापज्झं च, विवट्टं, खेम, केवलं, ।  
अपवग्गो, विरागो, च, पणीतं, अञ्जुतं, पदं । योगक्खेमो, पारं पि,  
मुत्ति, सन्ति, विमुद्धि, यो । विमुत्त्य,ऽसंखताधातु, मुद्धि, निब्बुतियो  
(सियुं)” इत्यभिधानप्पदीपिका । “मोक्षस्तु मुक्तिपाटलिमोचने”  
इति मेदिनी” । गतिं मोक्षगतिं या पञ्चमी तां प्राप्तः । सिद्धिगति-  
मेव विशिनष्टि, अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तमत्वात्, अग्न्या च लोकाग्र-  
भागे व्यवस्थितत्वादनुत्तराऽग्न्या तां परमां प्रधानां गतिं चेति ।  
महर्षिं=रसावत्यन्तोभ्रतपो विशेषो वा सर्वज्ञः । “महर्षिः सर्वज्ञेषु,  
विद्यासम्प्रदायप्रवर्तकेषु चेति, शब्दार्थचिन्तामणिः” । “महेसी, च  
विनायको, समन्तचक्खु, सच्चलु, इत्यभिधानप्पदीपिका” । निष्टप्रदेह-  
त्वादशेषं कर्म ज्ञानावरणादिकं विशोध्यापनीय दूरीकृत्य च विशिष्टेन  
ज्ञानेन दर्शनेन शीलेन क्षायिकेण तां सिद्धिं गतिं प्राप्त इति, ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—[ स ] वे [ महेसी ] महर्षि भगवान् [ असेसकर्म ] सब  
कर्मको [ विशोदइत्ता ] भक्तिभांति क्षय करके [ अनुत्तरगं ] त्व प्रकारसे प्रधात



लोकके अग्रभागमें [ गते ] जा विराजे, [ साद्मणंत ] और आदि-अनन्त, तथा [ परमं ] उत्कृष्ट [ सिद्धि ] मोक्षको [ नाणेण ] ज्ञान [ सीलेण ] चरित्र [ य ] और [ वंसणे ] दर्शनके द्वारा प्राप्त हुए ॥ १७ ॥

**भावार्थ—**भगवान्ने क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और क्षायिकचरित्र द्वारा सर्वोत्तम लोकाग्रभागमें धारण करनेवाली मुक्तिको सकल कर्मोंका अन्त करके उभे पाया, वह मुक्ति सादि अनन्त है, कई लोक मोक्षसे वापिस आना मानने हैं; किन्तु वह युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि संसारमें रहनेवाले राग-द्वेष-कोध-मान-मायादि विकार हैं, जहांतक ये विकारहैं वहांतक मोक्ष नहीं, और मुक्तात्मामें कोई विकार नहीं है। अतः विकार रहित आत्मा संसारमें बंधोकर पुनरावर्तन कर सकता है ? यदि उसमें रागादिक सद्भाव मानाजाय तो वह मोक्ष नहीं, यदि मोक्ष होनेपर पुनः अवतारित होते हों तो वहभी ठीक नहीं, क्योंकि विकारोंको विकारही पैदा कर सकते हैं, जब मुक्तात्मा निर्विकार है तो विकारकी उत्पत्ति बंधोकर हो सकती है ॥ १७ ॥

**भाषा-टीका—**भगवान् शैलेष्ठी अवस्थासे शुद्धध्यानके चतुर्थ भेदको पानेके अनन्तर आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनरावृत्ति धाममें जा विराजे। लोकके अग्रभागमें व्यवस्थित होनेसे वह परमप्रधान है, उसे उस सर्वज्ञ-नृसिंहे ने देहके तपसे तथा कर ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोंका विशोधन करके ( वह भी अपने निजी पुरुषार्थ से, ) फिर ज्ञान, दर्शन चरित्र के द्वारा सिद्ध गति-मोक्षपथे पाया।

आकाश सबमें अनन्त है, उस पूर्ण लोकालोक्यराशमें सिद्ध परमात्माका ज्ञान घनीभूत होकर भरा पडा है। उस सिद्धावस्थाके होने पर वे निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा, संशयसे रहित हो जाते हैं। तथा शोक, मोह, जरा, जन्म, मरण, आवि भी नहीं रहते हैं। धुधा, तृषा, खेद, मद, उन्माद, मूर्च्छा, मत्सर वा भी अत्यन्तभाव है। इनकि आत्मामें अब घटावकी भी नहीं है, इनका आत्म वैभव कल्पनातीत है। सिद्ध भगवान् शरीर रहित हैं, इन्द्रिय रहित हैं, विकल्प, संकल्प नहीं हैं, अत्यन्तवीर्यत्व प्राप्त हैं, अपने स्वभावसे कभी स्थलित नहीं होते। सहज और नित्य आनन्दसे आनन्द रूप हैं। जिनके मुखमें कभी विच्छेद नहीं होता है। परमपद में विराजित हैं, ज्ञानके प्रकाशसे प्रमत्तित हैं। परिपूर्ण, सनातन, संसारकी रटपटसे रहित हैं एवं जिनको अब कुछ भी करना करना नहीं है, अचल स्थिति है, आत्म प्रवेशों की क्रियासे रहित हैं। सन्तुष्ट हैं,

पूष्णा रहित हैं, मदा तीनं लोकके शिखर पर विराजित हैं । अनुपमेय हैं, आकाश और काल कि तरह प्रभु अनन्त हैं, और वचन अगोचर हैं ॥ १५ ॥

गुजराती अनुवाद—भगवान् शैलेयी अवस्थाधी शुकुष्यानना चोधा भेदने प्राप्त कर्या पछी आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनरावृत्ति स्थानमां जइ विराज्या, से मोटा ऋषीधर [ महावीर देव ] समस्त कर्म खपावीने पोतानाज पुरुषार्थधी ज्ञान, दर्शन, चरित्रे करी, सर्वोत्तम लोकने अग्र भागे उत्कृष्ट सिद्धगतिने पाय्या ।

आकाश अनन्त छे, ते पूर्ण लोकलोक-आकाशमां सिद्ध-परमात्मानुं ज्ञान भयुं पखुं छे, ते सिद्धावस्थामां निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा, संशय नशी, शोक-मोह-जन्म-जरा-मरणादि पण नशी; ध्रुवा-तृषा-लेद-मद-उन्माद-मूर्छा-मत्सरनो अलन्त अभावछे; तेमनो आत्मा अशुक् लघुत्व गुणने प्राप्त थयो छे, तेमनो आत्मवैभव कल्पनातीत छे, सिद्ध भगवान् शरीर-इन्द्रिय-सकल्प-विकल्पधी रहित छे, अनन्त वीर्यवान् छे, स्व-स्वभावधी कटी पण स्थाव्रित थता नशी, सहजानन्द प्राप्त छे, निराबाध मुखवाळा छे, परम पदमा विराजमान छे, ज्ञान-प्रकाशधी प्रकाशित छे, मदैव नित्य-परिपूर्ण छे, सनातन छे, समारम्भ प्रपंचोधी रहित छे, कृतकूल छे, अचल छे, अरुज छे, अध्वय छे, आत्मप्रवेशोनी क्रियाधी रहित छे, सन्तुष्ट छे, तृष्णा रहित छे, अणलोकना अग्रभागे विराजे छे, अनुपमेय छे, आकाश अने कालनी येठे प्रभु अनन्त छे, तेमज वचनातीत छे ॥ १५ ॥

मूल

रुक्खेसु णाते जह सामली वा,  
जस्सि रइं वेययंती सुवण्णा ।  
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं,  
नाणेण सीलेण य भूतिपत्ते ॥ १८ ॥

संस्कृतच्छाया

वृक्षेषु ज्ञातो यथा शास्मली वा, यस्मिन् रतिं वेदयन्ति सुपर्णाः ।  
घनेषु वा मन्दनमाहुः श्रेष्ठं, ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रदः ॥ १८ ॥

सं० टीका—पुनरपि वीरस्य स्तुतिं दृष्टान्तद्वारेणाह, वृक्षेषु मध्ये यथा ज्ञातः प्रसिद्धो देवकुल्यवस्थितः शास्मलीवृक्षः, स च भुवन-

पतिदेवानां क्रीडास्थानम्, “शाल्मले शाल्मलीवृक्ष इति हैमः” ।  
 यस्मिन् वृक्षे व्यवस्थिता अन्यतश्चागत्य सुपर्णा=भुवनपतिविशेषा देवा  
 रति=रममाणा रति रमणं क्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्तीति । वनेषु मध्ये  
 नन्दनं=देवानां क्रीडास्थानं श्रेष्ठम् प्रधानं “नन्दनं, मिस्तकं, चित्तलता,  
 फारुसकं, वना इत्यभिधानम्पदीपिका” । एवं भगवान् वीरोऽपि केव-  
 लाख्येन ज्ञानेन समस्तपदार्थाविर्भावकेन शीलेन=चारित्र्येण यथाख्यातेन  
 स्वभावेन सहजधर्मविशेषेण सद्गुणेन साधुचरित्रेण प्रधानस्तथा भूति-  
 प्रज्ञः=प्रवृद्धज्ञानोऽनन्तज्ञानो भगवान् इति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—[ जह ] जैसे [ वन्येणु ] . वृक्षोंमें [ सामग्री ] शाल्मली वृक्ष  
 [ वा ] तथा [ वनेषु ] वनोंमें [ नन्दनं ] नन्दनवन [ सेठ ] श्रेष्ठ [ पण ] समझा  
 जाता है [ जस्मिं ] जिसमें कि [ सुवना ] सुपर्ण-कुमार नामक भुवनवासी देव  
 [ रति ] आराम क्रीडाका [ वेदयती ] अनुभव करते हैं उसी प्रकार भगवान्  
 [ नाणेण ] ज्ञानसे [ य ] और [ शीलेण ] चरित्रसे श्रेष्ठ तथा [ भूषणैः ] प्रभूत  
 ज्ञानशाली [ आहु ] कहलते थे ॥ १८ ॥

भाषार्थ—वृक्षोंमें सेमलवृक्ष मुंदर सघन छाया युक्त होता है, यह वृक्ष  
 पृथ्वीकायिक और निलय है । तथा संसारके समस्त वनोंमें नन्दनवन स्वसुरत है,  
 क्योंकि कथित दोनों स्थानोंमें रहनेवाले तथा बाहरसे आनेवाले सुपर्णकुमार  
 जातिके भुवनवासी देव, आनन्दमें आमोदप्रमोदसे अनेकप्रकारका विलास करते हैं,  
 उसीप्रकार भगवान् महावीर प्रभु भी सबमें उत्तम थे, कारण उस समय प्रभुके  
 मुक्तापलेमें उनके ज्ञान और चरित्रकी बराबरी करनेवाला कोई भी व्यक्ति न था,  
 इसीलिए सेमल और नन्दनवनकी उपमा देकर भगवान्की स्तुति की गई है ॥ १८ ॥

भाषा-टीका—शाल्मली वृक्षकी शीतल छाया होनेसे वह सब वृक्षोंमें  
 श्रेष्ठ है, और वह भुवनवासी देवोंका क्रीडा स्थल है, । वनोंमें जिसप्रकार  
 नन्दनवन उत्तम वन है, इसी प्रकार भगवान् महावीर प्रभु भी केवलज्ञानके  
 कारण श्रेष्ठ हैं, जिससे सर्वपदार्थोंका उन्हें प्रत्यक्ष आविर्भाव है । ज्ञानके साथ  
 साथ उनमें यथाख्यात चरित्रमें भी पूर्णश्रेष्ठता प्राप्त है । जोकि आत्माका सहज  
 स्वभाव समन्वित गुण है ॥ १८ ॥

गुजराती अनुवाद—शीतल छाया होवाने जीधे शात्मली वृक्ष सर्व वृशोषी थ्रेष्ट छे, ते भुवनवासी देवोनुं मीटा स्थान छे, बनोमां जेम नन्दनवन थ्रेष्ट छे, तेमज भगवान् महावीर पण केवलज्ञाने करी सर्वोत्तम छे, जेनाथी सर्व पदार्थोनो प्रत्यक्ष आविर्भाव तेमने भाय छे, ज्ञाननी साथे यथाख्यात चरित्रमां पण तेओ थ्रेष्ट छे के जे आत्मानो सहज स्वभाव छे ॥ १८ ॥

मूल

धणियं च सद्गण अणुत्तरे उ,  
चंदो व ताराण महाणुभावे ।  
गंधेषु वा चंदणमाहु सेट्टं,  
एवं मुणीणं अपडिच्चमाहु ॥ १९ ॥

संस्कृतच्छाया

स्तनितं वा शब्दानामनुत्तरं तु, चन्द्रो वा ताराणां महानुभावः ।  
गन्धेषु वा चन्दनमाहुः श्रेष्ठम्, एवं मुनीनामप्रतिष्ठमाहुः ॥ १९ ॥

सं० टीका—यथा च शब्दानां मध्ये स्तनितं मेघगर्जितं “स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषो रसितादि चेत्यमरः” । तदनुत्तरं प्रधानं तुशब्दो विशेषणार्थः, आह च, “समुच्चयेऽवधारणे, नियोगे, प्रशंसायां, उक्तशंक्रानिवृत्तौ, पादपूरणे, विशेषणार्थे चेति कोपः” । तथा च तारकाणां=नक्षत्रगणानां मध्ये चन्द्रो महानुभावः, “नक्खत्तं, जोति, भं, चारा, (अपुमे) तारको इत्यभिधानप्यदीपिका” । सकलरजो-निवृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः । गन्धेषु चेति गुणगुणिनोरमे-दान्मतुल्लोपाद्वा, गन्धवत्सु मध्ये यथा चंदनं मलयजं गोशीर्षकाख्यं “चन्नं (निस्थियं) गंधसारो मलयजो (प्यथ)” “गोसीसं तलप्य-णिकं, (पुमे वा) हरिचंदनं” “इत्यभिधानप्यदीपिका” । मलयजं मलयपर्वतादौ-जायते तद् वा तज्ज्ञाः श्रेष्ठमाहुः । एवं मुनीनां महर्षीणां च मध्ये भगवन्तं । पुनश्च नास्य प्रतिष्ठा इहलोकपरलोकानां संसिनी

विद्यत इत्यप्रतिज्ञः, इहलोकपरलोकाशंसारहितप्रतिज्ञस्त्वमेवंभूतं महा-  
वीरम् श्रेष्ठमाहुरिति ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—[ व ] जैसे [ घणिय ] मेघकी गर्जना [ सहाण ] सबशब्दोंमें [ अनुत्तर उ ] प्रधान है—सबसे बड़कर है, और [ व ] जैसे [ चंदो ] चन्द्रमा [ ताराण ] सब तारोंमें [ महाणुभावे ] उज्वल और मनोहर है, [ या ] इसीप्रकार [ गणेषु ] सब सुगन्धित पदार्थोंमें [ चंदर्ण ] चन्दनको [ सेहं ] अच्छा [ आहु ] कहा है [ एवं ] इसी प्रकार भगवान् भी [ मुणीणं ] सब मुनिओंमें [ अपडिष्णं ] इस लोक और परलोककी प्रतिज्ञा-कामनासे विरक्त [ आहु ] कहा है ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे सब शब्दोंमें मेघकी गर्जनाका शब्द बड़ा प्रबल होता है, सबके सब शब्द उससे नीची कक्षामें हैं, तथा सब नक्षत्र मण्डलमें चांद सबमें उज्वल और सुन्दर है, और समस्त सुगन्धित पदार्थोंमें मलयज चन्दन सुरभि और उत्तम है, उसी प्रकार समस्त मुनिओंमें भगवान् महावीर उम समय सबमें प्रधान थे, क्योंकि उनमें आत्मासे भिन्न इसलोक और परलोक संबंधी किसी भी विषयकी कामना न थी ॥ १९ ॥

भाषा-टीका—शब्दोंमें मेघकी गर्जनाका शब्द सबसे बड़ा होता है, असंख्य तारों और नक्षत्रोंमें चंद्रमा तेजस्वी शीतल और महानुभाव है, सुगन्ध वस्तुओंमें मलयवनका गोक्षीपं चन्दन श्रेष्ठ होता है । इसी प्रकार मुनि महर्षि-गणोंमें भगवान् सबमें विलक्षण श्रेष्ठतापूर्ण थे । उनकी सब प्रतिज्ञाएँ इस लोक और परलोक सम्बन्धी विषयार्थाक्षाओंसे रहित थी ॥ १९ ॥

गुजराती अनुवाद—शब्दोंमें जेम मेघनी गर्जनानो शब्द, ताराओंने विषे जेम चन्द्रमा, अने सुगंधीओमा जेम गोक्षीपं चन्दन श्रेष्ठ छे, तेम मुनि महर्षिगणोमा भगवान् श्रीमहावीर श्रेष्ठ छे, तेमनी सब प्रतिज्ञाओ आ लोक अने परलोक सम्बन्धीनी बांछना रहित छे ॥ १९ ॥

मूल

जहा सयंभू उदहीण सेह्ने,

नागेषु वा धरणिदमाहु सेह्ने ।

खोओदण् वा रसं वेजयंते,

तवोयहाणे मुणि वेजयंते ॥ २० ॥

संस्कृतच्छाया

यथा स्वयम्भूरुदधीनां श्रेष्ठः, नागेषु वा धरणेन्द्रमाहु श्रेष्ठम् ।  
क्षोदोदकं वा रसं वैजयन्तः, तप उपधानेन मुनिर्वैजयन्तः ॥ २० ॥

सं० टीका—यथा स्वयं भवतीति स्वयंभुवो देवास्तत्रागत्य रमन्त इति, स्वयंभूरमणस्तदेवोदधिः समुद्राणां मध्ये यथा स्वयंभूरमणः समुद्रः समस्तद्वीपसागरपर्यन्तवर्ती श्रेष्ठः प्रधानो महत्तरः । नागेषु च भुवनपतिविशेषेषु मध्ये धरणेन्द्रं नागानामिन्द्रं यथा श्रेष्ठमाहुः । तथेक्षुरस इवोदकं जलं यस्य सः इक्षुरसोदकः, स यथा रसमाश्रित्येति वृद्धाः, वैजयन्तःप्रधानः । स्वगुणैः समुद्राणां पताकेवोपरि स्वयंभूर्धरणेन्द्रो रसश्च प्रधानः समन्वितस्तथैव तप उपधानेन विशिष्टतपोविशेषेण मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिर्भगवान् वैजयन्तः प्रधानः समस्तलोकस्य महातपसा वैजयन्तीव सर्वोपरिव्यवस्थितः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—[ जहा ] जैसे [ स्वयंभू ] स्वयंभूरमण समुद्र [ उदहीण ] सब समुद्रोंमें [ सेठ्ठे ] श्रेष्ठ है [ वा ] तथा [ धरणिदं ] धरणेन्द्र [ नागेषु ] नागकुमार जातिके भवनवासी देवोंमें [ सेठ्ठ ] अच्छे हैं [ वा ] और [ खो ओदए ] इक्षुरस [ रसवेजयते ] सब रसोंमें मुख्य है, उसी प्रकार [ तवोवहाणे ] उत्तम तपके तपने-वालोंमें [ मुनि ] भगवान्को [ वैजयन्ते ] उत्तम [ आहु ] कहते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—सब समुद्रोंमें, स्वयंभूरमण प्रधान है, क्योंकि वहां अनेक प्रकारके देव आकर श्रद्धा करते हैं, तथा अपने चित्तसे प्रमत्त करते हैं, उसी प्रकार सब ऋषि-मुनि-ब्रह्मोंमें भगवान् सर्वोत्तम थे, क्योंकि वे अज्ञात विषयोंका विशेष ज्ञान कराकर लोगोंका चित्त सन्तुष्ट करते थे । तथा नागकुमार-भुवनपति-ब्रह्मोंमें धरणेन्द्र प्रधान है अथवा समस्त रसोंमें इक्षुरस अच्छा है उसी प्रकार भगवान् श्रीराममें अच्छे थे ॥ २० ॥

भाषा-टीका—सर्कार भरके समुद्रोंमें स्वयंभूरमण समुद्र-सबमें प्रधान है, जिसके तटपर देवगण वासुदेवन करने आते हैं । भुवनपति देवोंमें, धरणेन्द्र देवराज प्रधान है । नींदे और सरस पदार्थोंमें इक्षुरस

शान्तिकर और खादिष्ट वस्तु हैं, इसी प्रकार विशेष तपसे जगत्की तीनों कालकी अवस्थाओंको निल्व और परिवर्तन शील माननेवालोंमें मुनि-भगवान् महावीर प्रभु श्रीध्वजाकी तरह समस्त लोकमें महान् तपसे तप कर निकले हुए कुन्दकी तरह सुशोभित थे ॥ २० ॥

गुजराती अनुवाद—सर्व समुद्रोमा स्वयंभूरमण समुद्र मोटो छे, तेन कंठा पर देवताओ वायुसेवन करवाने आवे छे, भुवनपति देवोमां धरणेन्द्र देवरज प्रधान छे, मीठ अने सरस पदार्थोमां शेरबीना रस शान्तिकर तेमज मीठ तथा खादिष्ट छे, तेवीज रीते तप उपधानथी जगत्की त्रणे कालनी अवस्थाओने निल्व तेमज परिवर्तनशील माननाराओमां मुनींद्र थी भगवान् महावीर प्रभु समस्त लोकमां शुद्ध कुन्दननी माफक सुशोभित छे ॥ २० ॥

मूल

हृत्थीसु एरावणमाहु णाए,  
सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा ।  
पक्खीसु वा गरुळे वेणुदेवो,  
णिबाणवादीणिह णायपुत्ते ॥ २१ ॥

( संस्कृतच्छाया )

हृत्तिप्येरावणमाहुर्जातं, सिहो मृगाणां सलिलानां गंगा ।  
पक्षिषु वा गरुत्मान् वेणुदेवो, निर्व्याणवादिनामिदृश्यातपुत्रः ॥२१॥

सं० टीका—हृत्तिषु=करिवरेषु मध्ये, यथैरावतं=शरुवाहनं ज्ञातं प्रसिद्धं “ऐरावतोऽभ्रमातंगैरावणाभ्रमुवल्लभाः इत्यमरः” । “कुंजरो, वारणो हृत्थीत्यभिधानपदीपिका” । दृष्टान्तभूतं वा प्रधानमाहुस्त्रिज्ज्ञाः, अथवा हस्त्रं रत्नं रत्नत्रयं तदस्वास्तीति हस्ती तेषु हृत्तिषु, “हृत्थो पाणिन्दि, रतने, गणे, सोण्डाय, भन्तरे; इति अभिधानपदीपिका” । ऐरावतो नागरंगसद्वच्छोमनीयः । अथवा हस्त्रो नागस्योदस्रन्मध्य ऐरावत इवेति । अथवा धृतवस्तुहृत्तिषु हि ऐरावतो नारंगो नारंगसद्वच्छः

मुगन्धितरससमन्वितत्वात् । “ऐरावतो नागरंगो नादेयी भूमिजम्बुका इत्यमरः” । तथा मृगाणां हरिणादिवन्यजन्तूनां मध्ये यथा सिंहः केसरी, तथा भरतापेक्षया । सलिलानां नदीनां यथा गंगाजलं प्रधानभाव-मनुभवति नैर्मल्यत्वात् । पक्षिपु=पतत्रिपु यथा गरुडान् वेणुदेवाऽपर-नामाप्राधान्येन व्यवस्थितः कथितः । एवं निर्वाणं सिद्धक्षेत्राख्यं कर्म-णामत्यन्ताभावलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिर्हेतुतो वा वादितुं शीलं येषां ते तथा, तेषां मध्ये ज्ञाताः क्षत्रियास्तत्पुत्रोऽपत्यं ज्ञातपुत्रः श्रीम-न्महावीरप्रभुरेव प्रधान इति, यथावस्थितनिर्वाणत्वादिति भावः ॥२१॥

अन्वयार्थ—जैसे [हथीसु] सब हाथियोंमें [ऐरावत] ऐरावत हाथी [णायं] प्रधान है [मिगाणं] पशुओंमें [सीहो] सिंह जैसे प्रधान है, [सलिलान] पानीकी जातिमें [गंगा] महागंगाका पानी निर्मलतामें प्रधान है [वा] और [पक्षीसु] उड़नेवाले पक्षियोंमें [वेणुदेवे] वेणुदेव नामक [गरुडे] गरुड पक्षी प्रधान है, उसी प्रकार [इह] समस्त संसारमें [निष्वा-णवादीण] मोक्षके माननेवालोंके अन्तर्गत [णायुक्ते] ज्ञातपुत्रमहावीरस्वामीको प्रधान । आहु ] कहते थे ॥ २१ ॥

भाषार्थ—ऐरावत हाथी सब हाथियोंमें प्रधान है, उसका सुन्दर धेतुरंग है, भोजुद्धि करता है, जब भगवान् गर्भमें आये थे तबसे ही महाराजा सिद्धार्थके घर श्रीवृद्धि हुई थी जिससे प्रभुका नाम वर्धमान रक्खा गया था, अतः सब हाथियोंमें ऐरावत हाथीके समान, पशुओंमें सिंहके सदृश, जलोंमें महागंगाके पानीकी तरह और पक्षियोंमें गरुड पक्षीकी भांति भगवान् समस्त मोक्षवादिओंमें प्रमुख थे, क्योंकि भगवान्ने ही मोक्षका यथार्थ स्वरूप और उसका उपाय तथा मार्ग बताया था ॥ २१ ॥

भाषा-टीका—जैसे ऊंचे तथा सुन्दर हाथियोंमें ऐरावत हाथी निष्कलं और अच्छा होता है, और वह इन्द्रकी सवारीके काम आनेवाली सुन्दर वस्तु है । इसी प्रकार प्रभु भी ज्ञान दर्शन, चरित्ररूप जो तीन राज हैं उनमें हाथीकी तरह ऊंचे हैं । वा वे तीनों राज आत्माको नरंगीकी तरह मनोहर और उपादेय हैं, अथवा हस्ती नाम वादकका भी है, अथवा जिनकी अमोघ वाणीकी वर्षा



ऐरावतकी तरह उच्च कोटि की है। अथवा हाथमें जिस प्रकार नारंगी सुन्दर लगती है उसी तरह प्रभु भी जगती-तल पर नारंगी की तरह भव्य प्राणिओंके हृदयोंमें सुन्दर लगते हैं। हरिणादिक जंगली जीवोंमें सिंह बलिष्ठ होता है, इसी तरह भरत क्षेत्रकी अपेक्षा मानवशक्तिमें वीर प्रभु सिंहकी तरह आत्म-बलसे बलवान् थे, जैसे सब प्रकारके जलोंमें गंगाजल अनेक औषधियोंसे मिश्रित होनेके कारण निर्मल है, ऐसे ही प्रभु भी कर्म-लेपसे अलित होनेसे अत्यन्त स्वच्छ हैं। और पश्चिमोंमें गरुड नामक वेणुदेव प्रधान है, इसी प्रकार निर्वाण अर्थात् जो सिद्धक्षेत्र है जहां कर्म-बलका अत्यन्त अभाव है, उसका स्वरूप बतानेमें तथा उसके पानेके उपाय बतानेमें ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु सर्वोपरि हैं। उनका निर्वाण मन्त्रमें उक्तश्लोका और अकार्य है ॥ २१ ॥

**गुजराती अनुवाद**—जेम ऊंचा तथा सुन्दर हाथिओमा ऐरावत हाथी निष्कलंक अने उत्तम छे, केमके तेनापर इन्द्र सवारी करे छे, अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप जे प्रग रजो छे, तेमां प्रभु पण हाथीनी पेटे जे ऊंचा छे, अथवा ते रत्नभय मनोहर तेमज उपादेय छे, अथवा हस्तिनो अर्थ वादळ पण धाय छे, जेमनी वाणी अमोघ वाणी छे, अने ऐरावत हाथीनी पेटे उच्च कोटिनी छे, अथवा जेम नारंगी हृदयमां सुंदर लागे छे तेम प्रभु पण भूतल पर नारंगीनी जेम भव्य प्राणीओना स्वच्छ हृदयने सुंदर लागे छे, मृगादिक जनावरोमां सिंह बलिष्ठ होय छे, तेम भरतक्षेत्रनी अपेक्षाए मानव शक्तिमां श्रीवीरप्रभु कर्मरूप मृगोने जीतवा सार सिंह समान आत्मबलमां बलवान् छे, अनेक प्रकारनी औषधि-युक्त होवाने लीधे गंगाजल सवे जलमा निर्मल छे, तेमज प्रभु पण कर्म लेपशी अलित होवाने लीधे अत्यन्त विशुद्ध छे, पश्चिमोने विषे गरुड [ वेणुदेव ] प्रधान छे, तेवीज पीते निर्वाण (सिद्ध) क्षेत्र के ज्या कर्ममलनो अत्यन्त अभाव छे, तेनुं स्वरूप बतानवामां तथा तेनी प्राप्तिनो उपाय बतानवामां ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु सर्वोपरि छे ॥२१॥

मूल

जोहेसु णाए जह वीससेणे,  
पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।  
खत्तीणसेठ्ठे जह दंतवके,  
इसीण सेठ्ठे तह वदमाणे ॥ २२ ॥

**भावार्थ—**कृष्ण-वासुदेवसे बढकर अन्य कोई योद्धा नहीं है, पन्धयुक्त फूलोंमें कमल अच्छा होता है, समस्त भूमिके क्षत्रियोंमें चक्रवर्ती मुख्य कहलाता है, उसी भांति भगवान्-महावीर उस समयके सब ऋषि-मुनिओंमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ २२ ॥

**भाषा-टीका—**लडाके वीरोंमें पुष्कल हाथी, घोड़े रथ पैदल आदि चतुरन्वीकृत आधिपत्य भोग्य अर्धचक्री वासुदेव कृष्ण प्रधान होता है । फूलोंमें हजार पंखुडियाँवाला अरविंद नामक कमल श्रेष्ठ है । सताए गए वे मनुष्य जिसके कि-शत्रुओंने हृदयके सैकड़ों टुकड़े कर डाले हैं । तथा उन (कर्मरूपी) शत्रुओंसे जो मुरझित रखनेवाला हो वही क्षत्रिय होता है । उन्हींको वीरिमान् राजा कहा जाता है । उनमें उपशान्त गुण प्रधान होता है जिसके कथन मात्रसे शत्रु शिथिल पड जाते हैं वही चक्रवर्ती भी होना है अत एव वह स्वयं मुख्य है । इसी प्रकार इन सुन्दर दृष्टान्तोंको जिनपर अनायासमें ही घटाया जाता हो ऐसे थे हमारे परम पवित्र वर्धमानस्वामी अन्तिम जिन-भगवान् सब ऋषिमहर्षियोंमें श्रेष्ठ थे ॥ २२ ॥

**गुजराती अनुवाद—**योद्धाओंमां गज-अश्व-रथ-यावदल, ए चतुरंगी-सेनानो अधिपति अर्ध चक्रवर्ती वासुदेवकृष्ण सर्वोत्तम छे, फूलोंमां हजार पांखडी-कलुं अरविंद कमल श्रेष्ठ छे, शत्रु (कर्मरूपी शत्रु) धी रक्षा करनार क्षत्रिय कहेवाय छे, तेने वीरिमान् राजा कहे छे, तेनामां उपशान्त रस प्रधान होय छे, जेना कथन मात्र थी शत्रु शिथिल थई जाय छे, ते चक्रवर्तीज होय छे, ते सर्वोत्तम छे, तेवीज रीते आवा सुन्दर-दृष्टान्तो जेना पर घटी शके ते अमार परम पवित्र, पतित पावन, जगदुद्धारक वर्धमान भगवान् अन्तिम जिन सर्व ऋषिओंमां श्रेष्ठ छे ॥ २२ ॥

मूल

दाणाण सेहं अभयप्पयाणं,

सचेसु वा अणवज्जं वपंति ।

तवेसु वा उत्तमवंभचेरं,

लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥ २३ ॥

संस्कृतच्छाया

दानानां श्रेष्ठं अभयप्रदानं, सत्येषु वाऽनवद्यं वपन्ति ।

वपस्सु वोत्तमं ब्रह्मचर्यं, लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥ २३ ॥

सं० टीका—तथा च स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानं, अथवा स्व-स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोपादानं दानं, यद्वा श्रद्धा भक्तिस्तया परिग्रहमत्वत्यागभावेन कर्मनिर्जराऽर्थं चानुकम्पया यदीयते तद्दानं;\* तच्चतुर्था वाऽनेकधा, परन्तु तेषां दानानां मध्ये प्राणिनां जीवानां

\* तुष्टिश्रद्धाविनयभजना लुब्धता धान्तिस्त्वप्राणप्राणव्यवसितगुणज्ञान-  
कालज्ञताद्वयः । दानाशास्त्रिर्जननमृतिमिधास्त्रिको मत्सरेष्यो, दक्षात्मा यो भवति स  
नरो दानमुख्यो जिनोक्तः ॥ कालेऽज्ञस्य धुधमवहितो दित्समानो विभूल, नो भोक्तव्यं  
श्रयममविधेर्यस्सदा विष्टीति । तस्याग्रासावपि गतमलं पुष्यराशिं धवन्तं, तं दातारं  
जिनपतिमते मुख्यमाहुर्विनेन्द्राः ॥ सर्व्वाभीष्टा बुधजननुता धर्मक्रमार्थमोक्षाः,  
सत्संख्यानां वितरणपरं दुःखविध्वंसदक्षाः । लज्जुं शम्पा जगति नयतो जीवितव्यं  
धिनेव, तद्दानेन धुधमनुमृतां किं न दत्तं ततोऽत्र ॥ कृत्वाकृत्वे कलयति यतः  
कामकोपो लुनीते, धर्मं श्रद्धां रचयति परं पापबुद्धिं धुनीते । अक्षार्थेभ्यो विरमति  
रजो हन्ति चित्तं पुनीते । तद्दातव्यं भवति विदुषा शास्त्रमत्र प्रति-न्यः ॥ भार्या-  
प्राणसूत्रजननयान्यधिमित्तं स्वजन्ति, प्रज्ञासत्त्वप्रतसमितयो यद्विना यान्ति नाशम् ।  
शुद्धु.गेन म्पितवपुषो भुञ्जते च त्वभर्षं, तद्दातव्यं भवति विदुषा संयतायाज-  
शुद्धम् ॥ सम्यग् विद्याशमदमतपोभ्यानमौनप्रताप्यं, धेयोहेतुर्गतशक्ति तनौ जायते  
येन सर्वम् । तत्ताधुना व्यथितवपुषां तीव्ररोगप्रपथैस्त्रदक्षार्थं वितरत जना. प्राशु-  
कान्यौषधानि ॥ साक्यत्वान्महदपि फलं नो विधातुं समर्थं, कन्यास्वर्गोद्विपहयध-  
रागोमहिष्यादिदानम् । त्यक्त्वा दद्याजिनमतदयामेपजाहारदानं, भूत्वाऽप्यन्यं  
विपुलफलदं दोषमुक्तं वियुक्तम् ॥ नीतिश्रीतिश्रुतिमतिश्रुतिज्योतिर्भक्तिप्रतीति, प्रीति-  
शातिस्त्वितरित्तिमतिस्त्र्यातिशक्तिप्रगीति. । यस्मादेही जगति लभते नो विना भोजनेन  
तस्मादानं स्युरिह ददता ताः समस्ताः प्रशस्ताः ॥ दर्पेन्द्रिकव्यसनमथनकोधयुद्ध-  
प्रवाधा पापारम्भशक्तिहतधिवां जायते तधिमित्तम् । यत्संगृह्य धयति विषयान्  
दु.वित्तं यत्स्वयं स्वायत्तः स्वयं प्रभवति न तच्छुष्यतेऽत्र प्रदेवम् ॥ साधू रक्षात्रि-  
तयनिरतो जावके निर्जिताशो, धर्मं दत्ते व्यपगतमलं सर्व्वकल्याणमूलम् । राग-  
द्वेषप्रभृतिमथनं यद्गृहीत्वा विधत्ते, तद्दातव्यं भवति विदुषां देवमिष्टं तदेव ॥  
धर्मव्यानप्रतममितिमृत्संयतधारु पात्रं, व्यावृत्तात्मात्रसहननतः धावको मध्यमं  
तु । मन्थगदधिर्प्रतविरहितः धावकः स्याज्जघन्यमेव त्रेधा जिनपतिमते पात्रमाहुः

“सर्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविजं न मरीजिजं” वा जीवो जीवितु-  
मिच्छतीत्युक्तत्वाज्जीवितार्थिनां वाऽभयदानं त्राणकारित्वाच्च श्रेष्ठं ।

श्रुतज्ञः ॥ यो जीवानां जनकसदृशः सत्यवाग्दत्तभोजी, संप्रमखीनवनविशिलाभिर्ज-  
चित्तः स्थिरात्मा, द्वेषा धन्यादुपरममना सर्व्व्या निर्जिताज्ञो, दातुं पात्रं व्रतपति-  
मसुं बर्षमाहुर्जिनेन्द्राः ॥ यद्गतोयं निपतति धनादेकरूपं रसेन, प्राप्याधारं सगुण-  
मगुणं याति नानाविधित्वम् । तद्दानं सफलमफलं प्राप्यमप्येति गत्वा, देवं दानं  
समयमभूता सयताना यतीनाम् ॥ यद्दक्षिणं गलति सद्धं त्रिभुक्ते घटेऽम्भस्ति-  
फालाबूनिहितमहितं जायते दुग्धमद्यम् । अमामत्रै रचयति मिशं तस्य नाशं च  
याति, तद्दानं विगततपसे केवलं भवंसेति ॥ शधच्छीरत्नतविरहिताः क्रोधलोमा-  
दिवन्तो, नानारम्भप्रहितमनसो ये मदमन्थशकाः । ते दातारं कथमसुखतो रक्षितुं  
सन्ति शका, नावा लोहं न हि जलनिधेस्ताप्यते लोहमव्या ॥ क्षेत्रद्रव्यप्रभृतिष-  
मयान् वीक्ष्य बीजं यथोक्तं, दत्ते सस्यं विपुलममलं चारुसंस्कारयोगात् । दत्तं पात्रे  
गुण्यति तथा दानमुक्तं फलय, सामप्रोतो भवति हि जने सर्व्वकार्यप्रसिद्धिः ॥  
नानादुःखव्यसननिपुणाभ्राशिनोऽनुसिद्धेभुः, कर्मरातिप्रचयनपरांस्तत्त्वतो बेलभो-  
गान् । मुक्त्वाकाशां विषयविषयां कर्म्मनिर्नाशनेच्छो, दद्यादानं प्रगुणमनसा संव-  
तायापि विद्वान् ॥ यस्यै गत्वा विषयमपर वीयते पुष्पञ्चि, पात्रे तस्मिन् गृह-  
मुपगते सयमाधारभूते ॥ नो यो मूढो वितरति धने विद्यमानेऽप्यनल्पे, तेनात्मात्र  
स्वयमपभिया वयित्तो मानवेन ॥ धीर्षांगुष्कः शशिसितयशोव्यापदिक्चक्रवाल्,  
सद्विद्याधीकृतबलधनप्रीतिकीर्तिप्रतापः । शूरो धीरः स्थिरतरुना निर्भवथादस्य  
स्वामी भोगी भवति भविनां देह्यमीतिप्रदायी । कर्मारण्यं दहति विधिवन्मानु-  
ष्यत्वाविदुःखात्सम्भृतीति वदति गुरुवत्सामिवद्यद्विभर्ति । तत्वात्त्वप्रकटनपटुस्वरु-  
माप्रोति पूतं; तत्त्वज्ञानं विगलितमलं ज्ञानदानेन मर्त्यः ॥ दाता भोक्ता बहुधनयुतः  
सर्व्वैकत्वानुस्मयी, सत्सौभाग्यो मपुरवचनः कामरुपाविशायी; शधद्गत्त्या कुपड-  
नशतैः सेवनीयाद्वियुग्मो; मर्त्यः प्राज्ञो व्यपगतमदो जायतेऽज्ञस्य दानात् ॥ रोमैर्वात-  
प्रभृतिजनितैर्वा-हभित्वांशुममः सर्वांगोपव्यथनपटुमिर्बांधितुं नो स शक्यः । आज-  
न्मान्तः परमसुखिनां जायते चौरधाना, दाता यो निर्भरकुलवपुःस्थानयान्तिप्रतापः ॥  
दत्त्वा दानं विनमतदक्षिः कर्मनिर्नाशनाय, मुक्त्वा भोगांश्चिदश्वरताी दिव्यनापीमनापः  
मर्त्यावापे वरकुलवपुर्जेनधर्मं विभाय, हत्वा कर्म्यं स्थिरतरुगुं मुक्तिरुस्यं प्रयाति ॥

यतः

“यथा मम प्रियाः प्राणास्तथाऽन्यस्यापि देहिनः ।

इति मत्वा न कर्तव्यो, घोरप्राणिवधो बुधैः ॥”

अन्यच्च—

“अहिंसा परमो धर्मो, हिंसा सर्वत्र निन्दिता”

इति श्लोकमर्धमभ्यस्य स्वमनसि सदैव दयैव धारणीया, यदि कोऽपि लोभावशेन रसनातृप्तये धनार्जनाशया विजयाभिलाषेण च आमोदप्रमोदार्थं जन्तून्निहन्यात्तदा तेषां नरकपतनमवश्यं भावि । पातञ्जलयोगदर्शनादावपि चाहिंसायामेव प्रमुखत्वम्, यथाह—

“अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः”

अहिंसा—सत्यमित्यादियमास्तेषां मध्येऽहिंसैव प्राथमिकी;

युनश्च—

“वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्”

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदु-  
मध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।

तथा चान्यदपि—

“अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधाने वैरत्यागः ।” तद्विपक्षिणी हिंसा  
तस्य लक्षणं यथा—

“प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा”

प्रमत्तो यः कायवाचनयोगैः प्राणव्यपरोपणं करोति सा हिंसा ।  
हिंसा, मारणं, प्राणातिपातः, प्राणवधो, देहान्तरसंक्रामणं, प्राणव्यपरोप-  
पणमित्यनर्थान्तरम् । न हिंसाऽहिंसा । इति तत्त्वार्थसूत्रम्, तथा च  
योगसूत्रस्य व्यासकृतभाष्येऽपि ‘तत्राऽहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूता-  
नामभिद्रोहः ।’

तथैव याज्ञवल्क्यसहितायाम्—

“कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा,  
अक्लेशजनन प्रोक्तमहिंसत्वेन योगिभि ।”

तस्या स्मृतावाचाराध्याये—

“अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।

दान दया दम शान्ति, सर्वेषा धर्मसाधनम् ॥

“मा हिंसीऽपुरुष जगदिति” यजुर्वेदसहिताया षोडशोऽध्याय-  
स्मृतीयमन्त्रः ।

मा हिंसात् सर्वाभूतानीति ‘शतपथे’ ।

तथा च मनुः—पंचमाध्याये

“धोऽहिंसकानि भूतानि, हिनस्त्यात्महितेच्छया,

स जीवैश्च मृतश्चैव, न क्वचित्सुखमेधते” ॥ ४५ ॥

पुनश्च मनुः—

“धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।

अहिंसा सत्यमक्रोधो, दशक धर्मलक्षणम् ॥”

तथा च महाभारते—

“अहिंसा परमो धर्मो हिंसाऽधर्मस्तथाविध ।

सत्य तेऽहं प्रवक्ष्यामि, यो धर्म सत्यवादिनाम् ॥”

धार्मिजनानामुत्कृष्टं आधमिकं धर्मन्त्वाहिसैवेति वक्ष—

“अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दम ।

अहिंसा परम दानमहिंसा परम तप ॥”

“अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।

अहिंसा परम मित्रमहिंसा परम सुखम् ॥”

“सर्वयज्ञेषु वा दानं, सर्वतीर्थेषु वा स्तुतम् ।  
सर्वदानफलं वापि, नैव तुल्यमहिंसया ॥”

तथाहि नियमसारे—

कुलजोणिजीवमरण-ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं ।  
तत्सारंभनियत्तणपरिणामो होइ पदमवदं ॥ ५६ ॥  
कुलयोनिजीवमार्गणास्थानेषु ज्ञत्वा जीवानाम् ।  
तत्सारंभनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ॥ ५६ ॥

कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणस्थानविकल्पाश्च प्रागेव प्रतिपादितास्तत्रैव तेषां भेदान् बुध्वा तद्रक्षापरिणतिरेव भवत्यहिंसा । तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो नास्ति । अतः प्रयत्नपरेऽहिंसाव्रतं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिना—

“अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,  
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।  
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,  
भवानेवात्याक्षीन्न हि विकृतिवेषोपधिरतः ॥”

मुनीनामहिंसा सर्वथा पालनीया-हिंसायाः फलं दुष्परि-  
णामात्मकं परिजानीहि यथा—

“पशुकुष्ठिकुणित्वादि, दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः ।  
निरागञ्जसजन्तूना, हिंसा सकल्पतस्त्यजेत् ॥”  
“आत्मवत्सर्वभूतेषु, सुखदुःखे प्रियाप्रिये,  
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां, हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥”

यदाहुर्लोकिका अपि ।

“श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।  
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥”

राज्यादधिकं प्राणाः प्रियाः । यथा—

“प्राणी प्राणितलोभेन, यो राज्यमपि मुञ्चति ।  
तद्वधोत्थमघं सबोर्वादानेऽपि न शाम्यति ॥”  
“मार्यमाणस्य हेमाद्रिं, राज्यं वाऽथ प्रयच्छतु ।  
तदनिष्टं परित्यज्य, जीवो जीवितुमिच्छति ॥”  
“दीर्यमाणः कुशेनापि, यः स्वांगे हन्त दूयते ।  
निर्मन्तून् स कथं जन्तुनन्तयेन्निश्चितायुधैः ॥”

तथोक्तं—

“रसातलं यातु यदत्र पौरुषं, क नीतिरेपाऽक्षरणो ह्यदोषवान् ;  
निहन्यते यद्दलिनातिदुर्ज्वलो, हहा महाकष्टमराजकं जगत् ॥”  
पुनश्च—“प्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि, देही भवति दुःस्वितः ।  
मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः स कथं भवेत् ॥”

पुनरपि हिंसकाञ्छिन्दति—

“कुण्ठिर्वरं वरं पंगुरशरीरी वरं पुमान् ।  
अपि सम्पूर्णसर्वांगो, न तु हिंसा परायणः ॥”

स्वार्थिकी हिंसाऽपि हानीया, यथा—

“हिंसा विनाय जायेत, विप्रशान्त्यै कृतापि हि ।  
कुलाचारधियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी ॥”  
“अपि वंशक्रमायातां, यस्तु हिंसां परित्यजेत् ।  
स श्रेष्ठः सुलस इव, कालसौकरिकात्मजः ॥” .



॥ हिंसां कुर्वन्न विशोधयति निजात्मानम् ॥

“दमो देवगुरुपास्त्रिर्दानमध्ययनं तपः ।

सर्वमप्येतदफलं, हिंसां चेन्न परित्यजेत् ॥”

॥ शास्त्रे सूक्ष्महिंसां धर्मार्थं प्ररूपकोऽपि कुशास्त्रः ॥

“विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः, पाल्यते नरकावनौ ।

अहो नृशंसैर्लोभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥”

अहिंसामाहात्म्यम्—

“मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणीः ।

अहिंसैव हि संसारमराचमृतसारिणिः ॥”

“अहिंसा दुःखदावाग्निमावृष्यघनावली ।

भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधिः ॥”

अस्याः फलम्

“दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता ।

अहिंसायाः फलं सर्वं, किमन्यत्कामदैव सा ॥”

अत्रान्तरे—

हेमाद्रिः पर्वतानां हरिरमृतमुजां चक्रवर्ती नराणां,

शीतांशुज्योतिषां स्वस्तरुवतिरुहां चण्डरोचिर्ग्रहाणाम् ॥

सिन्धुस्तोयाशयानां जिनपतिरसुरामर्त्यमर्त्याधिपानां,

यद्वृद्धद्वृतानामधिपतिपदवीं यात्यहिंसा किमन्यत् ॥

अत एव प्राणवियोगानुकूलो व्यापारो हिंसा सर्वशास्त्रे निषिद्धः । जैनेरपि प्राणिनामतिपातो दुःखं प्राणातिपातो विरतिरूपः सर्वतः शून्यां, देशतः श्रावकाणां चेति भावः । जीवानां जीवनवद्भवत्वात् यथाऽऽह—

“दीयते म्रियमाणस्य, कोटिर्जीवितमेव वा, . . . . .

धनकोटिं परित्यज्य, जीवो जीवितुमिच्छति ॥”

अत्राभयदानप्रदानप्राधान्यख्यापनार्थमुदाहरणं चेदम् ।

वसन्तपुरेऽरिदमननामा राजाऽऽसीत् स कदाचित्प्रासादस्यो  
हि चतुर्वधूसमेतश्च क्रीडति स्म । ताभिरपि स्वस्वकलाभिर्महीषं  
प्रमोदयित्वा वरो लब्धः । पुनश्च राज्ञीभी राज्ञि स वरो न्यासीकृतः ।  
एकदा कश्चिच्चौरो रक्तश्यामकरवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानः प्रहत-  
वध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः राजपत्नीभिर्दृष्टो नृपेण सह दृष्ट्वा  
च पृष्टं, ‘किमनेनाकारी’ति तदैकेन राजपुरुषेणावेदितं, यथानेन परद्र-  
व्याघपहारेण राजविरुद्धं धर्मविरुद्धं च कर्म कृतं तस्य परिणामस्वरूपो  
राज्ञा प्राणदण्डो दत्तश्चास्ते, ततस्तन्मध्य एकया महत्या राज्ञ्या नृप-  
पार्श्वे पूर्वदत्तो वरो याचित एकदिनं चोरोऽयं मोच्यो, यथाऽहमुप-  
करोमीति । वरं प्राप्य च भोजनादिना स्वागतं कृत्वा स्वर्णखण्डसहस्र-  
दानैस्तुष्टीकृतः सः । द्वितीयदिने द्वितीयया लक्षधनैः सत्कृतः । तृती-  
यया कोटिमितैः स्वागतीकृतः । चतुर्थ्या तु राजानुमत्याऽऽमरणाद्र-  
क्षितः । अभयवचनं दापितमभयदानेन ततस्तास्तामुपहस्तादुः । त्वयास्य  
किं दत्तम् । तयोक्तं मया यद्दत्तं तत्काभिरपि न दत्तं । एवं तासां  
पारस्परिकेऽधिकोपकारविषये विवादे न्यायार्थं राजाऽऽकारितस्ततो  
राज्ञोपगम्य ॥ कलहकारणं पृष्टं, तदा ताभिरावेदितं, अस्माकं मध्ये  
केनाधिकमुपकृतम् । राजा स एव चोर आहृतः पृष्टश्चेति यथा त्वया-  
कस्या उपकारोऽस्मानितः । तेनाऽभाणि, ‘चतुर्थ्या मात्राऽभयं दापयित्वा  
निर्भयः कृतः’ । अतस्तस्या बहूपकारं मन्ये, सर्वदानानां मध्येऽभय-  
दानस्यप्रधानत्वात् ।

तथा च सत्येषु चाक्येषु यदनवद्यं पापरहितं परपीडाऽनुत्पादकं  
वचनं तच्छ्रेष्ठं वदन्ति । यथाह दशवैकालिके—

“तदेव काणं काणेति, पंडगं पंडगं ति वा  
वाहियं वावि रोमिति; तेण चोरेति नो-वण् ।”-

तथा च मनुः ।

“सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।

प्रियं तन्नानृतं ब्रूयादिति” ।

एवमेव तत्वार्थसूत्रे—

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥ ७ ॥

असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गर्हा च । तत्र सद्भावप्रति-  
षेधो नाम सद्भूतनिन्दवोऽभूतोद्भावनं च । तद्यथा नास्त्यात्मा,  
नास्तिपरलोकः, इत्यादि भूतनिन्दवः । श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा  
अंगुष्ठपर्वमात्रोऽयमात्मा, आदित्यवर्णो, निष्क्रिय इत्येवमाद्यमभूतो-  
द्भावनम् । अर्थान्तरं यो गां ब्रवीत्यश्वमश्वं च गामिति । गर्हेति हिंसा-  
पारुष्यपैशुन्यादियुक्तं वचः सत्यमपि गर्हितमनृतमेवास्तीति भावः ।

एतन्मध्य एतत्प्रमाणानि—यथा—

“क्रोधलोभमदद्वेषरागमोहादि कारणैः, असत्यस्य परित्यागः  
सत्याणुव्रतमुच्यते ।” “हासकर्कशपैशुन्यनिष्ठुरादिवचो मुचः । द्विती-  
याणुव्रतं पूतं, लमंते देहिनः स्थितिम् ॥”

“यद्वदन्ति शठा धर्मं, यन्लेच्छेप्यपि निन्दितम् ।

वर्जनीयं त्रिधा वाक्यमसत्यं तद्धितोद्यतैः ॥”

पुनर्यत्रासत्यप्रसंगः समजनि तत्र मौनं कार्यं परमसत्यं न  
वाच्यं, यथा हि सागारधर्मा मृते—

“आवश्यके मलक्षेपे, पापकार्ये च वान्तिवत्,  
मौनं कुर्वीत शब्दहा, मूयो वाग्दोषविच्छिदे ।”

मौनमाहात्म्यं यथा—

“सन्तोषं भाव्यते तेन, वैराम्यं तेन दृश्यते ।

संयमः शोष्यते तेन, मौनं येन विधीयते ॥”

“लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम् ।

ततश्च समवाप्नोति, मनः सिद्धिं जगन्त्रये ॥”

“वाणी मनोरमा तस्य, शास्त्रसन्दर्भगर्भिता ।

जादेया जावते येन, क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥”

“पदानि यानि विघ्नन्ते, वन्दनीयानि कोविदैः ।

सर्वाणि तानि लभ्यन्ते, प्राणिना मौनकारिणा ॥”

“न सार्धकालिके मौने, निर्वाहव्यतिरेकतः ।

उद्योत्तनं परं प्राज्ञैः, किञ्चनापि विधीयते ॥”

सत्याणुव्रतरक्षणार्थमाह—

“कन्यागोक्ष्मालीककूटसाक्ष्यन्यासापलापवत् ।

स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥”

नियमसारेऽप्येवम्—

“रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा नोत्तभासऽपरिणामं ।

जो पञ्चहृदि साहु सया विदियवयं होइ तस्तेव” ॥ ५७ ॥

{ रागेण वा द्वेषेण वा मृषाभाषा परिणामं ।

{ यः प्रजहति साधुः सदा द्वितीयमतं भवति तस्यैव }

अत्र मृषापरिणामः सत्यप्रतिपक्षः, स. च. रागेण वा द्वेषेण वा

मोहेन वा जायते तदा यः साधुः आसन्नमव्यजीवस्त्वं परिणामं परित्यजति तस्यैव द्वितीयं व्रतं भवतीति ।

“व्यक्तिव्यक्तं सत्यमुच्चैर्जपन् यः । स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात् ॥  
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः, सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ॥”

अलीकफलमुपदर्शयति यथा—

“मन्मनत्वं काहलत्वं, मूकत्वं मुखरोगिताम् ।

वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालीकाद्यसत्यमुत्सृजेत् ॥”

“मूकाजडाश्च विकला, वाग्धीना वाग्जुगुप्सिताः ।

पूतिगन्धमुखाश्चैव, जायन्तेऽनृतभाषिणः ॥”

पुनश्च प्रतिषेधमाह—

“सर्वलोकविरुद्धं यद्यद्विधिसितघातकम् ।

यद्विषयश्च पुण्यस्य, न वदेत्तदसूतम् ॥”

पुनश्च—

“असत्यतो लघीयस्त्वमसत्याद्वचनीयता ।

अधोगतिरसत्याच्च, तदसत्यं परित्यजेत् ॥”

“असत्यवचनं प्राज्ञः, प्रमादेनापि नो वदेत् ।

श्रेयांसि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमाः ॥”

॥ यदाहुर्महर्षयः सत्यम्भवाः, दशवैकालिके ॥

“अइअम्मि य कालम्मि, पञ्चुप्पण्णमणागए,

जमहं तु न जाणेज्जा, एवमेअं ति णो वए ॥”

{ अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते,

{ यमर्थं तु न जानीयात्, ‘एवमेतत्’ इति नो वदेत् । }

“अहमस्मि य कालस्मि, प्यक्षुष्यणमणागए ।  
 जत्थ संका भवे तं तु, एवमेअं ति णो वए ॥”  
 “अतीने च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते, ॥  
 यत्र शका भवेत्तु, ‘एवमेतत्’ इति नो वदेत् ॥”  
 { अहमस्मि य कालस्मि, प्यक्षुष्यणमणागए  
 निस्सकिअं भवे जं तु, एवमेअं तु निदिसे । }  
 “अतीति च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते ॥  
 निदशंकितं भवेत्तु, ‘एवमेतत्’ तु निदिशेत् ॥”

पुनरप्यैहिकान् दोषानाह—

“असत्यरचनाद्वैरविपादाप्रत्ययादयः ।  
 प्रादुःपन्ति न के दोषाः, कुपय्याद्याधयो यथा ॥”  
 “निगोदेष्वपि तिर्य्यक्षु, तथा नरकवासिषु ।  
 उत्पद्यन्ते मृषावादप्रसादेन शरीरिणः ॥”  
 “अल्यादपि मृषावादादौरवादिषु संभवः ।  
 अन्यथा वदतां जैर्ना, वाचं त्वहह का गतिः ॥”  
 “ज्ञानचारित्रयोर्मूलं, सत्यमेव वदन्ति ये ।  
 धात्री पवित्री क्रियते, तेषां चरणरेणुभिः ॥”  
 “अलीकं ये न भाषन्ते, सत्यनतमहापनाः ।  
 नापराद्भ्रमलं तेभ्यो, मृतमेतोरगादयः ॥”  
 “शिखी मुण्डी जटी नम्रधीवरी यस्तपस्यति ।  
 सोऽपि मिथ्या यदि श्रूते, गिन्यः स्यादन्त्यजादपि ॥”  
 “एकत्रासत्यजं पापं, पापं निदशोपमन्यतः ।  
 द्वयोस्तुल्याविपृतयोरापमेवातिरिच्यते ॥”

“पारदारिकदस्यूनामस्ति काचित्प्रतिक्रिया ।

असत्यवादिनः पुंसः, प्रतीकारो न विद्यते ॥”

“कुर्वन्ति देवा अपि पक्षपातं, नरेश्वराः शासनमुद्बहन्ति ।

शीती भवन्ति ज्वलनादयो यत्तत् सत्यवाचां फलमामनन्ति ॥”

तथा च ज्ञानार्णवेऽप्याह—

“यः संयमधुरां धत्ते, धैर्यमालम्ब्य संयमी,

स पालयति यत्नेन, वाग्बने सत्यपादपम् ॥”

“अहिंसाव्रतरक्षार्थं, यमजातं जिनैर्मतम् ।

नारोहति परां कोटिं, तदेवासत्यदूषितम् ॥”

“असत्यमपि तत्सत्यं, यत्सत्त्वाशंसकं वचः ।

सावद्यं यच्च पुष्याति, तत्सत्यमपि निन्दितम् ॥”

“अनेकजन्मक्लेशानां, शुद्ध्यर्थं यस्तपस्यति ।

सर्वं सत्वहितं शश्वत्स ब्रूते सूनृतं वचः ॥”

“सूनृतं करुणाकान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।

अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं, वचः शास्त्रे प्रशस्यते ॥”

“मौनमेव हितं पुंसां, शश्वत्सर्वाथंसिद्धये ।

वचो वाचि प्रियं तथ्यं, सर्वसत्वोपकारि यत् ॥”

“असद्बुद्धनवल्मीके, विशाला विषसर्पिणी,

उद्वेजयति वागेव, जगदन्तर्विपोल्यणा ॥”

“घृष्टैरपि न वक्तव्यं, न श्रोतव्यं कथंचन ।

वचः शंकाकुलं पापं, दोषाढ्यं चाभिसूयकम् ॥”

“मर्मच्छेदि मनःशल्यं, च्युतसैर्यं निरोधकम् ।

निर्दयं च वचस्त्याज्यं, प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥”

“धर्मनाशे क्रियाध्वंसे, बुसिद्धान्तार्थविभुवे ।

अष्टैरपि वक्तव्यं, तत्त्वरूपप्रकाशने ॥”

“था मुहुर्मोहयत्येव, विश्रान्ता कर्णयोर्जनम् ।

विषमं विपमुत्तज्य, साऽवश्यं पद्मगी न गीः ॥”

“न तथा चन्दनं चन्द्रो, मणयो मालतीस्रजः ।

कुर्वन्ति निर्घृतिं पुंसां, यथा वाणी श्रुतिप्रिया ॥”

“अपि दावानलशुष्टं, शाङ्गलं जायते वनम् ।

न लोकः मुचिरेणापि, जिह्वानलकदर्थितः ॥”

“सतां विज्ञाततत्वानां, सत्यशीलावलम्बिनाम् ।

चरणस्पर्शमात्रेण, विशुद्भवति धरातलम् ॥”

“नृजन्मन्यपि यः सत्यप्रतिज्ञामच्युतोऽधमः ।

स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपश्चात्परिप्यति ॥”

“स्रण्डितानां विरूपाणां, दुर्विधानां च रोगिणाम् ।

कुलजात्यादिहीनानां, सत्यमेकं विभूषणम् ॥”

“न हि स्वप्नेऽपि संसर्गमसत्यमलिनैः सह ।

कश्चित्करोति पुष्पात्मा, दुरितोल्लुक्शंकाया ॥”

“मुत्तत्त्वजनदारादिवित्तबन्धुकृतेऽथवा ।

आत्मार्थे न वचोऽसत्यं, वाच्यं प्राणात्ययेऽपि च ॥”

इत्यादिप्रमाणैः सत्यमनवयं पापरहितमेव श्रेष्ठम् ॥

( अथ ब्रह्मचर्यमाह— ) . . .

तपसु चेच्छया निरोधन्यापारेषु द्वादशप्रकारेषु मध्ये यथेवोत्तमं  
नवविधब्रह्मचर्यगुप्त्युपेतं ब्रह्मचर्यं प्रधानं भवति । कमनीयकामिनी-  
मनोहराग्निरीक्षणद्वारेण समुपजनितकौतूहलचित्तवान्छापरित्यागेनाथवा



स्ववेदोदयाभिधाननोकपायतीन्द्रोदयेन संजातमैथुनसंज्ञापरित्यागलक्षण-  
शुभपरिणामेन च ब्रह्मचर्य्यं श्रेष्ठं भवति सर्वेषु तपस्त्विति भावः ।

आह च—

“भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूति, सरसि मनसि कामिस्त्वं  
तदा मद्रचः किम् ; सहजपरमतत्वं स्वस्वरूपं विहाय व्रजसि विपुलमोहं  
हेतुना केन चित्तम् ।”

॥ अन्नद्वयोः यथा— ॥

“सन्तापरूपो मोहांगसादतृष्णानुबन्धवृत् ।

स्त्रीसम्भोगस्तथाप्येष, सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥”

॥ परदाररतौ सुखाभावः, अनायुष्यकारित्वं च ॥ यथा—

“न हीदृशमनायुष्यं, लोके किञ्चन विद्यते ।

यादृशं पुरुषस्येह, परदाराभिमर्शनम् ॥”

अथ ब्रह्मचर्य्यमाहात्म्यमाह—

“स्वस्त्रीमात्रेऽपि सन्तुष्टो, नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रियः सदा ।

सोऽप्यद्भुतप्रभावः स्यात्किं वर्ण्यं वर्णिनः पुनः ॥”

॥ ब्रह्मचारिणीं सतीं दृष्टान्तेन स्पष्टयति— ॥

“रूपैश्वर्य्यकलावर्य्यमपि सीतेव रावणम् ।

परपूरुषमुञ्जन्ती, स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥”

अन्यच्च तत्त्वार्थसूत्रे—

‘ स्त्रीमैथुनमब्रह्म— ॥ ११-७

स्त्रीपुंसयोर्मैथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुनं, . . .

तदब्रह्म—

अन्यथापि—

“भातृस्वस्त्यमुतातुल्या, निरीक्ष्य परयोपितः ।

स्वकलत्रेण यस्तोपध्वतुर्थं तदणुव्रतम् ॥”

“दुःस्नानां निधिरन्यस्त्री, सुस्नानां प्रल्यानलः ।

व्याधिवहुःखवत्याग्वा, दूरतः सा नरोत्तमैः ॥”

“स्वभर्तारं परित्यज्य, या परं याति निस्वपा ।

विश्वासं श्रयते तस्यां, कथमन्यः स्वयोपिति ॥”

“किं सुखं लभते मर्त्यैः सेवमानः परस्त्रियम् ।

केवलं कर्म वध्नाति, श्वभ्रभूम्यादिकारणम् ॥”

यतः—

“विन्दन्ति परमं ब्रह्म, यत्समालम्ब्य योगिनः ।

तद्गतं ब्रह्मचर्यं स्याद्दीरधीरेयगोचरम् ॥”

“एकमेव मतं श्लाघ्यं, ब्रह्मचर्यं जगन्नये ।

यद्विशुद्धिं समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥”

तन्मते दशधा मैथुनम्—

“आद्यं शरीरसंस्कारो, द्वितीयं वृष्यसेवनम्,

तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्, ससर्गस्तुष्यमिष्यते ।

योषिद्विषयसंकल्पः, पञ्चमं परिकीर्तितम् ।

तदंगवीक्षणं षष्ठं, संस्कारः सप्तमं मतम् ॥”

“पूर्वानुभोगसम्भोगस्तरणं स्यात्तदष्टमम् ।

नवमं भाविनीचिन्ता, दशमं वस्त्रिमोक्षणम् ॥”

“किम्पाकफ़लसभोगसन्निभं तद्वि मैथुनम् ।

आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽप्यन्तर्भातिदम् ॥”

- “विरज्यं कामभोगेषु, ये ब्रह्म समुपासते ।  
एते दश महा दोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥”  
“सिक्तोऽप्यम्बुधरघातैः, घ्रावितोऽप्यम्बुराशिभिः ।  
न हि त्यजति सन्तापं, कामवह्निप्रदीपितः ॥”  
“मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने, व्यभ्रे नमसि भास्करः ।  
न प्रोपति तथा लोकं, यथा दीप्तः सरानलः ॥  
“हृदि ज्वलति कामाग्निः, पूर्वमेव शरीरिणाम् ।  
भस्मसाल्कुरुते पश्चादंगोपाङ्गानि निर्दयः ॥”  
भोगिदंष्टस्य जायन्ते, वेगाः सप्तैव देहिनः  
“सरभोगीन्द्रदंष्टानां दश स्युस्त भयानकाः ॥”

इमे ते दश—यथा—

- “प्रथमे जायते चिन्ता, द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।  
तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥”  
“पंचमे दहते गात्रं, षष्ठे भक्तं न रोचते ।  
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा, उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥”  
“नवमे प्राणसन्देहो, दशमे मुच्यतेऽमुभिः ।  
एतेर्वर्गः समाक्रान्तो, जीवस्वत्वं न पश्यति ॥”  
“नासने शयने याने, स्वजने भोजने स्थितिम् ।  
क्षणमात्रमपि प्राणी, प्राप्नोति सरशल्यतः ॥”  
“दक्षो मूढः क्षमी क्षुद्रः, शूरो नीरुल्लेखुर्गुरुः ।  
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो, जनः स्यात्सरखंचितः ॥”  
“यदि प्राप्तं त्वया मूढ !, नृत्वं जन्मोत्संक्रमात् ।  
तदा तत्कुरु येनेयं, सरज्वाला विलीयते ॥”

इदानीमामुष्मिकमैहिकं चात्रह्यफलमुपदर्श्य गृहस्योचितं  
पुनरपि ब्रह्मचर्य्यव्रतमाह—

“वपुस्त्वमिन्द्रियच्छेदं, वीक्ष्याऽव्यसफलं मुषीः ।

भवेत्स्वदारसन्तुष्टोऽन्यदारान् वा विवर्जयेत् ॥”

“रम्यमापातमात्रे यत्परिणामेऽतिदारुणम् ।

किम्पाकफलसंकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥”

“यद्यपि निषेव्यमाणा, मनसः परितुष्टिकारका विषयाः ।

किम्पाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ताः ॥”

“कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा, अमिर्गानिर्बलक्षयः ।

राजयक्ष्मादिरोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ॥”

“योनियग्नसमुत्पन्नाः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः ।

पीड्यमाना विषयन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ॥”

योनौ जन्तुसद्भावं वात्स्यायनः कामशास्त्रकारोऽप्याह ।

वात्स्यायनश्लोको यथा—

“रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा, मृदुनध्याधिश्चकयः ।

जन्मवर्त्मसु कण्डूति, जनयन्ति तथाविधाम् ॥”

कामज्वरचिकित्साधर्मौषधमिच मैथुनसेवनमिति यो मन्येत  
तं प्रत्याह—

“स्त्रीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।

स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति ॥”

इतर अप्याहुः—

“न ज्ञातु कामः कामानामुपभोगेन शम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मैव, मूय एवाग्निवर्धते ॥”

॥ स्त्रियाऽपि परपुरुषो भुजग इव त्याज्यः ॥

“ऐश्वर्य्ये राजराजोऽपि रूपे मीनध्वजोऽपि यः ।  
सीतया रावण इव, त्याज्यो नार्य्या नरः परः ॥”

पुनश्च—“प्राणभूतं चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम् ।  
समाचरन् ब्रह्मचर्य्यं, पूजितैरपि पूज्यते ॥”

यतः—“चिरायुषः सुसस्थाना, दृढसंहनना नराः ।  
तेजस्विनो महावीर्य्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्य्यतः ॥”

एतैर्ज्ञायते ब्रह्मचर्य्यमाहारम्यम् ॥

तथैव सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा सर्वातिशायिन्या क्षायकज्ञानदर्शन-  
शीलैर्ज्ञातपुत्रो ज्ञातनन्दनोऽन्तिमजिनः श्रमणः प्रधानः ॥ यतो भगवतो  
महावीरस्य बहूनि नामानि सन्ति । यथा—

“समणे भगवं महावीरे नाते, नातपुत्रे, नातकुलनिघृते,  
विदेहदित्रे, विदेहजघ्ने, समणे भगवं महावीरे, कासवगोत्रे, अम्भा-  
पियुसंतिषु बड्ढुमाणे, सह सम्मुदिषु समणे, भीमभयभेरवं ओरालं  
अचेल्यं परिसहं सहइत्तिकट्टु देवेहिं से नाम कयं समणे भगवं  
महावीरे ॥ श्रीआचाराङ्गसूत्रम्-११, १५, १६-१७

“एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे  
अरहा णायपुत्ते भगवं, वेसालिए वियाहिए” ।

( श्री सूयगडांगसूत्रम् १-२ )

भगवतो महावीरस्य ज्ञातवंशो यथाऽऽह सिद्धान्ते ।

“छविहा कुलारिया मणुस्ता प० तं० उग्गा, भोगा, राइण्णा,  
इक्खागा, णाता, कोरखा” ॥ ( श्री टाणांग सूत्रम् ४९७ ),

“जात्यार्या, इश्वाकवो, विदेहा, हरयोऽश्याष्टा, शाताः कुरवो,  
सुंयुनाला, उभा, भोगा, राजन्या इत्येवमादयः क्षत्रिया आर्यकुलोद्भवाः” ॥

(तन्त्रार्थसूत्रम् ३-१५)

ज्ञातस्त्रण्डोद्यानोऽपि ज्ञातवंशस्य परिचयमादत्त, यथा—

“बहिया यं ‘णायसंडे’ आपुच्छिताण णायरं सरे ।

दिवसे मुहुत्तसेसे कमाणामं समणुपत्तो ॥”

(आवश्यकचूर्णं पृ० २६७)

पुनश्च—

“उत्तरसप्ततियकुण्डपुरसंनिवेशस्त मज्जेणं निगच्छति र षां लेणेव  
‘णायसंडे’ उज्जाणे तेणे व उवागच्छइ.....महार्वारे लोयं  
करेइ ।”

(श्री आचारांगसूत्र २-१५-८)

श्रीहेमचन्द्राचार्योऽपि परिशिष्टपर्षणि ज्ञातनन्दनमिति शब्दप्रयोगं  
कृत्वा प्रणमस्करोति, यथा—

कल्याणपादपारामं, श्रुतगंगादिमाचलम्,

विध्याम्भोजरधि देवं, वन्दे श्रीज्ञातनन्दम् ॥

इत्यादिप्रमाणैर्भगवान् महारीरो ज्ञातवंशमलंकृतवान् ।

अन्वयार्थ—प्रेषे [ दाणाप ] दान-धर्मं [ अभयप्रदान ] अभयदान  
[ घेठुं ] घेठ दे, [ वा ] और [ तथेसु ] दातोमे [ अपरबं ] पाप रहित-दुःखरोधी  
पीय न देनेवाला गता-बचन [ वा ] और [ तथेसु ] सब तपोमे [ बंधपेरे ]  
प्रद्वन्द्वो [ उत्तम ] अष्ट [ रसंति ] करा दे, उही प्रद्वर [ गन्ते ] दवाउ-  
धमप [ पायपुसे ] शत्रु-शुभ्र-महारीर [ मोपुतने ] लोडने ] घेठ वे ॥ २३ ॥

भाषार्थ—म परके दितेकेडेए किहीसुस निधम अंग करवा  
दान दे, दान अनेक प्रकारस होनेपर नी ‘अभयदान’ सब दानोमे उत्तम दे,

इसी प्रकार सत्य भी अनेक प्रकारका है, तथापि दूसरेको जिस सत्यसे पीटा न हो ऐसा सत्य-प्रियसत्य उस सत्यसे अच्छा है जिससे दूसरोंको पीडा हो, और सब तर्कोंमें ब्रह्मचर्य तप सर्वोत्कृष्ट है, उसी प्रकार भगवान्-महावीर भी लोकमें सर्वोत्तम थे ॥ ३३ ॥

**भाषा-टीका**—अपनी और आँरोंकी उन्नति तथा भलाईके लिए जो परोपकारकी दृष्टिसे दिया जाय उसे दान कहते हैं। या अपने अधिकारको वस्तु-मेंसे हटा कर जिस वस्तु पर किसी अन्यको अधिकार देदेना भी दान कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ तो धृदा और प्रतीति के साथ भक्ति भाव पूर्वक, परिग्रहका ममत्व भाव छोड़कर कर्मोंकी निर्जराके लिए अनुकम्पासे तथा मन, वचन, क्रयकी शुद्धिसे फलकी इच्छा न रख कर दाता जिस पात्रमें कुछ पवित्र वस्तु देता है उसीका नाम दान है।

और वह अन्नदान, औषधदान, ज्ञानदान, अभयदानके भेदसे चार प्रकारका है। परन्तु उन सबमें प्राणियोंका भय हटा कर उन्हें सर्वथा निर्भय करदेना ही सर्वोत्तम दान अभयदान माना गया है। क्योंकि आत्मानें दश प्राण होने से प्राणी कहलाता है। जीवित रहनेकी इच्छा या जीवित रहना ही इसका संभाव रहनेसे इसकी 'जीव संज्ञा' है। दशप्राण 'द्रव्य प्राण' है और 'भाव प्राण' अनन्त चतुष्टय कहलाते हैं, वास्तवमें यह जीव तीनों कालमें इन्हीं प्राणोंसे जीवित रहता है। अतः सब जीव जीवित रहनेकी इच्छा रखते हैं मरना कोई नहीं चाहता, किसीको मरना अभीष्ट नहीं है। अतः जीवित रहनेके अभिलाषुओंको 'अभय' दान देकर इनका सब प्रकारसे रक्षण करना मनुष्यका श्रेष्ठतम कर्तव्य है।

कहा भी है कि—“जिस प्रकार मुझे अपने प्राण प्रिय हैं उसी प्रकार अन्य देह धारियोंको भी अपना जीवन प्रिय है। स्वर्गका निवासी इन्द्र और विष्टकम कीडा, महलमें रहने वाला राजा और झोंपडीमें रहने वाला गरीब ढकड़हारा समान जीवन चाहते हैं। यह समझ कर किसी भी प्राणीके 'मन' नामक प्राणको भी कष्ट न देना चाहिए।”

“क्योंकि अहिंसा परम धर्म है, हिंसा सब जगह पर निन्दित की गई है, यह स्वयंको प्रिय न होने के कारण आँरों को भी अप्रिय है। क्योंकि अपनी और आँरों की मनोदशामें कोई अन्तर नहीं है। अतः चतुर मनुष्य अपने मनमें

नियमसार—“कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गणा स्थान इत्यादि भेदोंको भङ्गि भान्ति जान कर जीव रक्षा करनेके भावको ‘अहिंसा’ कहते हैं। जीवोंकी मृत्यु होती है या नहीं इस प्रकारके विचारमें लगे हुए परिणामके सुधारके बिना पाप हिंसा रूप कियावा त्याग होना कठिन है, अतः इस रक्षाके प्रयत्नमें लगना ‘अहिंसा’ है।”

समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—“जगत् में इसे सब जानते हैं कि—अहिंसा परब्रह्म स्वरूप है, अर्थात् आत्माकी वीतरागता ही अहिंसा है, जहा वीतरागता है, वहीं आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, जिस आधमके चरित्रमें अणुसात्र भी आरंभ नहीं है वही यह पूर्ण अहिंसा प्राप्त होती है। आशय यह है कि आदर्श पुरुषोक्त सच्चरित्र रूप आचरण ही अहिंसा है, अतः अहिंसाकी सिद्धिके लिए ही परम दयालु प्रभुने आरंभ और परिग्रहको स्थान दिया। प्रभु विकार शील वेश और परिग्रहमें अनुरक्त नहीं थे। क्योंकि जहां परिग्रहकी आसक्ति नहीं है वहां ही ऊंचे दर्जेका अहिंसा धर्म है। ‘जिनधर्म की जय’ इसी लिए बोलते हैं कि इसमें पूर्ण ‘अहिंसा’ का पालन किया जाता है। यहीं धरा जीवमय घात करनेवाले विचारोंको जड़ भूलसे हटानेका कारण है। तथा ‘पंच धय’ रूप इकेन्द्रिय स्थावर जीवोंके नाना प्रकारके होनेवाले बधसे बह बिलजुल दूर है और बह सुन्दर मुखसे भरपूर समुद्रके समान अगाध है।”

“सुनिओक्त कर्तव्य है कि वे सर्वथा अहिंसाका पालन करें, क्योंकि हिंसाका परिणाम दुःखजनक है, जिसे महापुरुषोंने महान् अनुभवसे बताया है। जिनके ये वचनानृत हैं।”

“पैरसे लाचार है, शरीरकी चमकीको फोड़ कर कोठ बाहर टपकने लगा है, हाथ कटे हुए हैं, और भी अनेक रोगोंसे प्रसू है। उसे देख कर समझ लेना चाहिए कि उन्हें यह दासण दुःख अन्य प्राणियोंकी हिंसा करनेसे भुगतना पडा है अतः चतुर पुरुषका यह कर्तव्य है कि—निरपराधजीवकी संकल्पमात्रसे कभी ‘हिंसा’ न करे।”

“सुरदुःखमें, अच्छे घुरेमें, दुःख अनुभूतमें, अपनी आत्माकी तरह अन्य आत्माओंको समझ कर कभी किसीका हिंसा रूप अज्ञिष्ट न करे।”

लोकोका यह मन्तव्य है कि—“धर्मका सम्पूर्ण अंग सुन कर तथा मनमें विवेक रख कर उसका निर्णय पूर्वक यह सार है कि जब मुझे अपने



प्रतिकूल कुछ अच्छा नहीं प्रतीत होता है, तब औरों को उनके प्रतिकूल आचरण कब दृष्ट है।”

“सबको अपने प्राण ही प्रिय हैं, राज्य नहीं”-“प्राणी अपने प्राणोंकी रक्षाके लोभमें राज्य को भी, वृणकी तरह छोड़ देता है। अत एव किसीके प्राणोंका नाश करनेसे जो पाप होता है वह समस्त पृथ्वी दान कर देनेसे भी दूर नहीं होता।”

“मरनेवालेको चाहे राज्य भी प्रदान करो, या सुवर्ण का पहाड़ अर्पण करदो, परन्तु जीवनके सन्मुख वे वस्तुएँ उसे कुछ भी अच्छी नहीं लगती, इसी लिए वह उन सब को छोड़ कर जीवित रहनेकी ‘अपील’ करता है।”

पीडा-“जराया कांटा पैर में लय जाता है, मगर वह सारे अंगों में भारी पीडा उत्पन्न कर देता है, परन्तु जो निरपराध जीवोको तांक्षण शस्त्रसे मौतके घाट उतार देता है, उस मरनेवालेके दुःखका क्या ठिकाना है। उसे तो अवश्य अनिर्वचनीय वेदना होती है।”

“यह कहाँ की नाति है जो अक्षरण, निरपराध, दुर्बल प्राणी बलवान् के द्वारा मारा जाता है, श्राय ! हमें तो कष्ट के साथ कहना पड़ता है कि-जगत् में अराजकता छा गई है, अब यहाँ न्यायको कहाँ स्थान रह गया है।”

“यदि कोई किसीके कानोको यह सुनादे कि तू मरजा ! तब सुननेवाला यह सुनते ही काप उठता है, शरीर भयनीत और दुःखी हो जाता है। जो पैने और कठोर शस्त्रसे किसीको मारने लगता है तब उसकी क्या दशा होती होगी ! उसके दुःख अनुभव सिवाय उसके भला और बौन कर सकता है।”

“हाथका कट जाना अच्छा है; बिना पैर रहना भी कुछ बुरा नहीं, मगर सम्पूर्ण शरीरके अंगोंको पाकर हिंसा करनेवाला पुरुष सर्वथा निवर्त्तमा है, अर्थात् वह किसी ब्रमका नहीं है।”

मतलब साधने की हिंसा भी द्वानिकर है-“विप्रेकी शान्तिके लिए की गई हिंसा भी विप्रेके लिए ही होगी। बहुतसे यह कह चलते हैं कि-हमारे कुलका यही ‘आचार’ चल आता है, मगर वह कुछ कुलकी भलाईके लिए नहीं है, वह तो कुल नाश के लिए ही होगा, शान्तिके लिए नहीं। अपने वंशमें, चली आनेवाली कुलरुमागत हिंसाको जो भी प्राणी छोड़ कर शुद्ध हो

जाता है, वह काल सूर कलाइके पुत्र 'मुल्लस' की तरह सब मनुष्योंमें पवित्र और श्रेष्ठ गिना जाता है ।”

“जो इन्द्रियोंको तो वश रखना चाहता है, तथा देव और गुरु की आत्मीय सेवा करता है, यथा शक्य दान भी देता है, तत्वको पद कर पढाता भी है, तप भी करता है, परन्तु जरासी भी हिंसाको यदि धर्म मान्यतासे कर देता है तब तो उपरोक्त सबकी सब क्रियाएँ निष्फल हैं, अतः सिद्ध हुआकि धर्मके नाम पर की गई हिंसा भयंकर पापकारिणी है ।”

“जिस शास्त्रमें धर्मस्य नाम लेकर हिंसा करनेका उपदेश किया हो वह शास्त्र न होकर कुशास्त्र समझा जाना चाहिए अर्थात् यह शस्त्र है शास्त्र नहीं ।”

“यह कितना आश्चर्य है कि—मनुष्य तक को नार देनेवाले, लोभान्ध होकर पथ भ्रष्ट होजाने वाले, हिंसा विधायक शास्त्र बनाकर, तथा पाप करनेका उपदेश देकर, लोकोंको मूर्ख बना रहे हैं, अन्ध विधवासी बनाकर मानो नरकके कुंडोंमें डाल रहे हैं ।”

**अहिंसाका माहात्म्य**—“अहिंसा माता की तरह सबकी पालिका और हितकारिणी है । अहिंसा ही शत्रुओंके मनमें अमृतका संचार करनेवाली है । अहिंसा दुःखहारी दवानलको बुझानेमें अमोघ और प्रधान मेघ है, संसार भ्रमणा वानी जन्म मरणके रोगसे पीड़ितोंके लिए तो आरोग्यता देनेमें समर्थ 'औषधि' है ।”

**अहिंसाका फल**—“लम्बी आयु, स्वच्छ और सुन्दर रूप, भीरोगता, संसारमें निर्मल यशः कीर्ति, इत्यादि सामग्रिँ अहिंसा पालन करनेके उपलक्षमें ही तो मिली हैं । अधिक क्या कहा जाय अहिंसा सब मनोरथ पूर्ण करनेवाली है ।”

**किसीने ठीक ही कहा है कि**—“पहाड़ोंमें गुमेरु, अमृत पीने वालोंमें देवता, मनुष्योंमें चक्रवर्ती, ज्योतिष् चक्रमें चाद, ठंडी छाया देनेवालोंमें फलदार वृक्ष, ग्रहोंमें सूर्य, जलाशयोंमें समुद्र, गुर-अगुर-मनुष्य तथा चक्रवर्तियोंमें वीतराग के पदवी तरह सब व्रतोंमें 'अहिंसा' को सबसे बड़प्पन तथा प्रधानता प्राप्त है । अर्थात् इससे बड़ कर और बड़ा व्रत क्या हो सकता है ।”

**निष्कर्ष**—इन सब शास्त्रोंका भीलान करनेसे यह शयं सिद्ध हो जाता है कि—हिंसा सब शास्त्रोंमें वर्जित है; जैनेनि तो इसका नाम प्राणविषय कहा है,

जिस का आशय यह होता है कि-किसी के एक-प्राणको भी निरर्थक न दुखाना चाहिए। साधु मुनिराज इसका सम्पूर्ण अंग पालन करते हैं। और गृहस्थ जन इसका एक भाग ही निभा सकते हैं क्योंकि सबको अपना जीवन सब वस्तुओं से अधिक प्रिय है।

जैसे कहा है कि—“यदि मरनेवालेको यह कहा जाय कि—तुम सोनेके ‘एक क्रोड सिक्के’ लेकर हमें अपनी जान मारनेकेलिए कहदो, तब वह धनके डेरको छोड़कर जीवित रहनेकी आशा प्रगट करेगा। क्योंकि जान दे देनेपर उसकेलिए धन किस कामका है। अतः सबको अपना जीवन प्रिय है। इस लिए सब दानोंमें अभय दान श्रेष्ठ है।”

अभयदान पर उदाहरण—“अरिदमन वसन्तपुरका राजा है, वह अपनी चार रानियोंसे निल रंग रलियां करता है। एक दिन उन रानियोंने गान्ध, बजान्ध, नाचना आरंभ किया; राजा उनकी गान्धर्व विद्या पर लडू हो गया और बोला कि आज तुम जो कुछ मांगोगी वही दूंगा। रानियोंने कहा कि इस समय तो हमें किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, कालान्तरमें मांग लेगी, अब हमारा धर अपने पास जमा कर लीजिए; राजाने कहा अच्छा।”

एक बार रानियोंने एक चोरको देखा कि जिसे लाल कपडे, और जूतोंका हार पहिना कर नध्य भूमि ले जाया जा रहा है। रानियोंके साथ राजा भी महल पर टहल रहा था, देखकर उन्होंने पूछा कि प्राणनाथ! इसने क्या अपराध किया है। राजाने उसी समय एक सिपाहीको बुलाकर पुछवाया, उसने कहा कि पृथ्वीनाथ! इसने चोरी जैसा अकार्य करके राज और धर्मके विरुद्ध कार्य किया है, अतः आपनेही तो इसको ‘प्राणदंड’ पानेकी आज्ञा दी है।

यह सुनकर उनमें से एक रानी ने कहा कि प्राणनाथ! आप मेरा ‘धर’ यह दें कि इसे एक दिनके लिये न मारें जिससे मैं इस पर कुछ उपकार कर सकूँ। राजाने कहा “तथास्तु”

रानीने उसे महलमें लिवा कर कहा तुझे आजके लिए बचा दिया है, अतः आज खा पी और मौज कर। यह कह उसका खूब अन्न और वस्त्रसे स्वागत किया, सवेण होने पर उसे एक हजार दीनार देकर अपने महलसे विदाकर दिया।

इसी प्रकार दूसरी और तीसरी रानीने भी एक एक दिन रक्खा और क्रमसे एक लाख और एक क्रोड सोनेके सिक्कोंका पारितोषिक दिया।

मगर चौथी रानीने उसे कुछ भी न देकर उसका वह प्राणदंड का अपराध राजासे कह कर क्षमा करा दिया। तब यह सुन उन तीनोंने कहा कि 'इसे देने क्या दिया है? चौथी रानीने कहा कि मैंने इसे वह वस्तु दी है, जिसे तुम सब मिल कर शत्रुमें भी नहीं दे सकीं। यह गुनकर वे सब क्रुद्ध होकर उसके गले पड़ गईं और बोलीं कि हमने तो उसे क्रोडपति बना दिया है और तुम कहती हो कि हमने इसपर तुमके जितना उपकार भी नहीं किया। चौथीने कहा कि धनसे भी अधिक सबको अपने प्राण प्यारे होते हैं। मैंने इसे प्राणदान दिलाकर सहाके लिए सुखी बना दिया है। अब इसे मरनेका भय नहीं है जिससे मैंने सबसे बड़ा उपकारका कार्य किया है। यदि मेरे कहेका विश्वास न हो तो राजासे इसका न्याय कराना चाहिए। इतना कहनेके बाद राजाको तुरन्त महलमें बुलावाया गया, और रानियोंका वह मुकदमा सुन कर राजाने चोरको बुलाया और पूछा कि भाई! सत्य कह तु किस रानीका अधिक उपकार मानता है।

उसने नम्रतासे फिर झुका कर कहा कि-यो तो सबसे मुझ पर भारी उपकार किया है, मगर चौथी रानीका सबसे अधिक उपकार मानता हूं, क्योंकि उसने अभयदान दिलवाया है। तीनों रानियोंने क्रोडोंका धन भी दिया और एक एक दिन मरनेसे भी बचावा मगर मुझे तो संदेह यही भय बना रहता था कि धनका क्या करुंगा जब कि कल मर जाना है। मगर चौथी रानीने मुझे उसी मौतके सफटये उबारा है। अधमें यावज्जीवन पर्याप्तके लिए निर्भय हूं। अतः इस उपकारको अपने तनका पुरस्कार देकर भी नहीं चुकाया जा सकता। क्योंकि सब दानोंमें अभयदान प्रधानतम है।

सर्वोच्च भाषा सत्य है-इसी प्रकार सत्य वचनोंमें निरवयव, पापरहित, दूमेरेसे पीडाके हटानेवाली भाषा सर्वोत्तम है। क्योंकि काना, नपुंसक, रोगी, चीरादिके नामसे पुकारनेपर भी उसके मनको आघात पहुँचता है।

मनुका मत-"सत्य, प्रिय, और अन्यके मनके अनुकूल वचन बोलो, असत्य और अप्रिय सत्य कभी मत बोलो।"

असत्य-असत् शब्दके तीन अर्थ हैं, सद्भावका प्रतिषेध, और अर्थान्तर तथा गहानिन्दक। वस्तुके स्वरूपका अपलपन करनेको सद्भावका प्रतिषेध कहते हैं। यह दो प्रकारका है। राजत पदावका निषेध-तथा अज्ञात पदावका

निरूपण। जैसे "नास्ति आत्मा" आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, अथवा "नास्ति परलोकः", परलोक-मरणके बाद जीवका अन्य भव धारण करना वास्तविक नहीं है। इत्यादिक भूतनिन्दव है। क्योंकि इससे सद्भूत पदार्थका अपलाप होता है। आत्माका परलोकमें भवान्तर धारण करना वास्तविक सिद्ध-पदार्थ है। युक्तियुक्त और अनुभवगम्य है। इसका निषेध करना सद्भूतका अपलापनामक मिथ्या वचन है। आत्माको इयामाकतण्डुल-सामुद्रके घावल की तरह छोटे प्रमाणमें बताना, अथवा अंगूठेके पोरवे के घरावर समझना, या यह कहना कि-आदित्य वर्ण है, निष्किय है, इत्यादि सब वचन अभूतोद्भावन नामक असत्य वचन हैं। क्योंकि इस तरहके वचनों द्वारा आत्माका जो वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसका उल्लेख किया जाता है।

अर्थान्तर शब्दका अर्थ है भिन्न अर्थको सूचित करना, जो पदार्थ है उसको दूसरा पदार्थ ही बताना-वास्तविक न कहना अर्थान्तर है। जैसे कोई गौको बहे कि यह घोडा है, अथवा घोडेको बहे कि यह गौ है, इस तरह के वचनको अर्थान्तर नामक असत्य कहते हैं।

गर्हा नाम निन्दा करनेका है, अतः जितने भी निन्द्य वचन हैं वे सब गर्हित नामके असत्य वचन समझने चाहिए। जैसे कि- 'इमको मार डाले' या 'मरजा', 'इसे कमाईको देदो,' इत्यादि हिंसा विधायक वचन बोलना, तथा मर्म-मेदी-मन दुखानेवाले अपशब्द कहना, गाली देना, कठोर वचन कहना, परप-रूक्ष शब्दोंका प्रयोग करना, एवं पैशुन्य किसी की जुगली करना, आदि गर्हित वचन कहलाते हैं। यदि वे गर्हित वाक्य कदापि सत्य भी हों तथापि असत्य माने जाते हैं। क्योंकि वे निन्द्य हैं। तथा प्रमादयुक्त जीवके वचन भी असत्य समझे जाते हैं। प्रमाद पूर्वक कहे जाने वाले वचन असत्य होते हैं। और प्रमाद को छोड़कर कहे गए असत्य वचन भी सत्य हो सकते हैं, जैसे किसी रोगी बालकको पताशमें दवा रस कर देते हैं और कहते हैं कि-ले यह पत्थर है।

सत् शब्दके दो अर्थ होते हैं, विद्यमान और प्रशंसा। अत एव असत् शब्दसे अविद्यमान और अप्रशंसता ये दोनों ही अर्थ लेने चाहिए। सद्भूत निन्दन असद्भूतोद्भावन और अर्थान्तर ये अविद्यमान अर्थको सूचित करनेवाले होनेसे असत्य हैं। और जो गर्हित वचन हैं वे अप्रशंस होनेसे असत्य तथा प्रमादका सम्बन्ध भी दोनों ही स्थानों पर पाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त असत्य की विवक्षा होने पर कथाय अत्यन्त निमित्त बन जाता है, कथायका उद्देश्य आनेपर असत्यका प्रयोग अवश्य किया जाता है । अतः श्लेष-श्लोक-मान-राम-द्वेष-मोहादिके कारणसे अत्यन्त बोलनेका त्याग करना सत्यानुव्रत कहलाता है ।

हंसीमें, कठोर शब्द का प्रयोग करते समय, चुगली करते समय, अप्रशस्त बचन कहते समय, झूठ वाक्य कहना अनिवार्य हो जाता है, और देह-घातीसे आत्म स्थिति उस समय प्राप्त होती है जब दूमरा अनुव्रत स्वीकार कर लिया जा सके ।

फीसी ने कहा है कि—जिसे मूढ़ता के कारण धर्म के नामसे पुकारता है, और जो श्लेषोंमें भी निरन्तर समझा जाता है, उस अत्यन्त को मन, बचन-कथनेसे त्याग देना ही उचित है, यदि हितको अपनावैकी अभिलाषा है तो असत्य न कह कर मानको स्वीकार करले । क्योंकि इतने स्थानों पर सब मौन भाव भजते हैं,

जैसे—“प्रतिक्रमण करते समय, मत्तमूढ़ स्थायते चक, पापके कार्यसे छोड़ते समय, निरन्तर मौन रख लेवे, क्योंकि मौन कर लेनेसे शार्पाके दोषोंका नाश हो जाता है ।” ‘मौनसे श्लेष नष्ट होता है, सन्तोष भाव जागृत हो जाता है, वैराग्यका प्रदर्शन होता है, संयमकी पुष्टि हो जाती है ।’ ‘त्रिहाके श्लाघ छोड़नेसे ही तपकी श्रद्धि होती है । अभिमानकी रक्षा होजाती है, समता आनेसे मनकी सिद्धि हो जाती है ।’ ‘शार्पी मनोरमा बनजाती है, आदेश होकर प्रवर्तता प्राप्त बन जाता है, मौन रखने वालेके चरणानुगत बन्दनीय होते हैं । परन्तु मौन देस और बलको विचार कर करना चाहिए । यदि कहीं बोलनेसे संसारको मद्दोष और चरित्रका लाभ हो तो वहाँ श्रुत न रहना चाहिए । नगर शार्पी सदा सत्यवती होनी चाहिए ।’

गृहस्थके लिए त्याज्य असत्य क्या है ? “शुद्ध से इन्द्र, पशु, पृथ्वी, के सम्बन्धमें असत्य कुछ भी न कहना चाहिए, न ही उन्हें कभी शस्त्रि गवाही देनी चाहिए, कनी किसी की धारन-यानी परोहर मार कर उसे कोरा जराब न देना चाहिए, इन पाँच बातोंको ध्यानमें रखने काय सत्यानुव्रत है । यदि अपने वा अन्यके ऊपर सत्य कहनेसे भाष्यति आ सकती हो तो उस समय सत्य न कह कर मौन कर लेना उचित है ।”

“और जो साधु-सज्जन पुरुष राग, द्वेष और मोहसे असत्य बोलनेके परिणामको जब छोड़ता है, तब ही दूसरा सत्याणुवत होता है, क्योंकि असत्य बोलनेका भाव सत्य भावसे विपरित होता है, और यह असत्य भाव राग भावसे, द्वेष भावसे और मोह भावसे जीवमें पैदा होता है, अर्थात् यह मनुष्य इष्ट पदार्थोंमें व विषयोंमें राग द्वारा उनकी प्राप्ति और रक्षाके लिए असत्य कहता है, वह अनिष्ट पदार्थोंमें वा विषयोंमें द्वेषपूर्वक उनके दूर होनेके लिए या उनपर सम्बन्ध न पानेके लिए असत्य कहता है, अथवा मिथ्या बुद्धिसे संसारमें मोहके कारण उस मिथ्या भावकी रक्षाके अर्थ असत्य बोलता है, जो कोई निकट भव्य जीव साधु पुरुष इस प्रकारके असत्य बोलनेके परिणामोंको त्याग देता है उसी में सत्य व्रतकी योग्यता आती है।”

“जो सत्यभावके रंगमें रंग कर प्रगटमें सत्यका व्यवहार करता है वह सज्जनोद्धार आदर्शनीय होता है, यह बात इस लिए सर्वथा सत्य है कि सत्य से बड़ कर अन्य दूसरा कोई व्रत नहीं।”

असत्य बोलने का निरुद्ध परिणाम—“झूठ बोलनेवाला गूणा बनता है, या उसे मूकगति का जीव बनना पड़ता है। वह स्पष्ट नहीं बोल सकता। किसीको उसकी सुन्दर सम्मति भी प्रिय नहीं लगती। मुखरोगसे पीड़ित रहता है। ये सब झूठ बोलनेके दुष्परिणाम जान कर कन्यादिके विषयमें असत्य कभी न बोलना चाहिए।” “झूठ बोलने वाले, मूर्ख, विकलांग, वाणीहीन रह जाते हैं। उनकी बातें सुन कर लोकों को पृथा हो उठती है। और उनके मुखसे दुर्गंध आया करती है।” “जो सर्वलोक से विरुद्ध है, जिस वाणीसे विश्वासपात हो जाता है, जो पुण्यका प्रतिपक्षी है वह ऐसा वाक्य कभी न कहे।” “जो झूठ बोलता है उसमें तुच्छता आजाती है, अपने आपको ठग खेता है, अयोग्यविगामी होता है, अतः झूठ वर्जनीय है।” “झूठ प्रमादसे भी न बोलना चाहिए, क्योंकि कल्याणकार्यरूपी वृक्ष असत्यकी आंधीसे गिर जाते हैं।” “भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी बातोंको यदि पूर्णतया न जानता हो तो न कहे, कि इस तरह होगा।” “तीनों चालकी बातोंमें शंका हो तो उसे न कहे।” “यदि तीनों चालकी बातें बिलकुल निःशंक हैं तब उन्हें लोकोंमें उपदेशके रूपमें सुना सकता है।” “असत्य बोलनेसे वैर विरोध बड़ जाते हैं, पोल चुल जाने पर पड़तावा होता है,

कोई उस पर विश्वास नहीं करता, बदनाम सुफ्तमें हो जाता है।' कुपथ्य करनेकी तरह न जाने क्या २ दुःख-दोष इन्हे ननुष्यमें बढ जाते है।" "झूठ बोलनेवाला नरक, निगोद, और पशु योनिमें जन्म लेकर मरता रहता है।" "भोज्य सा असत्यका प्रयोग करनेवाला भी नरकमें उत्पन्न होता है।"

"ज्ञानिओंने ज्ञान और चरित्रका मूल तो सत्य ही बताया है, सत्यवादीके पैरोंकी धूलिसे पृथ्वी पवित्र हो जाती है।" "जो सदा सत्य बोलते हैं उनका भूत, प्रेत, सर्प, सिंह आदि कुछ भी नहीं विगाड सकते,।" "सिर मुंडा कर, जंटा रखा कर, नम रह कर, कपडे पहिन कर या तपकी तप कर भी जो असत्य बोलता है सब तो उसे अछूतसे भी बढ कर निन्द्य समझना चाहिए।" "एक तरफ तो असत्यका पाप है, दूसरी ओर संसारके सब पाप हैं, यदि इन दोनों पापोंको तोला भी जाय तो असत्यका पाप बढ निकडेगा।" "शत्रुओं और व्यभिचारियोंके पापका प्रायश्चित हो सकता है, परन्तु असत्यवादीका प्रतिहार नहीं।" "सत्यवादीका देवोंको भी पक्ष होता है, राजा भी उस पर शासन नहीं चला सकता, उन पर अभिका उपद्रव नहीं होने पाता, क्योंकि सत्यकी महिमा अपार है।"

"सत्यका संसार भरके योनियोंने खूब ही गायन किया है, जिसमें शुभचन्द्राचार्यके कुछ वचनामृत आपके पठनार्थ सामने रखते हैं। उन्होंने कहा है कि—"जो सयमी मुनि धीरज रख कर संयमकी रक्षा या मुनि दीक्षाकी धुराओ धारण करता है, वह मुनि वचनके जंगलमें सत्य रूपी वृक्षका आरोप करता है।" "यमनियमादिप्रतोंका समूह एक मात्र अहिंसायी रक्षाके लिए कहा है, अहिंसा मत यदि असत्यसे दूषित होतो वह ऊंचे पदको कभी भी नहीं पासकता। असत्य वचनके होनेसे अहिंसाका प्रतिपालन अशक्य है।"

"जो वचन जीवोंका इष्ट हित करनेवाला हो तो वह असत्य भी मूल है। और जो वचन पाप सहित हिंसारूप कार्यको पुष्ट करता है वह सत्य भी असत्य है और निन्द्य भी है।" "जो मुनि बनेक जन्मके उत्पन्न दुष्टोंकी शान्तिके लिए तपस्वरण करता है वह निरन्तर सत्यही बोलता है, क्योंकि असत्यवचन बोलनेसे मुनित्वका होना असम्भव है।" "जो वचन सत्य हो, कदगासे भरपूर हो, किसीके विरुद्ध न हो, आकुलता रहित हो, अशक्य, ना



गवाँरू भाषामें न हो तथा—ग्राम्य नाम इन्द्रियोंका भी होता है यानी इन्द्रियोंके विकारोंको पुष्टकर वचन न हो, औरवका धडानेवाला हो; जिसमें किसीका हलकापन न बताया गया हो, वही वचन शास्त्रमें प्रशंसनीय है।”

निरन्तर-मौन करना भी पुरुषों के कल्याण के लिए है—  
 “यदि बोलनेका काम पड़े तो सत्य और प्रिय तथा सब जीवोंके कल्याणके लिए बोलना चाहिए।” “मगर दुष्ट चरित्रोंके मुखकी बाँबीमें बड़ी भारी असंत्व-वाणीकी सांपनी रहती है, जो जगत भरको दुःखी कर देती है।” “जिस वातके सत्य होनेमें सन्देह है, पर पाप रूप भी अवश्य है, और दोषोंसे युक्त है, एवं ईर्ष्याको बढानेवाली है, वह अन्यके पूछने पर भी न कहे।” “किसीका मर्म दुःखानेवाला, मनमें घाव करनेवाला, स्थिरताका नाश करनेवाला, विरोध खडा करनेवाला, तथा दया रहित वचन कण्ठमें प्राण आनेपर भी न कहे।” “जहा धर्मका नाश होता हो, चरित्रको धक्का पहुँचता हो, देशकी स्वतन्त्रता नष्ट होती हो, समीचीन सिद्धान्तका लोप होता हो, उस जगह देश, धर्म और जातिके उत्थानके लिए बिना पूछे भी विद्वानोंको अवश्य बोलना चाहिए। उस समय चुपचाप खडे २ तमाशा देखना. सपुत्रोंका स्वार्थ नहीं है।” “जो वाणी लोकोंके कानोंमें पुनः पुनः पड कर जहर उगलती है, जीवोंको मोहरूप कर डालती है। सन्मार्गको भुल देती है, वह वाणी, न होकर एक सापनी जैसी है, जिसके सुनते ही प्राणी उत्तम मार्गको छोड कर कुमार्गमें पड जाते हैं।” “कानोंको जितना सुख मनोहर वाणी देती है, उतना सुख चन्दन, चन्द्रमा, चन्द्रमणि, मोती, मालती, आदि शीतल पदार्थ नहीं दे सकते।”

“अग्निसे जला हुआ वन तो किसी समय हरु भरा हो जाता है, परन्तु जिन्हारूपी आगसे पीडित होकर लोक कभी नहीं पनपता।” “जो सब बोलते हैं, तत्वके असली स्वरूपको समझ सके हैं, जिनको सत्य और शीलका ही अवलम्बन है, उनके पैरों से पृथ्वी पवित्र हो जाती है और वही लोक उत्तम हैं। जो असत्य बोलते हैं वे ही नीच होते हैं।” “जो नीच पुरुष मनुष्यजन्म पाकर भी सत्यकी प्रतिज्ञासे रहित है, वह संसार रूपी कीचडसे और क्या करनेसे पार हो सकेगा?” “जिदके हाथ नाक कान कटे, हों, रूप रंग नामको

भी न हो, दरिद्री और रोगी हो, कुल, जाति, वर्णसे हीन हो, तब क्या हुआ उनका भूषण सत्व है, यत्नसे पवित्र और शुद्धी हैं। उनकी शोभा सत्वसे है।” “जो पुरुष असत्यसे मलिन हैं, उनके साथ पाप रूपी कालिमाके भयसे कोई भी धर्मज्ञ पुरुष अपनेमें भी उसका साक्षात्कार नहीं करता।” “झूठेकी संगतिसे सचको भी कलंक लेना पड़ता है।” “पुत्र, स्वजन, धो, धन और मित्रोंके जाने या विमुख होने पर अथवा प्राण जाने पर भी झूठ नहीं बोलना चाहिए।”

इत्यादि वचनानुसृतोंको पीकर जो पाप रहित और भ्रष्ट सत्व बोलता है, वही जगत्में प्रधानपुरुष है।

सत्वकी तरह सब प्रकारके तपोंमें अर्थात् जिन तपोंमें इच्छाओंका रोकना अनिवार्य है वे तप १२ प्रकारके कहलाते हैं, उनमें उत्तम और नव विध ब्रह्म गुणोंसे युक्त किया गया ब्रह्मचर्य नामक तप उत्तम है।

सुन्दर त्रियोंके मनोहर अंगोंको देख कर उनसे क्रीडा करनेकी त्रिषके चित्तमें इच्छा खड़ी होती है उसको त्याग देनेसे अथवा वेद नामक नोकपायके तीव्र उदयसे मैथुन सेवनकी इच्छाका त्यागना ब्रह्मचर्यव्रत है, उसे स्पष्ट करनेके लिए सत्यपुरुष कहते हैं कि हे क्वणी पुरुष, ! अनुपम स्वजन, परम तत्परूप, निजस्वरूपको छोड़ कर अति सुन्दर त्रियोंकी शरीर आदि विभूतियोंके मनमें क्यों याद करता है, और उनके मोहमें किस लिए फँसा पड़ता है।

अग्रहस्तचर्य्य के दोष—ओ सम्भोगसे सन्ताप पैदा होता है, पित्तको बढ़ाता है, कम ज्वर फैल जाता है, हिताहितको नष्टकर मोहको बढ़ाता है। शरीर निःसत्व होता है; तृष्णामें जकड़ा जाता है, अतः क्रमेच्छामें और उर्वरमें कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। और इन दोषोंको जान कर भी यदि कोई सर्व्वया म्लीच्छ पालन न कर सके तो गृहस्थका कर्तव्य है कि विवाहित पतिमें अवश्य सन्तोष पैदा करे। क्योंकि इस प्रतिज्ञामें भी अनेक तरह की इच्छाओंका मर्दन कर देता है।

कहा मी है कि—अपनी ओ मात्रमें सन्तोष करनेके अनन्तर जो अन्य ओ मात्रकी कमी इच्छा तक भी नहीं करता है, उसमें भी सुदर्शन छेठ की तरह अद्भुत प्रमाण पैदा हो जाता है, तब ब्रह्मचारिके प्रभावकी प्रशंसा क्यों कर की जासकती है, क्योंकि वह तो अवर्ण्य है।

इसी भांति श्रीका भी परमधर्म है कि-पर पुरुष चाहे रूपमें, ऐश्वर्यमें, कलामें कितना भी बड़ा चड़ा क्यों न हो, उसे जहरका पुतल्य समझ कर त्याग देना चाहिए जिस प्रकार सीताने रावणको छोड़ दिया था । वही श्री देवीसे पूजित होती है जिसने मैथुनके विकार को जीता है ।

मैथुन नाम जोड़े का है, प्रवृत्तिमें स्त्री पुरुषका ही जोड़ा समझा जाता है, दोनोंका परस्पर संयोग या सभोगके लिए जो भावविशेष उत्पन्न होता है अथवा दोनों मिलकर जो सभोग क्रिया करते हैं उसको मैथुन कहते हैं, और उस मैथुनको 'अब्रह्म' कहते हैं । इसमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है, क्योंकि उस अभिप्रायसे जो भी क्रिया की जायगी, फिर चाहे वह परस्पर दो पुरुष या दो स्त्री ही मिल कर क्यों न करें, अथवा अनंग कीडा आदि ही क्यों न हो वह सब अब्रह्म है, और जो प्रमादको छोड़कर क्रिया करते हैं उसको मैथुन नहीं कहते । जैसे कि पिता भाई आदि पुत्री भगि आदिको जब गोदमें लेकर प्यार करते हैं तब वह अब्रह्म नहीं कहला सकता, क्योंकि उनमें 'प्रमत्त-योग' नहीं है । इस प्रमत्तयोगकी यदि एक अशमें निश्चित की जाय तो वह ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है । जैसे कहा है—

“माता बहन बेटाकी तरह परस्त्रीको जानता हुआ जो अपनी विवाहिता स्त्रीमें ही सन्तोष करता है, वह चौथा अणुव्रत कहलाता है ।” “उत्तम पुरुष परस्त्रीको व्याधि और दुखके समान समझ कर दूरसे ही छोड़ देते हैं, क्योंकि परस्त्री सदैव दुःखोंका घर है, और सुखोंका नाश करनेके लिए प्रलयस्त्री आग जैसी सिद्ध हुई है ।” “जो स्त्री अपने पतिको छोड़ कर परपुरुषमें रमण करने चली जाती है, उसे परले सिरेकी निर्लज्ज समझना चाहिए । जब इस आचरणसे अपनी स्त्रीका भी विश्वास नहीं है तब परस्त्रीका किस बात पर विश्वास किया जा सकता है ।” “परस्त्रीका सेवन करके पुरुष क्या मुक्त पाता है । केवल नरक निगोदमें डलनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं । अतः मनुष्योंको 'ब्रह्मचर्य' व्रतका पालन करना चाहिए ।” “इस व्रतका आशय-लेकर योगीजन परब्रह्म परमात्माका और अपना स्वरूप अमेदरूपसे जान लेते हैं । उसीका अनुभव करते हैं, और इसे धीर वीर पुरुष ही धारण करनेमें समर्थ हैं । अल्पसत्ववाले, सीलरहित, इन्द्रियोंके दास, दुर्बल पुरुषतो इसका स्वप्न भी समाचरण नहीं करसकते, क्योंकि यह ब्रह्मचर्य अविधारा महान्त है ।”

“इन तीनों भुवनोंमें ब्रह्मचर्य नामक व्रत ही प्रशंसनीय है, जो इसे निर्मलभावोंसे पालते हैं वे पूज्य पुरुषों द्वारा भी पूजित होते हैं ।” “जो ब्रह्मचर्य पालनमें अनुरक्त रहते हैं वे दस प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं ।” जैसे—

(१) शरीरका संस्कार-शंषारादिकरना । (२) पुष्ट रसका सेवन करना । (३) गाना-बजाना-देखना-सुनना । (४) स्त्रीका ससर्ग करना । (५) स्त्रीमें किसी प्रकारका संकल्प-विचार करना । (६) स्त्रीके अंग उपांगोंको देखना । (७) उसे देखनेका संस्कार बनाए रखना । (८) पूर्व्व कृत भोगोंका पुनः स्मरण करना (९) शगाडीके लिए भोगनेकी चिन्तवना करनी । (१०) शुक (जीर्ण)का धरण कर देना ।

ये दस भेद मैथुनके हैं, ब्रह्मचारीके लिए ये सर्व्वथा त्याग्य हैं ।

“जिस प्रकार किम्पाकफल ( इन्द्रायण फल ) देखने सुंघनेमें रमणीय है परन्तु विषाक्त होनेसे तो हलाहल विषका काम कर जाता है । इसी भाँति यह मैथुन भी कुछ काल पर्यन्त रमणीक और सुन्दर तथा सुपदायक प्रतीत होते हैं, परन्तु विषाक्त समय यानी अन्त समयमें बहुत ही भयप्रद प्रतीत होते हैं ।” “जो पुरुष काम और भोगोंमें विरक्त होकर सदा ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं उनको भावशुद्धिके लिए दस प्रकारका मैथुन त्याग देना चाहिए । क्योंकि इन दोषोंके त्यागे बिना भावोंमें निर्मलता नहीं आती । उत्तम भाव-ही कामके वेगको रोक सकता है ।”

कहा भी है कि—“सर्पसे उसे गए प्राणीके घात वेग होते हैं, परन्तु कामरूपी सर्पके द्वारा उसे गए जीवोंके दस भयानक और बड़े वेग होते हैं, वे ये हैं ।”

कामके उत्पीडनसे पहले पहल चिन्तामें धिर जाता है कि कामका सम्पर्क क्योंकर हो, हमारे वेगमें उसे देखनेकी इच्छा हो जाती है, २ सर्प निद्रास लेकर छोड़ता है, और कहता है कि हाथ उसे देख भी न सद्य, ४ ग्वर हो आता है, ताप मान पड जाता है, ५ बिना ही आगके शरीर जलने लगता है, ६ भोजन नहीं दबता, ७ महा मूर्च्छा हो जाती है, कुछ भी चेत नहीं रह पाता । ८ उन्मत्त यानी पागल ता बन जाता है, धाय बाय बकने लगता है, ९ प्राणों का रखना दुभर हो जाता है तथा उसे यह संदेह हो जाता है कि मैं अब जीवित नहीं रहूँगा । और दसवाँ वेग ऐसा आता है कि जिससे

वह मर भी जाता है, इनमें ब्याप्त होकर यह जीव यथार्थ तत्व अर्थात् वस्तु स्वरूप को नहीं देखता। जब लोकव्यवहार ही का ज्ञान विदा हो जाता है तब परमार्थका ज्ञान क्यों कर हो सकता है। क्योंकि सब बातोंमें वह बिरलकुल अस्थिर बन जाता है।

“जिसको कामरूपी कांटा चुभता है वह प्राणी बैठने, सोने, चलने, फिरने, भोजन करनेमें तथा खजन पुरुषोंमें क्षण भर भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होता। अर्थात् सब अवस्थाओंमें डिगमिगाया रहता है।” “कामसे ठगा जाकर मनुष्य चतुर होकर भी मूर्ख बन जाता है, क्षमाशील-कोपी हो जाता है, शूर वीर कायर बन जाता है, बडप्पनसे गिर कर छोटा रह जाता है, दयमी पुरुष आलसी बन जाता है। और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है।” अतः मूर्खता न करके मनुष्यको मनुष्य जन्म सार्थक बनानेके लिए ब्रह्मचर्य्य पालन करना चाहिए। क्योंकि तपोंमें उत्तम ब्रह्मचर्य ही तप है।”

**कदाचारका परिणाम**—बैलके नपुंसक बनानेकी क्रिया देखकर, संपटका राजा द्वारा इन्द्रिय छेदन देख कर, सुधीको कुशील त्याग कर खदार सन्तोष व्रत लेकर परदारका त्याग कर देना योग्य है। “मैथुनका सेवन किपाकफलकी तरह आरंभमें अच्छा लगता है परन्तु परिणाममें दाहण कष्ट होता है।” “शरीरमें कम्प, पसीना, थकान या शिथिलता, चक्कर आना, घृणा होना, पौरुषेयका क्षय, तपदिक क्षय—आदि रोग मैथुन सेवनसे होजाते हैं।” “योनि-यन्त्रमें असह्य जीवराशीकी उत्पत्ति हो जाती है, और मैथुन करते समय वे जीवित नहीं रह सकते।”

**वात्स्यायनका मत है कि**—“रक्तमें कीड़े हो जाते हैं, वे जीव सूक्ष्म होते हैं, और सम्यक्के समय मर जाते हैं।”

**मैथुन सेवनसे काम ज्वर घट नहीं सकता**—“अग्निमें घी डालकर अग्निसे बुझानेकी शृषाकी चेष्टाकी तरह स्त्रीसंयोगसे काम ज्वर कभी शान्त नहीं हो सकता। अतः त्रिह्रै भी पर पुरुषको सर्पके समान समझकर उन्हें त्याग दें।” क्योंकि—

“ऐश्वर्य्यमें चाहे इन्द्रके समान हो और सुन्दरतामें कामदेवका धवतार हो तब भी सच्चारियोंकी दृष्टि में सीताने रावण का जिस प्रकार त्यागक्रिया इसी प्रकार पर पुरुष स्वाज्य हैं।”

भगवान् महावीर का 'श्री आचारांग' और 'कल्पसूत्र' आदि सूत्रोंमें उनके जीवन चरितके अनुसार उनका जन्म क्षत्रियकुण्ड ग्राममें 'ज्ञातवंशीय' और 'काश्यपगोत्रीय' सिद्धार्थ क्षत्रिय राजाके घर त्रिशला क्षत्रियाणीकी कुक्षिसे हुआ था ।

यह ज्ञातवंश उस समयके प्रतिद्ध ईक्ष्वाकु, आदि क्षत्रियोंके विशाल कुलोंकी तरह प्रसिद्ध 'वंश' समझा जाता था । इस ज्ञातवंशके क्षत्रिय प्रायः 'ज्ञातृ' के नामसे पहचाने जाते थे । और उनके इस 'ज्ञातृ' कुलके सम्बन्धसे उनके नगरों के बाहर बनाए हुए खड-उद्यानों के नाम भी 'ज्ञातृखंड' के नामसे प्रसिद्ध थे । भगवान् महावीर प्रभुने 'कुण्डग्राम' के समीपवर्ती 'ज्ञातृखंड' नामक वागमें दीक्षा ली थी । शास्त्र बचन तो इसकी रूख ही पुष्टि करता है ।

जिनागममें 'ज्ञातृपुत्र' का प्रतिशब्द 'नाथपुत्र' या 'नाटपुत्र' के रूपमें और बुद्धागममें 'नाथपुत्र' या 'नाटपुत्र' के रूपमें जिस शब्दप्रयोगका उल्लेख देखनेमें आता है, वह भगवान् महावीर के 'ज्ञातृवंश' का ही अर्थसूचक नाम है, इसे मान लेनेमें हमको ऊपरोक्त कारण मिलते हैं, 'नाथपुत्र' या 'नाटपुत्र' में दोनों नाम संस्कृत में 'ज्ञातृपुत्र' शब्दके ही प्राकृत रूप हैं, और 'नाथपुत्र' या 'नाटपुत्र' ये दोनों नाम भी इसी शब्दके 'पाली' रूप हैं । प्राकृत में 'त' को 'थ' और पाली में 'त' को 'थ' और 'थ' को 'ट' भी साधारणतया हो जाता है । दिगम्बर सूत्रोंमें 'ज्ञातृपुत्र' का 'नाथपुत्र' इस शब्दको व्यवहृत होता देखा जाता है । इस प्रकार भाषा और भावकी दृष्टिसे देखते हुए भी ये सब अलग २ नाम मूल 'ज्ञातृपुत्र' शब्दमें मिल जाते हैं । ये सब नाम 'ज्ञातृपुत्र' शब्दसे बनाए गए हैं । इसमें शंका करने के लिए जरासा भी स्थान नहीं है । प्राचीन कालमें वंशके नामसे परिचय करानेकी प्रथा होनेसे भगवान् महावीर प्रभुके जीवनविषयक परिचय श्रीजिनागमोंमें और बौद्धागमोंमें 'नाटपुत्र' या 'नाथपुत्र' शब्दसे और भगवान् महावीरके शिष्योंका परिचय 'नाटपुत्रीय' या 'नाथपुत्रीय' शब्दसे विशेषतः दिया गया है ।

श्रीजिनागमके १२ अंगोंमें छठवां अंग "नाथधम्मकहाओ" है, उसमें उपर्युक्त आया हुआ 'णाय' शब्द भी भगवान् महावीरका वंशवाचक "नाथपुत्र" के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है । प्राकृतमें 'न' को 'ण' हो जाना तो

एक साधारण नियम है। इन अंग का गुजराती अनुवाद भी 'भगवान् महा-  
वीरनी धर्मकथाओ, यह करनेमें आया है, इन अंगका परिचय भीष-  
नवायांगसूत्रमें किया गया है, उसमें बताया है कि—“इस अंगमें ज्ञाताओं के  
नगर्भ, उद्यानोद्य, मातापिता का, “इत्यादि परिचय दिया जावगा” यह  
छिया है, टीकाकारने ज्ञाताओंका उदाहरणभूत अर्थ किया है, परन्तु  
“ज्ञाता” अर्थात् ‘ज्ञानवंशी’ श्रविय ही अर्थ पूर्वापर विचार करते हुए अधिक  
निश्चय होता है।

भगवान् महावीरका परिचय श्रीजिनागमोंमें ‘नायपुत्र’-‘ज्ञातपुत्र’  
के अतिरिक्त और नामोंसे भी दिया गया है, तथापि वहाँ पर ‘नायपुत्र’ शब्द  
की ही विशेष प्रधानता रही है। बहुत से प्राचीनतम सूत्रोंमें भगवान् महावीर  
प्रभुकी गुण गाथाका द्वात्रिंश विधेयतः ‘नायपुत्र’ शब्दसे ही किया गया है—

यथा—

“न ते सल्लिहिमिच्छन्ति, नायपुत्रवञ्जोरया” १८

“न सो परिग्गहो बुच्चो, नायपुत्तेण ताइणा  
मुच्छा परिग्गहो बुच्चो इह बुत्तं महेत्तिणो” २१

“एयं च दोसं दद्वणं, नायपुत्तेण भासियं  
सजाहारं न भुंजंति, निमांथा राइभोयणं” २६

“एयं च दोसं दद्वणं नायपुत्तेण भासियं,  
अणुमायं पि नेहानी, मायामोत्तं विपच्चण्” ३९

“एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी जणुत्तरनाणदंसणपरे,  
अरहा नायपुत्ते भगवं वेत्तालिप विवाहिण्” १८

भाषार्थ—“जो भगवान् ‘ज्ञातपुत्र’ के बचनों पर पूर्ण विश्वास रखते  
हैं वे किसी वस्तु का संग्रह करके नहीं रखते ॥ १८ ॥

प्राचीनसूत्रोंमें तथा करनेवाले ‘ज्ञातपुत्र’ महावीर प्रभुके वध पानके  
परिग्रह न बलाकर मूर्खों यानों मन्त्र आदिसे ही परिग्रह बलाना है, यह  
महर्षिओंने कहा है; ॥ २१ ॥

(दशने० अ० ६)

‘ज्ञातपुत्र’ महावीर प्रभुने कहा है कि मर्यादामें रहनेवाले साधु इस दोषको भलिमान्ति देखकर थोडासा भी कपट पूर्वक झूठ न बोलें ॥ ४९ ॥

इस दोषको देखकर निर्ग्रन्थ रात्रि भोजन छोडदे, क्योंकि ‘ज्ञातपुत्र’ ने इसके दोष प्रत्यक्षमें बताए हैं ।

“इस प्रकार अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शन युक्त अर्हन् प्रभु ‘ज्ञातपुत्र’ महावीर विशाला नगरमें इस प्रकार व्याख्यान करते थे ॥ १८ ॥”

इन प्रमाणोंके अतिरिक्त इस अध्यायमें तो २-१४-२१-२३-२४ की गाथाओंमें प्रभुकी स्तुति ‘ज्ञातपुत्र’ शब्दका ही संकेत रखकर की गई है। इस तरह श्रीजिनागमके प्रमाणभूत ग्रन्थोंमें ‘नाथपुत्त’ या ‘नातपुत्त’ को भगवान् महावीरके वंशवाची नामका उपयोग अनेक स्थलों पर पुष्कल रूपमें किया है, इन सब शब्दप्रयोगोंके उद्धरण करने की यहां जरासी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। मात्र हेमाचार्य ने परिशिष्टपर्वमें जो ‘ज्ञातनन्दन’ भगवान् महावीरको वंदन किया है उसीका यहां उद्धरण देकर अगावी बढ चलेंगे ।

उन्होंने भंगलाचरणमें कहा है कि-“जो कल्याण वृक्षोंका बगीचा है, श्रुतिरूप गंगाका हिमालय है, विश्वकमलके लिए सूर्यकी भाति है उस ज्ञातनन्दन महावीरको मैं नमस्कार करता हूं ।”

बौद्धपिटकोंमें भगवान् महावीर का अपना उनके शिष्योंको और उनके सिद्धान्तोंका परिचय उनके वंशवाची ‘नाथपुत्त’ या ‘नातपुत्त’ के शब्द-व्यवहारसे ही दिया गया है। उनके धमण निर्ग्रन्थोंके लिए ‘नाथपुत्तीय’ शब्द का उपयोग किया गया है। इस नामके अतिरिक्त भगवान् महावीरके जीवन सम्बन्धी परिचयके लिए अन्य कित्ती शब्दका प्रयोग किया हो यह देखने में नहीं आया, सिर्फ ‘नाथपुत्त’ के साथ ‘निगंठ’ शब्द का प्रयोग हुआ है। मगर वह शब्दतो उनकी साधु अवस्थाका सूचक है। और वह ‘नाथपुत्त’ शब्दका विशेष्य न हो कर एक विशेषण है।



इससे प्राचीन कालमें 'वंशवाचक' नामसे परिचय देनेकी प्रथा स्पष्ट जानी जा सकती है। महात्मा बुद्ध भी उनके मूल नाम "सिद्धार्थ" की अपेक्षा उनके 'गोत्रसूचक' नाम "गौतम" के नाम से और 'वंशसूचक' "शाक्यपुत्र" के नामसे अधिक प्रसिद्ध थे।

भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' था और इस ज्ञातृवंशसे उनका 'वंशसूचक' नाम 'नायपुत्र' प्रसिद्ध हो गया, जिसे हम ऊपर देख गए हैं। मगर इस वंशका अगोड़ी चलकर कितना विस्तार और कितना विनाश हुआ इसका इतिहास प्रायः छुप्त है। इस छुप्तप्रायः इतिहास का शोध करना 'अशाक्यवत्सक' है। इस इतिहास को उलझ करने के लिए हमारे पास बौद्ध साहित्य एक अनन्य साधन है।

भगवान् 'महावीर' और 'महात्मा बुद्ध' ये दोनों एक समयके समकालीन धर्मक्रान्तिकारी महापुरुष हो गए हैं। तदुपरान्त ये दोनों एक ही देशके निकटस्थ प्रान्तके निवासी राजवंशी पुरुष थे इन कारणोंको लेकर महात्मा बुद्धको एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तमें विहार करते हुए भगवान् महावीरकी जन्म भूमिमें जानेका और वहाँ भगवान् महावीरके वंश-सम्बन्धी लोगोंके साथ वार्तालाप करनेका प्रसंग प्राप्त होना यह एक स्वाभाविक बात है।

'बुद्धपिटक' के 'महावग्ग' नामक सूत्रमें म० बुद्ध भगवान् महावीरकी जन्मभूमि कुण्डग्राममें और उसके पासमें 'ज्ञातृकों' के ग्रामोंमें एवं वैशाळि नगर जानेका और वहाँ 'निर्मन्थ धावक' 'सिंह' सेनापतिके साथ यात्राचीत करनेका उल्लेख मिलता है। इस उल्लेखके आधार पर भगवान् महावीर का 'ज्ञातृवंश' और उनकी जन्मभूमिके विषयमें हमको बहुत कुछ परिचय मिलेगा। इसी धारणासे ये उल्लेख उतारने उचित प्रतीत हुए।

\*अथ भगवान् जहाँ कोटिग्राम था वहाँ गए, वहाँ भगवान् कोटिग्राम में विहार करते थे,

\* देखो, विन्धपिटक महावग्ग पृ० २४१-'कोटिग्राम,'

अम्बापाली गणिकाने मुना कि भगवान् कोटिग्राममें भागए । अम्बा-पाली गणिका सुन्दर-सुन्दर ( भद्र ) यानोंको जुडवा कर, सुन्दर यान पर चढ कर, सुन्दरयानों के साथ वैशालिसे निकली । और जहां वह कोटिग्राम था वहां चली

तब वह 'लिच्छवी' जहां कोटिग्राम था वहां गए ।

“एक समय भगवान् बुद्ध नादिक ( ज्ञातिका ) के निष्क्रियसधमें विहार करते थे”

{ मज्झिमनिकाय पृष्ठ १२७ }  
 बुद्ध-गोसिग-सुत्तन्त  
 वैशाली

कोटिग्राममें इच्छानुसार विहार कर जहां पर वैशाली का महावन है वहां गए, वहां भगवान् बुद्ध वैशाली महावन की कूटागार शाला में विहार करते थे ।

उस समय बहुतसे प्रतिष्ठित 'लिच्छवि' संस्थागार-( प्रजातन्त्रसभागृह ) में बैठे थे । वे सब मिलकर बुद्ध का गुण बखानते थे । धर्म का, संघ का, शुभ बरतानते थे, उस समय निगंठों का थावक ( जैनो का थावक ) सिंह सेनापति उस सभामें बैठा था ।.....

.....तब सिंह सेनापति जहां 'निगंठ नाथपुत्त' थे वहां गया, जाकर 'निगंठ नाथपुत्त' से बोला कि भंते में.....

सिंह ? तुम्हारा घर बीर्धकाल से निगंठों के लिए प्याऊ की तरह रहा है ।.....

..... उस समय बहुतसे

निगंठ ( जैन साधु ) वैशाली में एक .....

..... विरचल्लो  
 बुद्ध आयुष्मान् ( निगठ ) बुद्ध..... हैं ।

'विनय पिटक' 'महावग्ग' तथा 'मज्झिम निकाय' में आए हुए इन उद्धरणोंसे हमें साफ २ मालूम हो जाता है कि 'महात्मा बुद्ध' 'महाचैरत्तानं'

की जन्मभूमि 'कुण्डग्राम'—पाली भाषामें 'कोटिग्राम' में गए थे । और कुण्ड-ग्रामके पासकी बसनेवाली वैशाली नगरीमेंसे वहाँ महात्मा-बुद्धको अम्बा-पाली नामक वेश्या और लिच्छवीक्षत्रिय मिलने आए थे । कोटिग्राम से म० बुद्ध जहाँ 'जातिका' 'ज्ञातृक' रहते थे वहाँ गए थे । और वहाँ 'जातिका' ज्ञातृकोंके 'मिजिकादसथ'—ईंटोंके घरमें ठहरे थे । इस स्थानके पास ही एक अम्बापालीवन नामक उद्यान भी रहा है जिसे अम्बापालीने बुद्ध और उनके संघको समर्पण कर दिया था । वहाँ से म० बुद्ध वैशाली गए और वहाँ सिंह नामक सेनापति जो कि निर्ग्रन्थोंका धावक था, उसे अपना अनुयायी बनाया, सिंह सेनापति महात्मा बुद्धको मिलने जाने से पहले निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महा-वीर प्रभुके पास अनुज्ञा लेने आया था । तब भगवान् महावीरने सिंह सेनापति को "तू कियावादी हो कर अकियावादी धमण गौतमके पास उसे मिलने क्यों जाता है ? यह कह कर न जानेकी सम्मति दी थी" । परन्तु वह अपनी इच्छानुसार धमण गौतमके पास गया और वह वही धमण गौतम बुद्धका अनुयायी होगया ।

उपरोक्त उद्धृतसे हमारे विषयको पुष्ट करने वाली थार पाठें जानने को विशेष तया मिलती हैं ।

(१) बौद्धोंका कोटिग्राम\* ही जैनोंका कुंड ग्राम मान्य होता है, इन दोनों नामोंमें शाब्दिक सादृश्यके अतिरिक्त उस ग्राम के पास 'ज्ञातृक'—ज्ञातृ वंशके क्षत्रियोंका निवास स्थान और वैशाली नगरीकी निकटता होनेके कारण ये दोनों वस्तुएं 'कुण्डग्राम' और वही 'कोटिग्राम' होनेकी मान्यता पुष्ट हो जाती है ।

(२) कोटिग्रामके पास ज्ञातृकोंका निवासस्थान, भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' या यह और भी पुष्ट कर देता है, और साथ २ कुण्डग्रामके, आस पास 'ज्ञातृक'—'ज्ञानृवंश' के क्षत्रियोंके खंड—'उद्यान' थे, और वहाँ

\* बौद्धग्रन्थोंमें कुंडग्रामका नाम कोटिग्राम और म० न० की ज्ञाति-पुत्रके स्थान पर नातिपुत्र लिखा है । देखो "भारतका प्राचीनराजवंश" पृष्ठ ४० से० विवेकरनाथ राय ॥

'ज्ञातृवंशी' क्षत्रिय रहते थे। यह इस विचारको और भी दृढ़ कर देता है। यह "ज्ञातृक" का उल्लेख और ये 'ज्ञातृक' भ० महावीरकी जन्म जातिवाले 'ज्ञातृ' क्षत्रिय ही होंगे यह कल्पना की और निर्देश करता है।

(३) 'ज्ञातृ' जाति लिच्छविओंकी एक शाखा थी\* इस बातकी पुष्टिके लिए भी 'वैशाली के लिच्छवी क्षत्रिय महात्मा बुद्धको मिलने आए थे' इस उल्लेखसे पता चल जाता है कि भगवान् महावीर की माता भी लिच्छवि वंशकी ही थी और 'सिंह सेनापति' जोकि-भगवान् महावीर का थावक था वह भी लिच्छवि वंशका ही था। ये दोनों बातें ज्ञातृ जातिको लिच्छविओंकी शाखा का होना ही पुष्ट करती हैं।

(४) कुण्डग्रामके पास विदेहकी राजधानी वैशाली नगरी थी। इस नगरी का कुण्डग्राम एक शापापुरके समान था। भ० महावीर प्रभुका "वैशालिक" नाम भी इस नगरके नाम से ही प्रसिद्ध था, विशाल नगरी में सिंह सेनापति नामका जो निग्रन्थ थावक लिच्छवी रहता था वह भगवान् महावीर की सलाहको न मानकर महात्मा बुद्धके पास गया था। इससे भी महारमा बुद्ध वैशाली नगरमें आया था तब भगवान् महावीर प्रभु भी उन्हीं नगरमें थे, यह स्पष्ट जान पड़ता है।

ऊपरके उल्लेख में जो 'जातिका' शब्द लिखा गया है, उस शब्दका मूल बहुतोंने 'नादिका' भी निकाला है, और उसका अर्थ 'इस नामके जलाशयके तट पर बसा हुआ एक ग्राम' किया जाता है। मगर यह अनपूर्ण है। इस प्रकार हर्मन जेकोबी† उसका मूल शब्द जातिका ही बताता है। और वह शब्द 'ज्ञातृवंश' के क्षत्रियों का वाचक है वह कह कर समर्थन करता है।

\* प्रसिद्ध जैन तीर्थंकर महावीरकी माता भी लिच्छवी वंश की ही थी। देखो 'भारतका प्राचीन राजवंश' पृ० ३७८ देखकर विवेचरत्नाय राव।

† हर्मन जेकोबी की 'Sacred Books of The East' नामक ग्रन्थमालासे प्रकाशित 'शाचापंग और कल्पसूत्र' नामक जैनसूत्रोंके अनुवादकी प्रस्तावना, पृष्ठ १०।

इस जातिकी शब्द पर त्रिपिटकाचार्य धोतुत राहुलचंद्गुल्लायन ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है। उसने अपनी 'बुद्धचर्या' नामक द्वितीय पुस्तकमें 'नादिका' का मूल शब्द "नादिका"-ज्ञातृका, बताया है। और 'ज्ञातृका' शब्द ज्ञातृवंशके क्षत्रियोंका सूचक है यह सप्रमाण बताया है। ये अगली चलकर यह भी बताते हैं कि-ज्ञातृ जाति लिच्छवियोंकी शाखा थी। और वैशाखी नगरीके आस पास ही रहने वाली थी। यह ज्ञातृ जाति आज भी वैशाखी नगरी (जिला मुजफ्फरपुरके अन्तर्गत है, बसाइके पास) के आस पास जयसिया नामक जातिसे पहचाना जाता है, यह जयसिया शब्द भाषाही दृष्टिसे भी 'ज्ञातृ' शब्दके साथ गहरा संबंध रखता है।

जयसिया शब्द 'ज्ञातृ' शब्दका अपभ्रंश शब्द प्रतीत होता है। 'ज्ञातृ' शब्दमेंसे जयसिया शब्दका अवतरण किस प्रकार होगया इसके विषयमें राहुलजीने भाषा ही दृष्टिसे निम्न प्रमाणसे विचार किया है। ज्ञातृ=नाति, ज्ञातृ-ज्ञातर-जातर-जतरिया-जयसिया-जयसियाके गांवमें नादिका-ज्ञातृका-नाति-क्ष-लति-क्ष-रति-क्ष-रती जिसके नामसे वर्तमान रतो वर्गना ( जि० मुजफ्फरपुर ) है। बुद्धचर्या २९ पृ० ।

इस प्रकार 'जयसिया' शब्द 'ज्ञातृ'का अपभ्रंश है राहुलजी इस रतो वर्गनाका मूल नाम अपने उपरोक्त उद्देशमें आए हुए 'नादिका' शब्द से प्राप्त करता है।

\* उस समय वही भाषा निगंधोंकी परिपद (जिन शास्त्रोंकी जमात) के साथ निगंध नेटपुत ( महावीर ) भास्करामें ही विभाग करते थे।

( १ ) 'नाटपुत'-'ज्ञातृपुत' लिच्छवियोंकी एक शाखा थी। जो वैशाखी के आस पास रहती थी। ज्ञातृसे ही वर्तमान जयसिया शब्द बना है। महावीर और जयसिया दोनोंका गोत्र काश्यप है। आज भी जयसिया भूमिहार प्रदेश इस प्रदेशमें बहुत संख्यामें हैं। उनका विनाश रतो वर्गना भी ज्ञातृ-नली-नली-रतीसे बना है।

१११ पृष्ठमें निगंध पुस्तक भी उद्धृत किया है जो कि पृ० नि० ४०११८ से उद्धृत किया गया है।

इस प्रकार 'जथरिया' और उसका वर्तमान निवास 'रती' ये दोनों शब्द 'ज्ञातृ' शब्दके साथ घनिष्ठ संबन्ध रखते हैं और इस संबन्धसे 'जथरिया' 'ज्ञातृक'-ज्ञातृवंशी ही हैं, और उनका प्राचीन निवास स्थान जोकि 'नादिका' या 'नाटिका' के नामसे पहचाना जाता था वही वर्तमान रती परगना है यह राहुलजीका दृढ मन्तव्य है। इनके इस दृढ और पुष्ट मन्तव्यमें दृष्टरी यह भी युक्ति है कि-इन 'जथरियोंका' मूल गोत्र काश्यप है। वही काश्यपगोत्र भगवान् महावीर और उनके ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंका भी था।

इन जथरिया-ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंके विषयमें सूचना करते हुए श्री राहुलजी बताते हैं कि ये 'जथरिया' लोक वर्तमान समयमें अपनेको ब्राह्मण बताते हैं। ये दान नहीं लेते। पंजाब प्रान्तमेंगी जमना नदीके किनारे बसने वाली एक जाती रहती है। ये भी दान नहीं लेते। उस देशमें उनको तगा कहते हैं। शायद यह ल्यागीका अपभ्रष्ट होगया हो। हां तो इन 'जथरिया' जातिके लोकोंको भूमिहार ब्राह्मण कहा जाता है। मगर और लोक इनको ब्राह्मण नहीं मानते। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि-वास्तवमें ये लोक क्षत्रिय ही हैं। इनका दूसरा कारण यह भी है कि-ये 'जथरिया' नाम सिद्धान्त वाले हैं। जो क्षत्रियोंके नामके साथ आजकल पीछेसे लगाया जाता है और इनके नामके पीछे ठाकुर शब्द भी जोड़ा जाता है। यह भी क्षत्रिय सूचक ही है। इस बंशमें आजकल भी बहुतसे जमीनदार और राजा भी हैं। दमंगा नरेश इसी जातिले अलंकृत मुने जाते हैं।

बौद्धसाहित्यके उल्लेखोंसे तथा राहुलजीके कथनसे इतना अवश्य माना जा सकता है कि भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' था। और वे ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय कुण्डग्रामके पास रहते थे। और इन ज्ञातृवंशीय क्षत्रियोंके प्रामाण्य महात्मा बुद्ध आए थे। वर्तमान समयमें ये ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय 'जथरिया' के नामसे प्रसिद्ध हैं। और वे प्रायः विहारप्रान्त के मुजफ्फरपुर जिलेके रती नामक परगनेमें रहते हैं। और ये 'जथरिया' अपने नामके पीछे सिद्ध और ठाकुर शब्दका उपयोग भी करते हैं। और काश्यप गोत्र होनेसे ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय हो सकते हैं। मगर ये लोक आजकल अपनेको भूमिहार ब्राह्मण कहते हैं। वस्तुतः इसके पीछे सत्य स्वरूप क्या एक छुपा हुआ है इसे शोध करके प्रकट करनेकी वही ही आवश्यकता है, इस सत्य शोधसे भगवान् महावीर प्रभुके

ज्ञातृ-बंध और उनके जीवनके सम्बन्धका बहुतसा अज्ञानान्धकार जो कि भरने आतपास फैल गया है वह अन्धकार दूर हो जायगा ॥

१. गुजराती अनुवाद—पोतानी तेमज अन्वनी पूर्ण उच्चति तथा अज्ञाने माटे जे परोपकार टिथी आपणमां भाजे तेने 'दान' कहे छे, अथवा वस्तुपरशी पोतानो अधिकार छोडी दरेने बीजा कोइने अधिकार आपवो ते पण 'दान' कहेवाय छे, परन्तु अहीं तो धजा अने प्रतीतिनी साथे भक्ति-भाव पूर्वक परिग्रह परनो मतत्व-भाव छोडीने कर्मोनी निर्जया खातर अनुकम्पाशी तथा मन-वाणी-कायनी शुद्धि सहित फलनी इच्छा बगर दाता जे प्राणुक अने पवित्र वस्तु आपेछे तेने 'दान' कहे छे ।

ते दानना चार प्रकार—अधदान-औषधदान-अभयदान अने ज्ञान-दान, ए दानोंमा प्राणिओनो भय दूर करी तेने सर्वथा निर्भय करवा ये सर्वोत्तम दान मनाय छे । अने आ मानवदेहमां दस प्राण छे, तेथी 'प्राणी' कहेवाय छे, जीवित रहेवानी इच्छा अथवा जीवित रहेवानो तेनो स्वभाव होवाथी तेनुं नाम 'जीव' पण छे, अने ए दस प्राण द्रव्य प्राण छे, अने ज्ञान-दर्शन-मुख-शक्ति रूप अनन्त-चतुष्टय भाव प्राण छे, वास्तविक रीते प्रणे फलमां आ प्राणोथी सदा आ जीव जीवित छे, सर्वे जीवो जीववानी इच्छा राखे छे, मरखुं कोई इच्छितो नथी, तेथी जीवित रहेवानी इच्छानाछाने अभय दान दरेने तेनुं सर्वप्रकारे रक्षण करखुं धेष्ट छे । कोइने साया दिलथी अभयदान पण आपुं होत सो आ जीवनी मोक्ष पदं जात, परन्तु आम्माने ज्ञानदान न मळवाथी पोताने जीववातुं स्वार्थे राखुं, बीया जीवोने पण जीवतुं प्रिय छे ए भान भुलावी वीणुं । कोइए कसुं पण छे कं—

“जे रीते मने मार्ग जीवन प्रिय छे, तेमज अन्व जीवोने पण पोतानुं जीवन प्रिय छे, स्वर्गमां रहेनार इन्द्र तेमज शिष्टानो वीरो, महत्तमां वसुनार भूपति तेमज सुंदरीमां रहनार गरीब कठीआरो, ए दरेक जीवतु इच्छे छे, तेन समर्थने कोई पण प्राणीकां मन नामा प्रापने पण निरर्थक कष्ट न देतुं कोइए” ।

अहिंसा परम धर्म छे—अहिंसा—परम धर्म छे, हिंसा सर्व जग्याए निदाय छे, ते पोताने पण वधारे अप्रिय छे, तो बीयाभांने पण अपरम अप्रिय छे, धारण के पोतानी तेमज परनी मनोदयामां बंध मन्तर नथी, तेथी पणुव मनुष्योनी सदा आ भावना रहे छे के कोई पण प्रचारे जगत्या वीरोनुं कनान

कहं । भलाई कहं, परोपकारमां हुं पोते लान्यो बळग्यो रहुं ने बीजाओने लगा-  
ववानो प्रयत्न कहं । मारामां लेशमात्र पण दोष न रहेवा दऊं ने बीजाओने  
निर्दोष बनाववानो पण सतत प्रयत्न कहं । आत्माना अनन्त सुखथी सुखी बनी  
बीजाओने सुखना स्थान पर लई जाऊं ।

जो कोई प्राणी आ भावथी विपरीत चाळीने, लोभना दास बनीने,  
जीभनी लालच जाळमां फसीने, द्रव्योपार्जननी इच्छाथी, लडाईमा विजय मेळ-  
ववानी इच्छा थी, पोताना मनने व्हेखाववानी हेतुए, निरपराध दीन-प्राणिओनी  
'हिंसा' करे छे ल्यारे तेनाथी उपार्जन करेल्य पापथी दूषित धईने, ते स्वार्थाने  
नरकमा अवश्य जवुं पडे छे, आ सिद्धान्त सर्व महापुरुषोंने मान्य छे, बधाए  
तेने उच्चकोटिए पहुँचाववानो प्रचार कर्यो छे, महापिं 'पतंजलिए' तो तेने  
सर्वथी मोटुं स्थान आप्युं छे, पाच यमोमां सौथी प्रथम 'यम' जीवरक्षा छे;

“क्रोध-लोभ-मोहने लीधे हिंसा करवी, कराववी, अने अनुमोदवी तेने  
वितर्क कहे छे, अने ते पापनुं परिणाम तेमना मते अनन्त दुःख बताववामां  
आव्युं छे ।”

कोई जरयाए तो अहिंसानी प्रसंसा एटळे सुधी करवामां आवी छे के  
प्राणिओनी साथे वैर भाव पण लागी देवो जोइए । ल्यारेज साधक अहिंसा  
साथी शके छे ।

**धीमद् उमास्वामीए**—तत्त्वार्थसूत्रमां कह्युं छे के “जे कोई जीव  
प्रमाद अर्थात् असावधानता युक्त यईने मनो योग-वचन योग अने काययोग  
द्वारा प्राणोनो 'अतिपात' वा 'व्यपरोपण' करे छे तेने हिंसा करवुं कहे छे ।

हिंसा करवी-मारवुं-प्राणोनो अतिपात ल्याग अथवा वियोग करवो, प्राणोनो  
बध करवो, जीवने क्यथी अलग करवो, भवान्तर अथवा गलन्तरमां पहुँ-  
चादी देवो, अगर प्राणोनुं व्यपरोपण करवुं, ए बधा शब्दो एकार्यवाची छे ।

जो कोई जीव प्रमारी अर्थात् मद विषय-कषाय-निद्रा अने विद्वधाने बध  
धईने एवुं धर्य करे, पोताना वा परना प्राणोना व्यपरोपणमां प्रवृत्त बने, ल्यारे  
ते हिंसक हिंसाना दोषनो भागी कहेवाय छे, प्रमादनो ल्याग करीदे प्रवृत्ति कर-  
वावाळना शरीरादिकना निमित्तथी जो कोई जीवनो बध यई जाय तो ते दोषनो  
भागी कहेवातो नथी । एटळे 'अप्रमत्त' अवस्थानुं भीजुं नान 'बहिष्सा' छे ।



तदुपरान्त 'योगशास्त्र' ना व्यासकृत भाष्यमा अहिंसानी व्याख्या आ प्रमाणे करवामा आवी छे । के "सर्वदा सर्वप्रसरना जीवोनी साधे कही पण श्रेह न करवो ते अहिंसा छे ।

याज्ञवल्क्य-स्मृतिमां कयुं छे के मन, वचन, कायभी कोइने पण क्रोध न पहुँचाइवो ते ज 'अहिंसा' छे ।

अहिंसा-सत्य-आज्ञा बिना पर वस्तु न लेवी, आत्माने पवित्र राखवो, इन्द्रियोनुं दमन करवुं, दया पाळवी, मनोविचारना प्रवाहने रोक्वो, शान्तिमय जीवन जीववुं, ए चधाने धर्मसाधन बताववामां भाव्युं छे ।

यजुर्वेद-तेमां पण उपदेश भाषवामां भाव्यो छे. के-हे पुष्प ! तूं जगत्ना कोई पण प्राणीनी हिंसा करीत नहि । "मित्रस्वाहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" १८-३, पोतानी आंखोभी सर्वने मित्र दृष्टि जोवा जोए । शत्रु जेवी दृष्टि कोईना पर पण न करवी ।

मनुषो पांचमो अध्याय-"जे मनुष्य पोताना कल्याणी हो इच्छा प्रगटकरे छे, परन्तु प्राण-भूत जीवोनी हिंसा करे छे. ते जीव आ लोकमां, अने मसीने परलोकमां वयारे पण सुख मेळवी सक्यो नहि ।

दशधर्म-"धैर्य धारण करवुं, शान्ति राखवी, आत्माने पापभी विरक्त बनाववो, चोरी न करवी, आन्तरिक पवित्रता राखनी, इन्द्रियोने पक्ष करवी, सत्य बोळवुं, क्रोध न करवो, अहिंसानुं पालन करवुं, आरंभ अने परिश्रमे मुक्वा ए प्रसारे धर्मना दक्ष लक्षण बतावेज छे ।"

महाभारत-"आ तूं सत्य वहुं तुं के सत्यवादिभोना धर्म अहिंसा छे. अने ते प्रधान छे, अने हिंसा करवी, ए अधर्म छे, पाप छे ।

अहिंसायचनामृत-अहिंसा परम धर्म छे, अहिंसा उत्कृष्ट दमन छे, अहिंसा उत्कृष्ट दान छे, अहिंसा प्रधान तप छे, अहिंसा परम यज्ञ छे, अहिंसा परम पठ छे, अहिंसा परम मित्र छे, अहिंसा उत्कृष्ट मुग्ग छे अहिंसा एव उत्तम जीवन छे ।

"सर्व प्रसरना यज्ञेना अनेक प्रसस्तुं दान करवुं, सर्व दीर्घना धनं कृत्स्विभो गायी, सर्व दानोनुं कृत् अहिंसा करतां शर्व नशी, एतदेके ते क्मे अहिंसानी साधे पचयती करी सक्युं नशी ।"

नियमसार-कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गस्थान, हत्यादि भेदोने सारी रीते जाणीने जीवरक्षा करवाना भावने 'अहिंसा' कहे छे, जीवोनुं मृत्यु थाय छे के नहि, ए प्रकारना विचारमां लगेला परिणाम वगर पाप-हिंसारूप क्रियानो त्याग यवो कठिन छे, तेथी ते रक्षाना प्रयत्नमां लागवुं, ते 'अहिंसा' छे ।

समन्तभद्राचार्यजीनुं कथन छे के-जगत्मां आ सर्व जाणे छे के 'अहिंसा परब्रह्म स्वरूप छे, अर्थात् आत्मानी पूर्ण वीतरागतात्र 'अहिंसा' छे । ज्यां वीतरागता छे त्यां आत्मानुं शुद्ध-स्वरूप छे, जे आश्रमना चरित्रमा अणुमात्र पण आरभ नथी, त्यां आ 'अहिंसा' प्राप्त थाय छे । आशय ए छे के आदर्श पुरुषोनुं सुन्दर तेमज सचरित्र रूप आचरण 'अहिंसा' छे । तेथी अहिंसानी सिद्धिने माटेज परम दयालु प्रभुए आरम्भ परिप्रह्नो त्याग कर्यो छे । प्रभु विकारशील वेश तेमज परिप्रह्मा अनुरक्त नथी । कारणके ज्यां परिप्रह्नी आसक्ति नथी त्यांज ऊंचा प्रकारनी अहिंसा-धर्म छे 'जैन धर्मनी जव' ते माटे बोलवामां आवे छे के तेमा पूर्ण अहिंसानुं पालन करवामां आवे छे, ते त्रस जीवोनी घात करवावाळा विचारोने जडमूलधी नाश करवानुं कारण छे । तेमज पंचकायरूप एकेन्द्रिय जीवोनी घातथी पण तदन पर छे । अहिंसा त्रणे लोकना जीव समूहने सुख देनारी छे । तथा सुन्दर अने अक्षय सुखधी भरपूर समुद्र समान अगाव छे ।

सर्वथा अहिंसानुं पालन करवुं, ए मुनिओनो धर्म छे, कारणके हिंसानुं परिणाम दुःख जनक छे, एम महापुरुषोए महान् अनुभवधी बताव्यु छे ।

"पगे लंगडोछे, शरीरमाधी रक्त पित्त वहे छे, हाथ कपायेला छे, तेमज अन्य अनेक रोगधी भरपूर छे, सेने जोईने समजी लेवुं जोइए के आवुं दाहण दुःख अन्य प्राणियोनी हिंसा करवाधी तेने भोगववुं पडे छे । आधी निरपराध जीवोनी संकरपमात्रधी पण हिंसा न करवी । ए चतुर पुरुषोनु कर्तव्य छे ।"

सुख दुःखमां, भला बुरामां, युक्त अयुक्तमां, पोताना जेवा अन्य आत्मा-ओने समजीने क्यारे पण कोईनुं 'हिंसारूप' अनिष्ट न करवुं ।

लोकोनुं मन्तव्य-लोकोनुं आ मन्तव्य छे के-धर्मना संपूर्ण अंगो सांभलीने, मनमां विवेक राखीने तेनो निर्णय पूर्वक आ सार छे के ज्यारे मने वीर. ११

નારાથી પ્રતિકૂળ સારું નથી થયતું ત્યારે ષીજાઓને તેમને પ્રતિકૂળ ક્યાંથી સારું લાગે ?

“વધાને પોતાનો પ્રાણ પ્રિય છે રાજ્ય નહિ”-પોતાના પ્રાણ પ્રચાલવાની યાત્રા શુદ્ધ મિત્ર અને રાજ્યને પણ તૃપ્તિની ધમાકા છોડી દે છે, તેથી જ કોઈના પ્રાણનો નાશ કરવાથી જે પાપ થાય છે. તે સમસ્ત પૃથ્વીનું દાન કરવા છતાં દૂર થઈ શક્યતું નથી ।

મરનારને મહે રાજ્ય આપો કે મુવર્ણના પહાડ અર્પણ કરો પરન્તુ જીવ-તરની પાસે તે વસ્તુઓનો કંઈ હિસાબ નથી । તેથી તે સર્વને છોડીને જીવતા રહેવાની અપીલ કરે છે ।

“જરા કાંટો પગમાં લાગે છે તો તે આપા ઘટીરમાં મારે પીઠા કરે છે તો જે નિરપરાધ જીવોને મોતને આરે પહોંચાડી દે છે, તે મરનારના દુઃખોની પેદના અનિર્વચનીય છે ।”

“અચરણ, નિરપરાધ, દુર્બલપ્રાણી ધલવાનના હાથે મરણ છે, તે ક્યાંની નીતિ ? હાથ ! કટની સાથે અમારે કહેવું પડે છે કે જગત્માં અરાજકતા વ્યાપી ગઈ છે, ત્યાં ન્યાયને સ્થાન ક્યાંથી મળે, જો કોઈ કોઈને સંમતિ આપે છે ‘તું મરી જા’ એમ સાંમત્તનાર પણ આ સાંમત્તતાં જ કંપી ડટે છે, ઘટીર મધ-મીઠ અને દુઃખી થઈ આવે છે । તો જે ષીજાને કટોરતા પૂર્વક ઘાલપી મારે છે ત્યારે તેની ષી દશા થતી હશે ! તેના દુઃખના અનુભવ ઘર તેનું વર્ણન કોણ કરી શકે ?”

“દાધનું કપાનું સારું છે, પગ ઘરના રહેવામાં પણ કંઈ સરખી નથી, પણ ઘટીરના સમ્પૂર્ણ અંગોને પ્રાપ્ત કરવા છતાં ‘હિમકપુરુષ’, કોઈ ધામનો નથી ।”

સ્વાર્થ સાધવાની હિંસા પણ હાનિકારક છે-“મિત્રની ઘાનિતને માટે કરેલી હિંસા પણ મિત્રને માટેજ પાય છે । પગાઓ એમ કરી છે કે-અમારા મુલનો આ રિવાજ ચાલ્યો આવે છે । પરન્તુ તે મુલનું જગમ મરું કરી શકતો નથી । તે મુલના નાશ માટેજ પાય છે ઘાનિતને માટે નહિ । પોતાના વંશમાં પરસ્પરાગત ચાલતી આવેલી હિંસાને જે પ્રાણી છોડી દે છે, અને શુદ્ધ અહિંસક બને છે, તે ‘અલમૂર કચાઈ’ ના મુલ ‘મુલશ’ ની જેટ મરવે મનુષ્યોમાં પવિત્ર અને યેષ્ટ બને છે ।”

“जे इन्द्रियोने सो बसमां राखे छे; देव-गुरुनी सेवा पण करे छे, यथा शक्ति दान पण आपे छे, तत्व भणे भणावे छे, तप पण करे छे, पर्ण धर्म बुद्धिए जरा पण हिंसा करी वेसे छे त्यारे तो तेनी उपरोक्त सर्वे क्रियाओ निष्फल छे, तेथी साबित धयुं के धर्मना नामे करवामां आवेछी हिंसा बज्रलेप समान भयंकर पापकारिणी छे।” “अने जे शास्त्रमां धर्मना नामे हिंसानो उपदेश करवामां आब्यो होय ते शास्त्र नथी पण शास्त्र समान छे।” “ए केवुं आश्चर्य छे जे मनुष्य सुद्धाने मारवानो उपदेश देवावाळा, लोभान्ध बनी पय अथ बनवावाळा, हिंसा विधायकशास्त्र बनावीने तथा पाप करवानो उपदेश आपोने लोकोने मूर्ख बनावी रखा छे, अन्वभ्रद्वाळु बनावीने मानो नरकना कुंडमा नाखी रखा छे।”

**अहिंसानुं माहात्म्य-**“अहिंसा मातानी जेम सर्वनुं पालन करनारी अने हितकरिणी छे। अहिंसाज शत्रुभोना मनमा अनृतनो संचार करावनारी छे। अहिंसा दुःख रूपी दावानलने बुझाववामां अमोल अने प्रधान वर्धा छे। संसार भ्रमण अर्थात् जन्म मरणना रोगधी पीडित जीवोने आरोग्यता अर्पनारी समर्थ औपधि छे।”

**अहिंसानुं फल-**“वीर्यायुष्य-पवित्र अने सुन्दर रूप-वीरोगता-संसारमां निर्मल यशः कीर्ति इत्यादि सामग्रीओ अहिंसा पालनधी ज मळे छे, अधिक हुं कहेवुं, अहिंसा सर्वे मनोरथ पूर्ण करवावाळी आदि शक्ति छे।”

**कोईए ठीकज कह्युं छे के-**“पवंतोमां सुमेरु-अमृत पीनारामां देवता, मनुष्यांमां चक्रवर्ती, ज्योतिष चक्रमां चन्द्र, वृक्षोमां ठंडी छाया आपनार फलदार अशोकवृक्ष, ग्रहोमां सूर्य, जलाशयोमां समुद्र, सुर असुर मनुष्य तथा चक्रवर्तिओमां वीतरागनी समान सर्वे व्रतोमा पण अहिंसा व्रत सर्वोत्तम छे। ते व्रत अनुपम छे।”

**निष्कर्ष-**आ सर्वे शास्त्रोनी विचार करतां ए स्वयमेव सिद्ध थाय छे के हिंसा सर्वे शास्त्रोमां वर्ज्य बनावी छे। जैनोए तो, तेनुं नाम ‘प्राणातिपात’ कह्यु छे। तेनो आशय ए छे के कोईना एक प्राणने पण निरर्थक दुःख नः देवुं ओइए। साधु मुनिराज तो तेनुं सर्वांशे पालन करे छे। अने गृहस्थ तेनुं अमुक अंशे पालन करी शके छे।

“पोतानुं जीवन सर्व कोईने बधी वस्तुओ करता अधिक प्रिय छे, जेन कर्षु छे के—“जो मरनारने एम वहेवामा आवे के तुं एक करोड सोनामहोर लईने तारो जीव दई दे । त्वारे ते धनना डगलाने छोडीने जीववानी आशा प्रगट करछे । कारणके जीव मया पछी तेने माटे धन शा काननुं ? सर्वने जीवयुं बहालुं लागे छे । तेथी सर्व दानोमा अभयदान भेषु छे ।

अभयदान पर उदाहरण—वसन्तपुरमा अरिदमन नामे राजा राज करतो हतो, ते पोतानी चार राणीओ साथे आनंद भोगवतो । एक दिन ते राणीओए गायुं, बजावयुं नाचयुं सारु कर्षु । राजा तेमनी गांधर्व विद्या ऊपर प्रसन्न भई गयो अने बोत्यो के “आजे तमे जे कई मागछो तं हुं आपीछ ।” राणीओए जवाब आप्योके अल्वारे तो अमने कोई पण वस्तुनी आवरयकला नथी, पण मया समय ऊपर मागी लइछुं, अमने आपेल वरदान हमणा आप जमा राखो, राजाए कर्षु “बहु साध”

एक चार राणीओए एक चोरने ओयो के जेने लाल कपडा तथा जोडानो द्वार पहेरावीने बध्यभूमि तरफ अई जवामा आवतो हतो । राणीओनी साथे राजा पण महेल पर टेलतो हतो । चोरने जोईने राणीओए राजाने पूछयुं के प्रजानाय ! “आजे शो अपराध कसो छे ?” राजाए एक लिगाईने बोलावीने पूछयुं । तेना जवाबमा तेने कर्षु के—दृष्ट्यानाथ ! तेने चोरी जेनुं राज्य तेमज धर्मविरुद्ध असर्व कर्षु छे, तंथी आपेज तेने प्राणदंडनी शिक्षा फर्मावी छे ।

ते संभळोने तेमानी एक राणीए कर्षु के न्यायवद्म । आप मने माहं वरदान आपो के तेने एक दिवसने माटे जीवनदान आपवामा आवे, के जेथी हुं तेना पर कईक उपकार करी छकुं” राजाए कर्षु “तथास्तु”

राणीए तेने महेलमा बोलावी कर्षु के “तने आजने माटे बनायी दीषो छे माटे ता पी ने मोजकर” एम कहीने अथ बखरी तेनुं स्थागत वरवामा आय्युं । स्वार धर्ता तेने १००० टीनार आपीने विदाय करवामा आय्यो ।

ए रीते बीजी अने प्रीजी राणीए पण एक एक दिवसनुं जीवित दान दईने अनुक्रमे एक लख अने एक करोड मोनामहोरनुं दान आय्युं ।

पण चोथी राणीए तेने कई पण आप्या वगर तेने प्राण दंडनी सवा राजानी पावे क्षमा करावी दीषी । त्वारे संभळीने ते प्रणेए कर्षुके “एने तं छे

आप्युं ?” चोथी राणीए कह्युं के “में तेने ए वस्तु आपी छे के जे तमे बधी मळीने स्वप्नमां पण न आपी शको” ते सांभळीने ते बधी क्रोध करीने तेने गळे पडीने बोली के “अमे तेने क्रोडपति बनावी दीधो अने तुं कहे छे के अमे एना पर तारा जेटले उपकार पण नथी कर्यो !” चोथीए कस्युं के “धन थी पण अधिक प्रिय सौने पोताना प्राण होय छे ।” में तेने प्राण दान अपावीने हमेशने माटे सुखी बनावी दीधो छे । हवे तेने मरवानो भय नथी रह्यो । जेथी में मौथी मोटुं कार्य कर्तुं छे । जो मारी आ वात पर तमने विश्वास न होय तो राजानी पास आनो न्याय कराववो जोइए” एटली बात धया पछी राजाने महेलमा बोलाववामां आव्यो । राणीओनो मुकद्दमो सांभळीने राजाए चोरने बोलाव्यो अने पूछ्यु “तु सातुं कहे के कई राणीनो तु अधिक उपकार माने छे ?”

तेणे विनय पूर्वक चिर झुकावीने कस्युं के—एम तो बधीए मारा पर भारे उपकार कर्यो छे, कारण के तेणे मने अभयदान अपाव्युं छे । त्रणे राणीओए क्रोडोनुं धन आप्युं अने एक एक दिवस मरतां बचाव्यो पण ए भय माथे रह्योज हनो के काले तो मरी जवानुं छे, तो आ धनने छु करं ? पण चोथी राणीए मने सकटमांथी बचावी दीधो छे । जेथी हुं जावजीव सुधी निर्भय बनी गयो, तेथी आ उपमारनो बदले मारो देह अर्पनि पण नहि चुकवी शकुं । “धारणके सर्वदानोमा अभयदान श्रेष्ठ छे ।”

एज प्रकारे सखबचनो निरवय-भापरहित-अन्यनी पीडा दूर करवावाळी भाषा सर्वोत्तम छे, कारण के काणा-नपुंसक-रोगी-चोरादिने तेना नामे बोलाववाथी पण तेना मनने आघात पहोंचे छे ।

**मनुनो मत—**“सत्य-प्रिय-तेमज मनने अनुकूल बोले, असत्य तेमज अप्रिय स्वप्न पण न बोले । आ प्रसंग मा अत्य शब्दना जैनतिद्वान्तमां त्रण जय छे । सद्भावनो प्रतिषेध, तेमज अर्थान्तर तथा गर्हा-निन्दा । वस्तुना स्वरूपना अपलापने सद्भावनो प्रतिषेध कहे छे । ते वे प्रकारे छे । सद्भूत पदार्थनो निषेध तेमज असद्भूत पदार्थनुं निरूपण । जेमके “नास्ति आत्मा” अर्थात् आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नथी, अथवा “नास्ति परलोकः” परलोक अर्थात् मरण पछी जीवने अन्य भव धारण करवो पडे, ए वास्तविक नथी, ए कोंरे भूत निन्व छे । कारण के तेथी सद्भूत पदार्थनो अपलाप धाय छे । आत्मा तेमज परलोक-जीवन भवान्तर धारण करवु वास्तविक रीते सिद्ध पदार्थ छे, युक्तियुक्त तेमज

અનુભવગમ્ય છે, તેનો નિષેધ કરવો તે સમૂહનું અપભ્રંશ નામે સિધ્ધાવચન છે, અત્માને શ્વાભાવિક તંદુલ-સામરત્ય જ્વલની જેમ નાના પ્રમાણવાળો ચતાવવો અથવા અગુઠાના ટેરવા બરાબર સમજવો અથવા એમ કહેવું કે તે રક્ત વર્ણનો છે । નિષ્ક્રિય છે, વગેરે સર્વ વચન અમૂલોદ્ભાવન નામે અસલવચન છે, કારણકે આ જ્ઞાતના વચનો દ્વારા આત્માનું જે વાસ્તવિક સ્વરૂપ નથી તેનો ઉદ્દેશ કરવામાં આવે છે । અર્થાન્તર-પટલે મિત્ર અર્થ, એક પદાર્થને અન્ય રૂપે ચતાવવો, વાસ્તવિક ન કહેવો, તે અર્થાન્તર છે । જેમ કોઈ ગાયને ઘોડો કહે, અને ઘોડાને ગાય કહે; પાવને શંકર કહે અને શંકરને ગુલ્મન કહે । તે-અર્થાન્તર નામે અસલ રહેવાય છે ।

મર્દા-પટલે નિન્દા કરવી, તેથી જેટલ્ય નિય વચનો છે તેને વધાને મર્દિત નામે અસલ વચન સમજવાં જોઈએ, જેમકે “શાને મારી નાસો !” “મરી જા” “શાને કસાઈને સીંધો દો” વિગેરે હિંસામય વચન શોભતાં તેમજ મમં મેથી-મનને દુઃખ થાય તેવા અપશબ્દ કહેવા, ગાઠો દેવી, કચ્છેર વચન કહેવાં, કૂર શબ્દો વાપરવાં, પૈશ્વન્ય-કોઈની પુગલી કરવી, વગેરે મર્દિત વચન કહેવાય છે । જો તે મર્દિત વાક્ય કદાચ સલ્લ પળ હોય, છતાં તે અસલ મનાય છે । કારણ કે તે નિન્દ્ય છે । પ્રમાદ સહિત જીવના વચનો પણ અસલ મનાય છે, પ્રમાદ યુક્ત કહેલા વચન અસલ હોય છે, અને પ્રમાદ રહિત કહેવામાં આવેલ અસલ વચન પણ સલ્લ હોઈ શકે છે, જેવી રીતે કોઈ રોગીવાદ્યકને પતાગામાં દવા રાશીને આપતાં કહે છે કે આ પતામું છે ।

સત્ શબ્દના જે અર્થ થાય છે, વિદ્યમાન તેમજ પ્રસંગા-તેથીજ અગત્ શબ્દના અવિદ્યમાન અને અપ્રસન્ન એ જે અર્થ ઉપા જોઈએ । મૂલ-વિન્દ્ય-અગત્-તોદ્ભાવન તેમજ અર્થાન્તર તે અવિદ્યમાન અર્થ દર્શાવનાર હોવાથી અસલ છે । મર્દિતવચન અપ્રસન્ન હોવાથી અસલ છે તેમજ પ્રમાદનો સંબન્ધ પણ બંનેની ગાય છે,

તે કિંવાય કપાય અસલનું વિમિત્ત બને છે । કશ્ચપનો ઉદય પતાં અપ-વનો પ્રયોગ અવશ્ય કરવામાં આવે છે । તેથી ક્રોધ-માન-માદા-ન્યેમ-રાગ-ત્રેપ-મોહાદિને સ્કીપે અસલ ચોટવાનો ત્યાગ કરવો, તેને ગદા અપુત્રન કહે છે ।

મરદસીમાં-કચ્છેર શબ્દ વાપરતાં-મુગલી કરતાં-અપ્રસલ્લવચન કહાર્ત-અગત્ શબ્દ શોભવાનું અનિશ્ચય થઈ જાય છે । ગ્યારે વીતું અણવત શોભવાય છે જ્યારે જ વેદપારિઓને આભસ્થિરતા પ્રાપ્ત થાય છે ।

कोईए कछुं छे के जेने मूढताने कारणे धर्म एयुं नाम आपवामां आव्युं छे, कळी जेने म्लेच्छो पण निन्द्य समजे छे, ते असलनो मन-बचन-कायथी ल्याग करवो एज योग्य छे, जो हितनी वाञ्छा होय तो असल न बोलता मौननो स्वीकार करवो जोइए । कारण के नीचेनी बाबतोमां सौ मौन राखे छे; जेवां के-

प्रतिक्रमण करती वखते, मलमूत्र ल्यागती वसते, पाप कार्य छोडती वखते निरन्तर मौन सेबवुं, कारण के मौनना सेवनथी वाणीना दोषो लागता नथी ।

मौनथी कलेशनो नाश थाय छे, सन्तोष भाव आवे छे, वैराग्य आवे छे, ने सत्य अने संयमनी पुष्टि थाय छे; जीभनो स्वाद लजवाथी तपनी वृद्धि थाय छे, अभिमानथी बची जवाय छे, ने सत्य-समता आवे छे । वाणी मनोरमा बनी जाय छे, बचनो प्रशंसा पात्र थई जाय छे, मौन सेवनार पूज्य बने छे, परन्तु देश कालनो विचार करीने मौननुं सेवन करयु जोइए । जो कयाय बोलवाथी संसारने मद्दोष तेमज चरित्रनो लाभ थतो होय तो ल्या मौन न रहेयु जोइए, वाणी हमेशा सत्य होबी जोइए ।

**गृहस्थने माटे त्याज्य असत्य**-गृहस्थे कन्या-पशु-भूमि सम्बन्धी जुहु न बोलवुं जोइए, खोटी साक्षी पण न देवी जोइए, तेमज कोईनी यापण ओढववी न जोइए, आ पाच बातोने ध्यानमां रासनार सखाणुवती छे, जो मल्य बोलवाथी पोता-पर अथवा बीजा पर आपत्ति आवी पडे तेम होय तो त्यां मौन राखवुं योग्य छे ।

अने साधु ज्यारे राग-द्वेष अगर मोहथी असल्य बोलवाना परिणामने छोडे छे, ल्यारे बीजुं सत्य व्रत कहेवाय छे । कारणके असल्य बोलवानो भाव सत्य भावथी विपरीत होय छे । अने आ असल्य भाव, राग-द्वेष के मोह भावथी जीवमां उत्पन्न थाय छे । यानी मनुष्य इष्ट पदार्थ अथवा विषयोनी प्राप्ति अथवा रक्षानी खातर राग द्वारा असल्य बोले छे, अनिष्ट पदार्थ अथवा विषयोने दूर करवाने माटे अथवा तेनो सयोग न थाय ते माटे द्वेषयुक्त असल्य बोले छे । अथवा मिथ्या बुद्धिथी ससारमां मोहने लीधे ते मिथ्याभावनी रक्षाने माटे असल्य बोले छे, जे कोई निकट भवी जीव आ प्रहारना असल्य बोलवाना परिणामने ल्यागी दे छे, तेनामा सत्य व्रतनी योग्यता आवे छे । जे सत्य भावना रगथी रंगाइने प्रगट रीते सत्य व्यवहार करे छे, ते सज्जनोपण पूज्य बने छे, तेथी आ बात लह्न साची छे के सत्य थी बधारे महान् बीजुं कोई व्रत नथी ।



અસત્ય બોલવાનું નિકૃષ્ટ પરિણામ—જુઠું બોલનાર મર્દને મૂંઝો રહે છે, અથવા તેને મૂક મતિવાલો જીવ બનવું પડે છે, તે સ્વપ્ન બોલી શકતો નથી । ઘોરૂંને તેની સમ્મતિ પણ પ્રિય લાગતી નથી । મુસ રોમથી પીચાય છે, આ મધું જુઠું બોલવાનું કુટ્ટ પરિણામ જાણીને વચ્ચારિ સમ્બન્ધી અચલ રહી પણ ન બોલવું જોઈએ । અમલ્ય બોલનાર મૂર્ત-વિકલ્પગ-વાળી હોય છે । તેની વાતો માંમઠનાં લોચને તિરસ્કાર ધાય છે । અને તેના મુગમાંથી ડુર્ગન્ધ નીકળે છે । જે લોક વિરુદ્ધ છે, જેથી વિશ્વાસપાત ધાય છે । જે પુણ્યનું પ્રતિપક્ષી છે, તેવું વચન વચારેય પણ ન બોલવું જોઈએ । જે જૂઠું બોલે છે તેનામાં તુચ્છતા આવે છે, તે પોતાને છેતરે છે, અધોગતિ ( નરક ) માં જાય છે, તેથી જૂઠું મદ્ય પર્જનીય છે । જૂઠું પ્રમાદથી પણ ન બોલવું જોઈએ, કારણ કે દિત્તવર્ત્તરૂપી કલ્પારૂઠ અમલ્યરૂપી આંધી થી પરી જાય છે । મૂત-અધિષ્ઠા-વર્તેમાનની વાતોનું પૂર્વેપણે જ્ઞાન ન હોય તો 'તે આમ હશે' એમ ન કહેવું, જે વાતનાં સ્વર હોય તે ન કહેવી, જો પ્રણે કલની વાતોમાં તદ્દન નિસ્તંક પણ હોય તો કહેવો । અચલ્ય બોલવાથી ઘેર વિરોધ વધે છે, પોલ ચુલી જવાથી પલ્તાસો ધાય છે, ઘોરૂં તેના પર વિશ્વાસ કરતું નથી, વદનામી ધાય છે, જગધ્વના સંવનની પેઠે અનેક ડુ.ગો જૂઠું બોલવાથી ધાય છે । જૂઠું બોલનાર નરક-નિર્ગોદ-અને પશુ યોનિનાં જન્મ મરણ કરે છે । ધોરૂં અમલ્ય બોલનાર પણ નરક નિર્ગોદમાં જાય છે । જ્ઞાનિઓએ જ્ઞાન અને ચરિત્રનું મૂલ સલ્લન પતાવ્યું છે, સ્વરચારિઓની ચરણ રજથી પૃથ્વી પરિવ્ર ધાય છે । જે દમ્ભનાં તલ્લ બોલે છે તેને મૂત-પ્રેત-તર્પ-વિહ-વદ્ પણ રહી શકતા નથી । માથું મુઠાર્ચને, જયા સર્ચને, નમાવસ્થા ધારણ કરીને, શ્વપુ-વેગ પહરીને, અથવા તપધર્મા કરીને જે આગર બોલે છે, તેને અટૂળ કરતાં પણ મધું નિન્દ્ય મ્મજવો । એક તરફ અમલ્યનું પાપ અને વીચી ચતુ આગ્ર સંચરનાં મર્દ વાપો રાસકાનાં આર્થે નો અચલ્યનું પાપ રહી જાય । કુચ્ચ એમન સ્વનિચરિ-ઓના પાપનું પ્રત્યક્ષિત હોય છે પણ અચલ્યવારિને માટે નથી । યજ્ઞના પહેલે દેસે પવ ઝના રહે છે, રાજા પણ તેના પર પો-ગાની ગલા નથી પાગલી શકુટે, તેને પ્રાંમ ઉપદ્રવ કરી શકતો નથી, આન મન્વનો મદિમા અગર છે । મ્મન યોગિ-ઓએ મલની મૂચ્ચ પ્રથમા કરી છે, જેમાંથી કુમ્બકાચાર્ચનો કેટલક વચનો આ નીચે આપ્યાં છે । "જે સંવની મુનિ ધીરજ પૂર્વક મુલ્મની રથા કરે છે, જો મુનિચીશાની પુષ્ટને ધારણ કરે છે, તે વચ્ચનથી વગલ્યાં મ્મરૂપી પુષ્ટ રોષે છે ।"

“यम-नियमादि व्रतानो समूह एक मात्र अहिंसानी रखाने माटेज बहो छे; अहिंसा व्रत जो असत्यही दूषित होय तो ते उच्चपद कही पण प्राप्त न करी शके, असत्य वचन साथे अहिंसानुं पालन अशक्य छे।” “जे वचन जीवोनुं हित करनारं होय ते असत्य छता सत्य छे। अने जे वचन पाप सहित हिंसा रूप कार्यनी पुष्टि करे छे, ते सत्य छता असत्य छे निन्द्य छे।” “जे साधक अनेक जन्मोनां दुःखोनी शान्ति अर्थे तप करे छे, ते निरन्तर सत्यज बोले छे, कारणके अगत्य बोलनारने साधकपणु समभवतुं नथी।” “जे वचन सत्य होय छे, करुणाधी भरपूर होय छे, अविरोध होय छे, आकुलता रहित होय छे, असभ्य न होय, इन्द्रिय विकारोने पुष्ट करनार न होय, गौरव बधारनार होय, कोईने हलका पाटनाइ न होय, तेज वचन शास्त्रमा प्रशंसनीय गण्युं छे।” “निरन्तर मौननुं सेवन कल्याणकारी थाय छे, जो बोलवानी जरूर पडे तो सत्य-प्रिय-तेमज हितकर बोलवुं जोइए।” “पण दुष्ट चरित्रोना मुखमा वाणी क्रूर असत्य वाणी रूपी नागण रहे छे, के जे आखा जगत्ने दुःखी करे छे।” “जे वात सदेह युक्त होय, पापरूप होय, दोष सहित होय, ईर्ष्याने बधारनारी होय, ते बीजा ना पूछवा छता पण न कहेवी।” “भर्मभेदी, मनने पीडा उपजावनार, स्थिरता नाशक, विरोध करावनार, तेमज दया रहित वचनो प्राण जाता पण न बोलवां।” “ज्या धर्मनो नाश थई रह्यो होय, चारित्र्यने तुकसान पहांचतु होय, देसनी स्वतन्त्रता नाश पामती होय, समीचीन सिद्धान्तनो लोप घतो होय, त्या देख-धर्म-तेमज जातिनी उन्नति खातर बगर पूछये पण विद्वानोए बोलवुं जोइए, ते समये मौन धारण करवुं योग्य न कहेवाय।” “जे वाणीना ध्वजधी जीवो मोह मुग्ध बनी जाय, सन्मार्ग भूली जाय, साम्प्रदायिकता अने पक्ष-पात आवी जाय, बाडाबंदीमां फसावनारी ते वाणी नथी, पण सापणी छे, कारण के तेना ध्वज मात्रधीज प्राणी उत्तम मार्गने छोडी-कुमारें जाय छे।” “मनोहर वाणी जेटलं मुख आपे छे तेटलं मुख चदन-चन्द्रमा-चन्द्रमणी-मोती-मालती बगेरे शीतल पदार्थें आपी शक्य नथी।” “अग्निधी दग्ध वन क्यारेक पग लीलुं बनी शके छे, पण वाणीरूपी आगधी पीडित मनुष्य कही पण प्रफुल्ल बनी शक्यो नथी।” “जे सत्य-वक्ता छे, तरवना स्वरूपने समजे छे, मद्राचारी छे, तेना चरण स्पर्शधी पृथ्वी पवित्र थने छे, ते लोकोज उत्तम छे, अने जे असत्य वचन बोले छे ते नीच अने शूद्र छे।” “जे नीच पुरुष मनुष्य-

જન્મ પ્રાપ્ત કરીને પણ અસલ ઘોળે છે, તે સંસાર રૂપી સમરનો પાંચ કેવી રીતે પામી શકે ?” “જેનાં નાક-ચાન-હાથ કપાલેલાં હોય, શ્વેત રંગનું નામ પણ ન હોય, દરિદ્રી તેમજ રોગી હોય, કુલ્લ-જાતિ અને વર્ણ થી હીન હોય, તો શું થયું ! તેનું તો મૂળ પણ સલ છે, સત્વથી પવિત્ર તેમજ મુઠ્ઠી પરી ઘટે છે, તેની શોભા મલ્લથી છે ।” “જે પુણ્ય અમલ-કલિમાથી મહિન છે, તેનો સાથ પાપ-રૂપી-કાઝાશના મયથી કોઈ પણ ધર્મસુ પુણ્ય સ્ત્રવનાં પણ કરતો નથી ।” “જુઠાની સંગતિથી સાચો પણ કર્લકિત ધાય છે, જેમ મેલા લગ્નશાની સંગતિથી સ્વચ્છ અને નિમેઠ ગગાજાતને પન દડનું પ્રહાર સહવું પડે ।” “પુત્ર-સ્વજન-સ્રી-ધન તેમજ મિત્રો વિમુક્ત અને, વા ચાત્યાં જાય, તેમજ પ્રાગભાષ ધાય છતાં અમલ ન ચોડવું જોડા । દલાદિ વચનામૃતોનુપાન કરી જે કોઈ પાપ રહિત તેમજ ઘેઠ ગલ્ય ઘોળે છે, તે જગન્ પ્રધાન પુણ્ય છે ।”

તપમાં ધેઠુ તપ કયો ? ગલની પેઠે ગર્વ પ્રચરના ઇચ્છા નિરોધ તપમાં નવ વિધિ મદ્મ-ગુપ્તિએ ગુપ્ત એવો મદ્મચર્ય ધેઠુ છે । મુન્દર શ્રોમોના મનોહર અંગોને કોંઈને તેની સાથે રમણ કરવાની જે ઇચ્છા વિષમાં ડાપવ માય છે, તેને ત્યાગી દેવી, અથવા વેદ નામે નો-કપાયના ત્રીજા ઉદય થી મૈપુન સેરનની જે ઇચ્છા જતપમ ધાય છે તેનો નાશ કરવો એ મદ્મચર્ય મત છે । તેને શાઠ કરવા માટે મનુષ્યો કહે છે કે હે ચર્મી-નુરુષ ! અનુભવ-માહજ-પરજનત્ય શ્વેત નિજ સ્વરૂપને હોંદીને અતિ મુન્દર શ્રોજનોના શરીર આદિના શ્વેત મનમાં શા માટે વાદ કરે છે, અથવા તેના મોહમાં શા માટે કમાય છે ।

અવ્રહમચર્યના વોષ-સ્રી મનોગથી મન્યાય ધાય છે, વિગત વધે છે, ક્યન જ્વર ઉત્પાદ થઈને શરીરનું નાશ કરે છે, દિવાહિતને મુન્દરી દે છે, શરીર નિ.માવ પની જાય છે । મૃગ્ગના મંચનમાં પગાઈ પડે છે, તેથી ક્યમેરુદા અને જ્વરમાં જરા પણ અન્નર નથી । આ વોષો જાણીને જો સર્વથા ક્ષીતનું પાત્મ્ય રાજ્ય ન રાગે તો મૃહ્યે પોતાની વિવાહિત પત્નિમાં મનોષ રાગો, ક્યમકં આ પ્રતિજ્ઞા થી પણ અનેક પ્રચરની ઇચ્છાનું મરંન ધાય છે, ક્યમું પણ છે કે-સ્વપાત્રિમા મનુષ્ય રહેનાર, અન્ય શ્રો માપની વચારેવ પણ ઇચ્છા ન કરવામાં પણ મુરંનસેઠની પેઠે અતુન પ્રમાવ ઉત્પાદ ધાય છે, તો પણ મહાંઠે મદ્મચર્ય પાલનાર મદ્મપત્રીના પ્રમાવની તો ક્યન હી ! છડે તેનો પ્રમાવ અર્થનું છે અને મદ્મચર્ય । પર પુણ્ય મહે શ્વેત, દેધર્મના, કલ્પના, મને વેદને અચક

बधेलो होय, पण तेने क्षेरतुं पुतळुं समजीने स्त्रीए जेम सीताजीए रावणने त्यागी वीथो हतो, तेम तेने त्यागी देवो जोइए, जे स्त्रीए मैथुन विकारने जीती लांभा होय ते देवोने पण पूज्य छे अने इच्छनीय छे ।

मैथुन एटले गुं ? मैथुन एटले जोडुं, प्रकृतिमा स्त्री-पुरुषनु जोडुं समजवुं, बनेनो परस्परनो संयोग, अथवा संभोगने माटे जे भाव विशेष थाय छे, अथवा बंने मळीने जे संभोग क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहे छे अने तेनेज अवद्द कहे छे, तेमा पण प्रमत्तयोगनो संबंध छे । कारणके तेने लीधे जे कई क्रिया करवानां आवे, पछी भले तं परस्पर बे पुरुष अथवा बे स्त्रीओ मळीने करती होय, अथवा अनङ्ग क्रीडा आदि कां न होय, ते सर्व अवद्द छे । जे प्रमत्त दशाने छोडीने क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहेवातु नथी, जेमके पिता-भाई विगेरे पुत्री-अथवा ब्हेन आदिने गोदमां लईने प्यार करे छे, ते अवद्द कहेवातुं नथी, कारण के तेमां प्रमत्त-योग नथी । आ प्रमत्तयोगनी ओछा वत्ता अशे पण निश्चिन्ति करवामां आवे तो ते ब्रह्मचर्याप्रव्रत कहेवाय छे । जेमके वरुं छे के-“माता-ब्हेन-पुत्री समान परस्त्रोने जाणे, ने पोतानी विवाहिता स्त्रीमां मन्तोप माने, ते चोथुं अणुव्रत कहेवाय छे ।” “उत्तम पुरुष परस्त्रीने व्याधि समान समजी ने दूरधीज त्यजी दे छे, कारणके परस्त्री तो सर्वदुःखोनुं पर छे, अने सुखोने नाश करनार प्रलय काळनी आग समान छे ।” “जे स्त्री पोताना पतिने छोडीने परपुरुष साथे रमण करेछे, तेने प्रथम पकिनी निर्लज्ज समजवी जोइए, ज्यारे आ प्रकारना आचरण थी पोतानी स्त्री पर पण विद्वास न रहे तो परस्त्रोने विद्वास केम राखी शक्य ?” “परस्त्रीनु सेवन करनार पुरुषने नरक निगोद मा रचड्वावुं रहे छे, तेमां कश्य सुख तो नथी ज, तेथी मनुष्योए ब्रह्मचर्य व्रतनु पालन करवु जोइए ।” “आ व्रतनु पालन करनार योगीओ परब्रह्म परमात्मानुं ज्ञान पाये तेनेज स्व-स्वरूपने अनेद रूपे जाणी शकें छे, तेनो अनुभव करी शकें छे । तेने धीरवीर पुरुषो ज धारण करी शकें छे । अरपसत्ववाळा-झीठर-हित-इन्द्रियोना दास-दुर्बळ पुरुषो तो स्वप्नमां पण आतुं समाचरण करी शकता नथी, कारणके ब्रह्मचर्य पण महाव्रत छे ।” “व्रणे जगतमां ब्रह्मचर्य व्रत प्रशंसनीय छे, जे सेनु निर्मळ भाव पूर्वक पालन करे छे, ते पूज्यना पण पूज्य छे ।

जे ब्रह्मचर्य पालनमा अनुरक्त छे ते दश प्रकारना मैथुननो सर्वथा त्याग करे छे ।

(૧) જેમકે શરીર ઠણઠણું, (૨) પુટ પદાર્થનું સેવન કરવું, (૩) ગાવું, બજાવું, જોવું, સાંભળવું, (૪) છી સતર્ક કરવો, (૫) છી સંબંધી સંકલ્પ વિકટપ કરવા, (૬) છીના અગ ડપાંગ જોવા, (૭) તેને જોવાના વિચારો કરવા, (૮) પૂર્વકૃત ભોગોનું સ્મરણ કરવું, (૯) ભવિષ્યમાં ભોગોની ચિન્તવણ કરવી, (૧૦) વીર્ય સ્ત્રલન કરવું,

આ દશ મેદ મૈથુનના છે, બ્રહ્મચારીને માટે તે સર્વથા ત્યાજ્ય છે ।

“જેવી રીતે ક્રિપાક ફલ દેસુલા-મુંઘવા માં રમણીય છે, પણ પરિણામે હાલાહલ શેર સમાન છે, તેવીજ રીતે મૈથુન પણ થોડા વચ્ચત માટે રમણીય-મુંદર અને મુખ્તદાયક માલુમ પડે છે, પરન્તુ પરિણામે અલ્પન્ત મયપ્રદ નીવડે છે ।” “જે પુરુષ કામભોગોથી વિરક્ત બનીને સદા બ્રહ્મચર્ય પાલે છે, તેને ભાવશુદ્ધિ માટે દશ પ્રસારના મૈથુનનો સ્વાગ કરવો જોઈએ, કેમ કે આ દોષોના ત્યાગ કર્યા વગર ભાવશુદ્ધિ-નિર્મલતા યતી નથી, ભાવજ કામના વેગને રોકી શકે છે, કહ્યું પણ છે કે-

“સર્પ કરડેલ માણસને સાત વેગ હોય છે, પરન્તુ કામ રુપી સર્પથી ડરાવેલ જીવને દશ મહા મયાનક વેગ હોય છે, તે નીચે મુજબ છે ।

(૧) કામના ઉદ્દીપનથી ધિંગા ઉત્પન્ન થાય છે, કે કામ ભોગના ક્યારે પ્રાપ્તિ થયે, (૨) જોવાની ઇચ્છા ઉત્પન્ન થાય છે, અને નિઃશ્વાસ મૂકે છે (૩) અપસોસ કરે છે, કે છીને જોઈ પણ ન જકાઈ । (૪) જ્વર આવે છે, તાપમાન વધે છે, (૫) શરીર ચઢવા લાગે છે, ઘાહ ઉપજે છે (૬) ભોજનની રુચિ નથી રહેતી, (૭) મહા મૂર્ચ્છા ઉત્પન્ન થાય છે, જરા પણ શ્વેત રહેતું નથી, (૮) ડન્મત્ત બની જાય છે, જેમ તેમ વચ્ચાદ કરે છે । (૯) પ્રાણ ચાલ્યા જવાની શંકા રહે છે । (૧૦) મૃત્યુ પણ થઈ જાય છે ।

કામ વાસનાથી ઘેરાયેલો જીવ ચયાર્થ તત્વ વસ્તુ સ્વરુપ સમજી શકતો નથી, જ્યારે ત્યેક વ્યવહારનું જ્ઞાન પણ નાશ પામે છે ત્યારે પરમાર્થનું જ્ઞાન તો વયાથી થાય ? વધી વાતોમા તેનું મન અસ્થિર બની જાય છે ।

“જેને કામ રુપી કટક વાગે છે, તે ઘેસવામા, સુવામા, ચાલવામા, પાવવામા, ભોજન કરવામા અસ્થિર બની જાય છે ।” “કામ વાસનાવાળો પુરુષ વપુર હોવા છતાં મૂર્ત્વ બની જાય છે, ધમાશીલ છતાં કોપી બને છે, શૂર્વાર કાચર બને છે, મહાન્ હલકો બને છે, ઉચ્ચી આઠ્ઠમુ બને છે, અને વિતેન્દ્રિય બ્રહ્મ બને છે ।”

“तेषी मूर्खता कर्थावगर मनुष्यजन्म सार्थक बनाववाने मनुष्ये ब्रह्मचर्यं पालन करवुं जोइए ।

**कदाचारुं परिणाम-**“बेलने नपुसक बनाववानी क्रिया, लंपटोने धती सजा वगेरे जोइने बुद्धिमाले कुशीलनो त्याग करीने स्वदारसन्तोषव्रत अंगीकार करीने परस्त्रीनो त्याग करवो जोइए, मैथुन सेवन किंपाक फळनी पेठे आरम्भमां सार्ह लागे छे, पण परिणामे दारुण कष्ट आपे छे ।” “मैथुन सेवनधी शरीर कम्प, परसेवो, थारु, शिथिलता, चक्कर आववा, तिरस्कार थवो, बलनो क्षय, ज्वरादि रोगो थाय छे ।” “योनिमा असंख्य जीव राक्षीनी उत्पत्ति थाय छे, अने मैथुन सेवन बखते तेनो नाश थाय छे ।

वात्स्यायननो मत छे के रक्तमा सूक्ष्म जीवो पैदा थइ जाय छे, ने संयोग वखते ते मरी जाय छे ।

**मैथुन सेवनधी काम ज्वरनी शान्ति नथी धती-**

अभिमां धी होमवाधी जेम ते शान्त थतो नथी, तेमज स्त्री सम्बन्धी वैप-यिक संयोगधी काम ज्वर शान्त थतो नथी, पण बधे छे । स्त्रीए पण पर पुरुषने नाग समान समझीने सेओनो त्याग करवो जोइए। कारणके ऐश्वर्यमां भले इन्द्र समान होय, सौन्दर्यमां कामदेवनो अवतार होय तो पण जेम सीताए रावणनो त्याग कर्यो तेम सञ्चारीओए पर-पुरुषनो त्याग करवो जोइए ।

**ब्रह्मचर्यं फळ-ब्रह्मचर्ये सञ्चरित्रं मूळ छे, परब्रह्म प्राप्तिनु निमित्त छे, जे ब्रह्मचर्यं पालन करे छे ते पूज्यना पण पूज्य छे ।** शीघ्र आयुष्य, मुन्दर शरीर, शरीर रचनामां दृढता, शरीर पर विलक्षण तेज, महान् शक्ति, वक्र-कीर्ति, संसारमां मान, प्रतिष्ठा, ए सपहुं ब्रह्मचर्यधी प्राप्त थाय छे ।

आ रीते सर्वलोकनी उत्तम-रूपसम्पदा वगेरे भेळवीने तेमज धारक इन्द्र-दर्शन-शीलसमन्वित पुरुषोमां शतवशीय अन्तिम जिनवरेंद्र धर्मप-नन्द-महावीर प्रधानतम हता ।

काश्यप-गोत्रीय-श्रमण भगवान् महावीर प्रभुनां वर्धमान, विदेहदेव, इन्द्र-पुत्र, काश्यप, वैशालिक, महावीर, सन्मति, वीर, श्रमण मन्त्र इत्ये अनेक नाम हतां, ते वधा नामो तेनी अमुक अवस्थाना सूचक छे। काश्यपे भगवान् महावीर स्वामीनुं जीवन सांसारिक तेमज साधक बन्धनं डुं डुं हतुं । वर्धमान, विदेहदेव (महावीर प्रभुनी मातां नाम विदेहदेव) इत्ये,

ત્રિશલા માતા વિદેહ કુલમાં જન્મ્યા હતાં, તેથી તેમનું નામ વિદેહદિકા પશ્યુ હતું, માતાના આ નામથી મહાવીર પ્રભુનું માતૃપક્ષનું નામ પણ 'વિદેહદિકા' પરી પ્યું હતું) જ્ઞાતપુત્ર, કાર્યપ, અને વૈશાલિક એ નામો તેમની સાસુરિક અવસ્થા ના સૂચક છે, મહાવીર, સન્નતિ અને ધ્રમણ ભગવાન્ આ ઘણ નામો તેમને માધક અવસ્થામાં પોતાના આત્મ-વીર્યાદિ ગુણોથી પ્રાપ્ત કર્યા હતા, વર્ધમાન પિતૃપક્ષનું નામ, અને વિદેહદિકા માતૃપક્ષનું નામ હતું । 'જ્ઞાતપુત્ર' એ વંશ પરથી નામ પશ્યુ । 'કાર્યપ'—ગોત્રથી નામ પશ્યું હતુ । 'વૈશાલિક' જન્મસ્થાનના સમ્બન્ધનું સૂચક છે । 'મહાવીર' આત્મ-વીર્યસૂચક, 'સન્નતિ' આત્મજ્ઞાન સૂચક અને 'ધ્રમણ-ભગવાન્' ધ્રમણ સમ્કૃતિના તાત્કાલિક અપ્રેમર અર્થસૂચક છે ।

### જ્ઞાતપુત્ર-

ઉપરોક્ત સર્વે નામોમાંથી ભગવાન્-મહાવીરના 'જ્ઞાતપુત્ર' અથવા 'જ્ઞાતપુત્ર' નામના સમ્બન્ધમાં આપણે વિચાર કરવાનો છે આ જ્ઞાતપુત્ર નામ તેમના વંશનું સૂચક છે । એ વાત જિનાગમ તેમજ શૈલ્લાગમમાં અનેક જગ્યાએ મળેલી છે ।

શ્રીઆચારાંગ તેમજ કલ્પસૂત્ર આદિક સૂત્રોમાં તેમની જીવનચરિત્ર અનુસાર ભગવાન્ મહાવીરનો જન્મ 'ધનિય કુંડ' ગામમાં જ્ઞાતવંશીય અને 'કાર્યપગોત્રીય' સિદ્ધાર્થ રાજાને ત્યા ત્રિશલા ધનિયાણીથી થયો હતો ।

આ જ્ઞાતપુત્ર તે સમયે પ્રસિદ્ધ કૈશ્વાકુ-ઉપ્ર આદિ ધનિયોના કુટુંબની પેઢે પ્રસિદ્ધ વંશ પણ હતો ।

આ જ્ઞાતવંશના ધનિયો પ્રાચ. 'જ્ઞાતૃક' નામથી ઓલ્લસાતા, અને તેમના આ 'જ્ઞાતૃ' કુટુંબને લ્યંધે તેમના નગરોની બાહર બનાવેલા કુંડ=ઉદ્યાનોનાં નામ પણ 'જ્ઞાતૃકુંડ' પડેલા હતાં, ભગવાન્ મહાવીરે કુંડપ્રાપ્તની નજીક 'જ્ઞાતૃકુંડ' નામક વાગમાં સીધા અર્ગાધર કરી હતી, શાસ્ત્ર-વચનો તો આ વાસ્તવની રૂપ પુષ્ટિ કરે છે ।

જિનાગમમાં 'જ્ઞાતપુત્ર' ને વદહે 'નાથપુત્ર' અથવા "નાતપુત્ર" તેમજ શૈલ્લાગમમાં "નાથપુત્ર" અથવા "નાટપુત્ર" શબ્દ પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે । તે ભગવાન્ મહાવીરના જ્ઞાતપુત્રનું અર્થ સૂચક નામ છે । તે માનવામાં આવ્યુંને ઉપરોક્ત કારણો છે । "નાથપુત્ર" અથવા "નાતપુત્ર" એ વજ્રે નામો સંસ્કૃત ભાષાના "જ્ઞાતપુત્ર" શબ્દના પ્રાકૃત રૂપ છે । અને "નાથપુત્ર" અથવા "નાટપુત્ર" એ બંને નામો પાલી રૂપ છે । પ્રાકૃત માં 'ત' નો 'થ' અને પાલી ભાષામાં 'ત' નો 'થ' અને 'થ' નો 'ટ' પણ સ્વાધારણરીતે થાય છે । સિગમ્બર સૂત્રોમાં જ્ઞાતપુત્રનો

“नायपुत्र” शब्द प्रयोग जोवामां आवे छे, आ रीते भापा अने भावनी दृष्टिए जोतां पण आ बधा अलग अलग नामो मूळ ‘ज्ञातपुत्र’ शब्दमां मळी जाय छे । आ बधा नामो “ज्ञातपुत्र” शब्दधी वनेला छे ते निःशंक छे । प्राचीन काळमा वंशना नामधी परिचय आपवानी प्रथा होवाने लीपे भगवान् महावीरनो जीवन विषयक परिचय श्रीजिनागमोमां तेमज बौद्धागमोमां ‘नातपुत्र’ अथवा ‘नाधपुत्र’ शब्दधी आपवामां आव्यो छे । तेमज भगवान् महावीरना शिष्योनो पण परिचय “नातपुत्रीय” अथवा “नायपुत्रीय” ए शब्दधी विशेष करीने आपवामां आव्यो छे,

श्रीजिनागमना १२ अगोना छहुं अग “णायधम्मकहाओ” छे । तेमां आवेल “णाय” शब्द पण भगवान् महावीरना वंशवाचक ‘नायपुत्र’ नी साथे गढ संबन्ध राखे छे । प्राकृतमां ‘न’ नो ‘ण’ थाय छे । आ अगने गुजरातो अनुवाद “भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ” एम करवामा आव्यो छे । आ अंगनो परिचय श्रीसमवायागसूत्रमा अपेल छे । तेमां बताव्यु छे के “आ अगमा ज्ञाता-ओना नगर-उद्यान-माता पिता वगैरेनो परिचय आपवामा आवसो ।” टीकाकारे ज्ञाताओनो उदाहरणभूत अर्थ कर्यो छे । परन्तु ज्ञाता एटले ‘ज्ञातवंशीय’ क्षत्रिय ए अर्थ पूर्वापर विचारतां निश्चित थाय छे ।

भगवान् महावीरनो परिचय श्रीजिनागमोमां ‘नायपुत्र’=ज्ञातपुत्र सिधायनां घणां नामोधी आपवामां आव्यो छे, तो पण त्यां ‘नायपुत्र’ शब्दनी विशेष प्रधानता छे । घणां प्राचीन सूत्रोमा भगवान् महावीर प्रभुनां गुणग्राम ‘नायपुत्र’ शब्दधी करवामा आव्या छे जैसकेः—

“जे भगवान् “ज्ञातपुत्रना” वचनो पर पूर्ण विश्वास राखे छे, ते कोई वस्तुनुं सम्ह करता नधी” १८

“प्राणीमात्रनी रक्षा करवावाळा “ज्ञातपुत्र” महावीर प्रभुए कल पत्रने परिग्रह नधी कळो, पण मूर्च्छा या ममत्वभाषने ज परिग्रह कळो छे, एम महर्षि-ओए कहुं छे ।” २१

[ दशर्वकालिक-अ० ६ ]

“ज्ञातपुत्र” महावीर प्रभुए कहुं छे के-मर्यादाना रहेनार माधु आ दोषने सारी रीते जोई ने जरा पण कपट पूर्वक जुठ न थोले ”

“आ दोषने जोइने निग्रन्ध रात्रि भोजननो त्याग करे, कारणके “ज्ञात-पुत्रे” आना प्रत्यक्ष दोष बताव्या छे ।”

( दशर्वकालिक० अ० ६ )

अनुत्तर ज्ञानी अने अनुत्तर दर्शन युक्त अर्हन् प्रभु ‘ज्ञातपुत्र’ महावीर प्रभु विशाला नगरीमा आ रीते व्याख्यान करता हता ।



આ પ્રમાણે ઉપરાન્ત આ અધ્યાયમાં ૨-૧૪-૨૧-૨૩-૨૪ મી પાયાઓના પ્રભુનો સ્તુતિ “જ્ઞાતપુત્ર” શબ્દથી કરવાનાં આવી છે । આ રીતે શ્રીજિનાગમના પ્રમાણભૂત ગ્રન્થોમાં ‘નાથપુત્ર’ અથવા ‘નાટપુત્ર’ શબ્દનો પ્રયોગ ભગવાન્ મહાવીરના વંશવાચી નામ તરીકે અનેક સ્થલે કરવામાં આવ્યો છે, અને એ વધારાનો ઉલ્લેખ કરવાની અહીં જરા પણ જરૂર નથી, હેમાચાર્યે પરિશિષ્ટપર્વમાં જે ‘જ્ઞાતનન્દન’ ભગવાન્ મહાવીરપ્રભુને વંદન કરેલ છે તેનોપણ ઉલ્લેખ કરીશું, તેમણે મંગલાચરણમાં વહ્યું છે કે:—

“જે વ્રુષાણ વૃક્ષના ઢાગ છે, શ્રુતિરૂપ ગંગાના હિમાલય છે, વિશ્વકર્મણને સૂર્યરૂપ છે, તે ભગવાન્ “જ્ઞાતનન્દન” મહાવીરને હું નમસ્કાર કરું છું ।”

બૌદ્ધ પિટકોમાં ભગવાન્ મહાવીરનો તેમના શિષ્યોનો તેમજ તેમના સિદ્ધાત્તોનો પરિચય તેમના વંશવાચી ‘નાથપુત્ર’ અથવા ‘નાટપુત્ર’ શબ્દથી આપવામાં આવ્યો છે, તેમના ધમણ નિગ્રન્થો માટે ‘નાથપુત્રીય’ શબ્દનો ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો છે, આ નામ સિવાય ભગવાન્ મહાવીર પ્રભુનો જીવન પરિચય આપતાં બીજા કોઈ શબ્દનો પ્રયોગ કરેલો જોવામાં આવતો નથી, માત્ર ‘નાથપુત્ર’ ની સાથે ‘નિમ્મઠ’ શબ્દનો પ્રયોગ કરેલો હોય છે, પણ તે શબ્દતો તેની સાથુ અવસ્થાનો સૂચક છે । તે ‘નાથપુત્ર’ શબ્દનું વિશેષણ છે ।

આથી પ્રાચીન કાલમાં વંશવાચક નામથી પરિચય આપવાની પ્રથા હોવાનું સ્પષ્ટ જણાય છે, મહાત્મા-બુદ્ધ પણ તેમનાં મૂલ નામ સિદ્ધાર્થ કરતાં તેમના ગોત્ર સૂચક નામ ‘ગૌતમ’ અને વંશ સૂચક નામ ‘શક્યપુત્ર’-થી અધિક પ્રસિદ્ધ છે ।

ભગવાન્ મહાવીર પ્રભુનો ‘જ્ઞાતૃવંશ’ હતો, અને એ ‘જ્ઞાતૃવંશ’ થી તેમનું વંશસૂચક નામ ‘નાથપુત્ર’ પ્રસિદ્ધ છે, જે આપણે ऊપર જોઈ ગયા । પરન્તુ આગળ ચાલતાં તેનો કેટલો વિસ્તાર તેમજ વિનાશ થયો, તેનો ઇતિહાસ જાણવામાં આવતો નથી । એ ઇતિહાસની શોધ અત્યન્ત આવશ્યક છે । તે ઇતિહાસ ની શોધ માટે આપણી પાસે બૌદ્ધ સાહિત્ય એક અનન્ય સાધન રૂપ છે ।

ભગવાન્ મહાવીર તેમજ મહાત્મા-બુદ્ધ એ બંને સમકાલીન-ધર્મક્રાન્તિચરિત્ર થઈ ગયા, વઠી તેઓ બંને એકજ દેશના નજીક નજીક આવેલા પ્રાન્તમાં રહેનારા રાજવંશી પુષ્પ હતા, આ વાતનો વિચારતાં મહાત્મા બુદ્ધને એક પ્રાન્તથી બીજા પ્રાન્તમાં વિહાર કરતાં ભગવાન્ મહાવીરના વંશ સમ્બન્ધી લોકોની સાથે વાર્તાલાપ કરવાનો પ્રસંગ પ્રાપ્ત થયો હોય એ તદ્દન સ્વાભાવિક છે ।

बुद्धपिटकना 'महावग्ग' नामे मूत्रमां महात्मा-बुद्ध, भगवान् महावीरनी जन्मभूमि "कुंड ग्राम" मां तेमज तेनी नजीक 'शतुओ' ना गामोमां अने वैशाली नगरीमां जवानो तेमज त्यां 'निमग्ग' धावक सिंह सेनापतिनी साथे वातचीत करवानो उल्लेख आवे छे, ते उल्लेख ना आधारे भगवान् महावीर प्रभुना 'शतुवंश' अने तेमनी जन्मभूमि सम्बन्धी आपणने घणुं जाणवानुं मळे छे, ते करणथी ते उल्लेख आ नीचे उतारवामां आव्यो छे ।

ज्यां कोटिग्राम [ देखो विनयपिटक महावग्ग पानुं २४१ कोटिग्राम ] हतुं त्यां भगवान् गया, कोटिग्राममा भगवान् बुद्ध विहार करता हता, अम्नापाली गणिकाए साभल्युं के भगवान् अहीं आवी गया छे, तेथी तेणे मुन्दर रथ जोडाव्यो, ने तेमां बेसीने मुन्दर रथोनी साथे वैशालीथी नीरुळीने 'कोटिग्राम' तरफ चाली ।

त्यारे ते लिच्छवी ज्यां कोटिग्राम हतुं त्यां गया ।

कोटिग्राममां इच्छनुसार विहार करी ज्यां वैशालीनुं महावन हतुं त्यां गया, त्यां भगवान् बुद्ध वैशाली महावननी 'कूटागर शाला' मां विहार करता हता ।

ते बखते घणा प्रतिष्ठित लिच्छवि 'संस्थागर' [ प्रजातन्त्र-सभागृह ] मां बेट्य हता, तेओ बधा बुद्धनी प्रशंसा करता हता, धर्म अने सधना गुणोनुं वर्णन करता हता, ते बखते निमग्गोना धावक ( जैन-धावक ) सिंह सेनापति ते सभामां बेट हता .....

त्यारे सिंह सेनापति ज्यां निमग्ग ( निगंठ-नाथ पुत्र ) ज्ञातपुत्र हता त्या गया, जइने 'निगंठनाथपुत्र' ने कस्युं के हे पूज्य । हू.....  
..... । सिंह ! तारुं घर लंबा समयथी निमग्गो माटे विसामारुप छे,.....  
.....ते समये घणा 'निगंठ' [ जैन साधु ] वैशालीमा एक.....लंबा कालथी आ आयुप्मान् ( निगंठ ) बुद्ध..... छे ।"

"एक समये भगवान् बुद्ध नादिकरना 'गिजकवसथ' मां विहार करता हता [ मज्झिमनिकय पानुं १२७ ]

'विनयपिटक' 'महावग्ग' तथा मज्झिमनिकयमां आवेला आ उल्लेखोथी आपणने साफ साफ मालुम पड़े छे के महात्मा बुद्ध-महावीर स्वामीनी जन्मभूमि कुंडग्राम ( पाली भाषामां कोटिग्राम ) गया हता, अने कुंडग्रामनी पासेनी वैशाली वीर. १२

નગરીમાં થી ત્યા મહાત્મા-બુદ્ધને અવાપાલી નામે વેદ્યા અને લિચ્છવિ ધત્રિય મઢવા આઘ્યા હતા, કોટિગ્રામથી મહાત્મા બુદ્ધ જ્યાં 'નાતિક્ક' જ્ઞાતૃક લોક રહેતા હતા, ત્યાં ગયા હતા, અને ત્યાં 'નાતિક્ક' ( જ્ઞાતૃક ) લોકોના ઈંદોના ઘરમાં હતા । તે સ્થાનની પાસેજ 'અમ્બાપાલી' વન નામે ઉચાન હતું જે અમ્બાપાલીએ બુદ્ધ અને નેમના સપને સમર્પણ કરેલ હતું । ત્યાંથી મહાત્મા બુદ્ધ વૈશાલી ગયા અને ત્યાં સિંહ નામે સેનાપતિ કે જે નિમ્મન્થોનો ધાવક હતો, તેને પોતાનો અનુયાયી બનાવ્યો । સિંહ સેનાપતિ મહાત્મા બુદ્ધને મઢવા જતાં પહેલાં 'નિમ્મન્થ' જ્ઞાતૃપુત્ર મહાવીર પ્રભુની પાસે અનુજ્ઞા લેવા આવ્યો હતો । ત્યારે ભગવાન્ મહાવીરે સિંહ સેનાપતિને "તુ કિયાવારી હોવા છતાં અકિયાવારી ધમણ ગૌતમને મઢવાં શા માટે જાય છે ?" એમ વહીને ન જવાતું કહ્યું હતું । પણ તે પોતાની ઇચ્છાનુસાર ધમણ ગૌતમની પાસે ગયો અને ત્યાં તે ધમણ ગૌતમ બુદ્ધનો અનુયાયી બન્યો ।

હમરના ઉલ્લેખથી આપણા વિષયને પુષ્ટ કરનારી ચાર વાત-વિશેષ પ્રકારે જાણવાની મઢે છે ।

(૧) બૌદ્ધોનું 'કોટિગ્રામજ' [ બૌદ્ધ મ્મન્થોમાં 'કુંડગ્રામ' નું નામ 'કોટિ-ગ્રામ' અને ભગવાન્ મહાવીરના 'જ્ઞાતિપુત્ર' ને બદલે 'નાતિપુત્ર' લખેલ છે । જુઓ 'ભારતકા પ્રાચીન રાજવંશ' પાનું ૪૦ લેલક વિષેધરનાથ યય ) જૈનોનું 'કુંડગ્રામ' જણાય છે, આ બંને નામોમાં શાબ્દિક સરખાપણ છે । તે ઉપરાત તે ગામની નજીક જ્ઞાતૃક=જ્ઞાતૃવંશના ધત્રિયોનું નિવાસસ્થાન અને વૈશાલી નગરીનું નજીકનું હોવાને લીધે 'કુંડગ્રામ' અને 'કોટિગ્રામ' બંને એકજ હોવાનું નિશ્ચિત ધાય છે ।

(૨) કોટિગ્રામની પાસે જ્ઞાતૃઓનું નિવાસસ્થાન, ભગવાન્ મહાવીરનો વંશ જ્ઞાતૃવંશ હતો, તે વઢી વધુ પુષ્ટિ કરે છે । તેમજ કુંડગ્રામની આસપાસ જ્ઞાતૃક=જ્ઞાતૃવંશના ધત્રિયોના ઘંઢ=ઉચાન હતા । અને ત્યાં જ્ઞાતૃવંશી ધત્રિયો રહેતા હતા, તે આ વાતને વધુ દઢ કરે છે । આ 'જ્ઞાતૃક' નો ઉલ્લેખ એ વિચારનો નિર્દેશ કરે છે કે આ જ્ઞાતૃક ભગવાન્ મહાવીરની જન્મ-જાતિવાઢા જ્ઞાતૃધત્રિય હશે ।

(૩) 'જ્ઞાતૃ' જાતિ 'લિચ્છવિ' ઓની એક શાખા હતી [ પ્રસિદ્ધ જૈન તીર્થંકર મહાવીરની માતા પણ 'લિચ્છવિ' વંશનીજ હતી, જુઓ 'ભારતકા પ્રાચીન રાજવંશ' પાનું ૨૭૮ ] આ વાતની પુષ્ટિ 'વૈશાલીના લિચ્છવિ ધત્રિય મહારામા બુદ્ધને મઢવા આઘ્યા હતા' તે ઉલ્લેખથી મઢે છે । ભગવાન્ મહાવીરની માતા પણ લિચ્છવિ વંશની હતી, અને સિંહ સેનાપતિ કે જે ભગવાન્ મહાવીરનો ધાવક

हतो, ते पण लिच्छवि वंशनोज हतो, आ बने वातो ज्ञातृजाति लिच्छविओनी एक शाखा हती, एम सावित करे छे ।

(४) कुंडग्रामनी पासे विदेहनी राजधानी वैशाली नगरी हती, कुंडग्राम आ नगरीना एक परा जेवी हती । भगवान् महावीरनुं 'वैशालिक' नाम पण आ नगरीनां नामधी पञ्चुं हतुं, विशाला नगरीमां सिंह सेनापति नामे जे निग्रन्थ थावक लिच्छवि रहतो हतो, ते भगवान् महावीरनी सलाह न मानीने महात्मा बुद्धनी पासे गयो हतो, आधी स्पष्ट जणाय छे के महात्मा बुद्ध अने भगवान् महावीर बने एकी बखते वैशालीमां हता ।

ऊपरना उल्लेखमां जे 'जातिका' शब्द लखेलो छे, ते शब्दनुं मूल घणां-ओए 'नादिका' कहेलुं छे, अने तेनो अर्थ 'ते नामना जलशयपर बसेलुं एक गाम एवो करे छे, पण तेमां तथ्य नथी, हमन जेकोवी [ जुओ हमन जेकोवी कृत Sacred Books The East नामे ग्रन्थमाळामां प्रकाशित 'आचारंग अने कल्पसूत्र' नामे जैन सूत्रोना अनुवादनी प्रस्तावना, पातुं १० ] मूल शब्द 'जातिका' ज छे, अने ते ज्ञातृवंशना क्षत्रियोनो वाचक छे तेम समर्थन करे छे ।

आ 'जातिका' शब्द पर त्रिपिटकाचार्य धीयुत राहुल सांकुल्लाघने विशेष प्रकाश पाव्यो छे, तेमणे पोताना 'बुद्धचर्या'\* नामे हिन्दी पुस्तकमां 'नादिका'-नो मूल शब्द 'नाटिका=ज्ञातृका' बतावेल छे, अने 'ज्ञातृका' शब्द ज्ञातृवंशना

\* ते बखते घणी मोटी निग्रन्थ परिषद् ( जैन साधुओनी मभा ) साथे निग्रन्थ 'नाटपुस्त' ( महावीर ) नाळंदामां निवास करता हता ।

१ नाटपुस्त=ज्ञातृपुत्र, ज्ञातृ लिच्छविओनी एक शाखा हती, के जे वैशालीनी आसपास रहेती हती, ज्ञातृमाथीज वर्तमान 'जथरिया' शब्द बन्यो छे, महावीर तेमज जथरिया ए बनेनुं गोत्र कादशप छे, आजे पण जथरिया, भूमिहार ब्राह्मण आ प्रदेशमां मोटी संख्यामां छे, तेमनुं निवास रती परगना, पण ज्ञातृ-नक्षी-उत्ती-रती थी ज बनेलुं छे ।

१११ में पाने निग्रन्थ सूत्रो पण उल्लेख कयो छे के जे सं० नि ४०-१-१८ थी उद्धृत करवामां आव्यो छे ।

કષ્ટિયોનો સૂચક છે, એમ સપ્રમાણ બતાવ્યું છે, આગળ ઋપર વઢી તેઓ એમ પણ બતાવે છે કે 'જાતુજાતિ' ઠિચ્છવિભોની શાખા હતી । અને વૈશાલીની આજુ-બાજુમા રહેતી હતી, આ જાતુજાતિ આજે પણ વૈશાલી નગરી [ જિલ્લા મુજપ્પર-પુરની અંદર વસાડની પાસે છે ] ની આસપાસ જથરિયા નામે જાતિ વસે છે, આ જથરિયા શબ્દ માયા દષ્ટિએ પણ જાતુશબ્દની સાથે ગાઢ સંબંધ ધરાવે છે ।

જથરિયા શબ્દ 'જાતુ' શબ્દનો અપભ્રંશ જણાય છે, જાતુમાંથી 'જથરિયા' શબ્દ કેવી રીતે બનવા પામ્યો તે સંબંધમાં માયા દષ્ટિએ ઉક્ત રાહુલજીએ નીચે મુજબ વિચાર કર્યો છે ।

જાતુ=નાતિ, જાતુ=જાતર-જાતર-જાતરિયા-જથરિયા જૈથરિયાના ગામમાં 'નાદિકા' = જાતુકા = નતિકા-લતિકા-રતિકા-રતી જે નામથી વર્તમાન રતી પરગણા [ જિ. મુજપ્પરપુર ] છે । બુદ્ધચર્યા પાનું ૫૨૮ ॥

આ રીતે 'જથરિયા' શબ્દ 'જાતુ' નો અપભ્રંશ છે । રાહુલજી આ રતી પરગણાનું મૂળ નામ પોતાના ઉપરોક્ત ઉલ્લેખમાં આવેલા 'નાદિકા' શબ્દથી ઉત્પન્ન થયેલું બતાવે છે ।

આ પ્રકારે 'જથરિયા' અને તેમનું સ્થાન રતી એ બંને શબ્દ જાતુ શબ્દની સાથે ગાઢ સંબંધ ધરાવે છે, અને આ સંબંધથી જથરિયા જાતુક=જાતુવંશીજ છે, અને તેમનું પ્રાચીન નિવાસસ્થાન કે જે નાદિકા અથવા નાટિકા નામથી ઓઢ-યાય છે તે વર્તમાન રતી પરગણું છે, એવો રાહુલજીનો દૃઢ અભિપ્રાય છે । વઢી તેમના આ અભિપ્રાયમાં બીજીવાટ એ પણ છે કે આ 'જથરિયાનું' મૂળ ગોત્ર કાર્યપ છે, તે કાર્યપ ગોત્ર ભગવાન્ મહાવીર અને તેમના જાતુવંશી કષ્ટિયોનું પણ હતું ।

આ જથરિયા=જાતુ વંશી કષ્ટિયોના સંબંધમાં ધીરાહુલજી બતાવે છે કે આ 'જથરિયા' લોકો વર્તમાનમાં પોતાને વ્રાહ્મણ કહેવડાવે છે, તેઓ દાન ક્ષેત્રા નથી, [ પંજાબમાં જમના કિનારે વસનારી એક જાતિ રહે છે તે પણ દાન નથી ક્ષેત્રી તે દેશમાં તેમને 'તગા' કહે છે, સંભવ છે કે તે શબ્દ લ્યાગીની અપભ્રંશ હોય, પણ તેઓના ગોત્રો ગોઢ વ્રાહ્મણોથી મઢી આવે છે ] અહીં તો જથરિયા જાતિના લોકોને ભૂમિહાર વ્રાહ્મણ કહેવામાં આવે છે । પરન્તુ બીજા લોકો તેમને વ્રાહ્મણ માનતા નથી । તેથી સ્પષ્ટ માનુસ પડે છે કે વાસ્તવમાં તેઓ કષ્ટિયોજ

छे । आनुं बीजुं कारण ए पण छे के धा 'जयरिया' नाम 'सिद्धान्त' बाळा छे, के जे क्षत्रियोना नामनी माये आज काल पाछळ उगाडवानां आवे छे, बळी तेमना नामने छेडे टाकोर शब्द पण जोडवामां आवे छे, ए पण क्षत्रिय सूचक ज छे, आ वंशमां हालमां पण घणा जमीनदार तथा राबाधो छे, दरभंगा नरेश आ जातिना छे, कोई दरभंगाना प्रथम राजा रघुनन्दनने आ वंशमांज समाविष्ट करे छे अने वर्तमान दर्भंगा नरेशने श्रोत्रीय ब्राह्मण माने छे ।

बौद्ध साहित्यना उल्लेखधी तेमज राहुलजीना कथनधी आटळुं अवश्य माननुं जोइए के भगवान् महावीरनो वंश ज्ञातृवंश हनो, अने ते ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय 'कुंडग्राम' नी नजीक रहेता हता, बळी आ ज्ञातृवंशीय क्षत्रियोना गाममां-महान्मा बुद्ध आध्या हता, वर्तमानमां आ ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय जयरियाना नामधी प्रसिद्ध छे, अने ते घणे भागे बिहार प्रान्तना मुजफ्फरपुर जिल्लाना रस्ती नामे परगणामां रहे छे । बळी ते जयरिया पोताना नामने छेडे सिंह तेमज टाकोर शब्दनो उपयोग पण करे छे । अने काश्यप गोत्र होवाने लीधे ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय होवाने संभव छे, पण आजकल ए लोको पोताने भूमिहार ब्राह्मण कहे छे । आमां केटले अशे तथ्य छे, तेनी शोध करवानी अत्यन्त आवश्यकता छे, आ सत्यशोधधी भगवान् महावीर प्रभुना ज्ञातृवंश तेमज तेमना जीवन सम्बन्धमां अज्ञानान्धाकार जे आपणी आजु बाजु फेलाई गयो छे, ते दूर धई जसे ।

मूल

ठिईण सेट्टा लवसत्तमा वा,  
सभा सुहम्माव सभाण सेट्टा ।  
निवाण सेट्टा जह सबधम्मा,  
ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी ॥ २४ ॥

संस्कृतच्छाया

स्थितीनां ( स्थितिमतां ) श्रेष्ठा लवसत्तमा वा,  
सभा सुधर्मा वा सभानां श्रेष्ठा ।  
निर्व्वाणश्रेष्ठा यथा साव्वधर्मा,  
न ज्ञातृपुत्रात्परमस्ति ज्ञानी ॥ २४ ॥

सं० टीका—स्थितिमतां सुखोपभोक्तृणां वा जीवानां चोद्धानां देवानामिति, तन्मध्ये यथा लवसत्तमा पञ्चानुत्तरजास्तदुत्पन्ना देवाः सर्वोत्कृष्टस्थितिवर्तिनः प्रधानाः, यदि वा तेषां सप्तलवायुष्कमभविष्यत्तदा सिद्धिगमनमभविष्यदिति चापि । अतस्तेऽभिधीयन्ते कथ्यन्ते लवसत्तमाः श्रेष्ठतमाः । समानां परिपदां मध्ये यथा सौधर्मा “स्यात्सुधर्मा देवसभेत्यमरः” परिपच्छ्रेष्ठा “सुधर्मा तु सभा मता इत्यभिधानप्यदीपिका ।” बहुभिः क्रीडास्थानैः सभ्यजनगोष्ठीभिरुपेतत्वात्तथा । यथा सर्वेऽपि धर्मा निर्वाणफलं दर्शयन्ति वा सर्वेभ्यो हितं सार्धमर्हद्दर्शनं-सर्वेषां जीवानां हितकर्ता उत नाहितकारकोऽतः सोर्हत्प्रणीतधर्मो निर्वाणप्रदाने श्रेष्ठ इति भावः । यत एवं ज्ञातृपुत्रात्सर्वज्ञाच्छ्रीमहावीरात्सर्वप्रकाशात् परं प्रधानमन्यच्च विज्ञानं नास्त्येव सर्वथा भगवानपरज्ञानिभ्योऽधिको ज्ञानीति भावः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—[ जह ] जैसे [ ठिड़ण ] आगुष्मानोमें [ लवसत्तमा ] पांच अनुत्तर विमानोंमें निवास करनेवाले देव [ सेठ्ठा ] श्रेष्ठ होते हैं, [ सभाण ] सब सभाओमें [ सुधर्मा ] सौधर्म-इन्द्रकी [ सभा ] सभा [ सेठ्ठा ] श्रेष्ठ है, [ सब्धर्मा ] संसारके सब धर्मोंमें [ निब्वाणसेठ्ठा ] मोक्ष धर्म प्रधान है, किन्तु [ णायपुत्ता ] ज्ञात-पुत्र-महावीरसे [ परमं ] बढकर [ णाणी ] ज्ञानी कोई भी [ न ] नहीं [ अत्थि ] है ॥ २४ ॥

भावार्थ—उत्कृष्ट स्थितिमें सर्वार्थ-सिद्धिके देव प्रधान हैं, क्योंकि मुख-पूर्वक रहते हुए इतना बड़ा आयु पांचमें अनुत्तर विमानके देवोंके अतिरिक्त अन्य किसीकी नहीं है, उनके बराबर मुख भी किसी दूसरेको नहीं है, तथा जिस प्रकार सौधर्म-इन्द्रकी सभा अन्य सभाओंसे सुन्दर है, और सब आस्तिक परलोक-स्वर्ग-नरक-आत्मा आदि पदार्थों को माननेवालोंमें धर्मका फल एक मुक्ति ही है, क्योंकि मिथ्यामार्गकी पुष्टि-करनेवाले भी मोक्षको स्वयं प्रधान मानते हैं, उसी भांति भगवान् भी समस्त ज्ञानिओंमें परमोत्कृष्ट ज्ञानी थे, ॥ २४ ॥

भाषा-टीका—अधिक आयुवाले सुखी जीवोंमें लवसत्तम अर्थात् पाच अनुत्तर विमानमें उत्पन्न देवोंका आयु सबसे अधिक श्रेष्ठ और सुखी है। इन्हें लवसत्तम इस लिए कहते हैं कि यदि इनका आयु सात लव अधिक होता तो इन्हें मोक्ष हो जाता। सभाओंमें सुधर्मा अर्थात् शक्रेन्द्रकी सभा सर्व श्रेष्ठ है, क्योंकि वहा सभ्यपुरुषोंकी गोठी अधिक पाई जाती है। सारे धर्मोंका निचोड़ सबने मोक्ष बताया है। अर्थात् धर्मका अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्वाण माना है। या जो सबके लिए हितकर हो उसको सर्व कहते हैं। वह अर्हत् होता है। उसका कहा हुआ धर्म श्रेष्ठ और निर्वाण प्रद है। इसी तरह ज्ञानपुत्र महावीर प्रभुसे बढकर सर्वज्ञानी कोई नहीं है ॥ २४ ॥

गुजराती अनुवाद—अधिक आयुष्यवाळा सुखी जीवोमा लवसत्तम अर्थात् पाच अनुत्तर विमानवासी देवोनुं आयुष्य सर्वथी अधिक श्रेष्ठ अने सुखी छे, [ तेमनुं आयुष्य जो सात लव बधारे होत तो तेओ मोक्षे जात, ते कारणे तेमने लवसत्तम कहे छे ] सभामां सुधर्मा शक्रेन्द्रनी सभा सर्व श्रेष्ठ छे। कारण कं त्या सभ्यपुरुषोनी गोठी अधिक प्रमाणमां थाय छे। बधा धर्मोनी सार मोक्ष छे, अर्थात् धर्मनुं अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्वाण मनाय छे, जे बधाने माटे हित कर होय तेने सर्व कहे छे, ते 'अर्हत्' होय छे। तेमणे कहेलो धर्म श्रेष्ठ निर्वाण प्रद छे। आ प्रकारे 'ज्ञानपुत्र' महावीर प्रभुथी अधिक सर्वज्ञ कोई नथी ॥२४॥

मूल

पुढोचमे धुणइ विगयगेही,  
न सण्णिहिं कुषइ आसुपन्ने ।  
तरिऊं समुहं च महाभवोयं,  
अभयं करे वीर अणंतचक्खू ॥ २५ ॥

संस्कृतच्छाया

पृथ्व्युपमो धुनोति विगतगृद्धिर्न सर्वाधिं करोति आशुप्रभुः ।  
तरित्वा समुद्रमिव महाभवोयमभयं करो वीरोऽनन्तचक्षुः ॥ २५ ॥

सं० टीका—पुनश्च स भगवान् यथा पृथ्वी सकलाधारा वर्तते सर्वान् व्रसस्वावरान् धारयति सा, तथैव सर्वसत्त्वानामभयप्रदानतः



सदुपदेशदानाद्वा महावीरः सत्त्वाधार इति, अथवा पृथ्वी सर्वसहा, एवं भगवानपि परिपहोपसर्गान् सम्यक् सहते, कर्मरजांसि धुनोति दूरीकरोतीति भावः, अष्टविधं कर्मापनयति वेति शेषः । तथा विगता प्रणष्टा सबाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु गृद्धिलिप्सा वा गार्ध्वं, तृष्णा भरमभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः । तथा सन्निधानं सन्निधिः स च द्रव्यसन्निधिः संचयः । धनधान्यद्विपदचतुष्पदरूपो द्रव्यसन्निधिः, भावसन्निधिस्तु कषायविषयादयो वा, सामान्येन कषायास्तमुभयरूपमपि सन्निधिमथवेन्द्रियजन्यविषयं तन्न करोतीति भावः । “सन्निधाने,=अन्तिके, इन्द्रियगोचरे, सन्निधिरिति शब्दार्थचिन्तामणिः” । “सन्निधिः सन्निधानेऽपि पुमानिन्द्रियगोचर इति मेदिनी” । “पञ्चक्खे सन्निधाने च, सन्निधि परिकित्तितो, इत्यभिधानप्पदीपिका” । भगवान्न करोतीन्द्रियगोचरं विषयं प्रगटं प्रत्युत नाशयतीति भावः । वीरस्तथैवाशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगान्न छद्मस्थवन्मनसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छिन्नं विधत्ते करोति । छाद्यते स्वात्मरूपमनेनेति छद्म, तन्मध्ये तिष्ठतीति छद्मस्थो हि स केवलज्ञानरहितो भवति । परन्तु भगवान् सर्वज्ञः । स एवंभूतः समुद्रपारमिव महाभवौषं संसारसमुद्रं समुत्तीर्य तीर्त्वा, बहुदुःखाकुलं चातुरगतिकं संसारसागरं तीर्णः सर्वोत्तमं निर्वाणमासादितवान् । अभयं प्राणिनां प्राणरक्षानुकूलं व्यापारं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात्करोतीत्यभयं करश्च, भयोपपदात्करोतेः भिषर्तिभयेषु कृञ् इति ‘ल’ प्रत्यये रिक्त्वात् ‘अरुर्द्विपदजन्तस्य चेति भुमागमः ।’ तथाऽष्टविधकर्मविशेषेणेरयति, प्रेरयति, कम्पयति, दूरीकरोतीति वीरः । तथा अनन्तमपर्यवसानं-नित्यं-ध्रुवं ज्ञेयानन्तत्वात् वाऽनन्तं चक्षुरिव चक्षुः केवलज्ञानं यस्य स तथेति ॥ २५ ॥

**अन्वयार्थ—**[ वीर ] भगवान् महावीर [ पुढोबमे ] पृथ्वीकी तरह सबके आधारभूत अथवा पृथिवीकी सहस्र परिपह-उपसर्ग आदि सहनेवाले [ धुणति ] आठ कर्मोंकी मूल प्रकृतिओंको और उत्तर प्रकृतिओंको नष्ट करते हैं, [ विगय-गैहि ] अभिलाषा रहित तथा जो [ सणिगहिं ] द्रव्य आदिका संवय [ न ] नहीं [ कुब्बति ] करते, [ आमुपजे ] और जिनका ज्ञान सदा शीघ्र उपयोगयुक्त है, [ समुदं ] समुद्रकी [ व ] भांति [ महाभवोधं ] पर्यायोंके समूहरूप अनन्त संसारको [ तरिउं ] पार होकर [ अभयंकरे ] अपने और औरोंके द्वारा जीवोंकी रक्षा करनेवाले और [ अणन्तचक्खु ] अनन्त-ज्ञानयुक्त थे ॥ २५ ॥

**भाषार्थ—**संसारके प्राणी पृथ्वीपर सब प्रकारके कार्य करते हैं, किन्तु पृथ्वी किसीपर अप्रसन्न नहीं होती, प्रत्युत सब कुछ सहती है, इसी प्रकार भगवान् महावीर भी परिपह और उपसर्ग आदि सब कुछ सहते थे, न किसी पर प्रसन्न होते थे न अप्रसन्न, जिस तरह पृथ्वी सबके लिए आधार रूप है, भगवान् भी दयालु होनेसे आधारभूत थे, महावीर प्रभु आठ कर्मोंसे रहित और ब्राह्मण-वस्तुके ममत्वसे दूर थे, तथा छद्मस्थकी तरह जाननेके लिए उन्हें वस्तुके सोचने या विचारनेकी आवश्यकता न थी, क्योंकि भगवान् प्रतिसमय उपयोगात्मक ज्ञानसे युक्त थे, तथा अनेक दुःखोंसे भरपूर संसार समुद्रसे पार होकर मुक्त होने वाले, स्वयं जीवरक्षा करनेवाले और उपदेशद्वारा औरोंकी रक्षा करानेवाले, तथा अनन्त-पदार्थोंके ज्ञाता-दृष्टा थे ॥ २५ ॥

**भाषाटीका—**पृथ्वीकी सहस्र सब प्रकारके प्रखर परिपह और उपसर्ग प्रभुने सैन्धी-श्रुतिसे सहन किए। तथा आठ कर्मरूपी रज मूलको नष्ट करके निर्लेप हुए। फिर उनकी बाहर और भीतरकी सब मृष्णा और आशाएँ नष्ट होगईं। अतः अब उन्हें किसी भी पदार्थमें अनुरक्ति नहीं है। अब वे द्रव्य साक्षि संसारोपयोगी वस्तुएँ, भावसाक्षि इन्द्रियोंके विषय और कर्माय का समग्र न करेंगे। या वे इन्द्रियोंके विकारोंको प्रगट न होने देकर उनका सर्वथा नाश कर चुके हैं। उन्हें अब सर्वज्ञोपयोगी होनेसे छद्मस्थकी तरह सोच विचार कर बातें कहनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि सर्वज्ञ हथेली पर धरे हुए आमलेकी तरह सब चराचर का अनन्त ज्ञान पाए हुए हैं। और फिर संसारसमुद्रको पार करने के अनन्तर सुंदर निर्वाण धो पाया है जहा से कभी पुनरावृत्ति न होगी। क्योंकि वीरतासे आठ कर्मोंकी अनन्त वर्मण वर्णनाशोंका अत्यन्त अभाव कर

दिया है । और अब केवल ज्ञानरूप अनन्तचक्षुषुक्त हैं । और वह चक्षु सादि अनन्तरूप है । प्रभुकी अनन्त ज्ञानरुपा लक्ष्मी इसीसे अपार है ॥ २५ ॥

**गुजराती अनुवाद**—ते भगवान् महावीर प्रभु पृथ्वीनी पेठे सर्वश्रामिओने आधारभूत छे, अने पोताना पवित्र उपदेशकी सर्वनो भय दूर करनार छे, अपवा पृथ्वीनी जेम सवे प्रकरना प्रखर परिपह तेमज उपसर्ग सिंहसमान वृत्तिथी सहन करनार छे, आठ बर्मरूपी रज मेलनो नाश करीने निर्लेप थया छे । बळी बाह्य तेमज आन्तरिक सर्व तृष्णा अने आशानो तेमणे नाश क्यों छे, तेथी कोई पण पदार्थमां तेमने आर्पिक रही नथी, हवे तेओ द्रव्यथी संसारोपयोगी वस्तुओ अने भावथी इन्द्रिय विषयो तेमज कपायनो समट करशे नहि, तेओए इन्द्रिय विकारोनो सर्वथा नाश क्यों छे, तेओ सर्वज्ञ होवाथी छयास्थनी पेठे विचार करीने बोलवानी तेमने आवश्यकता नथी, कारणके तेमने हस्तामलम्बन् त्रिलोकनुं अनन्तज्ञान प्राप्त थयुं छे, तेमज बळी संसारसमुद्रनो पार पामी मुन्दर निर्वाण प्राप्त कर्युं छे, के ज्यांथी पुनरावृत्ति करवी नहि पडे । वीरता पूर्वक अष्टकर्मरूपी अनन्त कर्मणवर्गणाओनो अलन्त अभाव क्यों छे, केवलज्ञानयुक्त छे, ते सादि अनन्तरूप छे । प्रभुनी अनन्तज्ञानरूपी लक्ष्मी अपार छे ॥ २५ ॥

मूल

कोहं च माणं च तथैव मायं,  
लोभं चउत्थं अज्ज्ञत्थदोसा ।  
एआणि वंता अरहा महेसी,  
ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ ॥ २६ ॥

( संस्कृतच्छाया )

क्रोधं च मानं च तथैव मायां, लोभं चतुर्थमभ्यात्मदोषान् ।  
एतान् घान्त्वाऽर्हन्महर्षिर्न करोति पापं न कारयति ॥ २६ ॥

सं० टीका—क्रोधं कपायरूपमात्मेतस्गुणं द्वेषोपयोगं “दोसो क्रोधे गुणोतरे इत्यभिधानप्यदीपिका” । “दोसो च पटिषं च वा, क्रोधाऽघाता कोप रोसा इत्यभिधा०” । मानमहंकारं च, “मानो विधा

च उष्णति” “गब्धोऽभिमानोऽहंकारो” इत्यभिधानप्पदीपिका” । मायां  
 छद्मत्वं कपटं, “माया तु संवरीत्यभिधानप्पदीपिका” । लोभं पुद्गलव-  
 स्तुसंचयव्यापारं “अभिज्ञा वनथो वानं, लोभो रागो इत्यभिधानप्प-  
 दीपिका” । वान्त्वा त्यक्त्वा वा एतान् दोषान् कपायानध्यात्मदोषान्  
 परिहायाऽसौ भगवान् महर्षिर्जातस्तथा स्वयं पापमास्रवं, “पापं, च  
 किंन्विसं, वेराऽघं दुच्चरितं, दुक्कतं, अपुब्बाऽकुसलं, कण्हं, कुल्लसं,  
 दुरिताऽगु च” । अथवा पापमपराधं “पापापराधेसु” अथवा पापं  
 कर्मपंकं “पापे च कद्दमे” । अथवा पापं युद्धं चापि, “पापे युद्धे रवे”  
 अथवा पापं कलिः कलहं “पापे कलि” । वा पापं वैरं ह्यपि “पापे च  
 पटिघे वैरं” “इत्यादीन्यभिधानप्पदीपिका” । न करोत्यन्यैर्न कारय-  
 तीत्येते कपायदोषास्त्वपि हितमिच्छंस्त्याज्या एव, यथाह सिद्धान्ते-

“कोहं माणं च मायं च, लोहं च पाववट्टणं,

वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो” ॥ ३७ ॥

इमे चत्वारः कपायाश्चतुरो दोषान् समुत्पादयन्ति, यथा-

“कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो,

माया मिच्चाणि नासेइ, लोहो सबविणासणो” ॥ ३८ ॥

एतानात्मदोषानेतैः प्रयत्नैरपनयेत् ॥

“उवसमेण हणे कोहं, माणं महवया जिणे,

मायमज्जवभावेण, लोहं सतोसओ जिणे” ॥ ३९ ॥

नो चेत्संसारे परिभ्रमणं, यथा-

“कोहोअ माणो अ अणिग्गहीआ, माया अ लोहो अ पवट्टणाया ।

चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवत्त” ॥४०॥

( ६० ज० ८ )

अथ कषायप्रत्याख्यानस्य फलमाह—कषायपचक्खाणे णं भंते जीवे किं जणयइ ? कषायपचक्खाणे णं वीयरगं भावं जणयइ, वीयरगभावे पडिवत्ते वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥ ३६ ॥  
( उ० अ० २९ ॥ )

वीतरागताफलमाह—वीयरगयाणं भंते जीवे किं जणयइ ? वी० नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोळिदइ, मणुत्ता मणुत्तेसु सदफरिसरूवरसगंधेसु चेव विरज्जइ ॥ ४५ ॥

कषायविजयस्य पृथक्त्वफलं दर्शयति—कोहविजएणं भंते जीवे किं जणयइ ? को० खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ; पुबबद्धं च निज्जरेइ । खंतिए णं भंते जीवे किं जणयइ ? ख० परीसहे जणयइ ॥ माणविजएणं भंते जीवे किं जणयइ ? मा० मह्वं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुबबद्धं च निज्जरेइ; मह्वयाएणं भंते जीवे किं जणयइ ? म० अणुत्तिसयत्तं जणयइ, अणुत्तिसयत्तेणं ( अनुत्सुकत्वेन ) जीवे मिउमद्वसंपत्ते ( मृदुमार्दवसम्पन्नो ) अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ ( क्षपयति ) ॥ माया-विजएणं भंते जीवे किं जणयइ ? मा० अज्जवं जणयइ । मायावेय-णिज्जं कम्मं न बंधइ, पुबबद्धं च निज्जरेइ । अज्जवयाएणं भंते जीवे किं जणयइ ? अ० काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं अवि-संवायणं जणयइ, अविसंवायणं ( यथार्थं ) सपत्तयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥ लोहविजएणं भंते जीवे किं जणयइ ? लो० संतोसं जणयइ, लोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुबबद्धं च निज्जरेइ ॥ ७० ॥ मुत्तिएणं भंते जीवे किं जणयइ ? मु० अकिंचणं जणयइ, अकिंचणेय जीवे अत्थलोलणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जो भवइ ॥ ४७ ॥

कषाया अग्नय उक्ता अत एनान् शमयन्तु यथा-

“संपञ्जलिया घोरा, अग्नि चिद्वइ गोयमा,  
जे डहंति शरीरस्थे, कंहं विज्झाविया तुमे” ॥ ५० ॥

{ सम्पञ्जलिता घोरा, अग्नयस्तिष्ठन्ति गौचम !, }  
{ ये दहन्ति शरीरस्थाः कथं विध्यापितास्त्वया ॥ }

“महामहम्पसूयाओ गिज्झ-वारि जलुत्तमं,  
सिचामि सययं देहं, सिचा नो डहन्ति मे” ॥ ५१ ॥

{ महामेषप्रसूतात् गृहीत्वा वारि जलोत्तमम् । }  
{ सिचामि सततं देहं, सिक्का नो दहन्ति माम् ॥ }

“अग्गीय इ इ के बुत्ता, केसी गोयममध्वी,  
केसीमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमध्वी” ॥ ५२ ॥

“कषाया अग्निणो बुत्ता, सुयसीलतवो जलं,  
सुयधाराभिहया सन्ता भिन्ना हु न डहन्ति माम् ॥”

{ कषाया अग्नय उक्ताः श्रुतशीलतपोजलम् । }  
{ श्रुतधाराभिहताः सन्तः, भिन्ना खलु न दहन्ति माम् ॥ }

( उतराध्यन सूत्र, अ० २३ )

अथैतेषां वृद्धन्याख्यामाह-

क्रोधः परापकाराय कुत्सितचित्तवृत्तिभेदः, परानिष्ठाभिलाष इत्यथवाऽनिष्टविषयद्वेषहेतुक इत्यर्थः । आत्मन्युत्कर्षाभिमानात्मकं मान-मिति । कापट्यभावं छद्म मिथ्याबुद्धिहेत्वज्ञानभेदो दम्भश्चेत्यर्थः । परद्रव्येष्वतिशयाभिलाषो लोभः, । परानिष्ठाभिलाषः क्रोधः, क्षमैव क्रोधविजये समर्थः, क्रोधावेशेन सर्वस्यान्धत्वमधैर्यत्वं हृदयशून्यता

च भवति । अतः क्षान्त्यैव नश्यति । मत्समो नान्योऽस्तीति मननं मानं । अथवाऽऽत्मन्यविद्यमानगुणारोपणोत्कर्षरूपा बुद्धिर्मानो महति धनाये सत्यपि क्षनुक्षणं वर्धमाने तद्भिलापो लोभोऽथवा पंरविचादिकं दृष्ट्वा नेतुं ( ग्रहीतुं ) यो हृदि जायतेऽभिलापो लोभश्च सः ।

इतरेऽप्याहुर्यथा—

“लोभ एव मनुष्याणां, देहसंस्थो महान् रिपुः । सर्वदुः-  
स्वाकरः प्रोक्तो, दुःखदः प्राणनाशकः ।” “सर्वपापस्य मूलं हि,  
सर्वदा तृप्ययान्वितः, विरोधकृत् त्रिवर्णानां, सर्वार्तेः कारणं तथा ।”  
“लोभात्पजन्ति धर्मं च, मर्यादां वै तथैव च, मातरं भ्रातरं हन्ति,  
पितरं बान्धवं तथा ।” “गुरुं मित्रं तथा तातं, पुत्रं च भगिनीं तथा,  
लोभाविष्टो न किं कुर्यादकृत्यं पापमोहितः” ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—भगवान् महावीर ( कोई ) क्रोधको ( च ) और ( माणं )  
मानको ( च ) और ( मायं ) मायाको ( तहेव ) दसीप्रभर ( चउत्थं ) चाँधे  
( लोभं ) लोभको अर्थात् ( एआदि ) इन सब ( अज्ञतधदोष ) अप्यात्मिक-  
आत्मसंबन्धी दोषोंको ( वंता ) त्यागकर ( अरहा ) अर्हन् तथा ( महेसी )  
महर्षि हुए; और ( पाव ) पाप ( ण ) न ( कुव्वइ ) स्वयं करते हैं ( ण ) न  
( करवेइ ) औरोंसे प्रेरणासे करते हैं ॥ २६ ॥

भाषार्थ—करणके नाश होनेपर कार्यका भी नाशहोजता है संसारके  
बदनेमें कारणभूत क्रोध-मान-माया और लोभ हैं, अतः इनके नाश होनेपर  
संसार-धर्मवर्णनाशनी नाश हो जाता है, इसलिये भगवान् क्रोधादिषु नाश  
करके अर्हन् अवस्था एवं महर्षिपदसे प्राप्त हुए, क्योंकि ब्राह्मणमें कथायस्य नाश  
क्रिये विना कोई भी महर्षि नहीं बन सकता, और भगवान् न स्वयं पाप करते हैं  
न औरोंसे पापमें प्रेरित करते हैं ॥ २६ ॥

भाषा-टीका—क्रोध कथायस्य पहला भेद है, इसके आवेसमें आकर  
जीव द्वेषका उपयोग करने लगता है, इससे औरोंका अनिष्ट तक भी कर सकता  
है, चित्तही दृष्टि करने और खराब होजाती है, अनिष्ट करते समय क्रोधका ही

उपयोग होता है। मान दूसरा कषाय है, इसकी मात्रा का कोई प्रमाण नहीं है, इसे अहंकार भी कहते हैं, इसके कारण 'वाहरे में' यही कहता रहता है, इसके आवेशमें मात्र अपनीही बढ़ती चाहता है। माया नाम कपट करने का है, इससे दंभ किया करता है, सरलता का नाश कर डालता है, अपनी चिद्वृत्ति का मालिक नहीं रह पाता। पराये धनमें अतिशय अभिलाषा रखना लोभ है, जिससे किसी दूसरेका अहित करना चाये हाथका खेल समझता है।

क्रोध शान्तिसे जीता जा सकता है, शान्तिके बिना क्रोधके आवेशमें अन्धा हो जाता है। इससे अधीरता, अस्थिरता और हृदयशून्यता आ जाती है। अतः क्रोधको ममभावसे नष्ट करना चाहिए।

सुझसे बढ़कर अन्य कोई नहीं, इस मान्यताके आने पर मानसे घिर जाता है, और अपनमें अविद्यमानगुणको उत्पन्न करनेकी युद्धि पैदा करता है, इससे अन्य सबको छोटी दृष्टिसे देखता है। स्पष्ट बात न कहना माया है। अधिक धनकी आय होने पर भी प्रतिपल जिसकी अभिलाषा बढ़ती रहे उस अवस्थाका नाम लोभ है, या पराए धनको देख कर उसके स्वीकार करने की इच्छाको हृदयमें उत्पन्न करना लोभ है, यह लोभ मनुष्योंके शरीरमें सबसे बड़ा शत्रु है, यह सब दुःखोंकी खान और प्राणनाशक है, सब पापोंका मूल है, तीनों वर्गोंके लोक इसके कारण विरोध खडा कर रहे हैं, सबके दुःखोंका कारण यही तिद्ध हुआ है। लोभसे प्रेरित होकर माता, पिता, भाई, बंधु और धर्म की मर्यादा तकको नष्ट कर डालता है। गुरु, मित्र, पिता, पुत्र, भगिनी आदिको लोभसे मार कर नाश करता है, तथा वह बौनगा अपहृत्य है जिसे लोभ बश न करसकता हो।

परन्तु भगवान्ने इन चारोंका वमन कर दिया, इनको त्याग दिया, ये चारों दोष कोई साधारण दोष नहीं हैं, बल्कि ये अध्यात्म दोष हैं, इनसे अध्यात्मिकता नष्ट होती है। इनसे अनन्त संसारमें रहना पडता है। भगवान् महावीर इन कषायों को नष्ट करके महापं बने थे। तब फिर उनमेंसे स्वयं पाप या आसव करने का विभाव मी जाना रहा। अब ये किसी अपराधको नहीं करते, कर्म कीचसे सर्वथा अलिप्त हैं। जन्म-जरा-मरणरूपी संसारके युद्धसे मुक्त हैं। कलहका इनके आत्मामें अत्यन्तभाव है। ये प्रभु निर्वैर हैं, आशय यह है कि प्रभु स्वयं पाप नहीं करते, न किसी अन्यको पाप या आसवका उपदेश ही करते हैं, न कराते हैं। क्योंकि पाप करना, करना कषाय और अज्ञभयोगसे होता है,



हे पूज्यनीय ! मानके विजयसे क्या लाभ होता है ? मानके विजयसे निरभिमानीता या मार्दवताका अद्वितीयगुण पैदा होताहै । मान-अन्य कर्मका प्रतिबंध न करके पहलेके बांधे हुए कर्मकी निर्जरा करता है ॥ मार्दवतासे क्या लाभ होता है ? इससे अभिमान रहित होजाता है । वह किसी भी पदार्थमें उल्लुक नहीं होता । कठिन स्वभावको न रख कर वह फिर कोमल और मृदुताका सम्पादन करके जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ और ऐश्वर्य इन आठ-मदोका सहार करता है जोकि आत्मशत्रु रूप हैं ।

मायाका विजय करनेसे जीव क्या पाता है ? इससे प्रकृति सरल हो जाती है । कपटसे भोगेजानेवाले कर्म नहीं बाधता । और पहले प्रनिबंधको तोड-देता है । निष्कपटतासे जीवको क्या प्राप्त होता है ? निष्कपटतासे काय, मन और भाषासे सरल होकर यथार्थ भाव पैदा करता है, किसीको ठगता नहीं, ऐसा जीव धर्मका सम्यक् आराधक बन जाता है ।

लोभको जीतनेसे क्या लाभ होता है ? इसे जीतनेसे संतोषरूपी अमृतको पाता है । और तज्जन्य कर्मका बंध नहीं डालता । और पहले बांधे हुए कर्मको बखेर देताहै । निर्लेभतासे जीवको क्या लाभ होता है ? इससे अकिंचन भाव यानी निस्पृहताका गुण मिल जाता है । क्योंकि निष्कामजीवीको धनके लोभी कमी नहीं चिपटते ।

कपाय भी एक आग है इसे बुझाओ ! जैसे कहा भी है कि-  
चारों ओर आग मुलग रही है, वह सबको जला रही है, किसी भी शरीर धारी प्राणीको इसने नहीं छोडा, सब जीव इसमें निरन्तर जल रहे हैं । हे गौतम ! आपने उसे किस प्रकार बुझाया ।

केशिन् ! महामेघसे एक उत्तम जल पैदा हुआ है, उसी पानी को लेकर अपनी देहको निरन्तर सींचता रहता हूं जिससे वह आग मुझे नहीं जलासकना ।

गौतम ! वह कौनसा अमिहै ? गौतम बोले, केशिमुने ! कपाय ही सबसे भयंकर अमिहै । उसे ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तपके जलसे सींचकर ठंडा कर दियाहै । वह जल जिनवाणीरूप मेघधारा से पाया है । उसीसे उसे बुझाया है । अतः वह आग अब मुझे नहीं जला सकती ॥ २५ ॥

**ગુજરાતી અનુવાદ**—કપાયનો પહેલો મેદ, ક્રોધ છે, આવેશનાં આવી જીવ દ્વેષ કરે છે, તેથી બીજાનું અનિષ્ટ પગ કરી વેષે છે, ચિત્તશક્તિ ગરમ તથા સ્વરાવ બની જાય છે । અનિષ્ટ કરતી વસ્તુને ક્રોધનોજ ઉપયોગ થાય છે, કપાયનો બીજો મેદ માન છે । તેની માયાનું કષ્ટ પ્રમાણ નથી, તેને અહંકાર પગ કહે છે, તેના આવેશમાં માત્ર પોતાનીજ ચઢતી ઇચ્છે છે । માયા નામ કપટનું છે, તેનાથી દમ્ભ કરે છે, સરઢતાનો નાશ થાય છે, ચિત્તશક્તિ કન્જે રહેતી નથી । પરધનમાં અતિરાવ અભિલાષા એ લોભ છે, તેનાથી અન્વનું અહિત કરી વેણતાં વાર લાગતી નથી ।

**કપાય નિવૃદ્ધનો ઉપાય**—ક્રોધ શાન્તિથી જીતિ શકાય છે, શાન્તિ વગર ક્રોધના આવેશમાં અન્ધ બને છે । અધીરતા-અસ્થિરતા-વેમજ હૃદયશૂન્યતા-આવે છે તેથી ક્રોધનો સમ્ભાવથી નાશ કરવો જોઈએ ।

મારાથી મોટું કોઈ નથી, એ માન્યતા માનથી આવે છે, અથવા પોતાનામાં ન હોય તેવા ગુણો પોતાનામાં છે, ણવી બુદ્ધિ યદે જાય છે, તેથી અધારે હલકા માને છે, સ્વઘ વાત ન કહેવી તે માયા છે,

પુષ્કળ પન હોવા છતાં દરેક ધણે વધુની અભિલાષા રાસવી તે લોભ છે, અથવા પરધન જોઈને તે લઈ લેવાની હૃદયમાં ઇચ્છા ઉત્પન્ન થવી તે પણ લોભ છે, લોભ મનુષ્યનો મોટામાં મોટો શત્રુ છે, સર્વના વિરોધનું એ કારણ છે । લોભથી પ્રેરિત બનીને માતા-પિતા-ભાઈ-બન્ધુ-અને ધર્મની મર્યાદા પગ રહેતી નથી । ગુરુ-મિત્ર-પુત્ર-ભગિની વગેરેનો નાશ લોભથી કરે છે । લોભથી સર્વ પ્રારના અકૃલ્ય કરે છે ।

પરંતુ ભગવાને આ ચારે કપાયોનો નાશ કરી દીધો છે, આ ચારે દોષો કોઈ સાધારણ દોષ નથી, તે લો અપ્વાન્ન દોષ છે । તેનાથી અપ્વાલિચ્છાનો નાશ થાય છે, તેનાથીજ અનન્ત સંસારનાં સ્વપ્નનું વડે છે, ભગવાન્ મહાવીર પ્રભુ તે કપાયોનો નાશ કરી મહાર્પિ બન્ધા, હવે તેઓ પાપ-આસવ કરતા નથી, કર્મ મઢથી તેઓ અલિપ્ત છે, જન્મ-અરા-મરણથી મુક્ત છે, સ્વપ્નનો અલ્પન્ત્રાભાવ ધરે ગયો છે, પ્રભુ નિર્વેર છે, આશય એ છે કે પ્રભુ પોતે પાપ કરતા નથી, કોઈ બીજાને પાપ યા આશવનો ઉપદેશ પગ કરતા નથી, કરાવતા નથી, કરાવકું પાપ કરવું, કરાવવું, છે કપાય અને અગ્રુનયોગો થી-પાય છે, પ્રભુનાં તેનો અલ્પન્ત્ર અભા

छे, तेथी प्रभुना अनुयायिओनुं पण ए कर्तव्य छे के तेओ पण कपायने मूके; दशवैकालिकमा कहुं छे के—“क्रोध-मान-माया-ल्लेभ पाप वृद्धि करनार छे, जो हित चाहता हो-तो चारे कपायोनी त्याग करो!” :

आ चारे कपायो अनन्तदोष बंधारनार छे, तो पण तेनामा एक एक मुख्य दोष छे, जेमके-क्रोध प्रीतिनो, मान विनयनो, माया-कपट मित्रतानो अने ल्लेभ प्रेम-विनय अने मित्रतानो नाश करे छे ।

**तेने दूर करवाना उपाय**—क्रोधने शान्ति थी, मानने नधता राख-बाधी, मायाने उदार सरळताथी, अने लोभ सन्तोषथी दूर कर नहि तो संसारमा अनन्तकाल परिभ्रमण करवुं पडसे ।

क्रोध-माननो निग्रह न कर्यो होय, माया अने लोभमा वृद्धि करी होय तो आ चारे कपायो तारा माटे संसार जाळनी अनन्त वृद्धि करसे ।

**कपायत्यागनुं फल**—उत्तराध्ययनना २९ मां अध्ययनमां गौतम-स्वामी प्रश्न पूछे छे के हे भगवन् ! कपायना त्यागथी जीव शुं पामे छे ?

गौतम ! कपाय त्यागथी वीतराग भाव उत्पन्न थाय छे अने वीतराग-भावने पामेला जीव ने मुखदुःख समान बने छे ।

**वीतरागतानुं फल**—वीतरागपणाथी शुं पामे छे ? गौतम ! निरासक्तिथी झेह बंधन तथा तृष्णा बंधनने ते जीव छेरी नाखे छे, तथा मनोह्र अने अमनोह्र शब्दरूप-रस-गन्ध-स्पर्श इत्यादि विषयोमा वैराग्य-विरक्ति-त्यागभावने पामे छे ।

**अलग २ कपाय जयनुं फल**—हे पूज्य ! क्रोधना विजयथी आ जीव शुं पामे छे ? गौतम ! क्रोध विजयथी जीव क्षमाणा गुणने प्रगटावे छे, क्रोधथी उत्पन्न यतां कर्मने बांधतो नथी । अने पहेलं बांध्यां होय तेने रखावे छे, शान्तिथी परिग्रह जीतवानो अभ्यास तथा सहिष्णुता विगेरे विगेरे गुणो उत्पन्न थाय छे ।

हे पूज्य ! मानना विजयथी जीव शुं पामे छे ? मानना विजयथी निरभि-मानता वा मृदुताना अपूर्वगुणने प्रगटावे छे, अने मानजन्य कर्मने बांधतो नथी, अने पहेलं जे बांधायुं छे तेनी निर्जरा करे छे,

मृदुताथी जीव शुं पामे छे ? तेनाथी जीव अभिमान रहित थाय छे, अने ब्राम्हण मृदुताने प्राप्त करी जाति-कुल-बन्ध-रूप-उप-ज्ञान-लाभ-अने ऐश्वर्य ए आठ प्रकारना मद रूप शत्रुनो संहार करे छे,

માયાના વિજયથી જીવ શું પામે છે ? માયાના વિજયથી સારલભાવપુત્રું પામે છે, અને માયાથી વેદમાં પડતાં કર્મોં બંધાતો નથી, અને પૂર્વે બંધાય્યાં હોય તો તેને દૂર કરે છે ।

નિષ્કપટતાથી જીવ શું પામે છે ? નિષ્કામતાથી મન-વનન અને કવચી સરલતા અને સુંદરતા પ્રાપ્ત કરે છે, અને કોરૂંની સાથે તે ઠગઈ કરતો નથી, શ્વેતો જીવાત્મા ધર્મનો સમ્યક્ આરાધક બને છે,

હે પૂજ્ય ! લોભના વિજયથી જીવ શું પામે છે ? લોભનાં વિજયથી સન્તોષ રૂપ અમૃતને મેલવે છે, લોભ જન્ય કર્મોં બંધાતો નથી, અને પૂર્વે બંધાયેલાં છે તેને વિશેરે છે ।

વિર્જોંભતાથી જીવ શું પામે છે ? તેનાથી જીવ અપારિપ્રહાં બને છે, અને ધનલોહુપી પુરુષોના કાષ્ટો, પતાષીનતાઓથી બચી જાય છે, અને રાઘુની દાસત્વ શંકલઓને નિર્જોંભી થઈને તોડે છે અને દેસને લતત્ત્ર બનાવી શકે છે.

કપાય પળ એક આગ છે, તેને શાન્ત કરો—જેમકે—ચારે તરફ આગ સલ્કની રહી છે, તે મધ્યને એકદમ માઢી રહી છે, શરીરથી પ્રાણીને પણ તેને ઓઢેલ નથી, તે અમિને હે ગૌતમ ! તમે સ્ત્રી રીતે સુશાસી માણી, ?

હે કેન્દ્રી ? મહા મેધમાંથી ઉત્પન્ન થયેલ પાણીના પ્રવાહમાંથી તે ઉત્તન પાણી ભડું સતત હું તે અમિને ઠારી નાશું હું, અને તેથી તે ઠરેલી અમિ મને લેછનાત્ર માઢી શકતી નથી ।

ગૌતમ ! તે અમિ કઈ ? ગૌતમે જવાબ આપ્યો કેન્દ્રી મુને ! કપાસોજ મયં-કર અમિ છે, જ્ઞાન-દર્શન-ચરિત્ર-તપ રૂપી જલની ધારાઓ સૌર્ય-રૂપી મહામેધથી ઘસેલી છે, સલ્કજ્ઞાનની ધારાઓથી, હણાવેલી તે કપાયો રૂપી અમિ સાવ ઠરી જાય છે, તેથી તે આગ મને લેછનાત્ર પણ માઢી શકતી નથી ॥ ૨૬ ॥

મૂલ

કિરિયાકિરિયં વેણડ્યાણુવાયં,  
અપ્પાણિયાણં પહ્લિયન્ન ઠાણં ।  
સે સલ્લવાયં ઇતિ વેયડ્ઢ્ઠા,  
ઉવઢ્ઠિણ સંજમ દીહરાયં ॥ ૨૭ ॥

संस्कृतच्छाया

क्रियाक्रियं वैनयिकानुवादं,  
अज्ञानिकानां प्रतीत्य स्थानम् ।  
स सर्ववादिमिति वेदयित्वा,  
उपस्थितः संयमदीर्घरात्रम् ॥ २७ ॥

सं० टीका—क्रियावादिनामस्तीतिर्शतं मेदाः । अक्रियावादिनां चतुरशीतिमेदाः । विनयवादिनां द्वात्रिंशत्, अज्ञानवादिनां सर्वपष्टीति <sup>३६३</sup> त्रिपष्टिशतमेदाः पापण्डिनां सर्वलिङ्गिनां “पापण्डाः सर्वलिङ्गिन इत्यमरः ।” “[ कुटीसकादिकाचतुर्त्तिस द्वासंष्टिदिष्टिभो इति छत्रुव्वुती एते ] पासण्डा सम्पकासिता इत्यभिधानप्पदीपिका ।” वा मनोनीतधर्मिणां स्थानं पदं वा सादृश्यं स्थितिमवस्थामात्मनो ज्ञात्वा, “स्थानं सादृश्येऽवकाशे स्थितौ वृद्धिक्षयेतर इति मेदिनी ।” सर्वधर्माणामन्तर्भेदं रहस्यं ज्ञात्वेति भावः । वा स्थितिं तेषां स्थानं निकटं त्यक्त्वेत्याशयः । “अवकाशे स्थितौ स्थानमित्यमरः ।” पक्षमित्यपि सम्यक् प्रतीत्य परिच्छिद्य ज्ञात्वा च स भगवान् सर्ववादं सर्वमन्तव्यं कथयित्वा सर्वधर्माकान्तवादिनां स्वरूपं कथनं भावं च परिज्ञाय दीर्घकालं यावज्जीवपर्यन्तं संयमे धर्मे सम्यगुपस्थितः स्थितवान् ॥ २७ ॥

अन्यार्थ—[ से ] वह भगवान् महावीर [ क्रियाक्रियं ] क्रियावाद और अक्रियावादके तथा [ वेणइयाणवायं ] विनयवादी और [ अण्णानियाणं ] अज्ञानवादियोंके [ ठाणं ] पक्षके [ पठियच्च ] जानकर तथा [ सव्ववायं ] और सब वादोंके—पक्षके ( इति ) सम्यक् प्रकारसे ( वेयइत्ता ) समझकर [ सजमदीइरायं ] यावज्जीव संयममें [ उवट्टिए ] उपस्थित रहे ॥ २७ ॥

भाषार्थ—संसारमें अनेक मतोंका प्रचार है, कोई क्रियासे मोक्ष मानता है, कोई अक्रिया कही है वे साधु ज्ञानसे मुक्ति होना मानते हैं, कोई विनय करनेमें मोक्ष मानते हैं और कोई अज्ञानसे । और भी इनके अनेक विद्वान्त हैं,

उन सबको प्रभु अच्छे प्रकारसे जानकर तथा औरोंको इसका तथ्य समझा कर संयममें तत्पर होगये थे, अर्थात् जैसा उपदेश करते थे वैसा आचरणमें भी लाते थे ॥ २७ ॥ )

**भाषाटीका:**—क्रियावादियोंके १८० मत, अक्रियावादियोंके ८४ मत, विनयवादियोंके ३२ मत, और अज्ञानवादियोंके ६७ इस प्रकार पापण्डियोंके ३६३ भेद सर्वधर्मलिपिओंके होते हैं । बाईदोंने ९६ पापण्ड माने हैं । मनोनीत धर्मका नाम पापण्ड है । या सर्वधर्मका नाम पापण्ड है । प्रभुने उनकी तुलना स्याद्वादसे कर दिखाई । जिस अग्नि परीक्षामें कोई पापण्ड न उठ सका । परन्तु प्रभुने इनसे सर्वधर्म समभाव रखना बताया । उनमें युक्तायुक्तविभाग करके असत्य का त्यागना सर्वश्रेष्ठ माना । इस प्रकार स्वसमय परसमय का मन्तव्य समझाकर यावज्जीवतक संयमधर्ममें एकरस होकर तत्पर (स्थिर) रहे थे ॥ २७ ॥

**गुजराती अनुवाद—**क्रियावादीना १८० मत, अक्रियावादीना ८४, विनयवादीना ३२ अने अज्ञानवादीना ६७ ए सर्वे ३६३ पापण्डिओना भेद जाणवा, बाइदोए ९६ भेद मान्या छे, मनोनीत धर्म पापण्ड कहेवोय छे, तेनी तुलना स्याद्वादशी करी बतावी, ते अग्निपरीक्षामां कोई पापण्डी टकी न शक्यो । प्रभुए सर्वे धर्म समभाव राखवानुं पण बतावुं, तेमां योभियायोभ्यनुं जाणपणुं पण बतावीने असत्यनो त्याग सर्वे श्रेष्ठ मान्यो । आरीते स्वसमय, पर-समयनुं मन्तव्य समझीने उत्तम दशविध संयमनां ( धर्मनां ) जावजीव सुधी सावधान पणे रखा ॥ २७ ॥

मूल

से वारिया इत्थी सराइभक्तं,  
उवहाणवं दुक्खखयट्टयाए ।  
लोकं विदित्ता आरं परं च,  
सवं प्पभू वारिय सव्ववारं ॥ २८ ॥

संस्कृतच्छाया

स वारयित्वा स्त्रियं सरात्रिभक्तं, उपधानवान् दुःखक्षयार्थम् ।  
लोकं विदित्वाऽऽरं परं च, सर्वं प्रमुर्वारितवान् सर्व्वचारम् २८

सं० टीका—स वीरभगवान् स्त्रियं स्त्रीसम्पर्कं सम्भोगं च मैथुनं स्त्रीवेदपुरुषवेदोदयं, रात्रिभोजनसहितं निरन्तरं वारयित्वा परित्यज्य, उपलक्षणादन्यान्यपि प्राणातिपातादीनि ग्राह्याणि । परन्तु रात्रिभोजने तु सुतरां त्रसानामपि हिंसाऽनिवार्यसंयोगेन भवत्येवेत्यनेन रात्रिभोजनं त्याज्यमेवेति भावः । यथाह—

पुरुषार्थसिद्ध्युपाये—

“रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा,  
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि” ॥ १२९ ॥

“रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा ।  
रात्रिदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न सम्भवति” ॥ १३० ॥

“यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।  
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा” ॥ १३१ ॥

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ ।  
अन्नकवलस्यभुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥ १३२ ॥

अकाले भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम् ।  
अपि बोधितः प्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥ १३३ ॥

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः ।  
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमर्हिंसां स पाल्यति ॥ १३४ ॥

अहिंसाशुब्रतपालको नरो रात्रिभोजनं वर्जयतीति दर्शय-  
न्नाह; सागारधर्माभृते—

अहिंसाशुब्रतरक्षार्थं, मूलब्रतविशुद्धये ।

नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा, वीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥ २४ ॥

जलोदरादिकृच्छ्राद्यंक्रमेक्ष्यजन्तुकम् ।

प्रेतासुच्छिद्यमुत्सृष्टमप्यश्नन्निश्यहो सुखी ॥ २५ ॥

अथवा वनमालादृष्टान्तेन रात्रिभोजनदोषस्य पातकं  
दर्शयति—

“त्वां यद्युपैमि न पुनः सुनिवेश्य रामं, लिप्ये षष्ठादिकृदधैस्तादिति  
श्रितोऽपि । सौमित्रिरन्यशपथान्वनमालयैकं, दोषाश्रितोपशपथं किल  
कारितोऽस्मिन्” ॥ २६ ॥

लौकिकसंवादादर्शनेनापि रात्रिभोजनप्रतिषेधमाह ।

यत्र सत्पात्रदानादिकिञ्चित्सत्कर्म नेप्यते ।

कोऽद्याच्चन्नात्ययमये, स्वहितैषी दिनात्यये ॥ २७ ॥

मुञ्जतेऽन्हः सकृद्द्वय्या द्विर्मध्याः पशुवत्यरे ।

रात्र्यहस्तद्व्रतगुणान्, ब्रह्मोद्यान्नावगामुकाः ॥ २८ ॥

योऽत्ति त्यजन् दिनाद्यन्तर्मुहूर्तो रात्रिवत्सदा ।

स वप्यंतोपवासेन स्वजन्मार्द्धं नयन् कियत् ॥ २९ ॥

तथा च—श्रावकस्यैकादशप्रतिमासु पृथ्वां प्रतिमायां श्रावको  
रात्रिभुक्तित्यागी भवति । यथाह—

समन्तभद्रसामी श्रावकाचारे—

जनं पानं खाद्यं लेह्यं, नाश्नाति यो विभावय्याम् ।

। स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥ १४२ ॥

पुनश्च—मुनिस्तु महाव्रतं समेत्य रात्रिभोजनात्सर्वथा विरमति  
यथाह दशवैकालिके—तस्य पप्रव्रतं कृतम्—

अहावरे छष्टे भंते । यद् रात्रिभोयणाञ्चो वेरमणं, सर्वं भंते ! रात्रि-  
भोयणं पचक्त्वाभि, से असणं वा, पाणं वा स्वाह्मं वा साह्मं वा,



नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवऽजेहिं राइं भुंजाविज्जा राइं भुंजंतेऽपि अत्रेन समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए ऋएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कामामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सघाओ राइभोयणाओ वेरमणं ।

“अहावरे” इत्यादि । अथापरस्मिन् पष्ठे भदन्त ! मते रात्रिभोज-  
नाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत् । तद्यथा-  
अशनं, वा पानं वा स्वाद्यं वा स्वाद्यं वेति, ‘अश्यत इत्यशनम्,’—ओदनादि,  
‘पीयत इति पानं’—मृद्धीकापानादि, ‘स्वाद्यत इति स्वाद्यं’ सर्जुरादि,  
‘स्वाद्यत इति स्वाद्यं’ ताम्बूल्यादि, ‘नेव सयं रात्रौ भुंजे, नेवान्ये रात्रौ  
भोजयामि, रात्रौ भुंजानानप्यन्यात्रैव समनुजानामि; इत्येतद्यावज्जीवमि-  
त्यादि च भावार्थमधिकृतपूर्वविधम् । विशेषस्त्वयम्—रात्रिभोजन चतु-  
र्विधम् । तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । द्रव्यतस्त्वशनादौ,  
क्षेत्रतोऽर्धवृत्तीयेषु द्वीपसमुद्रेषु, कालतो रात्र्यादौ, भावतो रागद्वेषाभ्या-  
मिति । स्वरूपतोऽप्यस्य चानुर्विध्यम्, तद्यथा—रात्रौ गृह्णाति रात्रौ भुंक्ते,  
१ रात्रौ गृह्णाति दिवा भुंक्ते २, दिवा गृह्णाति रात्रौ भुंक्ते ३, दिवा  
गृह्णाति दिवा भुंक्ते ॥ ६ ॥ सनिधिपरिभोगे द्रव्यादिचतुर्भङ्गी पुनरि-  
यम्—द्रव्यतो नामैको रात्रौ भुंक्ते नो भावतः १, भावतो नामैको नो  
द्रव्यतः २, एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि ३, एको नो द्रव्यतो नो  
भावतः ॥ ४ ॥ तत्रानुद्गते सूच्ये उद्गत इत्यन्तमिते वाञ्छन्तमित  
इत्वरक्तद्विष्टस्य फारणतो वा रात्रौ भुञ्जानस्य द्रव्यतो रात्रिभोजनं  
नो भावतः । रात्रौ भुञ्ज इति मूर्च्छितस्य तदसम्पत्तौ भावतो नो  
द्रव्यतः । एवमेव सम्पत्तौ द्रव्यतोऽपि, भावतोऽपि चतुर्यो भङ्गः पुनः

शून्यः । एतच्च रात्रिभोजनं प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थयोः—ऋजुजडवक्त्रं  
जडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वस्यापनार्थं महामतोपरि पठितं मध्यमतीर्थ-  
करतीर्थेषु पुनः ऋजुप्रज्ञपुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्गं इति ॥

तथा च योगशास्त्रेऽपि—

अन्नं भेतपिशाचवैः, संचरद्भिर्निर्ऋतैः ।

उच्छिष्टं क्रियते यत्र, तत्र नाद्यादिनात्यये ॥

तथा—

घोरान्धकाररुद्धाक्षैः, पतन्तो यत्र जन्तवः ।

नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुञ्जीत को निशि ?

रात्रिभोजने दृष्टान् दोषानाह—

“भेषां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम् ।

कुरुते मक्षिका वान्ति, कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥”

“ऋष्टको दारुत्वण्डं च, पित्तनोति गलव्यधाम् ।

व्यञ्जनान्तर्णिपतितस्तानु विष्यति वृक्षिकः ॥”

“विलम्बश्च गले वातः, सरभंगाय जायते ।

इत्यादयो दृष्टदोषाः, सर्वेषां निशि भोजने ॥”

यदाहुः—

\*नेहं पिपीलियाभो, हणन्ति यमणं च मच्छिवा कुण्ड, जूया-

\* भेषां पिपीलिका हन्ति, यमणं च मच्छिवा करोति,

यूका जलोदरम्, कोलिकः कुष्ठरोगं च ।

वातः सरस्य भंगं, ऋष्टको समस्य गले दाह च,

तापने विष्यति अतिभयं यत्र नभ्ये भुञ्जन्तः ।

नीचानां कुम्भार्थिनां, घातनं भावनपावनस्यु ।

एतान्निदरवनीभोजनदोषात्, एः कथयितुं पठन्ति ॥

जलयरत्नं, कोलियओ कोदरोगं च ॥ बालो सरस्स भंगं, कंटो लम्गाइ  
गलम्भि दारु च । तालुम्भि विंधइ अली, वंजणमज्झम्भि भुंजंतो ॥  
जीवाण कुंयामाईण घायणं भायणंधोयणाईसु । एमाइरयणिभोयणदोसे,  
को साहिकु तरइ ?,

नाप्रेक्ष्यसूक्ष्मजन्तून्, निश्यद्यात्प्राशुकान्यपि,  
अप्युद्यत्केवलज्ञानैर्नादृतं यन्निशासनम् ॥

\*जइवि हु फासुगदद्वं कुंधूपणगावि तहवि दुप्पस्सा,  
पच्चक्खनाणिणो वि, हु राइभत्तं परिहरंति ।

जइवि हु पिवीलगाई, दीसंति पइवमाईउज्जोए,  
तहवि खल्ल अण्णाइत्तं, मूलवयविराहणा जेण ॥

लौकिकसंवाददर्शनेनापि रात्रि-भोजनं प्रतिपेधति यथा—

“धर्मविज्ञैव भुंजीत, कदाचन दिनात्यये,  
वाद्या अपि निशाभोज्यं यदभोज्यं प्रचक्षते ।”

तच्छास्त्रमेव कथयति—

“त्रयीतेजोमयोभानुरिति वेदविदो विदुः ।  
तत्करैः पूतमखिलं, शुभं कर्म समाचरेत् ॥”

पुनश्चैतदेवाह—

“नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम् ।  
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ॥”

\* यद्यपि खल्ल प्रायुद्धद्वयं, कुन्धुपनका अपि तथापि दुप्पेइयाः ।  
प्रत्यक्षज्ञानिनोऽपि खल्ल रात्रिभक्तं परिहरन्ति ॥  
यद्यपि खल्ल पिपीलिक्कादयो दृश्यन्ते प्रदीपाद्युद्योते ।  
तथापि खल्वनाचीर्णं, मूलवयविराधना येन ॥

पुनश्च—“दिवसस्याष्टमे भागे, मन्दीभूते दिवाकरे ।

नक्तं तु तद्विजानीयान्न नक्तं निशि भोजनम् ॥”

“देवैस्तु भुक्तं पूर्वान्हे, मध्यान्हे ऋषिभिस्तथा ।

अपराण्हे च पितृभिः, सायान्हे दैत्यदानवैः ॥”

“सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः, सदा भुक्तं कुलोद्ब्रह्म ।

सर्ववेलां व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥”

आयुर्वेदेऽप्युक्तम्—

“हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चण्डरोचिरपायतः ।

अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादानादपि ॥”

परपक्षसंवादमभिधाय स्वपक्षं समर्थयते—

“संसर्जीवसंघातं, भुञ्जाना निशि भोजनम् ।

राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते, मृगाल्मानः कथं तु ते? ॥”

एतदेवाह—

“वासरे च रजन्यां च, यः खादन्नेव तिष्ठति ।

शृंगपुच्छपरिभ्रष्टः, स्पष्टं स पशुरेव हि ॥”

रात्रिभोजनविरतानां सविशेषपुण्यवत्त्वं दर्शयति—

“अन्हो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे पदिके त्यजन् ।

निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥”

ननु यो दिवैव भुंक्ते तस्य रात्रिभोजनप्रत्याख्याने फलं नास्ति ? फलविशेषो वा कश्चिदुच्यतामित्याह—

“अकृत्वा नियमं दोषाभोजनादिनभोज्यपि ।

फलं फलेन निर्व्याजं, न वृद्धिर्भाषितं विना ॥”

पूर्वोक्तस्य विपर्ययमाह—

“ये वासरं परित्यज्य, रजन्यामेव भुंजते ।

ते परित्यज्य माणिक्यं, काचमाददते जडाः ॥”

ननु यदि नियमः सर्वत्र फलवान् ततो यस्य “रात्रावेव मया भोक्तव्यं न दिवसे” इति नियमस्तस्य का गतिः? रित्याह

“वासरे सति ये श्रेयस्काम्यया निशि भुंजते ।

ते वपन्त्यूपरक्षेत्रे, शालीन् सत्यपि प्लवले ॥”

रात्रिभोजनस्य दुर्विपाकफलमाह—

“उल्लककाकमार्जारगृध्रशम्बरशूकराः ।

अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥”

वनमालोदाहरणेनायमपि रात्रिभोजनदोषस्य त्यागमहत्तां दर्शयति यथा—

“श्रूयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मणः ।

निशाभोजनशपथं, कारितो वनमालया ॥”

शास्त्रं निदर्शनं च विना सकलजनानुभवसिद्धं—रात्रि-भोजनत्यागफलमाह—

“करोति विरतिं धन्यो, यः सदा निशि भोजनात् ।

सोऽर्द्धं पुरुषायुषस्य, स्यादवश्यमुपोषितः ॥”

तदेवं रात्रिभोजनस्य भूयांसो दोषास्तत्परिवर्जने तु ये गुणा-स्तान् वक्तुमस्माकमशक्तिरेवेत्याह—

“रजनीभोजनत्यागे, ये गुणाः परितोऽपि तान् ।

न सर्वज्ञादते कश्चिदपरो वक्तुमीधरः ॥ ७० ॥

अमितगतिथावकाचारेऽपि रात्रिभोजनस्य निषेधः कृतः ।

यत्र राक्षसपिशाचसंचरो; यत्र जन्तुनिवहो न दृश्यते ।

यत्र मुक्तमपि वस्तु भक्ष्यते, यत्र घोरतिमिरं विजृम्भते ॥

यत्र नास्ति यतिवर्गसङ्घमो, यत्र नास्ति गुरुराजदर्शनम् ।

यत्र संयमविनाशि भोजनं, यत्र संसृजति जीवभक्षणम् ॥

यत्र सर्वशुभकर्मवर्जनं, यत्र नास्ति गमनागमक्रिया;

तत्र दोषनिलये दिनात्यये, धर्मध्यानकुशला न भुञ्जते ॥

भुञ्जते निशि दुराशयाय के, गृद्धिदोषवशवर्तिनो जनाः ।

भूतराक्षसपिशाचशाकिनी, सगतिः कथममीभिरस्य च ॥

वरुमते दिननिशीथयोः सदा, यो निरस्तयमसंयमक्रियः ।

शृंगपुच्छशफसंगवर्जितो, भण्यते पशुरयं मनीषिभिः ॥

आमनन्ति दिवसेषु भोजनं, यामिनीषु शयनं मनीषिणः ।

ज्ञानिनामवसरेषु जल्पनं, दान्तये गुरुषु सेवनं कृतम् ॥

भुज्यते गुणवतैकदा सदा, मध्यमेन दिवसे द्विरुज्वले;

येन रात्रिदिवयोरनारतं, भुज्यते स कपितो नराधमः ॥

ये विबर्ज्य वदनावसानयोर्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा ।

भुञ्जते जितहृषीकृवाजिनस्त्रे भवंति भवभारवर्जिताः ॥

ये व्यवस्थितमहः सुसर्षदा, शयंरीषु रचयन्ति भोजनम् ।

निम्नगामिसलिलं निसर्गतस्त्रे नयन्ति शिसरेषु शास्त्रिनम् ॥

सूचयन्ति सुरदायि यैऽग्निनां, रात्रिभोजनमपास्तचेतनाः ।

पावकोद्धरशिखाकरालितं, ते पदन्ति फलद्राधिकाननम् ॥

ये श्रुवन्ति दिनरात्रिभोगयोस्तुल्यतां रचितपुष्पपापयोः ।

ते मफाशतमसोः समानतां, दर्शयन्ति सुसदुःखकारिणोः ॥

रात्रिभोजनमधिश्रयन्ति ये, धर्मबुद्धिमधिकृत्य दुर्धियः ।  
 ते क्षिपन्ति पवित्रं हिमण्डलं, वृक्षपद्धतिविष्टद्वये ध्रुवम् ॥  
 ये विष्टृत्य सकलं दिनं क्षुधा, मुञ्जते सुकृतकांक्षया निशि ।  
 ते विष्टृत्य फलशालिनीं लतां, भक्षयन्ति फलकांक्षया पुनः ॥  
 ये सदापि घटिकाद्वयं त्रिधा, कुर्वते दिनमुखान्तयोर्बुधाः ।  
 भोजनस्य नियमो विधीयते, मासि तैः स्फुटमुपोषितद्वयम् ॥  
 रोगशोककलिराटिकारिणी, राक्षसीव भयदायिनी प्रिया ।  
 कन्यका दुरितपाकसंभवा, रोगिता इव निरन्तरापदाः ॥  
 देहजा व्यसनकर्मपंडिताः, पन्नगा इव वितीर्णर्मातयः ।  
 निर्धनत्वमनपायि सर्वदा, पात्रदानमिव दत्तवृद्धिकम् ॥  
 संकटं सतिमिरं कुटीरकं, नीचवित्तमिव रंभ्रसंकुलम् ।  
 नीचजातिकुलकर्मसंगमः, शीलशौचशमधर्मनिर्गमः ॥  
 व्याधयो विविधदुःखदायिनो, दुर्जना इव परापकारिणः ।  
 सर्वदोषगणपीड्यमानता, रात्रिभोजनपरस्य जायते ॥  
 पद्मपत्रनयनाः प्रियंवदाः, श्रीसमाः प्रियतमा मनोरमाः ।  
 सुन्दरा दुहितरः कलालयाः, पुण्यपंक्तय इवात्तविग्रहाः ॥  
 भ्रंशितव्यसनवृत्तयोऽमलाः, पावना हिमकरा इवागंजाः ।  
 शकमन्दिरमिवास्ततामसं, मन्दिरं प्रचुररत्नराजितम् ॥  
 लब्धचिन्तितपदार्थमुज्वलं, भूरिपुण्यमिव वैभवं स्थिरम् ।  
 सर्वरोगगणमुक्तदेहता, सर्वशर्मनिवहाधिवासिता ॥  
 ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः, सर्वयाचितविधानपण्डिताः ।  
 सर्वलोकपतिपूजनीयता, रात्रिभुक्तिविमुक्तस्य जायते ॥

- शूकरी शंबरी वानरी धीवरी, रोहिणी मंडली शोकिनी क्लेशिनी ।  
 दुर्भगा निस्तुता निर्धवा निर्धना, शर्वरीभोजिनी जायते भामिनी ॥  
 बान्धवैरं चिता देहजैर्वन्दिता, भूषणैर्भूषिता व्याधिभिर्वर्जिता ।  
 श्रीमती श्रीमती धीमती धर्मिणी, वासरे जायते भुक्तिः शर्मणी ॥  
 रात्रिभोजनविमोचिनो गुणा, ये भवन्ति भवभागिनां परे ।  
 तानपास्य जितनाथमीशते, वक्तुमत्र न परे जगद्भये ॥

इत्यनेकशास्त्रसम्मतारात्रिभोजनं परिहेयमिति भावः । उपधानं तपः,  
 प्रणयं च प्रकर्षेण नयं न्यायं “उपधानं विषे गण्डौ प्रणयेऽपि नयुंस-  
 कमिति मेदिनी” । तद्विद्यतेऽस्यासावुपधानवान्, तपोनिष्ठप्रदेहो नय-  
 वानपि, दुःखक्षयार्थं दुःखप्रणाशनार्थमारं प्रान्तभागं, पारं परं लोकं  
 “पारं परतटे प्रान्ते इति मेदिनी” । “पारं मुचि इत्यभिधानप्पदीपिका  
 बौद्धकोषः” । ऐहलोकं पारलोकं, अथवाऽऽरं मनुष्यलोकं पारं दूर-  
 वर्तिं तीरं ‘पारं परम्हि, तीरम्हि’ इति अभिधानप्प०” । अथवा नर-  
 कादिकं स्वरूपतस्तत्प्रापणहेतुं ततश्च ज्ञात्वा सर्वमेव तत्, प्रभुर्भगवान्  
 सर्ववारं बहुशो निवारितवान् त्यक्तवान् एतदुक्तं कथितं प्राणातिपा-  
 तादिकं निषेधादिकं स्वतोऽनुष्ठाय परांश्च-स्थापितवान्, नहि स्वतोऽ-  
 स्थितः परांश्च स्थापयितुमलमित्यर्थः स्वयमधर्मे स्थितः पराज्जनान्धर्मे  
 स्थापयितुमसमर्थः । स्तुतिकृतोक्तमिति । “ब्रुवाणोऽपि न्यायं स्ववचन-  
 विरुद्धं व्यवहरन्, परं नालं कश्चिद्मयितुमदान्तं स्वयमिति । भवा-  
 न्निश्चित्यैवं मनसि जगदाधाय सकलं, स्वमात्मानं तावद्मयितुमदान्तं  
 व्यवसितः” ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—[ से ] उस [ उवहाणव ] तपस्वी [ प्रभु ] भगवान् महा-  
 वीरने [ दुःखउखलपट्टपाए ] भाठ प्रकारके कर्मरूपी दुःखलोकसे दूर करनेकेलिए



[सराइभत्तं] रात्रि भोजन सहित [श्वी] स्त्री-संभोगादि पापोंको [वारिया] छोड़कर [सर्वं] तथा समस्त [आरं] इस [लोगं] लोकको (च) और [परं] परलोकको [विदिता] जानकर [सम्बवारं] अधिकाधिक प्रमाणमें समस्त परभावका [वारिया] निवारण किया ॥ २८ ॥

भाषार्थ—जो वधा जिस प्रवृत्तिका उपदेश करता है वह वैसा ही बर्तन भी करता है, तब ही उसके उपदेशका प्रभाव पड़ता है। महावीरप्रभुने मोक्ष-पानेका जो उपदेश किया उसमें वे स्वयं भी संलग्न रहे हैं। इसीसे कहा गया है कि-भगवान्ने आठ कर्मरूपी दुःखोंका नाश करनेके लिए स्त्री-संसर्ग तथा रात्रिभोजन और १८ पापोंका स्वयं त्याग किया था। इसके अतिरिक्त घोर तप करते हुए इसलोक-परलोक अथवा मनुष्यलोक नरकलोकादिका रहस्य जानकर उन सबका त्याग किया ॥ २८ ॥

भाषा-टीका—भगवान् स्त्रीसंसर्ग और स्त्रीके पडौसमें रहने तकके कष्ट त्यागी थे। उन्होंने ब्रह्मचर्य्य पालन करनेके लिए नव वाड विशुद्ध शील पालन करना बताया है। यहा तक तो कहा है कि-जिस स्थान पर स्त्री बैठकर गई है, ब्रह्मचारी उस स्थान पर एक घंटा तक बिल्कुल न बैठे। क्योंकि उसके अशुद्ध और गर्म परमाणुओंका प्रभाव सुशीलके लिए हानिकर है। यही ब्रह्म-चारिणीके लिए भी समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त आप रात्रिभोजनके भी प्रत्यक्ष विरोधमें थे, क्योंकि रात्रिमें भोजन करनेसे त्रस जीवोंकी हिंसाका होना अनिवार्य संयोग है। इसी कारणसे रात्रिभोजन करना मना किया है।

रात्रिभोजन इस लिए वर्जित है कि रात्रिमें भोजन करनेवालोंके लिए हिंसाका निवारण करना अशक्य है। अतः हिंसाका त्यागी रातमें भोजन न करे। मगर जो जीव तीव्र राग भाव रखते हैं उनसे इसका त्याग नहीं हो सकता। क्योंकि जिसे भोजनसे अत्यधिक अनुराग होगा वह ही प्राणी रात दिन खाता पीता रहेगा। और जहा राग बन्धन होता है वहां प्रमत्तयोग व्यापार अवश्य रहता है। और प्रमत्त प्राणी हिंसा अवश्य करेगा।

बहुतसे यह भी कहते हैं कि यदि सदाकाल भोजन करनेमें हिंसा होती है तो दिनमें भोजन न करके रातको ही खाना चाहिए? क्योंकि इस प्रकार करनेसे सदैव तो हिंसा न होगी। मगर यह बात नहीं है, यद्यपि उदरके

भरने की अपेक्षा सब प्रकारके भोजन समान हैं । परंतु अन्नके भोजनमें जितना साधारण राग भाव है, उतना मांस भोजनमें नहीं । मांस भोजन में विशेष राग भाव है । जितना पास खानेवाली गायको चारा मिलने पर खाते समय सामान्य रागभाव है, उतना थोड़ा रागभाव चूहे मारनेवाली बिल्लीको नहीं । बिल्लीको मांस भोजनमें विशेष रागभाव है । क्योंकि अन्नका भोजन सहजमें मिल जाता है और मांसका भोजन अतिशय कामादिककी अपेक्षा अथवा शरीरादिकके मोहकी अपेक्षा विशेष प्रयत्नसे तैयार किया जाता है । इसी तरह दिनका भोजन सब मनुष्योंको सहज ही प्राप्त होजाता है । इसीलिए उसमें साधारण रागभाव पाया जाता है, -परन्तु रात्रि भोजनमें तो शरीरादिक व कामादिक पोषण करनेकी अपेक्षा विशेष रागभाव आता है । अत एव रात्रि-भोजन सर्वथा लाज्य ही है ।

इसके अतिरिक्त दीपकके प्रकाशमें वारीक जीव आखोंसे ठीक २ नहीं दीखते, तथा रात्रिमें दीपकके प्रकाशसे नाना प्रकारके ऐसे छोटे बड़े जीव घूमने लगजाते हैं, जो दिनमें कभी दिखलाई नहीं पड़ते । अत एव रात्रि भोजनमें तो प्रत्यक्ष हिंसा है, और रात्रिमें भोजन करनेवाला हिंसासे कभी बच नहीं सकता । अतः जिस महाभाग्यशालीने रातमें आहार करना सर्वथा छोड़-दिया है वही सच्चा अहिंसक है । रात्रि भोजनके छोड़े बिना अहिंसाव्रतकी सिद्धि नहीं हो सकती । अत एव कोई २ आचार्य इसे अशुभतमें भी गर्भित करते हैं ।

सागरधर्मागृतमें कहा है कि-अहिंसाव्रतका साधक रात्रि भोजनका त्याग अवश्य करता है । क्योंकि मूल व्रत की शुद्धि के लिए तथा अहिंसाव्रतकी रक्षाके निमित्त रात में चार प्रकार का आहारकरना तीनयोगसे धर्मा जीवोंके लिए वर्जित है ।

पुराने विचारके मनुष्योंका यह भी मत है कि रात होनेपर भूत प्रेत आकर आहारको झूठा करदेते हैं । और बहुतसे जीव ऐसे भी हैं जिनको रात्रिमें देखना कठिन है । यदि जूं आदि जीव भोजन में खाया जाय तो जलो-दर जैसे रजस्रोगोंका हो जाना कुछ अशुभच नहीं । अतः रात्रि भोजनका त्यागी ही उपरोक्त आपत्तियोंसे मुक्तहोकर इन्द्रिय विलासके जालसे छूट सकता है ।

वनमालाने रात्रिभोजनके दोष की शपथ दिलाई थी ।

जैन रामायणमें कहा है कि-रामजी लक्ष्मण और सीताके साथ दक्षिणा-पथमें घूमते २ कूर्चनगरमें आ निकले । वहां महीधरराजाने अपनी वनमाला नामक पुत्रीका विवाह लक्ष्मणसे करदिया । कुछदिन रहकर वहाँसे जब तीनों विदा होनेलगे तब वनमाला भी लक्ष्मणके साथ चलनेलगी । परन्तु लक्ष्मणने उसे साथमें न चलनेकी सम्मति दी । यह सुन स्वामीके विरहमें कांतरभाव होकर बोली कि नाथ ! आप मुझे वापस कबतक आकर ले जाओगे ? यह विश्वास न होनेसे साथ ही रहूंगी । लक्ष्मणने उसे विश्वास दिलानेके लिए प्राणातिपात जैसे अनेक पापकी कड़ी शपथ ली । तब उसने उन शपथोंपर असन्तोष प्रकट किया और रात्रिभोजनके पापकी शपथ दिलाई । लक्ष्मण वह शपथ लेकर रामके साथमें जागिला । उस समय रात्रि भोजनका पाप चार प्रकारकी हत्याओंसे भी अधिक समझा जाता था ।

किसीने कहा है कि—मुपात्र-पुरुष दिनमें आते हैं वे रातको नहीं आ पाते, अतः दिन अस्त होनेपर उनको आहार देनेसे वंचित रह जाता है । अतः दानी और कल्याणकी कामना रखनेवालापुरुष रातमें भोजन करना त्याग देता है ।

पुरुषोंके तीन प्रकार—उत्तम पुरुष मध्याह्न समय भोजन करते हैं, मध्यम पुरुष दोबार खाते हैं, परन्तु जो सर्वज्ञके कहे हुए धर्मसे अनभिज्ञ हैं, वे पशुकी तरह दिनरात चरते रहते हैं ।

दो घड़ी दिन चढनेतक रात्रि निकट रहती है, दो घड़ी दिन बाकी रहने पर रात्रि समीप में आ जाती है, अतः सवेरे का दुधडिया धर्माराधन और स्वाध्यायके लिए है । तथा सांशके दुधडियेमें प्रतिक्रमणका आरंभ होजाता है । अतः उन दो दो घड़ियोंको छोड़ कर जो आहार करते हैं वे प्रशंसनीय पुरुष हैं । क्योंकि उनका आधा जन्म-समय तो उपवास करने में ही व्यतीत हो गया है ।

श्रावककी ११ प्रतिज्ञा ( प्रतिमा ) ओमें छठवीं प्रतिज्ञा रात्रिभोजनके छोड़ने की होती है, जिसमें अन्न, पानी, खानेकी वस्तु मिश्रई आदि, और पान मुपासी आदि खादकी वस्तुएँ तथा चाटनेकी वस्तुएँ आदि जो रातमें नहीं भोगता वह सब असप्राणी जीवोंकी अनुकम्पा करनेवाला सच्चा गृहस्थ है ।

छठा व्रत मुनिओंका रात्रि भोजन त्याग है—मुनिवर्ग तो महाव्रतोंको लेकर रात्रिभोजनसे सर्वथा विरक्त हो जाता है। दसवैकाण्डिकमें उसका छठा व्रत इस प्रकार किया गया है। और वह इसके सम्मुख नों प्रतिष्ठा केता है कि—

भगवन् ! मैं रात्रिभोजन करनेका त्याग करता हूँ। और भक्ष, पानी, साय खायादि पदार्थोंका रात्रि के समय न भोजन करूँगा, न करऊँगा, न करने वालेकी अनुमोदना भी करूँगा। रात्री उमरभरकेलिए तीनकरण और तीन योगोंसे अर्थात् मन-वचन-वायासे एतमें, आहार न करूँगा न करऊँगा, तथा अनुमोदन भी न करूँगा। हे भगवन् ! उस रात्रिभोजनके पापरूप दंडसे मैं पीछे हटता हूँ, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, अपने आत्माकी साक्षीसे उसे नियम समझता हूँ, गुरुकी साखसे उसको धृणित समझता हूँ, और आत्मासे उस पाप का त्याग करता हूँ।

अहिंसा महामतकी रक्षाकेलिए रात्रिभोजनका त्याग किया गया है—और वह भी इस जन्मके अन्तिम क्षण तक छोड़ा गया है।

उसे महामत न कह कर व्रत इनलिए कहा है कि—महामतोंकी तरह शक्य पालन करना अधिक कठिन नहीं है। इसीप्रकारसे इसे मूल्युगमें न रख कर उत्तम्युगमें रखलिया है।

और इसे महामतोंके पीछे हट लिए पडा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्पकरके समय मनुष्य अनुसूचक सन्भाव ऋतुवच और वकनच होता है। और मन्वके तीर्पकरोंके समयके मनुष्योंकी बुद्धि ऋतुप्रव्र होनेसे इसका पाठ सुगमतया समझनेके लिए महामतके पीछे जोड़ दिया है। इससे वह भी निश्च है कि महामतोंकी भांति ही इस व्रतका पालन भी किया जाता करे। इत्य-क्षेप-कृत-भावकी तथा मिथ्यामिथ्याकी दृष्टिसे इसके अनेक प्रकार हैं जैसे—द्रव्यसे अचनादि, क्षेपसे अशई दोषमें, कृत्यसे एतके कर्मन और भावसे द्वेषरहित होकर इसका पालन करना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त और प्रकार भी पाए जाते हैं। जैसे कि—भद्राचारि एतमें ग्रहण करना और एतमें खाना, एतमें ग्रहण करना और दिनमें खाना, दिनमें ग्रहण करना और एतमें खाना, दिनमें ग्रहण करना और दिनमें खाना।

इन चारों भंगोंमें पहलेके तीन, भंग साधुके लिए अशुद्ध अर्थात् प्राण्य नहीं हैं, और अन्तिम शुद्ध भंग प्राण्य है।

द्रव्य और भावकी अपेक्षासे भी रात्रिभोजनके चार भंग बन जाते हैं। जैसे-केवल द्रव्यसे, केवल भावसे, द्रव्य और भाव दोनोंसे, तथा द्रव्य और भावसे रहित। सूर्योदय या सूर्यके अस्तका सन्देह होनेपर भी भोजन किया जाता है, वह केवल द्रव्यसे रात्रि भोजन है भावसे नहीं है। “मैं रातमें भोजन करूँ” ऐसा विचार हो जाय और खाना पिया कुछ नहीं है तब वह केवल भावसे रात्रि भोजन है, द्रव्यसे नहीं। बुद्धि काम करते हुए भी रात्रिमें आहार कर लेना, यह द्रव्य और भाव दोनोंसे है और न रात्रिमें भोजन करना न करने की अभिव्यथा ही खरी करना यह द्रव्य और भावसे रहित भंग है।

बुद्धोंके आठ उपदेशोंमें भी रात्रिभोजन वर्जित है, जैसे-

- १ 'पाणातिपाता' वेरमणि सिक्खापदं 'समा दियामि' ।
- २ 'अदिक्षादाना' वेरमणि सिक्खापदं समा 'दियामि' ।
- ३ 'अधम्मचारिया' वेरमणि सिक्खापदं 'समादियामि' ।
- ४ 'मुपावादा' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि ।
- ५ 'सुरामेरय-मज्झ-पमादट्ठाना' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि ।
- ६ 'विक्कलभोजना' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि ।
- ७ 'नच्चगोतवादित विमुक्कदस्सन माला गन्धविलेपनधारण, मण्डन भूषणट्ठाना' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि ।

८ 'उच्चाशयन, महाशयना,' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि ।

भावार्थ—मैं किसी श्रमधारी जीवका प्राण लेनेसे विरक्त होता हूँ।

- २ किसी दूसरेकी वस्तु बिना दिए न लेनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ।
- ३ सब प्रकारके स्त्रीसमागम से वंचित होनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ।
- ४ सब प्रकारके झूठ बोलने की प्रतिज्ञा लेकर विरक्त होता हूँ।
- ५ किसी प्रकारका मादक द्रव्य या गांजा-भाग-मदिरादिक सेवन करनेसे विरक्त होता हूँ।

६ असमय अर्थात् दोपहरके बाद भोजन करनेसे बाज़ आकर विरक्त होता हूँ [ बौद्ध लोक दोपहर बाद कुछ नहीं खाते और रातमें भी नहीं खाते ]

५ नाचने, गाने, ढोल बजाने आदि अनेक प्रकारके समाशे देखने तथा फूल-माला, गन्ध, छेपनादिक लगाने तथा आभूषण शृंगार करनेसे विरक्त होता हूँ ।

८ ऊंचे और बड़े आराम देनेवाले आसनों और बड़ी शय्याओंमें शयन करनेका त्याग करता हूँ । इत्यादि—छठवें नियममें रात्रि भोजन इनके यहां भी वर्जनीय है ।

घोर अन्धकारमें आंखों से कुछ नहीं सीखता, उस समय रातमें उठनेवाले जीवोक्त भोजनमें परजाना भी संभव है अतः रातमें कौन खा-पी सकता है ?

### रात्रि भोजनके प्रत्यक्ष दोष—

“भोजनमें कीटी खाई जाने पर बुद्धि का नाश करती है, सूत्र खाई जाय तो जल्येदर हो जाता है, मक्खीसे वमन हो जाता है, पेटमें भकड़ी जानेसे कोढ़ हो जाता है । काटा या लकड़ी का टुकड़ा गलेमें पीडा कर देता है । शाक भाजीमें बिच्छु आजाय तो वह हलक को टंक मारकर वेध देता है । गलेमें यदि बाल अटक जाय तो स्वरका भंग हो जाता है, रातमें खानेसे ये दोष प्रत्यक्ष हो जाते हैं ।” “रातमें चरतन मल कर साफ करते समय कुंशुका आदि बहुतसे जीव मसले जाते हैं ।” “रातमें प्राशुक वस्तुएं भी न खानी चाहिए क्योंकि मोदक फलादिकों के जीव रातमें दिख नहीं सकते ।” “सूर्यके तेजमें ऋग् यजुः साम, इस तरह तीनों वेदोंका तेज है यह वेदज्ञोंका कहना है, और इसी-लिए सूर्यका नाम त्रयीतनु पडा है, उसके किरणोंसे सब कुछ पवित्र हो जाता है, और समस्त शुभकर्म उसके प्रकाशमें हों, उसके अभावमें शुभकर्म जो भोजन पानादिक हैं वे न करने चाहिए ।”

“वेदज्ञ कहते हैं कि आहुति, स्नान, श्राद्ध और देवार्चन दान आदि रात्रिमें विधान करने योग्य नहीं हैं । परन्तु रात्रिभोजन तो बिल्कुल लाज्य है ।”

“दिनके आठवें भागमें सूर्यका प्रकाश मन्द हो जाता है, अतः बुद्धिमानोंने उसे भी रात्रि समझा है । और उस समय भी भोजन वर्जनीय है ।”

“देवता पहले पहरमें जीम लेते हैं, ऋषि मध्याह्नमें भोजन करते हैं, तीमरे पहरमें मितृलोकोकी भोजन-निवृत्ति होती है, चौथे पहरमें देव और दानव भोजनसे निवृत्त हैं । सन्ध्यमें यक्ष राक्षस खाते हैं, अतः हे युधिष्ठिर ! सब देवताओंकी बेलाम्ना अतिक्रम होनेसे रात्रि भोजन अनोजन है ।”

### आयुर्वेदमें रात में खाना पीना मना है—

“सूर्यके अस्त हो जाने पर हृदयकमल और नाभिकमल अतिशय संकुचित हो जाते हैं, अतः रातमें भोजन न करना चाहिए, क्योंकि अनेक सूक्ष्म जीव खाए जाते हैं, और रातमें खाया गया भोजन स्वास्थ्यकर नहीं होता, और भलि भान्ति जाठरीमें जाकर उसका पाक-भी नहीं बनता ।”

“जो दिनरात वे समय खाने पीनेमें ही मस्त रहता है वह बिना सींग पूँछ का पशु समान है । अतः मनुष्यको दिनमें भी नियमित भोजी-भोजन संयमी होना चाहिए ।”

दो घड़ी दिन चढ़े तक तथा दो घड़ी दिन रहने पर जो भोजन पान त्याग देता है, वह रात्रिभोजनके दोषोंको जाननेवाला पुण्यका भागी होता है ।”

“जिसने दिनमें भोजन करनेका अभ्यास या रिवाज तो डाल लिया है, मगर प्रतिज्ञा नहीं की है तो क्या उसे निर्दोष रूप पुण्य नहीं मिलता ? इसका उत्तर यह है कि-किसीने रकम तो कर्ममें देदी है मगर व्याज नहीं खोला है, अतः वह बसूल करते समय व्याज लेनेका हकदार नहीं होता क्योंकि दुनियादारोंमें बोलीका मूल्य है ।”

“जो दिनमें भोजन करना त्याग कर रातमें ही खाना पसंद करता है, वह मानो माणिक्यको छोड़कर शंकरके टुकड़ेको पसंद करनेवाला जड़ बुद्धि है ।”

“दिनके होते हुए भी जो कल्याणकी इच्छासे रात्रिमें भोजन करते हैं वे सुन्दर और कमाए हुए ‘खेत’ को छोड़ कर मानो खारीली-नमकीन रेहीदार भूमिमें धान्य बोना चाहते हैं ।”

“रात्रिमें खानेसे उल्लु-झाक-बिलाव-गिद-राक्षस-सांप-बिच्छू-गोह-चमगीदड़-यागुल आदि अनेक बुरी योनिएँ पाते हैं ।

“जो पुरुष रात्रि-भोजन त्याग देता है वह धन्यवादका पात्र है, क्योंकि वह अपनी आधी आयु उपवासमें बिता रहा है ।”

“रात्रि-भोजनके त्यागमें जो जो गुण हैं, उनके विषयमें अधिक कथा कहा जाय उसके सब प्रकारके लाभ सबज्ञ ही जानते हैं ।”

मिलती है, जिसका स्वभाव धर्मात्मा और सच्चिदानुगामी होता है, ये सब कुछ दिनमें वज्रपूर्वक भोजन करनेवाले सत्यवादीको मिलते हैं ।”

इत्यादि अनेक शास्त्र संमत होनेसे रात्रिभोजनको अप्राकृतिक और दूषित समझकर छोड़ देना चाहिए । प्रभु महावीर रात्रिभोजनके स्वयं त्यागी थे, और औरोंको भी त्याग करनेका उपदेश करते थे, तथा सदैव तपस्वर्ण किया करते थे, अपार नम्रता थी, उनकी याणी अनन्तनबोसे शुद्ध थी । उन्होंने संसार और मोक्षका स्वरूप बताया था, सब प्रकारके आसक्तियोंसे भाप रहित थे, औरोंको भी आसक्तियोंसे सदा रोकते थे, क्योंकि जो स्वयं अधर्मी और अनीतिमान् हो वह औरोंको धर्म और नीतिमें क्योंकर स्थापन कर सकता है । जो स्वयं धार्मिक-नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाला हो वही औरोंको पाप-कर्मके गड्ढेसे निकाल सकता है । किसीने कहा भी है कि “जो स्वयं तो न्याय की बात कहता हो, परन्तु न्यायके विरुद्ध आचरण करता हो तो वह औरोंपर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता, क्योंकि ‘अदान्त’ कभी इन्द्रिय निग्रह नहीं कर सकता ।”

और प्रभुने इस लोक और परलोक को जाचकर रापोंसे सर्वथा निरुक्ति प्राप्त की थी ॥ २८ ॥

गुजराती अनुवाद-भगवान् महावीर प्रभु स्वीससर्गने अने ध्नीनी नजीक रहेवाना पण कहर त्यागी हता, तेमणे भववाडविशुद्ध ब्रह्मचर्यमुं पाळन करवानुं कर्तुं छे, जे स्थान पर स्त्री बेठी होय त्यां ब्रह्मचारी एक कडाक सुधिमा नज मेले, कारण के तेना अशुद्ध परमशुद्धो सुशील पुरुषने हानिकर छे । एत ब्रह्मचारिणी भाटे समजी वेवुं ।

रात्रिभोजन त्यागी-

ते उपरान्त तेभो रात्रिभोजनना पण प्रत्यक्ष विरोधी हता, कारण के रात्रिभोजनची प्रवृत्त जीवोनी हिंसा भाय छे, तेभी रात्रिमां भोजन करनानी मना करवामां आवी छे, हिंसा त्यागी रात्रिभोजन न ज करे, जे जीव तीव्र राय भाव सहित होव छे, ते तेनो त्याग करी सकतो नथी, कारणके जे जीवने भोजन पर अधिक प्रीति होव छे, ते रात्रि के दिवसे सातो पीतो ज रहेंहे, ज्वा राय बन्धन होय छे त्यां प्रमत्तभाव जहर रहे छे, अने प्रमत्तभावयुक्त प्राणी हिंसा अवश्य करे छे.



घणांओ एम पण कही दे छे के जो भोजन करवामां सदा काळ हिंसा थई जाय छे, तो दिवसे भोजन न करतां रात्रेज खावुं जोइए, कारण के तेम करवाथी सदा काळनी हिंसा थती नथी, परन्तु ते बात ठीक नथी, जो के उदर भरवणी अपेक्षाए सर्व प्रकारना भोजन समान छे, पण शाकाहारी भोजनमां जेटलो साधारण अने सात्विक भाव छे, तेटलो मांस भोजनमां सात्विक-भाव नथी, मांस भोजनमां विशेष रागभाव छे, ि घास खानारी गायने घास खाती बखते जेटलो सामान्य रागभाव छे, तेटलो वंदर मारनारी हिंसक बिलाडीमा नथी, बिलाडीने मांस भक्षणमां विशेष राग भाव छे । 'अन्न भोजन' सहजमां उत्पन्न थाय छे अने मळे पण छे, अने मांस भोजन अतिशय कामा-दिकनी खातर अथवा शरीरादिकना मोहनी खातर विशेष प्रयत्ने करवामां आवे छे, ए रीते दिवसनुं भोजन सर्व मनुष्योने सहजज प्राप्त थाय छे, तेथी तेमां साधारण रागभाव थाय छे, परन्तु रात्रिभोजनमां तो शरीरादिक तथा कामा-दिकना पोषणनी खातर विशेष राग भाव आवे छे, तेथी पण रात्रिभोजन त्याज ज छे ।

**दीपकद्रोष**—बळी दीवाना प्रकाशमां झीणा जन्तुओ आंखथी बराबर देखातां नथी, तेमज रात्रे दीवाना प्रकाशथी जुरी जुरी जातना एवां नाना मोटां जन्तुओ करवा लागे छे, के जे दिवसे क्यारेय पण देखातां नथी, तेथी रात्रिभोजनमां प्रत्यक्ष हिंसा छे, ने रात्रिभोजन करनार हिंसाथी पण क्यारेय बची शकता नथी, ।

तेथी जे भाग्यशाळी रात्रि भोजननो सर्वथा त्याग करे छे, ते साचो अहिंसक छे, रात्रिभोजनना त्याग वगर अहिंसा मतनी सिद्धि नथी थई शकती । तेथी कोई कोई आचार्य तेनो प्रथम अणुमत्तमां समावेश करे छे ।

सागारधर्मानृतमां कथुं छे के अहिंसामतनो साधक रात्रिभोजननो अवश्य त्याग करे छे, कारण के मूलमतनी शुद्धिने माटे तेमज अहिंसा मतनी रक्षा खातर रात्रे चार प्रकारनो आहार त्रियोगे करी धर्मां आत्माओ माटे वर्जित छे ।

जुना विचारोना मनुष्योनी ए पण मत छे के रात्रि थतां भूत प्रेत आवीने आहारने अभजानी दे छे, बळी घणा जीवो एवां छे, के रात्रे ते जोया बहु मुदकेल-

धावकनी ११ प्रतिज्ञा (पडिमा) मां छट्टी रात्रि भोजन त्यागनी छे । जे अन्न-पान-खादिम-स्वादिमनी वस्तुओनो उपयोग रात्रे करतो नधी, ते सर्व जीवोनी अनुकम्पा करवावाळो घाचो गृहस्थ छे.

**मुनिओनुं छट्टुं व्रत-रात्रिभोजन त्याग छे,**

मुनिओ तो रात्रिभोजननो सर्वथा त्याग करे छे, दशवंकालिकमूत्रमां रात्रिभोजनत्यागरूप छट्टुं व्रत आ प्रमाणे कहुं छे, शिष्य गुरुनी समीपे प्रतिज्ञा करे छे-के हे भगवान् ! हुं रात्रिभोजननो जीवन पर्यन्त सर्वथा त्याग करूं छुं, हुं जीवन पर्यंत व्रण करण अने व्रण योगे करी अर्थात् मन-वचन अने काय द्वारा अन्न-पाणी-खाद्य-स्नाय (मेवा विंगेरे खोराक अने मुखवासादि) एन चारे प्रकारना आहार रात्रे करीस नहि, करावीस नहि, अने करनारने अनुमोदन पण आपीस नहि, पूर्वे जे रात्रि भोजन उभ्यन्धी पाप क्युं होय तेनाधी हुं निवृत्त थाऊं छुं, आत्म साक्षीए ते पापने निंदुं छुं, आपनी पासे ते पापने अवगणुं छुं, अने हवेधी ते पापकारी कर्मधी मारा आत्माने सर्वथा अलग करूं छुं, इत्यादि ।

अहिंसा महाव्रतनी रक्षाने माटे रात्रिभोजननो त्याग करवामां आवे छे, अने ते पण यावज्जीव सुधी त्याग करेलो छे,

तेने महाव्रत न कहतां व्रत तरीकेज गणाव्युं छे, तेनुं कारण ए छे के महाव्रतोनी पेठे तेनुं पालन बहु कठिन नधी, ते खातर तेने मूल गुणमां न गणता उत्तर गुणमां गणाव्युं छे, ।

वळी महाव्रतोनी पाछळ तेने एटला माटे गणाव्युं के-प्रथम अने अन्तिम तीर्षकरना समयना मनुष्योनी स्वभाव ऋजु जड वक्र जड अनुक्रमे होय छे, तेनो पाठ सुगम रीते समजाववाने माटे महाव्रत घाथे तेने जोडी देवामां आव्युं छे, तेधी ए साबित थाय छे के महाव्रतोनी पेठे आ व्रतनुं पण पालन करवानुं छे ।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावनी तेमज मिश्रामिश्र द्रष्टिए तेना अनेक प्रकारो छे, जेमके द्रव्यधी असनादि, क्षेत्रधी अढी द्वीपमा, कालधी रात्रे भावधी द्वेष रहित धरने तेनुं पालन करवुं आवश्यक छे.

તે ઉપરાન્ત ધીર પળ પ્રકારે છે, જેમ કે આહારાદિ રાત્રે પ્રહળ કરવાને રાત્રે ચાવાં, રાત્રે પ્રહળ કરવાં ને દિવસે ચાવાં, દિવસે પ્રહળ કરવાં ને રાત્રે ચાવાં, દિવસે પ્રહળ કરવાં ને દિવસે ચાવાં, આ ચાર પ્રકારમાંનો પદ્ધત્ય ઘણ સાધુને માટે અશુદ્ધ ધર્માત્ અપ્રમાદ્ય છે, ને છેવટનો પ્રકાર શુદ્ધ અને પ્રાદ્ય છે ।

દ્રવ્ય અને ભાવની અવેક્ષાદ્ય પળ રાત્રિભોજનના ચાર ભાગા યાય છે, જેમકે કેવલ દ્રવ્યથી, કેવલ ભાવથી, દ્રવ્ય અને ભાવ બંનેથી, દ્રવ્ય અને ભાવથી રહિત, । સૂર્યોદય અગવા સૂર્યાસ્તનો સન્દેહ પદ્ધત્ય છતાં પણ ભોજન કરવામાં આવે છે, તે કેવલ દ્રવ્યથી રાત્રિભોજન છે, ભાવથી નહિ, । “હું રાત્રે ભોજન કરીશ” એવો વિચાર યાય, તે કેવલ ભાવથી રાત્રિભોજન છે, મહે પછી કાંઈ સાધું પીધું ન હોય, જાણવા છતાં પણ રાત્રે ભોજન કરવું, તે દ્રવ્ય અને ભાવ બંનેથી છે, અને રાત્રે ભોજન ન કરવું તેમજ દષ્ટા પણ ન કરવી, તે દ્રવ્ય ભાવ બંનેથી રહિત પ્રકાર છે ।

### ધૌર્ય મતમાં રાત્રિભોજન ધર્જિત-

શુદ્ધના આઠ ઉપદેશોમાં રાત્રિભોજન વર્જ્ય ગણ્યું છે, જેમકે-

(૧) કોઈ પ્રાણધારીનો પ્રાણ નહિં છેવાની હું પ્રતિજ્ઞા કરું છું.

(૨) અદક્ષાદાન ( ચોરી ) નો લાભ કરું છું.

(૩) સર્વે પ્રકારના શ્રીસમાગમના લાભની પ્રતિજ્ઞા કરું છું.

(૪) સર્વે પ્રકારના અસલ્ય રચનથી વિરમું છું.

(૫) કોઈ પણ પ્રકારના નાદક દ્રવ્ય યાંત્રો, ભાંગ, મરિચકરિકના ન સેવનની પ્રતિજ્ઞા કરું છું.

(૬) અસમય-અર્પાત્ વપોર પાઠ્યે ભોજન કરવાથી વિરમું છું, (ધૌર્યે વપોર પાઠ્યે તેમજ રાત્રે પણ કાંઈ ચાટા નથી.)

(૭) નાચ-ગાન-લાલ કાદિ અનેક પ્રકારના ઉપાયા જોવાની ક્રિયાથી તથા પૂજ્યાલય-મન્થ વિલેપન આદિ કળાક્રિયાથી તેમજ ધમ્મગાર પહેરવાથી વિરમું છું ।

(૮) જંબા તેમજ મોટા આરામ દેનારા આપનો તેમજ મોટી ચપ્પાઓ પર ઘુસાનો દાગ કરું છું, વગેરે ।

आमांता छट्टा नियममां रात्रिभोजननो पण ल्याग आवी जाय छे । अने अंधारामां आंखोधी कंद देखातुं नधी ते बखते रात्रे उडनारा जीवदाओनुं भोजनमां पडवानुं संभवित छे, तेधी रात्रे कोण खाय पीए ?

### रात्रिभोजनना प्रत्यक्ष दोष-

“भोजनमां कीसी खवाई जाय तो बुद्धिनो नाश थाय छे, जू खवाई जाय तो जळोदर यई जाय छे, माखीधी वमन धई जाय छे, करोळिओ आवी जाय तो कोड थाय छे । कांटो तेमज लाकडानो टुकडो आवी जाय तो गळामां पीडा करे छे, शाक भाजीमां बीछी आवी जायतो तेना डंखधी बहु पीडा थाय छे, गळामां वाळ अटकी जाय तो खर भंग धई जाय छे, रात्रि भोजनधी आवा अनेक प्रत्यक्ष दोषो थाय छे,” । “रात्रे वासणो साफ करती बखते कुंयुवा भादि घणा जीवडाओनो नाश धई जाय छे ।” “रात्रे प्राशुक वस्तुओ पण न खावी जोइए, कारणके मोदक, फळादिना जीवो रात्रे देखी शकता नधी ।” वेदमां “वेदज्ञो कहे छे के-सूर्यना तेजमां ऋग्-यजुः तथा साम एम ऋणे प्रकारना चंदोनुं तेज छे । अने तेधी सूर्यनुं नाम त्रयीतनु पञ्चुं छे, तेना किरणो थी वस्तु पवित्र वनी जाय छे, एटले समस्त शुभ कर्म तेना प्रकाशमां करवां जोइए, तेना अभावमां नहि, ।” “वेदज्ञ कहे छे के आहूति-ज्ञान-धाद-देवार्चन दानादि रात्रिमां करवा योग्य नधी, रात्रिभोजन तो बिल्कुल लाज्य छे,” “दिवसना आठमां भागमां सूर्यनो प्रकाश मन्द धई जाय छे, तेधी बुद्धिमानो तेने पण रात्रि गणे छे, अने ते समये पण भोजन वर्ज्य छे ।” “देवता पहले पहरे जमी छे छे ऋषि मध्यान्ह समये जमे छे, त्रीजा प्रहरे पितृलोको भोजन पानधी निवर्ते छे, चौथा प्रहरेमा दैल दानव जमी ल्ये छे, संध्यामां यक्षराक्षस खाय छे, हे युधिष्ठिर ! सर्वदेवताओनो समय अतिक्रमी जवाशी रात्रिभोजन अभोजन छे, ।

### आयुर्वेदमां रात्रे खावा पीवानी मनाई छे-

“सूर्यास्त यतां हृदय कमल तेमज नाभि कमल अलिशय संकोचाई जाय छे, तेधी रात्रे भोजन न करखुं जोइए, अने रात्रिमां सूक्ष्म जीव खवाई जाय छे रात्रे खापेलुं भोजन तन्दुरुस्तीने सुकसान करे छे, तेमज तेनुं पावन बराबर धई शकतुं नधी ।” “जे दिवसे ने रात्रे असमये खावा पीवामां मस्त रहे छे, ते शींग-पूछ वगरना पशु समान छे, तेधी मनुष्योए दिवसे

रात्रि भोजन करीछे छे तेओ भूतप्रेतनी संगतिने छोडी शकता नथी ।”  
 “जेमणे यम नियम संयमनी क्रियाओनो त्याग करी दीधो छे अने रात  
 दिवस खावा पीवामांज मस्त रहे छे, तेमने बुद्धिमानो शींगडा के पूछ वगरना  
 जनावर तेमज खरी वगरना पशुओनी उपमा अपें छे ।” “संरक्षरी विद्वानो  
 मुख मेळववा माटे दिवसे भोजन करे छे, रात्रे सुरे जाय छे, ज्ञानी पुरुष  
 समय विचारी बोले छे, तेमज आत्मानी शान्ति माटे गुरुजननी सत्संगति-  
 सत्साध श्रवण-मनन-निदिध्यासन विगेरे समाचरीने सेवा चाकरी करे छे ।”  
 “गुणवान् तेमज उत्तम पुरुष हमेशां दिवसमां एकज वार भोजन करे छे,  
 मध्यम पुरुष धोळा दिवसमां बे वखत आहार करे छे, अने जे दिवस अने  
 रात हमेशां भोजन कर्यां करे छे ते नराधम छे ।” “जे पुरुष दिवसनी पहेंली  
 तेमज छेडी घडी छोडी बचेना दिवसना भागमा भोजन करे छे ते इन्द्रियोना  
 घोजने जीती संसार ना भारथी हलको धई जाय छे ।” “जे पुरुष पोतानी  
 पासे दीवो राखीने रात्रे भोजन करे छे, ते पुरुष कुदरती रीते नीचाण तरफ  
 बहेनारी नथी ना नीरने जाणे वृक्षना शिखर सुधी पहोचाडवा चाहनो  
 होयनी ? ( अर्थात् नथीनुं पाणी बहेतुं बहेतुं कवी पण वृक्षना शिखरे पहोंकी  
 शकतुं नथी तेम तेवा पुरुषनो आत्मा अधोगति सिवाय उच्चगतिने प्राप्त करी  
 शकतो नथी )” । जे रात्रि भोजनने सुखदायक जीवन माने छे, ते आगथी  
 बढेळ बनने फळदायक माने छे, परन्तु तेम बनसु असभवित छे ।” “जे  
 दिवस तेमज रात्रिना भोजनने समान गणे छे, तेओ सुख तेमज दुःखना  
 देनार प्रकास तेमज अन्धकारने समान गणे छे ।” “जेओ रात्रिभोजनमांज  
 धर्म माने छे तेओ खरेखर वृक्षोनी हारमाळा बधारवा माटे वज्र तेमज आग  
 फेंकी रछा छे, ( वृक्षोनी हारमाळा बधारवा माटे जळ सिंचननी जहर छे तेने  
 बदले वज्र प्रहार या अग्नि कोई फेंके ते वृक्ष बधवाने बदले जेम नास पावे  
 छे, तेमज रात्रि भोजनथी धर्म बधवाने बदले नास पावे ) “जेओ पुण्यनी  
 अभिलाषाथी आसो दिवस भूष्या रहे छे, अने रात्रे खावामांज मद्या रहे  
 छे तेओ फडेल वृक्षोने तेमज लताओने कपी नाखी फरीथी फळवानी वांछना  
 करे छे एम समजतुं । जे मनुष्यो बे घडी दिवस चढ्या सुधी नवकरसी तप  
 करे छे, अने बे घडी दिवस बाकी होय खारे चौबिहार करे छे तेओ मासमां  
 बीर. १५

કે ઉપવાસનું ફઠ પ્રાપ્ત કરે છે, એ યમચતુ: । “રાત્રિભોજન કરનારને નીચે ડહવા મુગ્ધ સામર્થ પ્રાપ્ત થાય છે, રોગ શોક અને કલહ કરનારી, શક્તી માફક મધ ઉપજાવે તેવી સ્ત્રી મળે છે, તેમજ મહાપાપથી પેદા થયેલ અન્ત-રાય દુ:ખ દેનારી કન્યા પ્રાપ્ત થાય છે, વ્યસની તેમજ ચઢા સાપની માફક વિદ્યામયા પુત્ર થાય છે, ઘરમાં દરિદ્રતા તો સદા રહ્યાજ કરે છે ।” નીચ જાતિમાં જન્મ પરી નીચ કર્મો કર્યા પડે છે, ક્ષીલ-નિર્લોભપણું-સમભાવ-આદિ ગુણો નો અભાવ રહે છે, વીજાતું અનિષ્ટ કરનાર દુર્જનની માફક તે કેટલીય જાતની વ્યાધિથી ઘેરાયેલો રહે છે, સર્વ દોષોના સમૂહથી પીડાયેલો આપ્રમાણે અનેક દોષોની ઉત્પત્તિ થઈ જાય છે ।

રાત્રિ ભોજનનો લાગ કરનારને નીચે મુગ્ધ પઠ્ઠની પ્રાપ્તિ થાય છે; કમલપત્રસમાન આંસોવાલી, પ્રિયવચન ચોલનારી, ડહ્મીસમાન સુન્દર સ્ત્રી પ્રાપ્ત થાય, તેમજ વિદ્યા કલામાં ત્રિપુણ પુણ્યની પંક્તિ માફક સુન્દર સ્ત્રી અને નિર્મલ ચરિત્રવાલી તેને કન્યા પ્રાપ્ત થાય છે ।” કોઈ પણ જાતના અપનથી રહિત તેમજ ચન્દ્રમાના જેવા પરિશ્વર કર્મ ચઢા પુત્ર મળે છે, કન્દના ભવનની માફક ઉજાતવાલું મળિરત્રોષી મરપૂર મુનોભિત મકાન પ્રાપ્ત થાય છે, । સ્વામી વૈભવ પ્રાપ્ત થાય છે, મનોચાહિત ફઠ મળે છે, નીરોગી સુન્દર સ્ત્રીની પ્રાપ્તિ થાય છે, એ પ્રગરે વધી સીટથી મુગ્ધ પ્રાપ્ત થાય છે ।” “તે ઉપવન્ત જ્ઞાન-દર્શન-ચરિત્રનો પણ સમ્પત્તિને પામે છે, આચાર્ય વિદ્વનો પૂજનીય પતિ થને છે, રાત્રિભોજનથી દૂર રહેનાર તેમજ લાગીઓને આ સમૃદ્ધિ પ્રાપ્ત થાય છે ।” અને-“ઉપે આહાર કરવાથી મૂંઝાની-બીલસી-વાંદરી-માછલી-ગઠામાં રસોસી(મિઠાઈ)શાકી-રોહિણી-કુતરી-શોક-ત્રેશયાદા તેન જ રોષ્ટ્ર સાપણવાદા પુત્ર જન્મનારી વિધવા ધનહીના સ્ત્રી સ્ત્રી અનેક કષ્ટકર યોગ પ્રાપ્ત થાય છે ।” “તેઓ ( રાત્રિ ભોજનનો લાગ કરનાર ) વન્ધુગર્ભમાં પૂજનીય મનાય છે, પુત્રો તેમની યેચા કરે છે, તજ્ઞા અને સંયમરૂપી આભૂષણથી સુષ્ટ રહે છે, સ્ત્રીને નીરોગી હોય છે, ડહ્મી જેવી થને સુસ્તિથી તથા ઘરનાઠ સ્ત્રી મળે છે, તેમનો સમાવ પણ ધર્માત્મા માફક હોય છે, દિવસે ભોજન કરનારને આવા મુગ્ધની પ્રાપ્તિ થાય છે ।”

आवां अनेरु शास्त्रोना प्रमाण सांभव्येने रात्रिभोजननो त्याग करवो जोइए । प्रभुए पण रात्रिभोजननो त्याग क्यों हतो । तपस्वरण नम्रता अने विनय साचवता हता, तेमां नम्रता तो अपार हती, तेमनी वाणी अनन्त नय युक्त, तेमज शुद्ध हती, ते वाणी थी संसार अने मोक्षने स्वरूप समजाव्युं हतुं, बधा आसवोथी पण रहित हता, बीजाओने पण आसव अने पापयी रोकता, केनके जे पोते अधर्मा अने अनीति बाव्यो होय तो ते बीजाओने धर्म अने नीतिमा केम स्थापन करी शके, अने जो पोते धार्मिक अने नैतिक जीवन न्यतीत करनार होय तेज बीजाने पापयो के आसवरूप खाडाधी बहार कादी शके छे, कारण के कोइए कार्युं पण छे के जे स्वयं तो न्यायनी बात करतो होय अने न्यायथी विरुद्ध आचरण करतो होय तो ते बीजाओ ऊपर पोतानी कांई पण छाप पावी शकतो नथी, जे पोते अ-दान्त होय ते क्यारे इन्द्रिय निग्रह करी शके ? परन्तु प्रभुतो पोते दान्त हता, उपधानवान् हता, तप बडे शरीर शुद्ध हतुं, प्रभु आ लोक तेमज परलोकतुं ज्ञान भेळवी पापमय प्रवृत्तियो सदाने नाटे दूर रखा हता ।

मूल—

सोचाय धम्मं अरिहंतभासियं,

समाहियं अट्टपदोविसुद्धं ।

तं सद्वहाणाय जिणा अणाऊ,

इंदा च देवाहिवा आगमिस्संति; त्ति वेमि ॥२९॥

संस्कृतच्छाया—

श्रुत्वा च धर्ममर्हद्भाषितं, समाहितमर्थपदोपशुद्धम् ।

तं श्रद्धधाना जना अनायुष, इन्द्रा वा देवाधिपा आगमिष्यन्ति ॥२९॥

( इति प्रवीणि )

सं० टीका—अधुना श्रीसुधर्मस्वामी तीर्थकरगुणान् प्रख्याय जम्बू-  
स्वामिनमाह, श्रुत्वा च, दुर्गतिधारणाद्धर्मं, श्रुतचारित्ररूपमर्हद्भाषितम-  
र्हत्कथितं, सम्यगाख्यानं=मुष्टुप्रणिगदितं, चार्थपदैः, अर्थैः प्रयोजनैः  
कारणैरभिधेयैर्वा “अर्थो विषयार्थनयोर्धनकारणवस्तुषु, अभिधेये च  
शब्दानां निवृत्तौ च प्रयोजन इतिमेदिनी ।” अथवा, “अल्पो पयो-  
जने सदाभिधेय्ये बुद्धियं धने, इत्यभिधानप्पदीपिका ।” पदैर्वाचकैः  
शब्दैः, “पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायप्रदर्शयोरिति । मेदिनी ।”  
निर्वाणैर्वा, “अप्पवग्गो-विरागो च पणीतं अचुतं पदं इत्यभिधानप्प-  
दीपिका ।” अथवा निमित्तेः, “निमित्तं कारणं टाणं पदं, इत्यभि-  
धानप्पदीपिका ।” वा परित्राणैः संसारादपकर्मणो वा, “पदं टाने  
परित्ताणे निव्वाणहिं च कारण इत्यभिधानप्पदीपिका ।” सैय्येक्षिन्हेः  
स्वानैरुद्यमैः बाणैर्वाणसदृशैः शब्दैः सुप्तिङन्तरूपैः प्रदेशैः श्लोकपां-  
दैर्वाः “पदो चरणं च वा इत्यभिधानप्पदीपिका ।” उपशुद्धं चोपसा-  
मीप्येन शुद्धं सितं वा पूतं निर्मलं, “शुद्धो केवलपूतेषु” “शुचि  
शुद्धे सिते पूते इत्यभिधानप्पदीपिका ।” वा प्रयोजनैरान्तराशयैर्विवृ-  
त्तिभिर्वा हेतुभिरभिलाषैः शुद्धं दोषराहित्यमित्यर्थः । धर्मं श्रद्धधाना  
जनास्तथाऽनुतिष्ठन्तो नरा अनायुषोऽपगतायुर्कर्मता युक्ता इति शेषाः  
कर्मरहिताः सन्तः सिद्धा मोक्षगता भवेयुरिति भावः । सायुषश्चेन्द्रा  
अहमिन्द्रा देवाधिपा आगमिष्यन्ति—तं पदं प्राप्स्यतीति भावः । इति  
शब्दो ब्रवीमोति ॥ २९ ॥

नाना निबन्धेभ्यःसारमुद्धृत्य श्रीमत्सूत्ररुताङ्गसूत्रगतवीरस्तुति-  
नामापष्टाध्यायस्यातिविस्तृतगभीरदुःखदृढत्वपदार्थभक्तिभाववलेसाद्यति-



सरलतया बुबोधसिपाधियपया ज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घीया नाम्नी संस्कृतटीका-हिन्दवीटीका-गुर्जरभाषाटीका यथाशक्ति-मतिरचिताऽत्र प्रमादादिनाऽथवाऽल्पधिया च भाविनीं मदीयां स्वल्पनां संशोधयन्तस्तत्त्वपदार्थनयनिक्षेपसम्बन्धिभावं प्रदर्शयन्तो धीरा भां चेदनुग्रहणीयुस्तर्हि बहुलजनोपकारोद्योगसन्तुष्टेन श्रीज्ञातृपुत्र-महावीरप्रमुशासनसङ्घेनानुग्रहतोऽहमिति सम्भावयेयमिति प्रार्थयते श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घानुयायिनां लघुतमः पुष्पभिक्षुः ॥ इति श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घान्तर्गतमुनिफकीरचन्द्रशिष्येण पुष्पभिक्षुणा विरचिता वीरस्तुत्याः संस्कृत-भाषाटीका च समाप्तेति शम् ॥

**अन्वयार्थ—**[समाहितं] सम्यक् प्रकारसे कहे हुए [य] और [अट्ट-पदोवमुद्दं] अर्थ और पदोंसे निर्दोष [अरिहंतभासियं] अर्हन् प्रमुदारा उपदिष्ट [तं] उस [धम्मं] धर्मको [सोष्वा] सुनकर [मद्वाणा] श्रद्धा प्रतीति करनेवाले [जणा] मनुष्य [देवाहिव] देवोंके स्वामी [इदा] इन्द्र [व] और [अणाऊ] आयुरहित सिद्ध परमात्माके पदको [आगमिस्सति] प्राप्त होंगे ॥२८॥

**भावार्थ—**श्रीसुधर्माचार्य अपने अन्तेवासी शिष्यके प्रश्नोका इसप्रकार उत्तर देते हुए यों उपसहार करते हैं कि अर्हन् भगवान् द्वारा कहे गए धर्मका जो पूर्ण श्रद्धान करते हैं वे या तो आयुरहित और कर्म रहित होकर मुक्तिको प्राप्त करते हैं या इन्द्रादि पदको पाते हैं या पाएँगे ॥ २८ ॥

**भाषाटीका—**सुधर्माचार्य श्रीतीर्थंकर प्रभुके गुणोका वर्णन करते हुए अपने जम्बूनामक अन्तेवासी शिष्यसे कहते हैं कि-जो भव्य दुर्गतिमें पडनेसे बचानेवाले ज्ञान और चरित्ररूप धर्मको अर्हन् भगवान्से भाव पूर्ण तथा परिणामयुक्त अभिप्रायको सुनकर निर्धारण करते हैं, वे आयुष्यादि सब कर्म बन्धनोंसे मुक्त होकर या तो अपुनरावृत्ति-निर्वाणधाम (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं या आयुवाले स्थानमें अनुकूल सुख भोगनेवाले 'अहमिन्द्र' होते हैं, अंधवा

असंख्य सुदुर्गोक्त आधिपत्य भोगनेके लिए हृद्रपदको प्राप्त करते हैं, यह मैंने अर्हन् भगवानसे जैसा सुना है, वैसा तुझे कहकर सुनाया है\* ।

\* इस गायमें 'अर्हन्' यह प्राकृत भाषाका शब्द है जिसका संस्कृत अनुवाद 'अर्हत्' होता है, कोई २ 'अरहोन्तर' 'अरधान्त' पद भी बताते हैं । यहाँ इन सबके अर्थोंपर यदि विचार किया जाय तो आशय वही निश्चिन्ता है जो अर्थ 'अर्हत्' शब्दका होता है ।

( १ ) 'अर्ह' धातुका अर्थ पूज्य या योग्य अर्थ होता है, इस अर्थके अनुसार अतिशय वन्दनीय-सेवनीय-स्मरणीय होनेके कारण वे 'अर्हन्' (अरहन्त) कहलाते हैं । क्योंकि इनके पाँचों कल्याणकर्मों अनेक देवों और १४ इन्द्रोंद्वारा अनेक विलक्षण सेवा सम्बन्धी घटनाएँ होती हैं, और वे मनुष्योंकी अपेक्षा अतिशययुक्त महापुरुष होते हैं, और अतिशययुक्त होनेके कारण उनका यह 'अरहन्त' नाम सार्थक तथा यथार्थ है । जैसा कि 'धवल' ग्रन्थमें भी कहा है कि—

अतिशयभावपूजाऽर्हत्वादर्हन्तः, स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयादर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः ।

( धवलसिद्धान्त )

अरिहन्ति वंदननमंसणाणि अरिहन्ति पूयसकारं,

अरिहन्ति सिद्धिगमणं 'अरहन्ता' तेण उच्यन्ति ।

( मूलाचार )

भावार्थ—जो भाव पूजाके योग्य तथा अनुकरणीय महाआदर्शपुरुष हों उनके 'अर्हन्' कहते हैं । जिनके जीवनमें अनेक दिव्य घटनाएँ विलक्षण रूपसे परिपटित होती हैं, जैसेकि— स्वर्गसे अवतरण, जन्मोगमन, परिनिष्क्रमण (बीछा ग्रहण), केवलज्ञानकी उत्पत्ति, मोक्षापेक्ष भादि घटनाओंके होते समय देव-असुर मानव इत्यादिके द्वारा महान् उत्सवका मनाना, या मनुष्योंको उनका अनुकरण करते हुए उनके समान आत्मज्ञ एवं धर्मज्ञ होना, इत्यादि महावृत्तके योग्य होनेसे वे 'अर्हन्' कहलमते हैं ।

जो चन्दना और नमस्कारके योग्य हैं, पूजा और सत्कारके योग्य हैं, सिद्धि (मोक्ष) गमनके योग्य हैं, अत एव वे 'अरहंत' कहे जाते हैं ।

(२) 'रहम्' का अर्थ एकान्त होता है, यानी समस्त पदार्थोंको-निकट-वर्ती-दूरवर्ती-सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थोंके अनन्त समूहको प्रत्यक्षमें दृष्टीपर रखे हुए आमलेकी तरह जो स्पष्ट जानते और देखते हैं । अर्थात् जिसे गुप्त या प्रगट एकान्त कुछ भी अप्रगट नहीं है । इसलिए 'अरहोऽन्तर' नाम यथार्थ है । जैसे कहा भी है कि—

“न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य, सकलसन्निहितव्यवहितस्थूल-सूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वादित्यरहोऽन्तरः ।” (स्थानाङ्गसूत्रम्)

भावार्थ—जिसके लिए एकान्त-गोपनीय पदार्थ कुछ भी न हो, संसार-अरके छोटे बड़े सब पदार्थोंका जो साक्षात्कार करनेवाला हो वह 'अरहोऽन्तर' कहलाता है ।

“अथवा 'अविद्यमान' रह एकान्तरूपो देशोऽन्तश्च मध्यं गिरि-गुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां तेऽरहोन्तरः” (भगवतीसूत्र)

भावार्थ—जिसे सर्वज्ञताके कारण सर्ववस्तु समूह गत सर्व प्रकारके पदार्थोंका एक बहुत बड़ा समूहगत प्रच्छन्नताका अभाव हो, इस प्रकारका रहः (एकान्तरूप प्रदेश) नहीं है, अर्थात् उनके अनन्तज्ञानके सन्मुख कोई ऐसा प्रदेश और वस्तु समूह नहीं है, जिसके वे ज्ञाता और दृष्टा न हों, वे तो अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनके द्वारा संसारके पूर्ण रहस्य को जानते हैं, इसीसे पहाड़ोंकी गुफा आदिका अन्तर (मध्यभाग) तकका गम्यक ज्ञान अपने सर्वज्ञत्व द्वारा जान लेते हैं, बारीकसे बारीक तथा एकान्त और मध्यप्रदेशके जाननेवाले हैं, अतः 'अरहोऽन्तर' नाम सार्थक ही है ।

(३) 'अरधान्त' ऐसी संस्कृतच्छायाके अनुसार यह अर्थ निकलता है कि—जिसके पास समस्त परिग्रहका अभाव है, और घुटापा आदि उपलक्षण-वाला अन्त-विनाश नहीं है वह 'अरधान्त' है और वे वीतराग सर्वज्ञ देव होते हैं । जैसे—

“अविद्यमानो रथः सन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतः, अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते ‘अरथान्ताः’

( भगवतीसूत्र )

भावार्थ—जिनका आत्मारूपी ‘रथ’ अप्रतिहत शक्तिवाच्य होनेसे कहीं एक नहीं सकता, अर्थात् तीनलोक और अलोकधरे भी जानता है, अतः उरती ‘अरथान्त’ संज्ञा इसी कारण सायंक मानी गई है ।

(४) “अरहन्त” शब्दका यह अर्थभी निकलता है कि—‘शमद्वैपकं कारणभूत-प्रिलोद्वती अनन्त पदार्थोंके ज्ञाता-दृष्टा होनेपर भी जो द्विती पदार्थमें आशक्ति नहीं रखता, शीतराग स्वभावशील है, ऐसे ‘अरहन्त’ कहल्यते हैं । जैसे—

“कचिदप्यासक्तिमगच्छत्सु वीतरागत्वात् प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनो-  
ज्ञेतरविषयसम्पर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्व-स्वभावमत्यजन्तोऽर्हन्तः ।”

( भगवतीसूत्रम् )

इसके अतिरिक्त “अरिहंत” पाठ भी प्रचलित है जिनके अनुगार यह अर्थ होता है कि अरि-कर्मसंचयनाश करनेसे अरिहंत कहे जाते हैं, जैसा कहा है कि—

“अरिहन्नादरिहन्तु (तः) नरकतिर्यम्बानुपप्रेतावासगतारोपदुःख-  
प्राप्तिनिमित्तत्वादरिभोहस्तस्यारेहन्नादरिहन्तः ।”

( धवलसिद्धान्त )

“गोहरज-अंतराय-दृषण गुणादौ च नाम अरिहंतौ”

( मूलाचार )

“मोह रज और अन्तराय कर्मका हनन करनेसे ‘अरिहंत’ नाम सार्थक है।”

राग दोस कसाये य, इंदियाणि य पंच य ।

परिसहे उवसग्गे, णासयंतो णमोरिहा ॥

( मूलाचार )

भावार्थ—एग-द्वेष और चारों कषाय तथा पांच इन्द्रियोके २३ विषयोका और २२ परिपह एवं उपसर्गके विनाश करनेसे भी ‘अरिहंत’ कहे जाते हैं ।

राग दोस कसाए य, इंदियाणि य पंच वि परिसहे ।

उवसग्गे नासयंता, नमोरिहा तेण बुच्चति ॥ ९९८ ॥

( विशेषावश्यक भाष्य )

इंदिय-विसय-कसाए-परिसहे वेयणा-उवसग्गे ।

ए ए अरिणो हंता, अरिहंता तेण बुच्चंति ॥ ९९९ ॥

अट्टविहंपि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्व जीवाणं ।

तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण बुच्चति ॥ ९२० ॥

( आवश्यकभाष्य )

“रज वा आवरणका नाश करनेसे भी ‘अरिहंत’ कहलाते हैं । यथांश्चि ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म रजक समान पाश और अन्तरंग त्रिकालके गमय विषयभूत अनन्त अर्ध-वर्णय और स्पंजन-वर्णयदुष्क वल्लुओंसे विषय-हरने-वाले ज्ञान और दर्शनका आरूढ करनेसे ‘रज’ कहते हैं, इसी प्रकार मोह भी रज है, यथांश्चि जैसे भूल्ले भरे हुए मुसराके लोकोमें कर्मधी मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोहसे जिनका आत्मा म्प्राप्त है, उनमें भी आन्वोरतो-मधी मंदता वा मुटिलता पाई जाती है । इन छिए रजरूप ज्ञानावरणादि कर्मके अभावसे ‘अरिहंत’ कहलाते हैं । यथा-

“रजो हननाद्वा अरिहन्तः, ज्ञानदूगावरणानि रजांस्त्रिंश वहिरंगा-न्तरज्ञानदोषत्रिकालगोचरान्तरार्थज्वंवनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानु-

भवप्रतिबन्धकत्वाद्वाप्सि, पुनर्मोहोऽपि रजः । भस्मरजसाऽऽपूरिता-  
ननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जह्वभावोपलम्भत्वात् ।

( धवलसिद्धान्त )

अथवा 'रहस्य' अन्तराय कर्मका नाम भी है, जिसके क्षय करनेसे भी 'अरिहंत' कहे जाते हैं, अन्तराय कर्मका नाश तीन पातिया कर्मोंके नाशके साथही नियमसे होता है । अतः अविनाभावी सम्बन्धसे यह अर्थ निकलता है कि-जिसने चारों पातिया कर्मोंका नाश करके अपातिया कर्मोंको भी निरस्त बनादिया हो वे 'अरिहंत' कहलाते हैं । यथा-

“रहस्यमन्तरायस्तस्य शेषपातित्रितयविनाशाविनाभाचिनो हि प्रण-  
ष्ट-बीजवदिःशक्तीकृतापातिकर्मणो-हननादरिहन्तः ।”

( धवलसिद्धान्त )

( ५ ) एक पाठ 'अरुहंत' भी बनता है, क्योंकि 'रह' पातुका अर्थ 'अंकुर उगना' है, अर्थात् जिसका भवरूप अंकुर नष्ट होगया है वे 'अरुहंत' कहलाते हैं, यानी कर्मरूपी बीजके जल जाने पर पुनः संसाररूप अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती । यथोक्ति-

“न रोहति भूयः संसारे न समुत्पद्यत इत्यरुहः, संसारकारणानां  
कर्मणां निर्मूलकत्वात् ।”

भगवती-प्रवचनसारोद्धार—

तथा च प्रज्ञापनासूत्रस्य कारिकायामप्येवं, पुनः “दग्धे बीजे  
यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति  
भवाङ्कुरः ॥” इति भाषाटीका समाप्ता ॥

गुजराती अनुवाद—गुपनाचार्यजी धीरधर प्रभुना गुणोना वर्णन  
करता पोताना जम्बूनामा (गमोपमा रहेनार) शिष्यने कही रता ते के जे  
भय्य शशी आत्माने दुर्गादिनां पदतां पचाववासात्प्र ज्ञान अने अशिश्रय्य पमंजु,  
'अरुहंत' भगवान् पसेधी कावपूर्ण ऐमत्र परिणाम मुक्त आधिपान धदा अने

भक्तिपूर्वक चरित्रवान् घईने ध्वज करे छे, अने लार पछी तेनुं मनन करी निदिध्यासन करे छे, ते आयुष्यादि सर्व कर्म बंधनोधी मुक्त घई अपुनराश्रित्तियाने निर्वाण पद प्राप्त करे छे, अथवा वीर्घायुष्य बाळा स्थानमा अनुकूल सुख भोगवतार 'अहमिन्द्र' बने छे, अथवा देव दानवोना अधिपति एवा इन्द्रपदने पामे छे, आ में 'अर्हन्' भगवान् ज्ञातपुत्र-महावीर प्रभु पासेधी जेवी रीते सांभळ्युं छे तेज प्रमाणे तने कही संभळायुं छुं\* ।

\* 'अरहंत' आ प्राकृत भाषानुं शब्द छे, जेनी संस्कृतच्छाया 'अर्हन्' थाय छे, कोई कोई एना अरहोन्तर-अरथान्त-अरहन्त-वाचक शब्दो थाय छे, एम तेओनुं मन्तव्य छे, अहीं आ चारे अर्थ ऊपर आ प्रमाणे विचार करी सकाय ।

(१) 'अर्ह' धातुनो अर्थ भाव पूजा एवो थाय छे, ते अर्थ अनुसार अतिशय वन्दनीय, सेवनीय होवाधी 'अर्हन्' (अरहंत) कहेवाय छे, केमके तेमना पाचे कल्याणकोमा देवो तेमज चौसठ इन्द्रो द्वारा अनेक जातनी सेवा मम्बन्धी केटलीए विलक्षण घटनाओ बनी छे, तेमज तेमनो आत्मा मनुष्योनी अपेक्षाधी पर छे, जेधी तेमनामा विशेषपणुं होवाधी 'अरहंत' नाम यथार्थ छे, 'धवल' ग्रंथमां पण कह्युं छे कं-

“जे वंदन तेमज नमस्कारने योग्य छे, सेवा अने सत्कारने योग्य छे, सिद्धि गमनने माटे उपयुक्त छे, माटे 'अरहंत' कहेवाय छे ।”

(२) “रहस्यो अर्थ एकान्त थाय छे, एटले जे समस्त पदार्थोनी निकटना चाहे दूरना, स्थूल चाहे सूक्ष्म पदार्थोना समूहने दृष्येळी पर राखेल आमळानी माफक देखी रह्या छे, जेमने माटे शुभ के एकान्त एवी कोई वस्तु या स्थान नथी ।”

(३) “अरथान्त-” ए संस्कृतच्छाया-अनुसार एवो अर्थ नीकळे छे के रथ=अर्थात् बहिर तेमज अन्तर दृष्टिए समस्त परिग्रहो जेनी पासे अभाव छे एवा वीतराग सर्वज्ञ देवने 'अरथान्त' कहे छे ।” “अथवा जेनो आन्ना रूपी रथ अप्रतिहत सज्जिवालो होवाधी वयांय पण रोकाई शकतो नथी, अर्थात् प्रणे लोक तेमज अलोक मुधी पण पदोची बळे छे, याने जानी शके छे, जेधी 'अरथान्त' आ नाम पण सार्थक मानेछु छे ।”

## प्रशस्तिः ।

महावीरो देवो विदितभवकीर्तिर्जिनवरः, सदा भव्याऽऽधारो  
 निजशरणगैर्वन्द्यचरणः । मुद्राऽन्त्यो यस्तीर्थकर इति पदाब्जोऽस्ति  
 नितरां, वचस्तत्त्वे तस्य प्रतिदिवसमेवार्पितमनाः ॥ १ ॥ फकीरेन्दुर्भिक्षुर्गु-  
 रुरिति तमःस्तोमतरणिः, सुपुष्पस्तच्छिष्यो विनययुतमिक्षुर्विंधिरभूत् ।  
 द्विपञ्चाङ्केन्द्वब्दे जननमभवद्यस्य कुतले, गृहीता सदीक्षा भवभयहरा-  
 ऽसिंश्च व्रतितः ॥ २ ॥ रसाष्टोङ्केन्द्वब्दे सकलमुनिवृन्देऽतिविशदा,  
 स चेदानां नाम्ना कुसुममुनिदासो शिवरुचिः । 'हिमागारे देशे'  
 गिरिषु बहुर्शातेषु विहरन्, गतो यो यत्रास्ते विविधतरुवृन्दोऽस्ति  
 विमलः ॥ ३ ॥ प्रसिद्धे राज्ये च जिनमतधराब्धेन सहिते, समेतो  
 'नादोने' गुरुभिरतिपूते निवसता । कृतं चातुर्मास्यं कलिकलुपतापौघ-  
 शमनं, समाचीर्णं यत्राऽखिलजिनपथाऽऽराधनपरम् ॥ ४ ॥ 'सुमित्र'-  
 स्यादौ हि हितकरसुदीक्षाऽपि नितरां, सदैवं पुष्पेन्दुर्विचरति सुमित्रेण  
 सहितः । जिनाज्ञासंसक्तः परहितकरः साधुनिरतः ॥ स एवाऽयं भिक्षुः  
 \*सकलदलदोषेन रहितः ॥ ५ ॥ हिमाच्छादिते सुप्रदेशे च आम्यन्,  
 शिमाला ( शिमला ) †कुलुकादिदेशान्तरस्थः । दृगाङ्कानवचन्द्रकाब्दे  
 प्रकाशः । मुहुर्दृष्टवान् भूरिशोभां नगस्याम् ॥ ६ ॥ सहस्रक्रोशान्तं  
 पदगमनशीलो मुनिवरः, सुपुष्पेन्दुर्भिक्षुः प्रथमगमनं यत्र कृतवान् ।  
 सुमित्रेण खेन गुरुचरणभृङ्गेन सहितः, सुशिष्येणागम्यं नगरमभिमग्न्य  
 प्रविततम् ॥ ७ ॥ 'कराची' सुस्थानं निखिलपशुरक्षां च विदधन्,  
 दयागारं कृत्वा सकलजनश्राद्धैः सह मुदा । निहालेन्दुर्यत्राधिपतिरपि

\* सम्प्रदाय-पक्षवादादिना रहितः । † उडु इति भाषायाम्—



जातोऽत्र विषये, मुचि स्याते सिन्धोर्विषमविषये कोऽपि न मुनिः  
॥ ८ ॥ जिनाज्ञासक्तानामपि च न गतः कोऽपि \*सुमुनिः, सहस्रा-  
ब्देनापि विहरणमभूद्यत्र न यतेः । मुनेः पुण्येन्दोश्च गमनमभवद्यत्र  
प्रथमं, ततः पूर्वनीत्वा दिशमपि मुडोल्यां च गुरुणा ॥ ९ ॥

विहारप्रदेशोऽपि गत्वा च पूर्वं, कृत्वा धर्मशिक्षा विशेषेण तत्र ।

अयं चातिरम्यो विहारप्रदेशो, महावीरदेवस्य जन्मास्ति यत्र ॥ १० ॥

अयं सुप्रदेशोऽधुना ज्ञासमुक्तः, सदा राक्षसप्रायजातश्च यस्मात् ।

महाकालिकामंदिरे यत्र हिंसा, सदा जायते प्राणिनां क्रोटिशश्च ॥ ११ ॥

शराकांकचन्द्रे मिते वत्सरेऽस्मिन्महावीरतीर्थकरस्य जयन्त्याम् ।

नदीदीर्घदामोदराख्या सटे च, समागत्य पुण्येन्दुसंज्ञो हि भिक्षुः ॥ १२ ॥

अहिंसोपदेशं †चलकारिप्रामे, प्रदत्त्वा पशुतां त्रयं यूपमुग्रम्,

वधस्वानमुत्पाद्य यः क्षिप्तवांश्च, सदा वा प्रचारः प्रशस्तोऽस्ति यस्य

सदैवं बहून्यन्यकार्यं विधाय, प्रदेशं भ्रमन्तन्तो याति नूतम् ॥ १३ ॥

यश्चात्र प्रथमं सुरेतरमये देशे शुभे वत्सरे, वन्द्यकांकविधौ मिते च

शरियाप्रामे कृतं भिक्षुणा । चातुरमासकृतं ततश्च प्रथमं 'वंगे' गुरोः

सेवकः, वेदांकांकविधौ समे च गुरुणा साकं गतः पुण्यकः ॥ १४ ॥

सर्वानन्दमये शुभे च नगरे 'कालीयकण'ऽभिधे, यत्राष्टादशसख्य

काश्च शतका जैना मत्ताः श्रावकाः । चातुरमासकृतं महच्च सुखतो

श्राद्धा मुनेः सेवकाः, यत्रास्ते कलिक्रत्तपचनवरा वीथी सु 'पोलोक'

की ॥ १५ ॥ सन्ति स्थानकवासिनश्च बहवः श्वेतान्वराः श्रावकाः,

ये कुर्वन्ति समाजकार्यमथवा यत्प्राधिपाः प्रेमिणः । सङ्घतं मुनिनेत्र-

\* शिक्षा कर्तुमिति शेषः । † 'चञ्चरी' इति भावा ।

संमिततरं श्रेष्ठा महान्तो मुहुर्जनाराध्यमुनिष्वपि व्रतधरेष्वेवं गुणाः  
 सन्ति च ॥ १६ ॥ जैनाः संघसुकार्यकारिणी सभा यत्रास्ति नित्यं  
 मुहुः । सभ्याःश्रावककेऽपि सन्ति सततं नेत्रेन्दुसख्या गुणाः ॥ अत्रैवं  
 मुनयः त्रयो नव मिते मासे निवासोऽभवत् । एवं चेन्मनुजो नवैव  
 वितते गर्भे मुहुर्जायते ॥ १७ ॥ सम्प्रदायस्य वादस्य पक्षपातस्य  
 बन्धनम् । त्रोटयित्वा स्वयं जातः, स्वतन्त्रश्च सदा मुनिः ॥ १८ ॥  
 ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसंघे व्यवस्थितः । नीरक्षीरविभागार्हः, स्वयं तन्म-  
 यतां ययौ ॥ १९ ॥ महावीरस्य च प्रभोः, स्तुतेष्टीका कृता वरा ।  
 दिवसे दीपमालायां, याता पूर्णा च सवति ॥ २० ॥ कलिकाताख्य-  
 नगरे, वेदांकनवचन्द्रके । श्रीपुष्पचन्द्रमुनिना, शिवाक्षिरसांगुष्ठैः  
 ॥ २१ ॥ मुनिभिः प्रार्थ्यते शश्वन्महावीरस्य शासने । स्वयं तन्मुनि-  
 चर्यायां, मौनमाश्रित्य तिष्ठति । भवान् परिग्रहत्यागी, यद्यस्ति कथमी-  
 दृशः ॥ २२ ॥ सम्प्रदायप्रवादस्य, परिग्रहरतः कथम् । सम्प्रदायप्र-  
 वादस्य, पक्षं कृत्वा पुनः पुनः ॥ २३ ॥ भवन्तः स्वसमाजेन सह  
 यान्ति रसातलम् । भवन्तोऽनन्तससारपापसृष्टिं कृता कथम् ? वर्ध-  
 यित्वा च स्वस्यैव पतनं कथमिच्छतः ॥ २४ ॥

### भुजङ्गप्रयातच्छन्दः ।

यदा जीवहिंसापरित्यागिनश्चेद्भवन्तस्तदा सम्प्रदायस्य जाले ।  
 जनान् सर्वतश्चात्र घोरे निबध्य, कथं कुर्वते ज्ञानचारित्रनाशम् ॥२५॥  
 अनेनाथ देहेष्वनन्तानुबन्धि-कषायस्य बन्धं कृतं तत्र नूनम् ।  
 दृढं शृङ्खलायद्धजीवा भवन्तः, पतिष्यन्ति चैवं द्रुतं शर्करादौ ॥२६॥  
 विपक्षानुरोधे महामोह एव, समानः खिया सर्वथा त्यागयोग्यः ।  
 सदा सेवनेनास्य नाशं व्रजन्ति, भवद्भ्रष्टचर्यादिकं शश्वदत्र ॥ २७ ॥

विपक्षाख्यवेश्याऽनुरागोऽपहेयः, सदा ब्रह्मचर्यानुरक्तैर्भवद्भिः ।  
 महावीरदेवस्य नाम्ना स्वकीयं, मुदा जैनसंघं सृजन्वत्र जैनाः ॥ २८ ॥  
 यतो बन्धनान्मुक्तभावं व्रजन्तु, भवाहुस्तराज्जन्मतो वापि दुःखात् ।  
 यदास्य प्रसंगं भवन्तश्च जैना, न जातु त्यजन्ति व्रुदन्ति भवस्थाः ॥ २९ ॥  
 जनो ब्रह्मचारी न कोऽप्यस्ति लोके, नितान्तं व्यभिचारवन्तं न रम्यं ।  
 महावीरतत्वोपदेशस्य सारमनेकान्तवादं बुधाश्चानमन्ति ॥ ३० ॥  
 भवन्तः सदैकान्तवादे प्रवृत्ताः, स्वतश्चेतरेषां न द्वात्रिंशदाख्यम् ।  
 स्वकं सम्प्रदायं विशुद्धं गदन्ति, तथाऽन्यं च निंदां हि कुर्यन्ति नित्यम् ॥  
 यतो वर्धमानस्य वाचो भवन्तो, विलुपन्ति मिथ्यैव किं सत्यमेतत् ? ।  
 तदैवं भवन्तं हि जानन्ति सिद्धा, महाऽसत्यपापानुरागेऽनुरक्तम् ॥ ३२ ॥  
 व्रुवन्तीह पक्षानुरागं विशेषमहं चामुके सम्प्रदाये प्रवृत्तम् ।  
 सदा चेदृशं भावरोगं त्यजन्तु, न हि स्याच्च कल्याणभावं कदापि ॥ ३३ ॥  
 परित्यज्य भेदात्मकीं बुद्धिमुग्धां, तदा वर्धमानस्य सिद्धान्तमानम् ।  
 विजानन्तु श्राद्धाश्च वीरं भजन्तु, सदाक्षेपवन्तो भवन्तो भवन्तु ॥ ३४ ॥

गुरुर्वो दीक्षायां ग्रहणसमये स्तेयकरणं, परित्याज्यं चेत्यं कथ-  
 यति भवत्क्षेममनिशम् । परिशुद्धयुगं प्रतिपदविवादं च कुरुथ,  
 तद्देवास्तेयाख्यं व्रतमपि प्रणष्टं प्रतिदिनम् ॥ ३५ ॥ ततो धर्मे नाशं  
 व्रजति भवतां वृत्तिरखिला, अतस्त्वच्छ्वौरो न हि सुभुवि कश्चिन्मु-  
 निवर ! अतोऽनित्यं साधो ! परिहर मताल्म्यनमहो ! न हि स्यात्क-  
 ल्याणं कचिदपि विशेषं व्रतधर ! ॥ ३६ ॥ राग-द्वेषवियुक्तानां,  
 समताभावमागताः । वीतरागाः प्रवर्तन्ते, साधवो न हि चेतरे ॥ ३७ ॥  
 त्वय्यस्ति यदि रागश्च, द्वेषभावस्तथापरः । देहभावोऽप्यहंभावो-  
 मोहभावस्तथैव च ॥ ३८ ॥ नो गतो यदि वो देहान्मुधैव वेपथा-

रणम् । तथोज्वलतरो वेपो, धूर्तत्वं प्रतिभावयेत् ॥ ३९ ॥ कैतवं  
समनुप्राप्य, पापकृन्मुनिराडयम् । वीतरागा न केऽपीह, प्रवदन्तीति  
योगिनः ॥ ४० ॥ अद्यप्रभृतिमुनिभिर्हीयतां पदवी मुहुः । माना-  
पमानयोर्बुद्धिस्तुल्यैव परिधार्यताम् ॥ ४१ ॥ सर्वदा भिक्षुवर्यैश्च,  
समदर्शिभिरेव च । शासनं जिनराजस्य, वर्धनीयं विशेषतः ॥ ४२ ॥  
ज्ञातव्यं मुनिभिस्तत्त्वं, मानवधर्ममाचर ! वीरशासनसेवायां, प्रवृत्ता-  
श्चेतसा यदि ॥ ४३ ॥ पदवीधारणं मिथ्या, प्रवृत्तिस्तत्र निष्फला ।  
नाग्रहस्तत्र कर्तव्य, इति चित्ते समाश्रय ॥ ४४ ॥ जगति \*बहुले-  
शस्य, मान्यता च सनातने ( धर्मे ) । तथैव जैनधर्मेषु, ( मुनिवर्येषु )  
ब्रह्मचार्यस्य मान्यता । इति रोगसमृद्धिः स्याद्विपरीतं कथं भवेत्  
॥ ४५ ॥ स्वयं वैद्यश्च रोगार्तो, नान्येषां दुःखहो भवेत् । आचा-  
र्याणां बहुत्वस्य, प्रथा हेया मनीषिभिः ॥ ४६ ॥ अखिलजैनसंघस्य  
द्वेकश्चाचार्य एव च । कर्तव्यः सर्वथा विद्वन् ! न पुनस्तं विलोपयेत्  
॥ ४७ ॥ समाजं कुष्ठवन्नित्यं, क्लिद्यतीति विभावय । कथनेन च  
किं तद्वच्छब्दवणेन च किं बहु ॥ ४८ ॥ समाजोऽद्य प्रयागस्य तीर्थ-  
वत्क्लियतां मुदा । धारात्रयं मिलित्वैव स्वच्छा स्याद्वादरूपिणी ॥ ४९ ॥  
गंगेवेयं च ज्ञातव्यं, मुनिभिः सुधिभिः सदा । इत्येवं प्रार्थना शश्व-  
त्पुन्दोर्भिक्षुकस्य च ॥ ५० ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

\* बहुलाः ईगसेति पदच्छेदः ।

## परिशिष्ट नं० १ वीरस्तुति-गुर्जरगायनं

कंडसाकी-चाल

तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भर्णी,  
जगत्मां एदलुं सुजश लीजे ।

दास अवगुण भर्यो जाणी पोता तणो,  
दयानिधि दीनपर दया कीजे ॥ १ ॥

भावार्थ—किसी समय श्रीजिनागमके अभ्यास द्वारा संसार भ्रमण करते हुए, ज्ञानावरणादि आवरणोंसे ढंके जानेपर भी अपनी अनन्त शक्तिको जान पर अनादि परभावानुपंगताके दोषसे उद्धिम आत्मा अपनी साधक शक्तिको न देखकर परम निर्यामकके समान २४वें तीर्थंकर श्रीज्ञातृपुत्र-महावीर भगवान्के नामका शरण निर्धारित करता है, और धीवीरपरमात्माको अन्तरमें अनुभूत करके प्रार्थना सहित विनति करता है और अपनेको प्रभुका दास निश्चित रूपमें समझकर मानो पुकार पुकार कर कहता है कि—हे नाथ! हे दीनदयालो! हे प्रभो! मुझसे निर्बल तत्वसाधक आपकी आज्ञाओंके पालन करनेमें कहाँ समर्थ है, मुझे तो मात्र नामका सेवक समझ कर तार? तार? इस गुण-रोधकरूप दुःखसे निस्तार! ओह प्रभो! तुझ से प्रभुको छोड़कर और किसे कहूँ? यह इतनासा सुयश आपही लीजिए और मुझे भवजलधिसे पार कीजिए! भगवन्! मुझे यह भी ज्ञात है कि—प्रभुको तो सुयशकी कुछ भी अभिलाषा नहीं है। परन्तु उपचारसे भक्तिवश आपके नाममें आतुर होकर यह सब कुछ कहकर मैं ही अपनी अज्ञानताका परिचय दे रहा हूँ; यद्यपि मैं अपनेको आपका दास समझता हूँ; मगर यह दास तो रागद्वेष-असयम-अनुष्ठानाशंसादि दोष-एकान्ततादोष-अनादर आदि दोषरूप अवगुणसे भरा हुआ है। तो भी मैं तेरा ही कहलाता हूँ। अत एव हे दयानिधि! भावकदृणासमुद्र! मैं दीन-रंक-अशरण-दुःखित-तत्वज्ञान-सम्यग्ज्ञानादिसे-ज्ञान्य भावदर्दि, तत्वमार्गध विर-धक-असंयमचारी-महाधिकारशील-आपकी आज्ञासे विमुख-अनादिकालका उद्धत, आदि २ अनेक दुर्गुणोंसे पूर्ण हूँ। इसी लिए मुझ दीन-हीन पर दया कीजिए। तेरी कृपा ही श्राण-शरणके योग्य हो जायगी। यद्यपि 'अर्हन्' प्रभु सदा कृपावान्

ही होते हैं तब उन्हें और नवीन कृपा क्या करनी है? तथापि अर्थांको पर-गांठका विचार नहीं होता, इसलिए यह वचन मुझसे 'अर्थी' का ही है, और जो दयावान् होता है उसकी विशेषता इसी प्रकार वर्णन की जाती है। अतः देव! तुम कृपाके भंडार हो, तुम्हारा अवलम्बन लेकर ही पार हो सकूंगा, यह सब और निस्सदेह है।

**राग-द्वेषे भयों मोह-वैरी नड्यो,**

**लोकनी रीतमां घणुंए रातो ।**

**क्रोध वश धमधम्यो, शुद्धगुण नवि रम्यो,**

**भम्यो भवमांहे हुं विषय मातो ॥ २ ॥**

भावार्थ—हां तो भगवन्! यह दास कैसा है? मुनिए, यह राग-द्वेषके कीचडमें फँसा हुआ है, जगत्-सागरमें डूबा पडा है, गुणी जनोंसे ईर्ष्या करता है, मोहके नशेमें वेमुध है, तत्वकी बातोंमें बिल्कुल अज्ञात है, विपर्यासका कुछ ठिकाना ही नहीं है। मोह वैरीने भारी क्षपट मारी है जिसके कारण अपने उस मोहभावसे स्वयं उसके नीचे दब गया है। तथा लोककी रीतिभांति, चाल-ढाल, अन्धध्रद्धा, उलटी टेढी रुढी आदिमें खूब ही मस्त है, लोकोंकी गतानुगतिकता भेडचालमें ही सदा मग्न है, अपनी गांठकी अकलसे कुछ भी नहीं विचारता, लोकोंको प्रसन्न करनेकी बढी चाह लगी रहती है। लोकोंसे डरता भी खूब है इसी कारण गुप्त अनाचार सेवन करता है, तब लोकोंने भी बुगला-भक्तकी ही उपाधि ली है। क्रोधसे पारा गर्म हो जाता है, चंडपरिणाममें धमधमायमान है। जिस प्रकार धौंकनीकी प्रेरणासे अग्नि तप उठता है इसी तरह क्या बल्के इससे भी अधिक क्रोधके द्वारा तप जाता हूँ। शुद्ध गुण जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-परमशुद्ध चरित्र-क्षमा-मार्दव-आर्जव आदि आत्मगुण हैं, उनमें कभी रमण नहीं करता, न कभी मैं उनमें तन्मय ही होता हूँ, अपने स्वरूपका ग्रहण भी कभी नहीं किया, सदैव तुसके समान निस्सार परभाव या विभावको ही स्वीकार किया है, नरक-तियैच-अनुष्य-देव आदि चार गति रूप संसारचक्रमें इसी कारण मारा मारा फिरता हूँ। तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप संसृतिमें, पांच इन्द्रियोंके विषय-स्वादमें उन्मत्त और उन्मत्त हो रहा हूँ। विषयप्रसन्न हो कर इस भांति विश्वचक्रका कडुवा अनुभव ले रहा हूँ, मैं वही अधमदास हूँ,

अतः मुझे तार, तार! हे नाथ! दीनबन्धो! निष्कारण दयालो! मुझे तार  
भव दु खसे बचा, बचा ॥ २ ॥

आदर्यो आचरण लोक उपचारधी,  
शास्त्र-अभ्यास पण कोई कीधो ।  
शुद्ध श्रद्धान बळी आत्म-अवलम्ब विन,  
तेहवो कार्य तेणे को न सीधो ॥ ३ ॥

भावार्थ—शायद कभी कोई यह कहे कि—आवश्यक कारणादि आचरण बहुतपार स्वीकार किया है, मगर उस चरित्रको तो लोकोपचारसे ही किया था जिससे फिर वह आत्मामें विष तथा गरलके समान परिणत हुआ, क्योंकि अन्यान्य अनुष्ठानसे क्या हो सकता है, यदि भावधर्म नहीं हो तो उसके बिना सब कुछ ब्रूया है, और उसे उपचार-गतानुगतिकतासे अंगीकृत किया समझा जाता है। हमके उपरान्त कोई यह भी कहेगा कि—उच्चगोत्र-यशोनामकर्म आदिके विपाकसे ज्ञानावरणीयके क्षयोपशमके योगसे शास्त्रोंका पूर्ण अभ्यास भी तो किया है, शास्त्रोंका पठन-पाठन किया है, शास्त्रके गर्भमेंसे यथार्थ अर्थको निकाल कर जगत्में उसका दिव्य प्रसार किया है। तथा अध्यात्म-भावनासे स्पर्शज्ञानानुभावके बिना उस श्रुतवा अभ्यास किया गया परन्तु शुद्ध और यथार्थ स्याद्वादउपेत-भावधर्मके बिना शेष भावधर्मकी रुचिसे दान दयादिक जो पुरुषार्थ किया गया है उन सबको कारण समझना चाहिए परन्तु मूल धर्म नहीं। धर्म तो वस्तुकी सत्ता है, और वह आत्माके अन्तर्गत-स्वरूपतासे पारिणामिकताकी दशाम स्थित है। उसमें से जो धर्म प्रकट होता है, वह शुद्ध-श्रद्धान, शुद्धप्रतीति, तथा पुनः आत्माके स्वरूपको प्रकट करानेवाली रुचि तथा आत्माके स्वगुण-सम्बन्धी अवलम्बनके बिना जो आचरण किया जाता है तथा ज्ञानाभ्याससे यदि वह कार्य किया जाता है, जिस कार्यसे आत्माका सम्बन्ध साधन होता है, उसे किसीने निर्मित नहीं किया प्रकट नहीं किया। जिसके कारण जो आत्मगुण प्रकट हो सकता था वह नहीं हुआ। अतः हे परमेश्वर! इस अधमाधम दासको सेरी ही कृपा पार कर सकती है इसलिए तार, तार, दास समझकर तार, अपना दास समझकर तार ॥ ३ ॥

स्वामी दर्शन समो निमित्त लही निर्मलो,  
जो उपादान ए शुचि न थासे ।  
दोषको वस्तुनो अहवा उद्यम तणो,  
स्वामी सेवा सही निकट लाशे ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्वामी श्रीवीतराग हैं, जो अन्यके कार्यके भकर्ता हैं, पर-  
भावादिके अभोचा हैं, इच्छा लीला, चपलता कौतुहल आदिसे सर्वथा रहित  
हैं, क्योंकि इच्छा तो ऊनतावान् अर्थात् न्यूनतावालेमें होती है, और परमे-  
श्वरतो पूर्ण आनन्दी सहजानन्दी है, इसीलिए स्वामी इच्छा रहित हैं, और  
लीला भी सुखकी लालसावालेको ही होती है, और लालचीपना सुखकी ऊन-  
तासे होता है, इसीकारण प्रभुमें लालचीपना भी नहीं है । ऐसे निजानन्द-  
विहारी स्वामीके दर्शनके समान निर्मल निमित्तको प्राप्त करके, आत्माका उपा-  
दान—मूलपरिणति यदि शुद्ध न होगी तो जानना चाहिए कि यातो वस्तुका  
दोष ( जीव अवगुणावृत्त ) है, या शायद जीवका दल ही अयोग्य है,  
कहना न होगा कि इस जीवकी सत्ता किस ढंगकी है ? अथवा क्या अपने  
उद्यममें कुछ कमी है ? क्योंकि कठोर प्रयत्न और सतत उद्यम करनेपर तो  
आत्माका मुधार अवश्य होना ही चाहिए या मगर अबतक कुछ न हुआ ।  
इससे स्पष्टसिद्ध है कि—यह जीव अपनी ऊनताके कारण अपने आत्मीय गुणोंका  
स्मरण नहीं करता, इसलिए अब क्या करना चाहिए ? और कोई उपाय भी  
तो नहीं सूझता । यही समझ कर श्रीअर्हन् भगवान् महावीर प्रभुकी सेवाको  
ही मने आरम्भ स्मरणके लिए अमोघ शस्त्र ( साधन ) समझा है । प्रभुसेवा  
ही प्रभुकी समीपताको दिलावगी । क्योंकि बहिरात्मभाव तो इस अवस्थामें  
अत्यन्त दुष्ट है । परन्तु जिनराजकी सेवनासे यह दुष्टता छूटजावगी ॥ ४ ॥

स्वामी गुण ओळखी स्वामीने जे भजे,  
दर्शन शुद्धता तेह पामे ।

ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लासथी,  
कर्म जीपी वसे मुक्ति धामे ॥ ५ ॥



भावार्थ—स्वामी अर्थात् शासनपति, अर्हन् प्रभु, श्रीमहावीर भगवान्के गुणोंको पहचान कर जो प्राणी अरिहंतको भजता है उनकी सेवा करता है, वह दर्शन अर्थात् सावरण 'केवलज्ञान सम्यक्त्व' स्वस्वरूपकी झांकी अवश्य प्राप्त करता है । उसे दर्शनकी निर्मलता होती है, यथार्थ आत्म ज्ञान भासता है, चरित्र स्वस्वरूपमें रमण करता है, तप तत्वकी एकाग्रताको प्राप्त करता है, वीर्य आत्मसामर्थ्यका उद्भव करता है, उसके उल्लाससे ज्ञानावरणादि कर्मोंको जीत (क्षय कर) ता हुआ मोक्ष-निरावरण रूप सम्पूर्णसिद्धतारूप अपुनरावृत्ति धाममें जाकर निवास करता है ॥ ५ ॥

जगद् वत्सल महावीर जिनवर सुणी,  
चित्त प्रभु चरणने शरण वास्यो ।  
तारजो बापजी ! विरुद निज राखवा,  
दासनी सेवना रखे जोशो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जगत् प्रिय वत्सल (हितकारी) चौबीसवें महावीर जिन-वरके गुणोंको सुनकर मेरा मन प्रभुके चरण (चरित्र) रूपी शरण (मनन) में बस गया है, अतः हे प्रभो ! मो परमेश्वर ! मेरा आत्मा पलटा छाकर आत्मका समस्तसाधन करे, ऐसी शक्तिका उद्भव तो मुझमें नहीं दीख पडता, इसीलिए सरल भक्तिका आश्रय लेकर कहता हू कि बापू ! मुझे दासको आप ही पारकरना, और आप अपनी तारकताका विरुद सुरक्षित रखनेके लिए इस दासकी सेवना (भक्ति) के सामने मत देखना, जो आपकी आज्ञानुसार भक्ति करता है वह निस्सन्देह पार होता है, परन्तु जगत्तारक ! मेरे लिए यह सब कुछ होना दुर्लभ है, लेकिन जिसप्रकार काठकी सज्जतिसे लोह और पत्थरभी पार हो जाते हैं इसी प्रकार आपके संयोगसे पार हो जाऊंगा, और मुझे अब नियमरूपसे यही एक अन्तिम आधार प्रगटरूपमें दीख रहा है ॥६॥

बिनति मानजो शक्ति ए आपजो,

भाव स्याद्वादता शुद्ध भासे ।

साधि साधकदशा सिद्धता अनुभवी,

“देवचन्द्र” विमल प्रभुता प्रकाशे ॥ ७ ॥

**भावार्थ—**प्रभो! मेरी इतनी विनय तो अवश्य मानलेना, और मेरा यह वचन भी सरल भक्तिकी प्रेरणासे निकला है। हां यह बात मानना कि मुखे एक बार आत्मसामर्थ्य अर्पण करना, और ऐसा भाव भी प्रदान करना कि-  
 जिसभावसे यस्तुभर्म यानी स्याद्वादकी कसौटीसे निल्य-एक-अनेक-अस्ति-नास्ति-  
 भेद-अभेदद्वारा छहों द्रव्योंके अनन्तशुद्ध धर्म, शंकादि दूषण रहित भासने  
 लगे। साधकदशाकी साधना करके वे भेदरत्नत्रयी, सिद्धता, निष्पन्नता, वास्त-  
 विकृतत्व अनुभव करके उसे भोगने लगे। समस्त देवोंमें चन्द्रमा के समान  
 सिद्ध भगवान्की विमल-निर्मल प्रभुताको प्रगट करे, अर्थात् स्याद्वाद ज्ञानके  
 द्वारा साधकता प्रगट होती है, और उस साधकतासे सिद्धता प्रगट होती है,  
 वही एक विलक्षण सार पद्धति है ॥ ७ ॥

**गुजराती भावार्थ—**कोइक अवसरे श्रीजिनागमना अभ्यासे करीने  
 संसार भ्रमण निमित्त जे ज्ञानावरणादि आवरणे आवृत पोतानी अनन्त आत्म  
 शक्ति जाणीने अनादि परभावानुपंगता दोषने दुःखे उद्विग्न आत्मा ते पोतानी  
 साधकता शक्ति अणदेरततो परमनिर्गमक समान चौवीसमा श्रीवीरभगवान्नां  
 चरण शरण निर्धारिने, श्रीमहावीरप्रभुनी आगल प्रार्थना सहित विनति करे छे  
 जे-हे नाथ! हे वीनदयाल! हे प्रभुजी! मुझ सरीखो जे तत्वसाधक तथा  
 आज्ञानिर्वाह मां असमर्थ, तेने मात्र नामधी सेवक जाणी तार, तार। ए गुण-  
 रोधक रूप दुःखधी निस्कार, तुज सरीखा प्रभु विना कीजा कोने कहुं? जगतमां  
 एटछें मुजस लीजे, यद्यपि प्रभु तो मुजसना कमी नथी, परन्तु उपचारे भक्ति  
 धातुरताए कहे छे जे मुज सरीखो दास ते यद्यपि राग द्वेष असंयम अनु-  
 ष्ठानाशंसादिदोष, एकतादोष अनादरादिदोषरूप अवगुणे करी भयो छे, तो  
 पण ताहरो कहेवाय छे। ते माटे हे दयानिधि! भाव करुणाना निधान!  
 वीन जे हुं रंक, अशरण-दुःखित-तत्वज्ञान-ज्ञानादिसम्पदारहित-भावद्विष्टी-  
 मार्गनो विराधक-असंयमसंचारी-महाविकारी-तमारी आज्ञाधी विमुख-अनादिनो  
 उद्धत एहवा मुझ ऊमर कृपा करीजे, ताहरी कृपा तेहीज प्राण (शरण) यशे।  
 यद्यपि अरिहंत तो कृपावंतज छे तो नवी. कृपा श्री करवी छे, तो पण अर्थ  
 विचारे नहीं, माटे अर्थानुं ए वचन छे, जे दयावंतनेज एम कहेवाय छे, जे  
 हे देव! तमे दयाना भंडार छे, तमनेज अवलंबे तरीश। ए सत्य ज छे ॥ १॥

दास कहवो छे, राग द्वेषे भयो, जगत्मां पब्बो, गुणधी ईर्ष्या करे छे, मोह जे सुंजितपणुं ते तत्वनी अजाणता-विपर्यासता, हेतुवें मोहवेरी नब्बो, तेथी दबाणो छे, तथा लोकनी जे रीत केतां चाल ते मांहे घणोज मातो छे, लोकनी चाल ( गतानुगतिकता ) मांहे मम छे, लोकरंजनो अर्था छे, क्रोध जे ताता-चण्डपरिणाम तेहने विषे-धमधमी रह्यो छे, जेम धमण धमतां अमि तपे, तेम तपी रह्यो छे, शुद्धगुण जे सम्यग्दर्शन-सम्यक्ज्ञान-शुद्धचरित्र-क्षमा-दया-मार्हव-आर्यवादि आत्मगुण, तेने विषे रम्यो नही, तन्मयी न थयो । ते रूप न प्रभुं, वळी भग्गो=चतुर्गतिरूप भवचक्रमांहे द्रव्य-क्षेत्र-ब्रह्म-भावरूप संसार तेने विषे हुं विषय=जे पांच इन्द्रियनां स्वाद, ते मांहे यातो=केतां मम थयो थको एम संसारचक्र अनुभव्युं ते हवे प्रभु मुझने तार, तार, हे नाथ ! रीनबन्धु ! निष्कारण दयाल ! मुझने तार, भव दुःखधी उगार ॥ २ ॥

। कदाचिद् कोई कहेशे जे आवश्यककरणादिक आचरण आदर्शुं=अंगी-कार कर्युं, परन्तु ते सर्व लोकोपचारधी एटले विष तथा गरल तथा अन्यान्या-नुष्ठानधी भावना धर्म विना उपचारे अंगीकार कर्युं, तथा कोई कहेशे के उच-गोत्र यशोनाम कर्मादिकना विपाके ज्ञानावरणीय क्षयोपशमना योगे शास्त्राभ्यास पण, क्रीधो, शास्त्र भण्णा, शास्त्रना यथार्थ अर्थ पण, जाण्णा, तथा अध्यात्मनी भावनाए, स्पर्शज्ञानानुभावविना श्रुताभ्यास क्रीधो, परन्तु शुद्ध अने यथार्थ स्वाहावोपेत भावधर्म, विना शेष भावधर्मनी रुचिये जे दान-दयादिक प्रवर्तन करे छे ते सर्व कारण समजवा, परन्तु मूलधर्म नधी, धर्म ते वस्तुनी सत्ता, आत्माने विषे स्व-स्वरूपणे परिणामकताए रह्यो छे । ते मांहे जे प्रगव्यो ते धर्म, एह्युं शुद्ध धदान-शुद्धप्रतीति-तथा वळी आत्मानी स्वरूप प्रगट करवाहूप रुचि तथा आत्मानां स्वगुणने आहंवन विना जे आचरण तेषें आचरणे तथा श्रुताभ्यासे तेहनुं कार्ये-जे कार्यधी आत्मानुं साधन धाय, ते कोई नीपन्नुं नहि, जे थकी आत्मगुण कोई प्रगटे ते थर्युं नहि, ते माटे अहो परमेश्वर ! साहरीज कृपा पार उतारसे, निष्कारसे, ते माटे तार ! तार ! ॥ ३ ॥

स्वामी श्रीवीतरथ जे परकार्यना अकर्ता, परभावादिना अभोक्ष, इच्छा-लीला-चपलता रहित, एटले जे दरछा होय छे ते तो ऊपतावंतने छे, ते माटे त छे, वळी लीला पण मुखसुं लालच करनारने होय छे, अने लालची-खनी ऊनताए धाय छे । ते माटे प्रभुमां लालचीपणुं नधी, एहवा दर्शन ( मत ) समान निर्मल निमित्त लहीने जो ए आत्मानुं उपा-

दान=मूल परिणति पवित्र नहि धरो तो जाणवुं जोईये जे वस्तु=जीवनो ज दोष=अवगुण छे, एटले रखे ए जीवनो दल अयोग्य होय। ए जीवनी सत्ता केवी रीतनी छे? अथवा पोताना उद्यमनी खामी छे? केमके आकरे प्रयत्न=उद्यम करीने तो आत्माने समरवो जोइये, तो ए जीव पोतानी जगाशने लीधे आत्मा समरतो नथी। ते माटे हवे शुं करवुं? जे बीजो उपाय कोई नथी, तो श्रीअरिहंतनी सेवा तेहीज निधे निकट केतां नजीकता लखे, केतां पमाडशे, एटले आ आत्मा तो हवे दुष्ट जेवो थइ रह्यो छे, परन्तु श्रीजिनराजनी सेवनाथी दुष्टता तजी देखे ॥ ४ ॥

स्वामी जे श्रीअरिहंत तेहना गुणने ओळखीने जे प्राणी श्रीअरिहंतने भजे=सेवे छे, ते दर्शन=सम्यक्त्वरूप गुणने पामे छे, दर्शननी निर्मलता पाम्या पळी, ज्ञान=यथार्थ भासन, चरित्र=स्व-स्वरूपमा रमण तप=तत्त्वमां एकाप्रताधीर्य=आत्म-सामर्थ्य, तेहना उल्लासथी ज्ञानावरणादि कर्मोने जीपीने मुक्ति=निरावरणरूप सम्पूर्ण सिद्धतारूप धाम=स्थानकमा जइने ते वसे छे ॥ ५ ॥

जगत्रयवस्तुल=त्रण जगत्ना हितकारी, एहवा महावीर भगवान् चोवीशमा जिनवर, तेहना गुण सांभळीने मारो मन प्रभुने चरणने शरणे वसाव्यो छे। ते माटे हे प्रभो! परनेधर! माहरो आत्मा तो पलटीने सर्वसाधन करे, एहवी शक्ति देखाती नथी, माटे भद्रक भक्तिए कहुं छुं जे हे तात। हे दीनबन्धो! मुज दासने तमे तारजो, तमारुं तारकतानुं विरुद राखवा माटे दामनी सेवना भक्ति सामु जोसो मा, जे ए आज्ञा प्रमाणे भक्ति करे तो तरे, ए बात तो स्वामिन्! माहुरामां थवी दुर्लभ छे, पण तमारे संयोगे तरीये, एहीज नियमा आधार छे ॥ ६ ॥”

“माहरी एटली विनति मानजो, ए पण भद्रिकपणाथी भक्तिनुं वचन छे, जे शक्ति=एवी सामर्थ्य आपजो, ते कहे छे, जे भाव=वस्तुधर्म, ते स्याद्वादरीते नित्य-एक-अनेक-अस्ति-नास्ति-मेद-अभेदपणे छ द्रव्यना अनंताधर्म शुद्ध, शंकादि दूषणरहित भासे,=जाणपणामां आवे, ते साधि=निपजावीने साधकदशा ते मेद रत्नत्रयी-सिद्धता-निष्पत्ता-अनुभवे=भोगवे, सर्वदेवमाहे चन्द्रमा समान, सिद्धभगवान् तेहनी विमल=निर्मल जे प्रभुतां, ते प्रकाशे=प्रगट करे, एटलेस्याद्वाद ज्ञाने साधकता प्रगटे, साधकताथी सिद्धता प्रगटे छे, एहीज सार पदति छे ॥७॥

## वीरस्तुति—

वीर जिनेश्वर चरणे लागुं, वीरपणुं ते मागुं रे ।

मिथ्यामोह तिमिर भय भागुं, जीत नगारुं वाग्युं रे ॥ १ ॥

शब्दार्थ—वीर जिनेश्वर=श्रीवीरसेवें वीर प्रभुको, चरणे लागुं=नमस्कार करता हूँ, ( और ) वीरपणुं ते=उनके समान, वीरपणुं=शूरवीर भाव, मागुं रे=मैं उनके पाससे यांचा द्वारा मांग लेता हूँ; ( उनका वीरत्व ऐसाहै कि-जिसके सन्मुख ) मिथ्यामोह=मिथ्यात्व मोहनीय रूप, तिमिर भय=अन्धकारका भय, भागुं=दूर भाग खडा हुआ है, और-जीत नगारुं,=जयका नगार, वाग्युं=रे=यज रहा है ।

भावार्थ—मैं श्रीवीरसेवें जिनेश्वर धीमहावीरस्वामीकी भाव वन्दना करता हूँ, और कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेके लिए उनमें जो योद्धावन अथवा जैसा श्रीवीर भगवान्में वीरत्व है, मैं भी अपनेलिए वैसाही चाहता हूँ, और जिनमें मिथ्यात्व मोहनीय कर्मरूप अंधकारका भय नष्ट होगयाहै, और फिर जीतका डंका बजगया है ।

परमार्थ—मैं श्रीवीरभगवान्की भावसे वन्दना करके अपने लिए वीरत्व पानेकी मांग पेश करता हूँ, श्रीवीरभगवान् कैसे हैं, ! जिनका कि-मिथ्यात्वादि मोह दूर होगया है, तथा कर्मरूपी शत्रुओंको पराजय करनेसे जिनका जयपट्ट बजने लगा है, ऐसे श्रीभगवान्को नमस्कार करके मैं वीरता मांगता हूँ ॥ १ ॥

छउमत्थ वीरज लेश्या संगे, अभिसंधिज मति अगे रे,

सूक्ष्म थूल क्रियाने रंगे, योगी थयो उमंगे रे, वी० ॥ २ ॥

शब्दार्थ—छउमत्थ=छमत्थ अवस्थाकी, वीरज लेश्या=क्षायोपशमिक वीर्यवाली, लेश्या=आत्म परिणामकी एक दशा, ( उसके ) संगे=संयोगके द्वारा ( तथा ) अभिसंधिज=अभिसंधि जनित-योगाभिसंधिजनित-योगको ग्रहण करनेकी-अपने आप ही होनेवाली इच्छासे उत्पन्न-मति=बुद्धि, ( उसके ) अगेरे=उसकी छायाके कारण ( तथा ) सूक्ष्म=आत्मिक, ( और ) थूल=व्यावहारिक, क्रियाने रंगे=क्रियाका समाचरण करनेके उत्साहसे ( वीरभगवान् ) योगी थयो=योगी बनगए, उमंगेरे=उमंगके साथ-न कि जबरदस्तीसे,

**भाषार्थ—**उपस्थ अवस्थाकी क्षायोपशमिक वीर्यवाली आत्मपरिण-  
तिके योगसे, और योगको ग्रहण करनेकी अपनी निजी इच्छासे उत्पन्न होने-  
वाली बुद्धिसे, आत्मिक और व्यावहारिक क्रिया करनेके उत्साह द्वारा धीवीर  
भगवान् नवी भारी उमंगके साथ योगी हुए हैं ।

**परमार्थ—**इस गायान भाषार्थ भक्ति प्रचार समझमें नहीं आता,  
अतः शुद्धगम्यतासे इसका अर्थ समझना चाहिए । तथापि यथा मति लिखा  
गया है, उपस्थ अवस्थामें आत्माको क्षायोपशमिक वीर्यका उद्गम जब प्राप्त  
होता है और उस समय उसके साथ वैसी ही शुभ उद्देश्या मिलजाती है, अतः  
फिर अन्वयरूप वीर्यकेद्वारा कर्मग्रहण करता है, इस कर्मग्रहण करनेकी दशाको  
अभिर्भोज कहते हैं, और तब फिर मति उपर्युक्त वीर्यको ग्रहण करती है ।

देहकम्पनरूप सूक्ष्म-क्रिया, और शरीरसंकुचनरूप, एवं उसका प्रसरण  
करणरूप, प्रसारणकी क्रियाको स्थूल क्रिया कहते हैं, इस प्रकार स्थूल और  
सूक्ष्म क्रियाके रंगसे सब आत्मा नवी उमंगसे योगी होते हैं । अर्थात् वे  
मन-वचन- और कायके योगको प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

असंख्य प्रदेशो वीर्य असंख्यो, योग असंखित कंचेरे,

पुद्गल गण तेणे लेशु विशेषे, यथाशक्ति मति लेखेरे ॥ ३ ॥

**शब्दार्थ—**असंख्य प्रदेशे=आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, (अतः उन  
उन प्रदेशोंका वीर्य एकत्र करने पर) वीर्य असंख्यो=असंख्य-जो गिना न जाय  
इतना आत्म-बल है, (इसीसे आत्मा) योग असंखित=असंख्य योग-मन-  
वचन-काय के व्यापार, (उनकी) कंचेरे=अमिलपित अर्थको पूर्ण करनेमें  
समर्थ होता है, [ और ] पुद्गल गण=पुद्गलकी विविध वर्गणाओंको, तेणे=दृष्टी  
द्वारा, लेशु विशेषे=उद्देश्या विशेषसे-भिन्न भिन्न उद्देश्याओंसे, यथाशक्ति=  
शक्तिके अनुसार, मति=बुद्धि, अनुभवांकित रहती है, एकके पश्चात् एक  
को ग्रहण करके माप करती रहती है ।

**परमार्थ—**आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, और उन एक एक प्रदेशमें  
असंख्य वीर्य-शक्ति है, इससे असंख्य योगी आकांक्षा उत्पन्न होती है,  
और योग सामर्थ्यके अनुसार आत्मा कर्म-वर्गणाके पुद्गलोंको यथाशक्ति  
ग्रहण करता है ॥ ३ ॥

उत्कृष्टे वीरजने वेसे, योग क्रिया नवी पेसे रे,

योग तणी ध्रुवताने लेसे, आत्मशक्ति न सेसे रे ॥ ४ ॥

**शब्दार्थ—**( लेकिन ) उत्कृष्टे वीरजने वेसे=उत्कृष्ट, कार्यके आवेशमें- जब कि सबसे अधिक वीर्य-उल्लास होता है तब, योगक्रिया=मन-वचन-कार्यरूपी योगका व्यापार, नवी पेसेरे=प्रवेश ही नहीं करता, होता ही नहीं, ( क्योंकि उस समय ) योगतणी=योगकी, ध्रुवताको=अचलताको, लेसे=लवलेशमात्र भी, आत्मशक्ति=आत्मबल, न सेसेरे=डिगाता नहीं, योग स्थिर हो जानेके कारण ।

**भावार्थ—**जब आत्मामें सबसे अधिक वीर्य प्रगट होता है तब मन-वचन और कायका कर्म बंधनरूप कार्य प्रवेश ही नहीं करता, कारण यह है कि-उस समय आत्मबल है, उस योगके अचलत्वको लवलेश मात्र भी डिगा नहीं सकता, ॥ ५ ॥

**परमार्थ—**उपरोक्त कथनानुसार आत्मा योगकी शक्तिके अनुसार कर्म पुद्गलको ग्रहण करता है, परन्तु यदि आत्मामें उत्कृष्ट वीर्य प्रगट होगया हो तो फिर मन-वचन-कायके योग लगभग बंद हो जाते हैं, और कर्मबन्धन-रूप क्रियासे फिर आत्मामें कर्म-बंध नहीं होता ।

योगकी ध्रुवताका लेश सब आत्माओंमें होता है, और उस लेशमात्रसे भी आत्माके आठ दक्क प्रदेश कर्मबन्धसे विरक्त ( अलग ) रहते हैं । यह दृष्टान्त है । अत एव ज्यों ज्यों आत्मामें उत्कृष्ट वीर्य प्रगट होता रहता है, त्यों त्यों कर्मबन्ध भी कम हो जाते हैं, और अन्तमें सम्पूर्ण वीर्यत्व प्रगट होने पर वीरभगवान्की तरह समस्त कर्मबंधका नाश हो जाता है और शुद्ध चैतन्यत्व प्राप्त होता है, अतः हे भगवान्! मुझे वीरता अर्पण करो ! ॥ ४ ॥

काम वीर्य वशे जेम भोगी, तेम आत्मा थयो भोगीरे,

रूपणे जातम उपयोगी, थाय तेह असोगी रे ॥ ५ ॥

**शब्दार्थ—**कामवीर्य वशे=श्री संगकी इच्छा होने पर, वीर्य बलसे, जेम=जिस प्रकार भोगी=भोग कर्ता होता है, जेम=इसी तरह, जातम थयो भोगीरे=आत्मा, ( अपने वीर्यबलसे आठ बनने पुर्णोच्च ) भोगी बनता है,

(और) शूर पणे=शौर्य गुणके बलसे, आत्म-उपयोगी=अपने भावमें उपयोगवान् रहकर, थाय तेह अयोगीरे=वह आत्मा उसी समय अयोगी गुणस्थान पर आरूढ होता है।

**भावार्थ**—स्त्रीसंगकी इच्छा होने पर वीर्य अर्थात् धातुके उल्लाससे जिस प्रकार जीव भोगकर्ता सिद्ध होता है, इसीप्रकार आत्मा अपने वीर्य उल्लाससे अपने गुणोंका भोगी बनता है, और शौर्यगुणके बलसे निजभावमें उपयोगवान् रहकर वह आत्मा तुरत अयोगी-गुणस्थानारूढ होता है।

**परमार्थ**—जिसप्रकार कामी पुरुषमें वीर्यकी अधिकता होनेके कारण उसे प्रयत्न कामेच्छा होती है, इसीकारण पुरुष स्त्री की, और स्त्री पुरुष की इच्छा करती है, अथवा काम अर्थात् इच्छा, वह द्रव्यादिककी इच्छावाला जिस प्रकार द्रव्यकी इच्छा करता है, और पर-भावकी वाञ्छा करता है, इसी तरह आत्मा भी स्व-स्वरूपको न जाननेके कारण पर-पौडूलादिक भोगोंकी वाञ्छा करता है।

परन्तु जब आत्मामें शूरवीरताका संचार होनेपर वीरभाव प्रगट होता है, तब कर्मोंका क्षय होने पर अपने स्वरूपको जानता है। इससे उसे पर वस्तुओंपर अभाव-(अप्रीति) होता है, आत्मा निजगुणमें रमण करता है, मन-वचन और कर्माके योगको स्थिर करता हुआ नवीन कर्मोंको नहीं बांधता। और अन्तमें अयोगी हो जाता है। इस लिए वीरत्व प्राप्त होने पर आत्माका कार्य सिद्ध होने वाला समझ कर भगवान्के पास वीरता ही मांगी है ॥ ५ ॥

वीरपणुं ते आत्म ठाणे, जाण्युं तुमची वाणे रे,

ध्यान विनाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुव पद पहिचाणे रे, वी० ॥६॥

**शब्दार्थ**—वीरपणुं=शूरवीरता, ( उसे, ) ते आत्म ठाणे=वह आत्मगुणस्थानपर चढता हुआ, [ परिपूर्ण होना चाहिए इस प्रकार ] जाण्युं=मैं जान सकाहूँ, [ किसके द्वारा जान सकाहूँ ? ] तुमची=आपकी, वाणे रे=वाणी द्वारा-आपके प्रतिपादन किए हुए आगम द्वारा, ( तथा ) ध्यान विनाणे शक्ति



प्रमाणे=अपनी शक्तिके प्रमाणसे ध्यान और विज्ञानसे, निज=अपना, ध्रुवपद= (परिणामकी स्थिरताको पाकर) शांतिरूप अचल पद, पहिचाने=पहचानने से ।

**भाषार्थ**—आत्मगुणस्थानपर चढतेसमय परिपूर्ण शूरवीरता होनी चाहिए जिसे मैं अब जान सका हूँ, किसलिए ? आपकी वाणी द्वारा, अर्थात् आपके उपदेशसे, पुनः मेरी निजी शक्ति के अनुसार ध्यान और विज्ञानके साहाय्यसे भी कुछ जाना है, यानी ध्यान और विज्ञानका जितना बल होता है, उतना ही, अथवा उसी प्रमाणमें अपनी वीरताका स्थिरपद जीव इन निमित्तोंसे पहचान लेता है ।

**परमार्थ**—भगवान्के पाससे वीरताकी यांचा का विचार करते समय भगवान्के प्रतिपादन किए हुए उपदेशका स्मरण हुआ, इससे स्वयं ही प्रसन्न होकर कहता है कि प्रभो ! मेरी जो जो भूल हुई हैं उनका मुझे भान हुआ, अब तक मैं आपसे यही विनति करता रहा था कि—मुझे वीरता अर्पण करें, परन्तु मांगसे पहिले आपने कर्मादा है कि—समस्तआत्माएँ मेरे समान हैं । अतः जो वीरतामें पहले आपसे मांग रहा था, वही वीरता मुझमें भी है । परन्तु खेद है कि इस बातकी मुझे जरासी भी खबर न थी, परन्तु आपकी वाणीसे—आपके तत्वपूर्ण उपदेशसे मुझे विश्वास हुआ है कि वह वीरता मुझमें भी पर्याप्त और अरुंध है ।

तब यह प्रश्न होता है कि—जब आपके समान वीरता अपनेमें भी है तब तुम उसे क्यों नहीं जानते थे ? और भगवान्ने कहा है कि—इसके अतिरिक्त वीरता अपने आत्मामें है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, इसी प्रकार गुरु परम्परासे यदि विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ हो तो उससे भी अनुभव हो सकता है, जिस प्रकार ध्यान और ज्ञानकी विशेषता है, इसी प्रकार आत्मानुभवकी भी विशेषता जाननी चाहिए । मुमुक्षुओंको ज्ञान और ध्यान को गुरुगमतासे जान कर आत्मानुभव करनेमें प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि इस स्वदनका आशय यही है, और हमारी धारणा भी यही है ॥ ६ ॥

आलम्बन साधन जे त्यागे, पर परिणतिने भागे रे,

अक्षय दर्शन ज्ञान वैरागे, 'आनन्दघन' प्रभु जागे रे, ॥ ७ ॥

**शब्दार्थ**—[ पूर्ण वीर्योद्भाससे शूरवीर बन कर ] आलंबन=असमर्थ दशामें लियाहुआ आश्रय, (तथा) साधन=समस्त साधन-उपकरण, (उनको) जो=जो महात्मा, त्यागे=छोड़ देते हैं, पर परिणति=आत्मासे धन्य-पुद्गलादिका स्वभाव (उससे), भांगरे=दूर होजाता है, (वह) अक्षय=जिसका क्षय न हो, ऐसे शाश्वत, दर्शनज्ञान वैरागे=ज्ञान-दर्शन और चरित्रके द्वारा, आनन्दपन=आनन्दसे भरपूर, प्रभु=परम समर्थ-परमात्मा-ईश्वर, (होकर) जागेरे=(सदैव) ज्ञानसे जागृत रहता है ।

**भावार्थ**—सम्पूर्ण वीर्योद्भाससे शूर वीर होकर जो पुरुष असमर्थ दशामें पहले लिए हुए आलंबनों को और समस्त (अत्यावश्यक) उपकरणोंको भी छोड़ देता है, उस आत्मासे पर जो पुद्गलादिका विभाव है वह दूर होजाता है, पुनः वह महात्मा पुरुष जिसका कभी क्षय न होने पावे, ऐसे शाश्वत ज्ञान-दर्शन और चरित्रसे, आनन्दपदसे भरपूर परमात्मारूप होकर सदैव ज्ञानपूर्वक जागता रहता है, अथवा 'आनन्दघन' कवि कहते हैं, कि-प्रभु-आत्मा जाग जाता है, यानी अनादिकी ऊँपनेसे आत्मा जागृत हो जाता है अर्थात् विभावदशाको त्याग कर स्वयं परमानन्दरूपमें मग्न हो जाता है ।

**परमार्थ**—आत्मा अनादिकालके पुद्गल सम्बन्धी आधारसे अपना कार्यकरना त्यागदेता है, तब आत्माका अखंड-शुद्ध-चेतन्यत्व सम्यग् ज्ञान-दर्शन और चरित्रद्वारा प्राप्त करता है । और अनादि-कालसे आत्मा जिस पुद्गलके संगमें पड़ा ऊँप रहा है, उसीसमय जग कर स्वयं अपने स्वरूपको प्राप्त करता है अथवा 'आनन्दघन' कवि कहते हैं कि-यह आत्मा पर वस्तुका संग छोड़दे और अपना निजी अवलम्ब रक्षे, तथा परानुयायीपन छोड़दे तो उस रत्नत्रय के आराधनसे यह आत्मा तुरन्त मोक्षको प्राप्त होता है, ॥ ७ ॥

**गुजराती भावार्थ**—चोवीसमां जिनेश्वर श्री महावीर स्वामीना चरणोमा हुं वन्दन कर्हं छुं अने कर्मरूपी शत्रुओने हणवामां जे योद्धापणुं, अथवा जेवुं धीवीर भगवानुं वीरपणुं छे, तेवुं वीरपणुं हुं माणुं छुं, बळी जे प्रभुनो मोहनीय कर्मरूपी अन्धकार-भय नष्ट ययो छे, अने कर्मरूप शत्रुओनो पराजय करवाधी जेमनो जयपटह वाग्यो छे, एवा श्रीवीरभगवान्ने पगे लागीने हुं वीरपणुं माणुं छुं, ॥ १ ॥

આ ગાથાનો ભાવાર્થ મને ચરાચર સમજાયો નથી, માટે ગુરુગમથી ધારવો, તો પણ યથામતિ લખ્યો છે, છપ્પસ્થાવસ્થામાં આત્માનું ક્ષાયોપશમિક વીર્ય હોય છે, અને તેની સાથે તેવીજ લેશ્યા મળે છે, એટલે જોડાયેલાં વીર્યે કર્મ-પ્રહણ કરે છે, આ કર્મ પ્રહણ કરવાની દશાને અભિસધિજ કહે છે, અને મતિ ઉપર્યુક્ત વીર્યને પ્રહણ કરે છે ।

દેહકમ્પનરૂપ સૂક્ષ્મ ક્રિયા અને શરીર સકોચવા રૂપ તેમજ તેનો પ્રસાર કરવારૂપ પ્રસારણની ક્રિયાને સ્થૂલ ક્રિયા કહે છે, એટલે તે મન-વચન અને કાચના યોગને પામે છે । ॥ ૨ ॥

જેની સંખ્યા ન આવે તે અસહ્ય કહેવાય. આત્માના અથવા વીજા શ્ચોના સૂક્ષ્મમાં સૂક્ષ્મ આક્રમણના વિભાગમાં રહેલો જે ભાગ તે પ્રદેશ કહેવાય છે । આત્માના આવા અસહ્ય પ્રદેશો છે, અને તે એકે એક પ્રદેશમાં અસહ્ય વીર્ય છે, તેવીજ આત્મા મન-વચન-અને કાચના અસહ્ય યોગની કાક્ષા-અભિલાષા થાય છે, અર્થાત્ તે યોગો સાધ્ય-પ્રગટ કરવાને સમર્થ છે, અને તે હેતુથી પુદ્ગલની જુદી જુદી વર્ગણાઓને વિવિધ પ્રકારની લેશ્યાઓથી શક્તિમુજબ બુદ્ધિ-લેખી રહે છે, અર્થાત્ એક પછી એક પ્રહણ કરીને માપતી રહે છે । ॥ ૨ ॥

આત્મા યોગની શક્તિને અનુસારે કર્મપુદ્ગલ પ્રહણ કરે છે । પણ જો આત્મામાં ઉત્કૃષ્ટ વીર્ય પ્રગટ થયું હોય તો પછી મન-વચન-કાચના યોગ લગભગ બંધ થાય છે, અને કર્મબાંધવા રૂપ ક્રિયા થી આત્મામાં કર્મબંધ થતો નથી ।

યોગની ધ્રુવતાનો લેશ વધા આત્મામાં હોય છે, અને તે લેશમાત્રથી પણ આત્માના આઠ દુષ્ક પ્રદેશ કર્મ બંધથી મિરક્ત રહે છે, એ દૃશ્યન્ત છે । માટે જેમ જેમ આત્મામાં ઉત્કૃષ્ટ વીર્ય પ્રગટ થાય, તેમ તેમ કર્મબંધ કર્મલી થાય, અને છેલ્લે સમ્પૂર્ણ વીર્યપણું પ્રગટ થતાં વીર ભગવાનની પેઠે સમસ્ત કર્મ-બન્ધનો નાશ થાય, અને શુદ્ધ ચૈતન્યપણું પ્રગટ થાય તેવું છે । માટે હે ભગવાન ! મને વીરપણું આપો ! ॥ ૪ ॥

જેમ કર્મી પુરુષમાં વીર્યનો વધારો થતાં તેને પ્રવલ કામેચ્છા થાય છે, તેવી પુરુષ સ્ત્રીની અને સ્ત્રી પુરુષની ઇચ્છા કરે છે । અથવા કર્મ એટલે ઇચ્છા, તે દ્રવ્યાદિકની ઇચ્છાવાલો જેમ દ્રવ્યની ઇચ્છા કરે છે, અને પરભાવને વાંધે

छे, तेम आत्मा पण स्व-स्वरूपना अजाणपणाथी पर जे पुत्रलादिकं तेना भोगनी वाप्टा करे छे ।

पण ज्यारे आत्मामां शूरापणुं अथवा वीरपणुं प्रगट चाय छे, ल्यारे कर्मोनी क्षय यतां ते पोतानुं स्वरूप जाणे छे, तेथी पर वस्तुपरथी तेने अभाव धाय छे, आत्मा पोतामां रमण करे छे, मन वचन अने कयना योगने स्थिर करी नवां कर्मों बांधतो नथी, अने छेवटे अयोगी पण धाय छे । तेथी वीर्यपणुं प्राप्त यतां आत्मानुं कार्यं यवानुं जाणी प्रभु पासे वीरपणुं माग्युं छे । ॥ ५ ॥

भगवान् पासे वीरपणुं मागवानुं विचार करतां भगवाने करेल्ला उपदेशनुं स्वरण ययुं । तेथी पोतेज सुशीथईने कहे छे के हे प्रभो ! मारी जे भूल छे, ते मने जणाई, अल्लार मुधी में आपने विनंति करी के मने वीरपणुं आपो, पण मारी मागणी पहला आपे कहेलुं छे के तमाम आत्मा मारा जेवा छे, एटले जे वीरपणुं हुं आपनी पासे माग्युं हुं, ते वीरपणुं मागमांज छे, पण ते बातनी मने खबर न होती, परन्तु आपनी वाणी थी एटले आपना उपदेशथी मारी छात्री यह छे के ते वीरपणुं मागमां छे ।

ल्यारे प्रथम धाय छे के ज्यारे वीरपणुं तमागमां छे तो तमे केम न होता जाणता ? अने भगवाने कहुं छे के ते शिवाय वीरपणुं पोताना आत्मामां छे । ते जाणवाने बीजुं साधन छे के केम ! तेनो उत्तर कहे छे के ध्यान करवाथी वीरपणुं पोतामां उद्भव धाय छे, अने तेनो प्रत्यक्ष अनुभव थई शके छे तेमज गुह्यरम्यराथी विशेष ज्ञान प्राप्त ययुं होय तो तेथी पण अनुभव थई शके छे, ज्ञान अने ध्याननी जेम विशेषता धाय छे तेम आत्म अनुभवनी पण विशेषता जाणनी, मुमुक्षुओए ज्ञान अने ध्यानने गुरुगमथी जाणी आत्मअनुभव करवानां प्रवृत्ति करवी ए आ स्वप्ननुं रहस्य छे एम हुं धाहं हुं ।

आत्मा पुद्गळना आधारथी पोतानुं कार्यं करतानुं ल्याने, अने पुद्गळनुं आलम्बन जो छोटी दे तो अखंड शुद्ध चैतन्यपणुं सम्यग्ज्ञान-दर्शन अने चारेप्रबडे प्राप्त करे, अने अनादिकाळथी आत्मा जे पुद्गळना संगमां ऊंचलेतो पडेले छे, ते जाणीने पोतानुं स्वरूप प्राप्त करे छे, अथवा आनन्दधन कवि कहे छे के आत्मा पर-वस्तुनो संग छोडे, पोतानुं अवलम्बन राखे, अने परानु-चानी पणुं तजे तो रत्नप्रचीना आरापनथी मोक्ष पाने ।

## : वीरस्तुति-

धन धन जनक 'सिद्धार्थ' राजा, धन विशाल देवी मात रे प्राणी ।  
 ज्यां सुत जायो गोद खिलायो, वर्धमान विख्यात रे प्राणी,  
 श्रीमहावीर नमो 'वर प्राणी,' शासन जेहनो जाण रे प्राणी,  
 प्रवचन सार विचार हिए में, कीजे अर्थ प्रमाण रे प्राणी, २  
 सूत्र-विनय-आचार-तपस्या-चार प्रकार समाधि रे प्राणी,  
 ते करिये भवसागर तरिये, आत्म भाव आराधि रे प्राणी, ३  
 ज्यों कंचन तिहुं काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी,  
 त्यों जगजीव चराचर योनि, हे चेतन गुण एक रे प्राणी, ४  
 अपणो आप विषे थिर आत्म, सोऽहं हंस कहाय रे प्राणी,  
 केवल ब्रह्म पदारथ परिचय, पुद्गल भरम मिटाय रे प्राणी, ५  
 शब्द-रूप-रस गंध-न जामे, नहीं स्पर्श-तप-छांह रे प्राणी,  
 तिमिर-उद्योत-प्रभा-कलु नाहीं, आत्म अनुभव मांहि रे प्राणी, ६  
 सुख-दुःख जीवन मरण अवस्था, ए दशप्राण संगत रे प्राणी,  
 इणयी भिन्न विनयचंद रहिये, ज्यों जलमें जलजात रे प्राणी, ७

भावार्थ—'सिद्धार्थ' राजा और 'विशाल' देवी राणीको धन्यवाद है, जहां 'वर्धमान' जैसे पुत्र उत्पन्न हुए, उन्होंने अपने अंक्रमे उसको खिल रमा कर अपनी होंठ पूरी की, और वर्धमान नानसे तो तीनों लोकमें विख्यात हुए, अपर नाम महावीर भगवन् । जो भेष्ट और निर्मल केवलज्ञान युक्त हैं, जिनका इस समय शासन काल प्रचलित हो रहा है, और भावी कालमें भी १८५०० वर्ष तक चलेगा, उन्हें मेरा योग और करणकी शुद्धिसे नमस्कार है, जिनके प्रवचनका सार आत्मभान और परमात्म विचार है । यदि उसका मनन और निदिध्यासन किया जाय तो यह आत्मा मोक्षकी पूर्ति ही कर सकता है ।

ज्ञात-नन्दन महावीरप्रभुने 'सूत्र' 'विनय' 'आचार' और 'तपस्या' ये चार प्रकारकी समाधि भव्य श्रमियोंके कल्याणके अर्थ प्रतिपादन की हैं,

जो जितेन्द्रिय संयमी सदैव अपने आत्माका विनयसमाधि-श्रुतसमाधि-तपः समाधि और आचारसमाधिमें रमण करते हैं वास्तवमें वे सच्चे पण्डित होते हैं.

**विनय समाधिके चार प्रकार—**विनय समाधिके चार भेद इस प्रकार हैं जिस गुरुके पाससे शिक्षण प्राप्त किया है, उस गुरुको महा उपकारी समझकर उसकी सेवा करे, उसके समीपमें रहकर विनयका समाचरण करे। गुरुके वचनका यथार्थ रूपमें पालन करे। और विनयी होनेपर अहंकारी न बने। मोक्षार्थी साधक सदा हितशिक्षाकी इच्छा रखता है, उपकारी गुरुकी सेवा करता है, गुरुके समीपमें रह कर उनके वचनका पालन करता है, और अभिमानमें मदसे गर्विष्ठ नहीं बनता। वही विनय समाधिका आरथक समझा जाता है।

**श्रुत समाधिके चार प्रकार—**“अभ्यास करनेसे मुझे सूत्र सिद्धान्तका परिपक्व ज्ञान होगा” यह समझ कर अभ्यास करता है, “अभ्यास करनेसे मेरे मनकी एकाग्रता होगी” यह जानकर श्रुतका अभ्यास करता है। “अपने आत्माको उत्तम और सद्धर्ममें परिपूर्णतया स्थिर करूंगा” यह मान कर अभ्यास करता है, यदि-में समता पूर्वक धर्ममें स्थिर रहूंगा तो औरोंको भी धर्ममें स्थापन कर सकूंगा। श्रुतसमाधिमें अनुरक्त रहनेवाला साधु सूत्रोंको पढ़कर ज्ञानकी, एकाग्र चित्तकी, धर्मस्थिरताकी तथा औरोंको धर्ममें स्थिर करनेकी शक्तिका सम्पादन करता है, अतः साधकको श्रुतसमाधिमें तल्लीन रहना चाहिए।

**तपः समाधिके चार प्रकार—**सच्चा साधक इस लोकके स्वार्थ-सुखके लिए तप नहीं करता, परलोक स्वर्ग सुखके लिए तप नहीं करता; फीर्ति, वर्णन (श्रद्धा) के लिए भी तप नहीं करता, और पाप कर्मको बखेरनेवाली निर्जराके अतिरिक्त किसी भी अन्यकारणसे तप नहीं करता, वही तपसमाधिके योग्य होता है। तपसमाधिमें सदैव लगा रहनेवाला साधक भिन्न-भिन्न प्रकारके सद्गुणोंके भण्डाररूप तपमें सदैव तन्मय होता है। किसी भी प्रकारकी आघात रक्खे बिना कर्मशील करनेवाली निर्जरा भावनाके लिए प्रयत्न करे तो तपकेद्वारा वह पुराने पापकर्मोंको दूर कर सकता है।

**आचार समाधिके चार प्रकार—**कोई भी साधक इस लोकके स्वार्थकी पूर्तिके अर्थ भ्रमणके सदाचारोंका सेवन नहीं करता, पारलौकिक

स्वार्थके लिए भी सदाचारों का सेवन नहीं करता। कीर्ति-वर्ण-शब्दके लिए भी साधुके आचारोंका पालन नहीं करता। ( अर्थात् ) अर्हन्देवके फर्मानके मुजब निर्जराके हेतुको छोड़ कर किसी भी स्वार्थके लिए आचारका पालन न करके मात्र निर्जराय ही आचार पालन करता है। जो साधक दमितेन्द्रिय है, सब-रित्रसे आत्मसमाधिक अनुभव करता है, महावीरके बचनोंमें अपनेको अर्पण कर चुका है, वाद-विवादसे विरत और सम्पूर्ण क्षायिकभावको पाकर जिसका आत्मा मुक्तिके निकट हो जाता है। वह साधक इन चार समाधिओंसे आत्माका आराधक होकर-सुविशुद्ध होकर चित्तकी सुसमाधिकी साधमें लगकर परमहितकारी और अपना एकान्त, भुषकारक कल्याणस्थान खुद ही प्राप्त करता है। समाधिसे जन्म और मरणके चक्रसे मुक्त होकर शोधित सिद्ध होता है। यदि थोड़े बहुत कर्म बाकी रह गए हों तो महान् ऋद्धियुक्त उच्च और सर्वोत्तम कोटिक 'देव' होता है ॥ ३ ॥

आत्मा सुवर्णकी तरह है, आभूषणोंकी तरह वह पर्यायी है, चराचर जगत् और चौरासीलख जीवयोनि चारगति इसके पर्याय हैं। परन्तु चेतना गुण सबका एक है, समान है, किसीका किसीप्रकारसे अन्तर नहीं है।

“अपने आत्माको निजस्वभावमें स्थापन कर, तब सोहं का भास होगा, इस अनुभवके पश्चात् ( हंसः ) परमात्मरूप ( स्वच्छ ) हो जायगा, परभावको छुड़ाने वाला केवल-ब्रह्मपदार्थका परिचय पुद्गलपरिणतिक भ्रम मिटा देगा। इसीका अभ्यास चरित्र-भात्म रमणता है, जो कर्मरजको छानकर आत्मद्रव्यको पृथक् प्रगट करदेता है।”

“इस आत्मामें शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श-आतप-छाया-अन्धकार-उद्योत-प्रभा-आदि कुछ भी नहीं है, और आत्म-अनुभव होनेपर बह्य पदार्थोंका मोह और ये दश जड वस्तुएँ आरमाके पास कभी फटक ही नहीं सकतीं।”

“तथा मुख-दुःख जीवन-मरण-सम्बन्धी अवस्थाएँ इन १० बाह्य प्राणोंके साथ हैं, इनका पवित्र और स्थायी-प्राणोंके साथ कोई संबन्ध नहीं, विनयधर्मकी साधनामें चन्द्रमाके समान उच्च और पवित्र महावीर प्रभु उनसे इध प्रकार भिन्न हैं जिध प्रहर प्रहर कीचल और गंभीर जलसे उत्पन्न होकर कमलदल पानी और कीचडसे अलग रहता है।”

विनयचंद्र ( कुंभट )

महावीर थुई नो गुजराती काव्यानुवादः

आज सुधर्मा केहेता प्यारा जंबुने, वीरप्रभुना पंचम गणधर धीरजो,  
 संयमसागर शिष्य बडा ते जंबुजी, पूछे गुरुने अम भांगो गंभीर जो ।  
 कहो गुरु आ भवसिंधु उतारवा, कोणे आप्यो उत्तम अमने धर्म जो,  
 साधु संघने अन्य पंथना सज्जनो, पूछे आवी धर्म तणो सौ मर्म जो ।  
 अनन्य मंगल धर्म दीधो जे व्यक्तिष, ते समजावो टळवा सौ अनर्थ जो,  
 गुरु ज्ञानी छो आप महा आ विश्वमां, तेथी पूछुं प्रश्न तणो हुं अर्थ जो १  
 कहो स्वामी ते ज्ञान धरे कइ जातना, कइ पंक्तिना तेना दर्शन शील जो,  
 श्रवण कर्युं के जोयुं जे आपे प्रभु, बोलो ! खोली दिलना द्वार अखिल जो २  
 मधुर वाणी आ सुणी सुधर्मा बोलीया, जाणे चाली सुधा शब्दनी धारजो,  
 विश्वसकळनो दुःख जाणतो नाथ जे, वीरप्रभु ते आव्या आ संसार जो ।  
 कर्मरिपु संहार करी ते पामीआ, अनन्त दर्शन-ज्ञान तणो भंडार जो,  
 सूक्ष्म विषये दृष्टि तेनी स्थिर छे, कुशल प्रभु ते दीप्या जग मोझार जो ३  
 सर्व दिशामां वसता जे त्रस स्यावरो, मान्या तेने 'नित्य' अने 'अनित्य' जो  
 द्रव्य थकी तो मानी तेनी नित्यता, पर्याये तो मान्या छे अनित्य जो ।  
 घोर तिमिर जे विश्व मही व्यापी रह्युं, अनन्य दीपक तेहना छे भगवान् जो  
 सर्व जीवोपर राखीने समभावने, अर्पण कर्ता धर्म तणुं तो पान जो ४  
 सर्वदर्शी सर्व विषयने जाणता, जीत्या चारे मति-श्रुत आदि ज्ञान जो,  
 केवळज्ञानी निज आत्मामां स्थिरते, शुद्धचरितनां गातां जन गुणगान जो  
 सर्वपुरुषमां पुरुषोत्तम ते ज्ञानी छे, परिग्रह केरो संग नहीं तलभार जो,  
 लोक तणा तो भय तेने नहि पामता, जन्ममर्णनो स्पर्श नहीं लगार जो ५  
 प्रज्ञा तो बहु तीव्र हती भगवान्नी, वन्धन विण ते करता सदा विहार जो,  
 भवसिन्धुनी पार गया छे स्वामी ते, पाम्या ते श्री अनन्त ज्ञान भंडार जो ।



वृक्ष मर्हि तो शाल्मलीने जाणवुं, काननमां नहिं नन्दनवननी जोडजो,  
 शाल्मलीने नन्दनवनना आशरे, सुपर्ण सरखा देव करे प्रमोद जो  
 शाल्मलीने नन्दनवन तो क्यां मळे, अद्वितीय स्थानो लोक मर्हि पंकायजो,  
 शाल्मलीने नंदनजेवा जंबूजी, वीर बुद्धिने ज्ञान चरित अंकाय जो १८  
 शब्दमर्हि तो मेघशब्द क्यांथी मळे? मेघतणुं तो गंभीरगर्जन होय जो,  
 ग्रहोमर्हि तो चंद्र सम छे ग्रह नहि, मनहर जेनी शीतळता प्रसराय जो;  
 सुगन्धिओमां मध्यजसम छे वासक्यां? लोकमर्हि ए चंदन श्रेष्ठ गणायजो,  
 मेघ चंद्रने मलयज जेवा जाणवा, मुनिवर्गमां वीरना विरक्त भाव जो १९  
 सिंधु मर्हि तो स्वयंभू रमण जाणवो, क्रीडा करता देवो ज्यां सहर्ष जो,  
 भवनवासीमां भव्य नागकुमार छे, भव्यरूपथी मनपामे उत्कर्ष जो;  
 सर्व रसोमां ईक्षुरसने जाणवो, मधुरताथी मनहुं शीतल थाय जो,  
 ईक्षु-स्वयंभू-देवनाग सम वीरला, वीरप्रभुना प्रधान तप जप होय जो २०  
 हस्ती मर्हि ऐरावत सम छे हस्ती नहि, पशु मर्हि तो सिंहकेसरी एक जो,  
 निर्मळ जळमां गंगाजळने जाणवुं, विहंगोमां गरुड एक निशंक जो;  
 ऐरावत मनगमतीलक्ष्मी लावतो, लाब्या लक्ष्मी त्रिशला धर वीर जोध जो,  
 गरुड-गंगा-ऐरावतने हस्ती सम, भोक्षवादीमां वीरना मुक्ति बोध जो २१  
 योद्धाओमां वासुदेव मशहुर छे, प्रिय पुष्पमां पंकज सम नव कोय जो,  
 क्षत्रीओमां चक्रवर्ती प्रधान छे, विरल गुणना विरलां स्थानो होय जो;  
 वासु तणुं वळ अष्टापद वीशलाखनुं, पंकजने छे नवली मीटी वास जो  
 वासु-कमळने चक्रवर्ती सम जाणवा, ऋषिवर्गमां वीर महर्षिस्तास जो २२  
 दान मर्हि तो अभयदानने जाणवुं, सत्य मर्हि तो 'निर्वच' निश्चित जो,  
 सर्व तपो मां ब्रह्मचर्ये विशिष्ट छे, आत्मवळनी जागे तेथी ज्योत जो,  
 अभयदानथी दूर जती हिंसा सह, निरवचर्या परपीडा नवी थाय जो,

ब्रह्मचर्यथी उत्तमवळ तो आवंतुं, लोक महीं एम उत्तम वीर मनाय जो २३  
सुरपदोमां सर्वार्थसिद्धि श्रेष्ठ छे, सुधर्म केरी सभा अनुपम थाय जो,  
सर्वधर्म तो श्रेष्ठ मुक्तिने मानता, जीव मात्रनो परम हेतु ते होय जो;  
सर्वार्थसिद्धिना सुखनी तो वातशी, सौधर्म केरी सभा अनेरी होय जो,  
रतिमुक्तिनी बाणी तो नहिं कहीशके, प्रभुसमा उत्तमज्ञानी नवकोयजो २४  
परिपहो तो धरे पृथ्वी सम नाथ ते, पृथ्वीवत् ते सौनो छे आधार जो,  
अष्ट कर्मने नष्ट कर्या ते स्वामी ए, कर्यो गृद्धीने अभिलाप संहार जो;  
पाम्या छे ते ज्ञान महा उपयोगनुं, प्रयास विण ते जाणे वस्तु रूप जो,  
अनन्तभवने तरी गया छे वीर ते, अनन्तचक्षु नित्य अभयस्वरूप जो २५  
महारिपुजे आत्मदोष संसारना, क्रोध मानने मोह लोभ पर्याय जो,  
दूर करीने अर्हत् पदने पामीआ, करे करावे पाप नहीं ऋषिराय जो २६  
विध विध पंथो लोक महीं चाली रखा, क्रियावादीके अक्रियवादी कोय जो  
रमे कोई अज्ञानवाद के विनय मां सर्व पंथना ज्ञान वीरने होय जो;  
क्रियावादीनी मुक्ति क्रिया मां रही, अक्रियवादी समजे मुक्ति ज्ञान जो  
विनयवादितो विनय एज मुक्ति गणे, अज्ञानी तो मुक्ति गणे अज्ञान जो;  
सर्व पंथने समजीने आ स्वामीए, विकसाव्यो छे लोक महीं जैन धर्म जो,  
ज्ञानक्रियामां मोक्ष मानता वीर ते, लीधोसंयम समजावया सहुमर्म जो २७  
मोक्ष तणो मार्ग कछो आरीति थी, करी बताव्यो जगने देवा बोध जो,  
सकल पापने भस्म करीने स्वामीए, रोक्यो वहेतो कर्मरिपुनो धोध जो;  
मनुष्य केरा के नरकादिक लोकनां, वीरप्रभुए जाण्या पूर्ण स्वरूप जो,  
स्वरूपजाणी लोक अने परलोकनां सर्वलोकने छोड्या छे तद्रूप जो २८  
धर्म परूप्यो अर्हते आ प्रेमथी, अर्थ पदोमां केवळ जे निर्दोष जो,  
सुणी तत्व आ श्रद्धाथी जन पामता, इन्द्र सुखके मोक्ष लक्ष्मी सतोष जो २९

## परिशिष्ट नं० २-प्राकृतस्तोत्रविभागे

( पद्मभाषामयं वीरस्तोत्रम् )

विद्यानां जन्मकन्दस्त्रिभुवनभवनालोकनप्रत्यलोऽपि,  
 प्राप्तो दाक्षिण्यसिन्धुः पितृवचनवशात्सोत्सवं लेखशालाम् ।  
 जैनेन्द्रीं शब्दविद्यां पुरत उपदिशन् स्वामिनो देवतानां,  
 शब्दब्रह्मप्यमोघं स दिशतु भगवान् कौशलं त्रैशलेयः ॥१॥ (संस्कृतम्)

जो जोईसरपुंगवेहि हियए निचंपि ज्हाइज्जए,  
 जो सवेसु पुराणवेयपभिइमांघेसु गीइज्जए ।  
 जो हत्थट्ठियआमलं व सयलं लोकत्थं जाणए,  
 तं वंदे तिजयमुहुं जिणवरं सिद्धत्थरायंगयं ॥ २ ॥ ( प्राकृतम् )

देविंदाणवि वंदणिज्जचलणा सवेवि सबन्नुणो,  
 संजादा किर गोतमा अवि तथा जस्सप्पसादा दुते ।  
 सो सिद्धत्थमिहाणनूवदिसदो जोगिंदचूडामणी,  
 भवाणं भवदुक्खलक्खदलणो दिज्जा मुहं सासदं ॥३॥ ( शौरसेनी )

दुस्टे संगमके शुले भयकले घोलेवसग्गावलिं,  
 कुबंधेवि न लोशपोशकलुसं येणं कदं माणसं;  
 इंदे भत्तिपले ण णेह बहुलं योगीशलमगामणी,  
 शे वीले पलमेशले दिशतु मे नेडन्तपुत्तत्तणं ॥ ४ ॥ ( मागधी )

कंपंतक्खित्तिमंडलं खड्ढडप्फुट्टंतवंभंडयं,  
 उच्छट्टंतमहन्नवं फडयडतुट्टंतसेल्लायं ।  
 पातग्गेन मुमेल्लकंपनकरं बालत्तलीलावलं,  
 वीरस्स पहुणो जिनाण जयतु क्खोनीतले पायडं ॥५॥ ( पेशाची )

इहो वेदणरेसि जासु महया हल्लोहलेणागओ,  
जज्झाई मुणिहंसओ हियडए अक्खे निरुंभेविणु,  
साहु ब्रोप्पिणु जासु कोइ महिमा नो तीरए माणवो,  
पाए वीरजिणेसरस्सु नमहुं सीसल्लडे अग्ग्हे ॥ ६ ॥ (अपभ्रंशः)

आसाढे धवलाइ छट्ठि चवणं चित्तस्स तेरस्सिए,  
सुद्धाए जणणं सुक्किण्हदशमी दिक्खायमग्गरस्सिरे ।  
जस्सासी वइसाहसुद्धदसमी नाणं जणाणंदणं,  
मुक्खो कत्ति अमावसाइ तमहं षंदामि वीरं जिणं ॥

कणयसमसरीरं मोहमल्लेगवीरं, दुरियरयसमीरं पावदावग्गिनीरं;  
सुगहियभवतीरं लोअलंकारहीरं, पणमह सिरिवीरं, मेरुसेलेसधीरं ॥

जय जय जय जणवच्छल ! नवजलहरपवणवणयसमणयण नय-  
णमणपमयवद्धण ! धणकणयलक्खणयसमण ! ॥ १ ॥ समणमणभ-  
सलजलसय ! सयत्थसत्थत्थपयडणसमत्थ ! मत्थयनमंतनर वर ! वर-  
वरयवरंग गयसंग ! ॥ २ ॥ संगरगररससयगय ! गयमच्छर ! रयण-  
मयणदढजलण जलणजलसप्पभयहर ! हरहसधवलयरजसपसर ! ॥ ३ ॥  
सरणपवणसरत्तय नयसयगमरम्मसम्ममयसमय ! मयमयगल्लनहप-  
हरण ! रणरणयभयढभमसवत्त ! ॥ ४ ॥ वत्तसयवत्तगहवर ! वरक-  
लसलसंतसंखचक्कं ! कंकफलसरलनयण ! नयपमय असत्तअपमत्त !  
॥ ५ ॥ मत्तगयगमण ! गयमण मणगयसंसयसहस्सतमतवण तवण-  
यप्पहपहयर ! हयतमपरमपयनयरस्स ॥ ६ ॥ इय पढमसरनिवद्धं धण-  
क्खरं गहिय मुक्कयपयडुं भत्तीए संथवणं रइयं मुणिचंदमुणिणा ॥ ७ ॥

## ( वीरस्य चतुर्विंशदतिशयस्तवनम् )

श्रोस्तामि जिणवरिदे, अब्भुअभूएहि अहसंयगुणेहि, ते ति विहा  
साहाविय, कम्मक्खइआ सुरक्या य ॥ १ ॥ देहे विमलसुगंधं, आम-  
यपासेहि वज्जिअं अरअं, रुहिरं गोवखीराअं, निच्चित्तं पंडुरं मंसं  
॥ २ ॥ आहारा नीहारा, अदिस्ता मंसचक्खुणो, सययं नीसासो अ  
सुगंधो, जम्मप्पभिई गुणा एए ॥ ३ ॥ खित्ते जोयणमित्ते, जं जिय-  
कोडीसहस्साओ भाणं, सबसमासाणुगयं, वयणं धम्मावबोहकरं ॥ ४ ॥  
पुव्वुप्पत्ता रोगा, पसमंती ईयक्खरमारीओ, अइवुट्ठी-अणावुट्ठी, न होइ  
दुब्भक्खडमरं वा ॥ ५ ॥ देहाणुमगल्लमं दीसइ, भासंडलं दिणय-  
राअं, एए कम्मक्खइया, सुरभत्तिक्या इमे अत्ते ॥ ६ ॥ चळं छत्तं  
रयणज्झओ अ, सेयवरचामरा पडमा, चउमुहपायारतियं सीहासण  
दुंदुही असोगो ॥ ७ ॥ कंटय हिट्ठा हुत्ता, ठायंति अवट्ठियं च नहरोमं,  
पंचेव इंदियत्था, मणोरमा हुंति छप्पिरिऊ ॥ ८ ॥ गंधोदगं च वासं,  
वासं कुमुमाण पंचवण्णाणं, सउणा पयाहिणगई, पवणणुकूलो नमंति  
दुमा ॥ ९ ॥ भवणवद्-वाणमंतर-जोइसवासी-विमाणवासी-अ, चिट्ठंति  
समोसरणे, जहण्णयं कोडिमित्तं तु ॥ १० ॥ इंतेहिं जंतेहिं, बोहिनि-  
मित्तं संसयत्थीहिं, अविरहियं देवेहि जिणपयमूलं सयाकालं ॥ ११ ॥  
चउहा जम्मप्पभिइ, इकारस कम्मसंखए जाए, नव दस य देव जणिए  
चउतिसं अइएस वंदे ॥ १२ ॥ चउतीसजिणाइसया एए मे वण्णिआ  
समासेणं, दिंतु मम जिणवसमा सुअनाणं बोहिलामं च ॥ १३ ॥

## ( पञ्चविंशज्जिनघाणीगुणस्तवनम् )

जोअणगमद्धमागह सबसमासाणुवाइणि वाणिं, पणतीसपवरगुणकि-  
रणेण धुणिमो जिणंदाणं ॥ १ ॥ मेहमणोहरसुगुहिरनिम्भोसं १ वंस-

धंससोहिलं, २ मुहुमुहुरमालओसियपमुहरायरायं भवविरायं ३ ॥ २ ॥  
सक्यपमुहसलक्खण, सकारजुअप्पुडक्खरपयाई, गमाण.....चउ-  
वचारपरं ४ उदात्तसरं ५ ॥ ३ ॥ पडिरवपूरिअगयणंइ ६ सरलणु-  
कूलत्तओ सुदक्खिवणं ७ इअ सत्त सहअइसय.....सामि जिण-  
वयणं ॥ ४ ॥ तह अत्थासय अडवीसअइसयं अप्पगंधसुमहत्यं ९  
अवाहयाभिधेयं पुष्पावरचक्क अविरोहा ॥ ५ ॥ सिद्धत्थसूइसिद्धं सिद्धं  
व.....उत्तमाविकखं ३ परदूसणाविसयओ अवहरिन्नुत्तराइसया  
४ ॥ ६ ॥ संसय असंभवेणा संदिद्धं ५ सोअजणमणाइहरं ६ देस-  
द्धाइ पत्थावुचिअं ७ उदिअत्थत्तपरं ८ ॥ ७ ॥ अविक्किण्णपसरि-  
अमसंदिद्ध धिकारातिवित्थरविओगा वरसबंधपसरणा ९ मिहपइवक्काइ  
सकखं १० ॥ ८ ॥ अइमिद्धमहुरिमगुणं सुहियं संबेसिं घयगुडाइव  
११ नियविसए कयसोआरलोअवित्थिण्णअच्छरिअं ॥ ९ ॥ जमगा-  
इगुणविसेसो अत्तुच्छ अभिधेअओ वुदारत्थं अप्पयपरभूमि अणुसारि  
द्वैसणाइहिं अभिजायं ॥ १० ॥ तिहुअणपरसंसणिज्जं परमंमावेहयं च  
अविलंबं, १७ सथुइपरनिंदरहिअं १८ धम्मत्थब्भासपडिवद्धं ॥११॥  
लिंगवयणकालतिए परुक्खपच्चक्खवकारगाज्जत्थो, उवणयवयणचउके  
अविपरीअत्थं अत्तुरिअं च ॥१२॥ पत्थिअवत्थिसरूवा वण्णणाणेगजाइ  
सुविचितं २२ चत्तपयवण्णवक्कं २३ वयणंतरओ विसेसजुअं ॥१३॥  
अभिधेएमणभंती अविब्भमोणादरो अविक्खेवो, किलिक्किंचिय मिच्छा-  
भय रोसायसुजुगवमसइकरणं च ॥ १४ ॥ इअ विब्भामाइमण-  
दोसविरहिअं सत्तसाहसोवेअं आ अत्थसिद्धिमच्छिन्नहेउमायासरहिअं  
२६ च ॥ १५ ॥ इअ सबवयणपणतीसइसयसाहिअवओ जिणो  
थुणिओ, सद्धम्मकित्तिविज्जाणंदयरं.....हेउगिरं ॥ १६ ॥

जियमोहमहावीरो चरमो 'तिल्यंकरो' 'महावीरो' ।

असमसमो असमसमो निरंतरं कुण्ड कछाणं ॥ १ ॥

श्रीवीरसप्तविंशतिभवस्तोत्रम्

तिसळासिद्धत्थसुअंसीहंकं सत्तहत्थ कणयनिहं, भवसत्तावीसकह-  
णेणं, बद्धमाणं शुणामि जिणं ॥ नयसारो सुग्गामे पदमे १ चीप् भवे  
पहु ! सुहम्मे २ । तइए मरिइ तिदंडी ३, विणिआइ चउत्थए चंभे  
४ ॥ कुत्तागि कोसिअदिओ, पंचमि ५ संसारचउरलठुभवे ६ ।  
थूणाइ पूसमिचो सत्तमि ७ सोहम्मि अठुमए ८ ॥ नवमे अग्गिज्जोओ,  
चेइअगामम्मि ९ दसमि ईसाणे १० । इग्दसमि अग्गिभूइ, मंदिरि ११  
वारसमि सणकुमारो १२ ॥ तेरसमे १३ सेअविआ, भारद्वाओ मर्हिद  
चउदसमे १४ ॥ रायगिहि धावरदिओ, पत्तरसमे १५, सोल्लसे बंभे  
१६ ॥ रायगिहि विस्सभूइ, सत्तरसि १७ अट्टारसे महासुक्को १८ । गुण-  
वीसे योअणपुरि, तिविट्ठु १९ वीसे तमतनाए २० ॥ पहु ! इग्गवीसे  
सीहो, २१ पंकाइ दुवोसमम्मि २२ तेवीसे । मूआपुरि पिअमिचो  
चकी २३, सोहम्मि चउवीसे २४ ॥ पणवीसे छत्तग्गाइ, नंदणो २५  
पाणयम्मि छवीसे २६ । सच्चियकुंडग्गामे, सत्तावीसे महावीरो २७ ॥  
मग्गत्तिरवइदसमि वयं कत्तिअमावसि सिवं सिआसाडे, छट्ठि जुइ  
विसाहदसमी नाणु भवो चिततेरसिप् । इअसिरिवीरजिणंदो शुणिओ  
भत्तिअभरनमिरदेविंदो, वरधम्मकित्तिविद्धि विज्जाणं देउ मह सिद्धि ॥

श्रीमहावीरस्तोत्रम्

जइज्जा समणो भयवं, महावीरे जिणुत्तमे । लोगनाये सयंबुद्धे,  
लोगंतिअविबोहिप् ॥ १ ॥ वच्छरं दिण्णदाणोहे संपूरियजिगासप् ।  
नाणत्तयसमाउत्ते, पुत्ते सिद्धत्थराइणो ॥ २ ॥ चिच्चा रज्जं च रइंत्त,

पुरं अतिउरं तहा । निक्खमिच्च अगाराओ, पवइए अणगारियं ॥३॥  
 परीसहाण नो भीए, भेरवाण स्वमाखमे । पंचहा समिए गुत्ते, बंभयारी  
 अकिंचणे ॥ ४ ॥ निम्ममे निरहंकारे, अकोहे माणवज्जिए । अमाए  
 लोभनिम्मुक्को, पसंते छिन्नबंधणे ॥ ५ ॥ पुक्खरं व अलेवे अ, संखो  
 इव निरंजणे । जीवे वा अप्पडिग्घाए, गयणं व निरासए ॥ ६ ॥  
 वाएवा अपडिबद्धे, कुम्भो वा गुचइंदिए । विप्पमुक्को विहंगुध,  
 खग्गिसिगवएगगे ॥ ७ ॥ भारंडे वाऽपमत्ते य, वसहेवा जायथामए ।  
 कुंजरो इव सोंडीरे, सिंहो वा दुद्धरिस्सए ॥ ८ ॥ सागरो इव गंभीरे,  
 चंदो वा सोमलेसए । सूरु वा दित्ततेउल्ले, हेमं वा जायरूवए ॥ ९ ॥  
 सव्वंसहे धरिच्च घ, सायरिंदुध सच्छहे । सुद्धु हुअहुआसव्व, जलमाणे  
 य तेयसा ॥ १० ॥ वासी चंदणकप्पे य, समाणे लेट्टुकंचणे । समे  
 पूयावमाणेसु, समे मुक्खे भवे तहा ॥ ११ ॥ नाणेणं दंसणेणं च,  
 चरित्तेणयणुत्तरे । आलएणं विहारेणं, मह्वेणज्जवेण य ॥ १२ ॥  
 लाघवेणं च खंतीए, गुचीमुत्ती अणुत्तरे । संजमेण तवेणं च, संवरेण  
 मणुत्तरे ॥ १३ ॥ अणेगगुणमयाइण्णे, धम्मसुक्काण ज्ञायए । घाइ-  
 क्खएण संजाए, अणंतवरकेवली ॥ १४ ॥ वीयराएय निग्गंथे, सव्वन्नू  
 सव्वदंसणे । देविंददाणविदेहिं, निघत्तियमहामहे ॥ १५ ॥ सव्वभा-  
 साणुगाए य, भासाए सव्वसंसए । जुगवं सव्वजीवाणं, छिदिउं भिच्चगोयरे  
 ॥ १६ ॥ हिए सुहे अ निस्सेसकारए पावपाणिणं । महव्वयाणि पंचेव,  
 पण्णावित्ता समावणे ॥ १७ ॥ संसारसायरे बुद्धजंतुसंताणतारए ।  
 जाणव्व देसियं तित्थं, संपत्ते पंचमिं गइं ॥ १८ ॥ सेसिवे आलये  
 निच्चे, अरुये अयरामरे । कम्मप्पवंचनिम्मुक्के, जएवीरे जए जिणे  
 ॥ १९ ॥ से जिणे चद्धमाणे य, महावीरे महायसे । असंखदुक्ख-



स्त्रिणाणं, अम्हाणं देउ निब्बुइं ॥ २० ॥ इअ परमपमोआ संधुओ  
वीरनाहो, परमपसमदाणा देउ तुल्लत्तणं मे । असमसुहदुहेसुं सग-  
सिद्धिभवेसुं, कणयकयवरेसुं सत्तुमित्तिसु वा वि ॥ २१ ॥

१. पयडीव सइ पह्माणं, सीसेहिं जिणेसराण सुगुरूणं ।

२. वीरजिणथुयं एवं, पढ्ढ कयं अभयसूरीहिं ॥ २२ ॥

परिशिष्ट नं० ३-वीरस्तुतिः-संस्कृतस्तोत्रविभागे

नमदमरशिरोरुहसंस्तसामोदनिर्निद्रमन्दारमालारजोरजिताहि धरित्री-  
कृतावन वरत्तम संगमो दारतारोदितानङ्गनार्यावलीलापदेहेक्षितामोहि-  
ताक्षो भवान् । मम वितरतु वीर निर्घाणशर्माणि जातावतारो धरा-  
धीशसिद्धार्थधाम्नि क्षमालंकृता, -वनवरत्तमसङ्गमोदारतारोदितानङ्गना-  
र्याव लीलापदे हे क्षितामो हिताक्षो भवान् ॥१॥ समवसरणमत्र यस्याः  
स्फुरत्केतुचक्रानकानेकपद्मेन्दुखचामरोत्सर्पिसालत्रयी, सदवनमदशोक-  
पृथ्वीक्षणप्रायशोभातपत्रप्रभागुर्वराराट् परेताहितारोचितम् । प्रवितरतु  
समीहितं सार्हतां संहतिर्मक्तिभाजां भवाम्भोधिसम्भ्रान्तमव्यावली सेवि-  
ता-सदवनमदशोकपृथ्वीक्षणप्रा यशोभातपत्रप्रभागुर्वराराट्परेताहितारो-  
चितम् ॥ २ ॥ परमततिमिरोप्रभानुपभा भूरिभंगेर्गभीरा भृशं विश्ववर्ये  
निकास्ये वितीर्य्यात्तरा, महति मतिमते हि ते शस्यमानस्य वासं सदा  
तन्वतीतापदानन्दधानस्य सामानिनः । जननमृतितरङ्गनिष्पारसंसारनी-  
राकरान्तनिर्मञ्जजनोचारनौर्भारतीतीर्थकृत, महति मतिमतेहितेशस्य  
मानस्य वा संसदातन्वती तापदानं दधानस्य सा मानि नः ॥ ३ ॥  
सरमसनतनाकिनारीजनोरोजपीठीलुठचारहारस्फुद्द्रश्मिसारक्रमाम्भोत्रहे,  
परमवसुतरङ्गजा रावसन्नाशिताराति, भाराजिते भासिनी दारतारा

बलक्षेमदा । क्षणरुचिरुचिरोरुचञ्चत्सटासकटोत्कृष्टकण्ठोद्भटे सखिते  
भव्यलोक त्वमम्बाम्बिके, परमव सुतरा गजारावसन्ना शितारातिभा  
राजिते भासिनीहारताराबलक्षेऽमदा ॥ ४ ॥

### वीरस्तव

त्रिजगदीक्षण ! केसरिलक्षण ! क्षणमपि प्रभुवीर ! मनोगिरौ ।  
गुणगणान्मम मास विरज्यतामुदयिता दयितादयि तावकात् ॥१॥  
भृशमदभ्रमदभ्रमदभ्रमप्रथमन सुमन सुमन स्तुत,  
असुमत सुमत सुमतोऽवदातपरम परमश्वरमो जिन ॥ १ ॥  
चलनकोटिविघट्टनचञ्चलीकृतसुराचल ! वीर ! नगद्गुरो !  
त्रिभुवनाशिवनाशविधौ जिनप्रभवते भवते भगवन् ! नम ॥ १ ॥  
जयति य सुरसङ्गममानहत्, जगति वीरजिनो जगतीसुहृत् ।  
भवतु भीतिहरो मम सर्वदा, स शरण शरण गुणसम्पदाम् ॥१॥



महानन्दशुद्धाश्रित देवदेव, महीनाथसिद्धार्थपुत्र पवित्रम् ।  
यथाकामित दत्तवार्षिक्यदान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥  
चतुष्पष्टीदेवेन्द्रयोगीन्द्रबन्ध, सुधाशालिसशुद्धवाक्य वरेष्यम् ।  
दयासागर शुद्धसन्मार्गयान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥  
अनन्तोत्तरज्ञानचारित्रलीन, जरारोगसम्मोहसन्तापहीनम् ।  
क्षणोद्भूतनिर्मूलमायावितान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥  
शमस्वादपाथोधिससर्गसक्त, सदा कर्ममर्मप्रपञ्चप्रमुक्तम् ।  
प्रचण्डप्रतापेन भास्वत्समान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥  
मनोहारिकल्याणवर्ण विशाल, विदीर्णान्तरारिप्रणालि कृपालम् ।  
गमीर विशालैर्गुणैर्वर्धमान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥

जगज्जीवसन्दोहजीवादिभूतं, भवभ्रान्तिरिक्तं नमत्राकिभूतम् ।  
 लसत्सर्गिनिर्घाणलक्ष्मीनिदानं, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिने वर्धमानम् ॥  
 इत्थं भक्तिवशेन मुग्धमतिना श्रीवर्धमानः स्तुतः, प्रोद्यद्देहपवि-  
 त्रकान्तिकलितः श्रीज्ञातपुत्रो जितः । याचे नैव कलत्रपुत्रविभवं  
 नो कामभोगश्रियं, किन्त्वेकं परमोत्तमं शिवपदं श्रीबालचन्द्रार्चितम् ॥

॥ ( वीरजितस्तवनम् )

विश्वश्रीद्ध ! रजश्छिदे गरिमदत्यादर्पनाशे क्षमं,  
 सद्वाचं स्तुवयाध्रवं परिहरन् क्ष्मासूर्य ! दुःखक्षमम् ।  
 निस्तन्दं तपनद्धसुं दुरितसूदारिवध ! वीर ! स्थिरं,  
 रम्भश्रीविरसोऽसकामनिकृति मद्राल्यं शङ्करम् ॥ १ ॥

। [ चतुर्गुणेश्वरं चक्रम् ]

तनुते यन्नुते जन्माजिद्राजा मुदिता दुःखम्  
 तं स्तुवे वीरतन्द्राजिमयं भावेन भासता ॥ २ ॥ [ मुशलम् ]

ततयास्त्रनृणां मुक्त्यै, या नीरुक्तनवे नता ।  
 त्तरभोगार तापास स पाताक्षर रक्ष ताः ॥ ३ ॥ [ शूलम् ]

तुतकृष्णबलीलाडलीलाब्ज श्रीवरा रवाः ।  
 ताररावेश्रुतौ वीर खीद्वाम सुरास्त्रव ॥ ४ ॥ [ शङ्खः ]

तज्ज्ञासदमलेक्ष्वाकुविंशजेषुः शर्मिस्तव ।  
 वरेष्यान्न विधेश, शरणं शुशुखेच्छवः ॥ ५ ॥ [ श्रीकरी ]

तन्शमीश विशस्तवालम्बदन्त घनारव ।  
 वधवह्या बन्धिवधो, वरिवत्सि वशी वरः ॥ ६ ॥ [ चामरम् ]

तरणे चिररूढामतमस्तु वरणादरः ।  
 रसिकस्त्रव भूयासि, सेवनेऽनल्पमानसः ॥ ७ ॥ [ हलम् ]

तत्यजेऽत्र तकाश्चण्डपाश्वेभिन्द्रस्तुताहस ।

सर्वदोषैस्तत्क्षयाशां, शान्ताघ ददतो विशाम् ॥ ८ ॥ [ भङ्गम् ]

तरीवाचरसि ज्ञानोदारनि.शेषभूसृष्टशाम् ।

शान्तिस्तुष्टिकरापारभवाब्धौ विश्ववन्दित ॥ ९ ॥ [ घनुः ]

तम्यतिक्रम्यतेऽत्यन्तमोहदुःखमयीशितः ।

तवेन सेवयाऽवश्यं, भवैः स्थिरशिवस्थित. ॥ १० ॥ [ शम्यां खङ्गः ]

तमहं विनमामीततन्द्र वीर सतां मत ।

तपो यस्त्वं व्यधा विश्ववित्तं वीतरिपोऽतमः ॥ ११ ॥ [ शक्तिः ]

तपः शमरमारामतर श गुणसत्तम ।

मम गुप्तश्रिताधीश ! मरणक्लेशहृदिश ॥ १२ ॥ [ छत्रम् ]

तविषे लसत्यमोहाशय चारुरुचायशः ।

शकाली त्वन्नतेर्ज्ञानभासुराऽपपरा सुमी. ॥ १३ ॥ [ रथपदम् ]

तवीत्यवीतसाराज्ञा प्राणिना प्राप्तमीः शुभा ।

भाराशेऽशेषभावारीन् शिवदा तव रंहसा ॥ १४ ॥ [ पूर्णकलशा ]

तत्वसार तरसा ना त्वयि राज्य दधीरसा ।

साराद्भुतेऽमोहधीरा रज्यते वीर मोदतः ॥ १५ ॥ [ अर्धभ्रमः ]

तरसाऽस्तमोहत्वेत तत्वेह प्रशमान्वित ।

तन्विमान्यवनीतात ततानीष्टान्यसारत ॥ १६ ॥ [ कमलम् ]

तवाही वन्दते साऽनुकम्प यः साऽय भाक्तः ।

तस्य नानागुणस्याऽन्यो, नम्यो नोदितैतसः ॥ १७ ॥ [ शर. ]

तत्परः सतत शिश्रीपामि त्वां दारितांहसम् ।

सम्पदादाऽपसंसार, रसाऽसन्तमसं मत ॥ १८ ॥ [ त्रिशङ्कम् ]

नमाऽनाश्रितशर्मासु, नेहमन्ददयान्वित ।

तथा त्वचः सुरेश त्वं, केतुबोधिवियं हितः ॥ १९ ॥ [वज्रम्]

यस्तेऽष्टावशचित्रचक्रविमलं वीर ! त्वं सश्रियं,

भक्त्यैवं कुलमण्डनोऽतत महाज्ञानातनुश्रीशुभ !

मुक्तश्रीयुतचन्द्रदोस्तरगुरुभाज्यमसादादमु,

तं तात्तात वरः स शान्ततम श भासा ततः सन्ततम् ॥ २० ॥

[ परिधिकाव्यम् ]

चकाऽयोमुखशूलशंखसहिते सुश्रीकरीचामरे,

सीरं भल्लशरासने असिखता शक्तयातपत्रे रथः ।

कुम्भार्धअनपङ्कजानि च शरस्तस्मात् त्रिशूलाशनी,

चित्रैरेभिरभिष्टुतः शुभधियां वीर ! त्वमेधि धिये ॥ २१ ॥

इति वीरस्तवः

( अथ वीरस्तवनम् )

चित्रैः स्तोत्र्ये जितं वीरं, चित्रवृत् चरितं मुदा ।

प्रतिलोमानुलोमाद्यैः, स्वप्नाद्यैश्चातिचारुभि ॥ १ ॥

चन्देऽमन्ददमं देवं, यः शमाय यमाञ्जयः ।

नायेनष घना येनापाकृता ममताकृपा ॥ २ ॥

[ प्रतिलोमानुलोमपादः ]

दासता तव भागारा, न चेयायमतामस ।

समतामययाचेन रागाभावतता सदा ॥ ३ ॥ [ अनुलोमप्रतिलोमः ]

वरदानवरादिन्व न्वदिरावनदारव ।

याज्यदेव भयान्यास सन्याया भवेदेज्यया ४ ॥ [ अर्धप्रतिलोमानुलोमः ]

- श्रीद वीर विरेभ त्वं दमिताक्षं गताऽशुभ ।  
 वीभाक्षमारम्भितारे रक्ष मां सदरं गवि ॥ ५ ॥ [ अर्धभ्रमः ]  
 गीरता जनता रन्दे ! धीरतास्थिरतारसा ।  
 सारतारश्रुताऽवन्ध्या, सुरताजनतावकी ॥ ६ ॥ [ मुरजबन्धः ]  
 ये पश्यन्ति तवेहास्यारविन्दं भक्तिबन्धुराः ।  
 न पतन्ति भवे शस्यास्ते विदो भगवन्नराः ॥ ७ ॥ [ गोमूत्रिका ]  
 नमासाररसामान भारिताक्षक्षतारिना ।  
 सातामयायामतासारक्षया म महाक्षरः ॥ ८ ॥ [ सर्वतोभद्रः ]  
 तिर्यगूनरसुराकीर्णा भासतेननते समा ।  
 त्वन्माहात्म्याल्लूताश्चर्ये या श्रिता ततता श्रिया ॥ ९ ॥ [ पदम् ]  
 रेगौराङ्गोरुगीर्गङ्गगौरीगुरुरोगरुक् ।  
 गोरंगागाररागारिरैरैरैरै गुरुं गिरिम् ॥ १० ॥ [ द्व्यक्षरः ]  
 लललालोललीलालं ततता ततिता तते ।  
 ममाममामममुमाऽननानेनोननानन ॥ ११ ॥ [ प्रकाक्षरपादः ]  
 कककिकाककंकौकः केकाकोकककेकिकम् ।  
 कककाकुककोकैकककुः कौकककांककाम् ॥ १२ ॥ [ एकाक्षरः ]  
 मरुभूमौ तप ऋताविव चारुसरोवरम् ।  
 कुतः सुकृतहीनानां सुलभं तव शासनम् ॥ १३ ॥ युगं [ असयोगाक्षरः ]  
 सारणिः पुण्यवन्ध्याया ज्यायमौक्तिरुशुक्तिक (!)  
 कामधेनुर्नयविदां, बोधोद्भासनसालसा ॥ १४ ॥  
 सारं स्वाद्वादमुद्रायास्त्रिपदी भवतोऽञ्जसा ।  
 सा मे सुहृदि कान्तैकाखिलेन रहितैनसा ॥ १५ ॥ [ द्वाभ्यां स्वङ्गः ]

श्रीसिद्धार्थकुलव्योमदिवाकर ! निरञ्जन !

न के क्षतैकान्तवादिमतं तीर्थं तव श्रिताः ॥ १६ ॥ [ मुशल्म् ]

का या त्वयि भव्याली धन्या धत्सेत्त चेतसा ।

मत्वा तामरसाकामकासा गङ्गासागरम् ॥ १७ ॥ [ त्रिशूलम् ]

त्रिशलाकुक्षिपाथोजराजहंस ! जगद्धिमो !

भोगास्तृणमिव त्यक्त्वास्त्वया मोक्षदिदृक्षया ॥ १८ ॥ [ हल्म् ]

सुरासुरनरास्तुभ्यं, नमस्तन्ति जिनोत्तम !

मनःप्रसादसन्दर्भे (!) दलिताऽऽशुभवासनाः ॥ १९ ॥ ( धनुः )

कथं कर्तुं जनो मोहव्यपोहमहह क्षमः ।

मनसा सादरं यस्त्वां, न स्त्रौति तिमिरापहम् ॥ २० ॥ ( शरः )

बाल्ये मेहशिरः कम्पसम्पत्प्रथितविक्रमः ।

मनोज्ञोऽनोकहव्याल ! मम स्वामी भवाऽऽभवम् ॥ २१ ॥ ( शक्ति )

मानितायकमामार रमागकन्दमाधव !

वधमार्गे ममाकास सक्रामा धीः प्रतानिमा ॥ २२ ॥ [ अष्टदलकमलम् ]

वन्ययान ! धनस्वान ! ध्यानमौनकनद्धन !

ज्ञानस्थान ! जिन ! श्रीन ! धनमेन. 'स्नस्व'नः ॥ २३ ॥

[ षोडशदलकमलम् ]

जय हेमवपुः श्रीक ! जगन्मोहापहारक !

जराहिवीनसिंहाङ्क ! जन्मनीराधिनाविक ॥ २४ ॥

[ स्तुत्यनामगर्भे वीजपूरम् ]

तुभ्यं नमोऽनुत्कनयस्थितिकाय भीतिवन्त्यासु पावक ! सुरस्तुत !

वीर ! नेतः । विद्यालताविपुलमण्डप ! हेमरूप ! कल्याणधीकरणदक्ष

नतेदमीन ॥ २५ ॥

[ हारवन्धः ]

भग्नोक्त्यपथो जिनेश्वरवरो भव्याब्जमित्रः क्रिया-  
दिष्टं तत्त्वेविगानदोपरहितैः सूक्तैः श्रवस्तर्पणः ।  
जन्माचिन्त्यसुखप्रदः सुरचितारिष्टक्षयो व्रः सदा,  
दाता शोभनवादिधीः कजदलयामेक्षणः संविदा ॥ २६ ॥

[ कविनामगुप्तः ]

श्रीमद्वामसमग्रविग्रह मया चित्रस्तवेनाऽमुना,  
नूतस्त्वं पुरुहूतपूजित ! विमो ! सद्य प्रसचैधि माम् ।  
ख्यातज्ञातकुलावतंस ! सकलत्रैलोक्यकूसान्तर-  
स्फारकूरतरज्वरस्मरतरत्संरब्धरक्षारतः ॥ २७ ॥

वीरस्तवः

मुक्तोमन्दोदयोर्बी शमद कलकलाऽऽसातमोहारिदोऽश्री-  
मुक्तोमन्दोदयोर्बीश मदकलकलासाऽतमो हारिदोश्रीः ।  
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयभयासामहीनः सुधीरा-  
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयभया साम हीनः सुधीरा ॥

प्रवरकुण्डनराधिपनन्दनं, वरमहाव्रतपञ्चविकाशकम् ।

कृतसुराधिपमोक्षमहोत्सवं, चरमतीर्थपतिं सुतरां स्तुवे ॥ १ ॥

कणयसमसरीरं मोहमल्लेगवीरं, दुरियरयसमीरं पावदावग्निनीरम् ।  
सुगहियभवतीरं लोअलंकारहीरं, पणमह सिरिवीरं मेरुसेलेसधीरम् ॥

त्रिदशविहतमानं सप्तहस्तांगमानं, दलितमदनमानं सद्गुणैर्वर्धमानम् ।  
अनवरतममानं क्रोधमत्यस्यमानं, जिनवरमसमानं संस्तुवे वर्धमानम् ॥



भक्तितो मतिजुषो भजन्ति यं, वर्धमानमहमानमामि तम् ।  
जन्तुजाततमसो निशातनं, वर्धमानमहमानमामितम् ॥

श्रीवर्धमान नतमानमशोध यन्ति, सैरं यशासि भुवन तत्र शोधयन्ति ।  
बुद्ध्या चकोरनिकरा शतशो धयन्ति, चन्द्र शुतामपरदेवयशोधयन्ति ॥

मोहादतीतस्य तवेश ! वीर ! सुधीर ! सौभाग्यमुदग्रभायात् ।  
मुक्त्यंगनालोमन ! यः स्तुते स, सुधीरसौ भाग्यमुदग्रभायात् ॥१॥

( वीरस्य सप्तविंशतिभवोत्कीर्तनस्तवचनम् )

पूर्वं त्वं नयसारभूपति १ रभूः सौधर्मवृन्दारक २ श्युत्वा नाम  
मरीचि ३ रत्र सुमनाः स्वेपञ्चमे ४ क्रौञ्चिकः । ५ देवः प्राग्दिवि ६  
पुष्पमित्र ७ इति यः सौधर्मकरूपे सुरो ८ ऽभिद्योत ९ स्त्रिदशो  
द्वितीयतविषे १० पिप्रोऽभिभूत्याह्वयः ॥ ११ गीर्वाणस्तु सनत्सुमारत्त-  
विषे १२ विप्राम्रणीर्नामतो, भारद्वाजगृही १३ चतुर्थतविषे लेसो  
१४ द्विज.स्वावरः । १५ नाकी पचमके सुरालयवरे १६ श्रीविश्व-  
श्रुतिर्नृपः, १७ शुक्रे निर्जरकुंजरो १८ ऽत्र भरते विष्णुस्त्रिपृष्ठोऽ-  
भवः १९ ॥ सप्तम्यां भुवि नारको २० मृगपति २१ स्तुर्यावनौ नारकी,  
२२ चक्री च प्रियमित्रक २३ सुरर्वर. शुक्रे २४ नृपो नन्दनः २५ ।  
श्रीपुष्पोत्तरके विमानकवरे श्रीपाणतस्वर्गगेनाकी २६ कीर्तितसप्तविंश-  
तिभवो भूयाः स वीरः ! श्रिये ॥ ( त्रिभिर्विशेषकम् )

( शासनाधीशवर्द्धमानजिनस्तवचनम् )

श्रीत्रिशल्य ! श्रितशुद्धजापकलो भवन्तं जिन ! यो जजाप । महा-  
मतिरोपितसर्वपापलतो न वंकोऽपि नरः शशाप ॥ १ ॥ विद्यासकृद्भूयत्य

मनस्यपापजनिर्भवान् स्वीयवचांस्युवाप । यतिप्रियः क्षितविश्वतापशिलं  
वचः शीततमं ललाप ॥ २ ॥ शुभा भवदृष्टिरितानुतापहेला जनं यं  
भगवन्नवाप । मत्ताशयः कोऽपि न हि प्रलापविपत्तिपत्तिस्तमरिस्तताप  
॥ ३ ॥ जज्ञे भवान् वीर ! लसत्कलाप ! यस्याशये प्रीणितसत्कलाप ।  
कृत्येष्वनैपद्विबदीयलापतिग्मधुतिस्तं प्रणताचलाप ! ॥ ४ ॥ इति  
मुदितमनस्को भूर्धगाचार्यनामाऽक्षरकमलनिबन्धैर्वन्धुरैः संस्तुतो यः ।  
कमलविजयसङ्ख्यावद्विनेयाणुरेणौ, स भवतु मयि देवो दत्तदृष्टिः  
सतुष्टिः ॥ ५ ॥ इति षोडशदलकमलबन्धवन्धुरं श्रीशासनाधी-  
शवर्धमानजिनस्तवनम् ॥

अनवरतममरनरवरशतनतपदकमलयमल ! मलदलन ! अनपशद-  
चरणचयमय ! ततरभरधरणधवल ! जय ॥ १ ॥ जयसरसवचनवश-  
जन ! समधन ! सदवयवसरलकरचरण ! जलजदलनयन ! गतमल !  
शशधरवरवदन ! गजगमन ॥ २ ॥ जय सदय ! सनय ! भवदवकवलन  
[ शमन ] नवजलदसमयसम ! अचलवल ! सकलभयहर ! शमदमल-  
यभवन ! जगदवन ! ॥ ३ ॥ अदमतमकरणगजगणस्वरतरस्तरनस्तर-  
नस्तरभवधरण ! अवतमसमसममेधमयमपहर मम समयतपनपद !  
॥ ४ ॥ हतसततभवजगमचर मत कर लसदभय दहन क्रमनग !  
अपनय मम भवरसमरमशरणजनशरण ! गतमरण ! ॥ ५ ॥ असदय-  
वशभवदवकरगतरसदलपटलहरणस्तरपवन ! मम वचनमनसमहमह-  
रवतर कनकनगवदतरल ॥ ६ ॥ जनमथनमदनधनमदफणधरगरल-  
दरदमनपतगवर ! हतशकलमव मम जननजलगतलवणकगवदमलय  
॥ ७ ॥ नमदमलनयनकजवनदशशतकरवहलगहनभवदहन ! अकरणगम-

परवलरणजयभट ! जय परमपदसदन ! ॥८॥ इति भक्तिरचित-विमला-  
क्षरमालया महावीर ! शुभभावदेवसुरिस्तुत ! केवलमक्षरं देहि ॥९॥

त्वया जितान्यदेवद्विवर्षमानप्रभावतः । त्वयि देवाधिदेवत्वं वर्द्ध-  
मान ! प्रभावतः ॥ १ ॥ जातलक्ष्मीं तमो हर्तुं, वर्द्धमान ! प्रभो !  
दयाम् । देहिमद्य' विधेहि त्वं वर्द्धमानप्रभोदयाम् ॥ २ ॥ वीरो  
जिनपतिः पातु, तन्वानः काञ्चनश्रियम् । विभ्रल्लभ्रेषु निस्तीर्णा तन्वा नः  
काञ्चन श्रियम् ॥ ३ ॥ वरिवस्यति यः श्रीमन्महावीरं महोदयम् ।  
सोऽश्रुते जितसम्मोहमहावीरं महोदयम् ॥ ४ ॥

### धीवीरजिनस्तवनम्

- जय श्रीसर्वसिद्धार्थ ! श्रीवीर ज्ञातनन्दन ! सुमेरुधीर ! गम्भीर !  
महावीर ! जिनेश्वरः । ॥ १ ॥ योऽप्रमेयप्रमाणोऽपि, सप्तहस्रप्रमोषितः,  
पूर्णेन्दुवर्ष्यवर्णोऽपि स्वर्णपर्णसवर्णकः । ॥ २ ॥ सदृशं कौशिके शक्रे,  
सर्पे च कमसंस्पृशि । पीयूषवृष्टिस्रष्टा यं, दृष्टा दिष्टा विदुर्बुधाः  
॥ ३ ॥ विष्टपत्रितयोत्सगरङ्गदुत्तुङ्गकीर्तिना, स्नाथ येन नाथेन, विश्वं  
विश्वम्भरातलम् ॥ ४ ॥ यस्मै चक्रे नमः सेवाहेवाक्रोत्सुकमानसैः ।  
वीराय गतवैराय, मर्त्यामर्त्यासुरेश्वरैः ॥ ५ ॥ यन्नाद्वेयादयो दोषाः,  
क्षिप्रं क्षीणाः क्षमासनेः । दोषा पूषमयूखेभ्य, इव हर्यक्षलक्षणात्  
॥ ६ ॥ यदेह्युतिसन्दोहसन्द्रेहितवपुर्दधौ, रविः स्वघोतपोतपुत्याडम्बर-  
विडम्बनाम् ॥ ७ ॥ भविनां यत्र चिचसे, स्युर्धाष्टद्विसिद्धयः । तं वर्ध-  
मानमानौमि, वर्धमानमुभावन- ॥ ८ ॥ इति यत्ने वास्तवं पठति धीर !  
जिनचन्द्र ! जातोमात्रः । वात्यपवर्गं स द्रुतमस्यगर्धारिर्गर्गजयी ॥९॥

सकलकमलदलकरपदनयन ! प्रहृतमदनमद ! भवभयहरण ! सत-  
 तममरनरनतपदकमल ! जय जय गतमद ! मदकूलगमन ! ॥ १ ॥  
 अमलकनकनगवर ! गतरमण ! क्षतजननमरण ! शमरससदन ! श्रमण-  
 कमलवनतपन ! गतभव ! भवभयमपहर मम जनमहन ! ॥ २ ॥ अभ-  
 यद ! भवदरजलधरपवन ! सबलमदनवनदहनजलधर ! व्यपगतमद !  
 शशधरवर वदन ! जगदघहर ! जय ततनयसमय ! ॥ ३ ॥ तरलकरण-  
 ह्यवरदमनकर ! कनककजनवकगमन ! वरवचः ! प्रथमपरमपदमप-  
 दर धवलध्वज ! धनघनवररव ! जनशरण ! ॥ ४ ॥ परमपद-  
 रमण ! कमनकजरद ! शशधरकरहरनगधवलयशः परमतकजगज !  
 सकलजनमनः फलकरलसदमरनग ! रचय शम् ॥ ५ ॥

सिरिवद्धमाण सिरिवद्धमाण सिरिवद्धमाण जिणचंद । परमाणव पर-  
 माणव परमाणवर्णसि वेदिज्जा ॥ १ ॥ सुहसायर सुहसायर सुहसायर  
 भवसमूहनिम्महण ! जयणायग जयणायग जयनायगइं निवारिज्जा ॥ २ ॥  
 रयणायर रयणायर रयणायर नाणदंसणसिरीणं, सुरमोहण सुरमोहण  
 सुरमोहणयं पयं कुज्जा, ॥ ३ ॥ सरणागय सरणागय सराणागंय वज्ज-  
 पंजरपइड्ड, कमलासण कमलासण कमलासण सरिसमहहुज्जा ॥ ४ ॥  
 सबविजय सबविजय सबविजय थुणियगरिड्डपहो, महसययं महसययं  
 महसययं सिवपयं नयसु ॥ ५ ॥

परिशिष्ट नं० ४-हिन्दी कविता विभाग

(महावीर प्रभाती)

श्रीमहावीरजी कृपा करो अब, मैं आधीन तुम्हारा ॥टेक॥ सिद्धार्थराजा के  
 नन्दन, त्रिशला अगज प्यारा ! कंचनवरणी क्या सोहे, रहे जगत् से न्यारा

आयंविंश उन्नीस उदार ॥ ६ ॥ नित भोजन वीरजीए नहीं करो, न  
 लियो चौथो आहार । थोडो तप बेलो कियो, सगलो तप चौविहार ॥ ७ ॥  
 मनुष्य पशु देवे जे दिया, सहा परिषद ते आप, दोय घडी उपरांत नींद  
 नवी लही, पद् दोय तेरे पाख ॥ ८ ॥ वीरजी कीधां तीनसे पारणा, अने  
 बली उन्नपंचास, इण बडे स्वामी केवल पामियो, विचरना देश मंशार  
 ॥ ९ ॥ बारा परिषद नर नारी सांभळे, वीर तणो समास, शूरवीरोए तप  
 कियो, पद् ऋतु मन हुलास ॥ १० ॥ गणधर ग्यारा-जाणिए, चवदा  
 सहस्र अणगार, सहस्र छतीस वीरजी रे साधियां, ते प्रणमूं मुखकार  
 ॥ ११ ॥ लाख थावक पडिमाधरे, ऊपर उन्नसठ हजार, तीन लाख तेहनी  
 श्राविका, अरुपुनी सहस्र अठार ॥ १२ ॥ धन्य त्रिशूलदेवी मातने, धन्य  
 सिद्धार्थ राय, ज्ञातनन्दन धन्य जन्मियां, नाम लियां जाय पाप ॥ १३ ॥  
 गौतम आदिक सातसो केवली, अजियां चउदासो सार, निजकर शीशित  
 एटला पहुचां मुक्ति मंशार ॥ १४ ॥ (कलस) इम वीर जिनवर सकल  
 दुखकर, एवा दुकर तपकरी । संयम पाली कर्म गाली स्वामी शिवरमणी  
 वरी । सेवक यूं जंये वीर जिनवर ! चरण सेजं तुम तणां । संसार सागर  
 पडत राखो, टालो स्वामिन् ! दुखमनां ॥ १५ ॥



### (दीवाली)

पूर्व दिशामे हुई पावापुरी, धन्य धान्य ऋद्धि समृद्धिमुं भरी, हस्ती-  
 पाल बसे तिहां भूपाली, वीर मुक्ति विराजे दिन दिवाली ॥ गौतमने सेवाकी मन-  
 मानी, एक रातमें हुए केवल ज्ञानी, चौदाराजु रखा भाली ॥ वीर० ॥ १ ॥  
 अठारह राय हुआ भजा, दोय दोय पोसा कीना लगता । वीर सन्मुख, रखा  
 निहाली ॥ वीर० ॥ २ ॥ दिन दोयरो संधारो सीधो, सोल्य पहर लगे उपदेश  
 सीधो । प्रभु मुक्ति गया कर्मने बाली ॥ वीर० ॥ ३ ॥ सातसे चेला ने चवदासो  
 चेली, जाने मुक्ति महलमें दिया मेली, ज्यांरा कर्मांरा बीज दिया बाली,  
 वीर० ॥ ४ ॥ प्रभु तीसवर्षवये संयम लीधो, निज आरम कार्यने सिद्धकीधो,  
 वर्ष बयालिस बीक्षा पाली, वीर० ॥ ५ ॥ एक राणी वरी हुई एक बेटी,  
 जिके मुक्तिगयां दुख दिया मेटी, जामाता हुआ ज्यांरो जमाली, वीर० ॥ ६ ॥  
 प्रभुने एक बहन अने एक भाई, जिके खगें गया समकित पाई । थावकना

मव शुद्ध पाठी, वीर० ॥ ७ ॥ ऋषभदत्तने देवानन्दा माता, नयणां निरखी  
 पावें साता, दोळ मुक्तिगण दुःख दिया टाळी, वीर० ॥ ८ ॥ सिद्धार्थराज  
 त्रिशला राणी, साये संघारो कियो समता आणी, १२ वें देवलोके उपज्या  
 चाली, वीर० ॥ ९ ॥ जिण रातमें वीरे मुक्ति पामी, केवलज्ञान लियो  
 गौतमस्वामी, ज्यारों जापजपो नवकरवाली, वीर० ॥ १० ॥ मुघर्मा. स्वामी  
 हुआ पाठ धणी, जांरी यशकीर्तिने महिमा धणी, जिनमार्ग दियो उजवाली,  
 वीर० ॥ ११ ॥ ज्यारे पाटे जंबू वैरागी, आठराणी परणीने प्रभाते त्यागी ।  
 सोल्य वर्षामें छाटी कर्म जाली, वीर० ॥ १२ ॥ आठों भामिनी वैरागे भीनी,  
 श्रातः पिशासाधे दीक्षाहीनी, माता. पिताने संयम पण लियो जाली, वीर०  
 ॥ १३ ॥ प्रभव पण राजानो नेटो, जिणरो जंबू कर्वर से हुआ नेटो,  
 पांचसे छुं वैराग्य पाया तत्काळी, वीर० ॥ १४ ॥ वीर जिन सम्मोदशिखर  
 सीक्षा, अष्टपद मिरनार दोय सीक्षा, बसुपुत्र्य सीक्षा चम्पा चाली, वीर०  
 ॥ १५ ॥ महावीर गए मुक्ति पावापुरी, कार्तिक वही अभावस्थाने मुक्तिवरी,  
 मुनतां भयतां मंगल माली, वीर० ॥ १६ ॥ दिन दिवालीरोपायो टाणो,  
 रात्रि भोजन पण नहीं खाणो, ज्यारो जापजपो श्रीलत्रतपाली, वीर० ॥ १७ ॥  
 मुहचेलारी जोनी सूर्यशशी, ऋषि रायचंद्र कहें मारे मनमेंवसी, मुक्तिसे जोड  
 जोनी टंकशाली, वीर० ॥ १८ ॥

### ( दिवालीका दिन बडा )

- दोहा-भजन करो भगवान् का, गणधर गौतम स्वामी, जय प्रगटे तारन  
 तरन, नित उठ करो प्रणामि ॥ १ ॥ वीवाली दिन आवियो, राखो धर्ममें वीर,  
 गौतम केवल पामियो, मुक्ति गये महावीर ॥ २ ॥ वीवाली का दिन बडा,  
 नत कर मोटे पाय, निन्दा विद्वया परहरो, करो जिनजीरो जाप ॥ ३ ॥  
 वीवाली दिन आवियो ॥ टैक ॥ सामायिक पौषच करो, पठिकमणो दोखल,  
 हम आतम उजवालजो, हृद्य नत करो क्खाल ॥ ४ ॥ नव महीने नवलछी,  
 देस अठाराना राव, वीर समीपे आविने, सीधा पौषच टय ॥ ५ ॥ कार्तिक  
 वरी अभावस्था, टाल्या आतम दोष, भव जीवाने स्वराने, वीर पहुंचा मोक्ष  
 ॥ ६ ॥ देवदेवी पणा आविया, त्यागी जगमग उयोति । अचरज एक भयो तिहा,  
 रसां तपो उयोव ॥ ७ ॥ मोह कर्मने टालने, भ्यायो शुद्धन भ्यान । अनिल

पणो भायो इस्यो, पाभ्यो केवल ज्ञान ॥ ८ ॥ मोक्ष नगर का दायक, भगवान्  
 भीमहावीर, तेहना मुख आगल हुआ, गौतम स्वामी वजीर ॥ ९ ॥ मोटा  
 जिन घासन धनी, पहुँचा शिवपुर ग्राम । गौतम लब्धि तथा धनी, जगमें  
 ब्रह्मो नाम ॥ १० ॥ तिन कारण मंगलीक दिन, नाम जपो मनवीर । आरंभ  
 सभारंभ छोड़िने, निर्मल पाली शील ॥ ११ ॥ -वार २ मानुष देही, पामधी  
 नहीं रे गवौर, जोरा झांडा राखी, मंत्र यंत्र निवार ॥ १२ ॥ झाडा झपटा  
 मत करो, मत करो पद काय घात, चार जाप जपो भद्रा, मोटी दिवाली की  
 रात ॥ १३ ॥ काया रूपी देहरो, ज्ञान रूप जिन देव, तस सज्जाय संखटत्रयि,  
 कर सेवा नितमेव ॥ १४ ॥ दया रूपी दिवलो करो, संवर रूपी बात, समकित  
 ज्योति उजाली ने, ज्यों मिथ्या तम नश जात ॥ १५ ॥ संवर रूप करो  
 काँकणो, ज्ञान रूपी करो तेल, आठ कर्म प्रज्वलित करो, घोर अंधेरो ठेल  
 ॥ १६ ॥ काया हाट तेल जालणो, ज्ञान वस्तु मर्हि सार, स्मरण करो जिनपजनो  
 प्राणिज्य परउपकार ॥ १७ ॥ धीरज मन घर धूपणो, तप कर भमरज खेय,  
 सरपाधूप ज्ञान जल थकी, इम सेवा निजदेव ॥ १८ ॥ सीमंघर आदि देरने,  
 जघन्य जिनेश्वर बीश, अढाई द्वीपमें परगव्या, उत्कृष्ट एकसो सितेर ॥ १९ ॥  
 भजन करो भगवान् को, ज्युं धारो सुधरे काज, काल अनन्त गयो कृपा,  
 अवसर लाम्यो हाय ॥ २० ॥ हिंसा से देव राजी हुए, भोला ! यह मत भूल,  
 सांचोमन नबकारनो, एम चढावो फूल ॥ २१ ॥ दुःख कोईने देणो नहीं,  
 प्रवचन सामो निहार, जिनवरना गुण गुंथिने, ऐसी चढावो माल ॥ २२ ॥  
 दानशील तप भावना, मनबन्ध काय मुष्याय, ज्ञान दर्शन परित्रना, यह तु  
 क्षक्षत चढाय ॥ २३ ॥ करण करावण अनुमोदना, हणवो जीव न कोय, नव  
 सत्व धारो निर्मल, एहवो नैवेद्य होय ॥ २४ ॥ अवली गत संसारनी, धन  
 लक्ष्मी के काज । टिचकार करतां थकां, धीठा कूटे छाज ॥ २५ ॥ टिचकार  
 करता थकां, दाव पाछा धीरे जाय, लक्ष्मी इम करतां थकां, किम पैसे पर  
 मांय ॥ २६ ॥ लीपणो ढोलणो मांडणो, करो जीवांतो जतन, भव भव मांदि  
 दोहिलो, मानव भव रतन ॥ २७ ॥ बाणी श्री जिन देवकी, मुख ठपाडे मत  
 गाय, यज्ञा करजो जुगत सुं, ज्यों शिव मंगल घाय ॥ २८ ॥ भाख्यो दिवाली  
 दिन मोटको, बाधे पापना पूर । इम करतां रे प्राणियां, शिवपुर करे दूर  
 ॥ २९ ॥ ज्ञान रूपी दिवलो करो, तपस्या कर उज्जाल, नियम मत कर

मंडणा, विनय विवेक घी घाल ॥ ३० ॥ क्षमारूपी खाजला करो, वैराग्य घृत भरपूर, उपशम मौण घालने, शुद्धमन मोठीचूर ॥ ३१ ॥ भाव दिवाली इन करो, उतरो भवजल पार, जप तप सेवा भावसुं, लाहो ल्यो तुमलर ॥ ३२ ॥ वीचाली दिन जाग्गिने, धन्य निजघर माहीं, धर्मध्यान मनभादरो, अजर अमर पद पाही ॥ ३३ ॥ पूजे दिवाली ने दिने, बही लेखनी मसीपात, एम ज्ञानने पिण पूजजो, बाधे पुण्यना छठ ॥ ३४ ॥ पर्व दिवाली जाग्गिने, उजलावे घर हाट, इम तुम व्रत, उजवाळजो, दीपे अधिकी बात ॥ ३५ ॥ घर कुटुंब धन चालस, जिम वाल्हा लग्गे तोय, तैसो नेह करो धर्मसुं, ज्यो मुक्ति मुख होय ॥ ३६ ॥ जाग्या थकां खुटका करे, रो बोलो मतिरात, जो असंयति जागसी, करसी छ कायानीघात ॥ ३७ ॥ ध्यान स्वाध्याय भळी करो, गुणो बोल ने चाल, आजनो दिनछे मोटको, वीचालो मत घाल ॥ ३८ ॥ पर्व दिवाली जाणने, शार पाशा मत कूड, धर्मध्यान ध्याओ सदा, नफो धर्म नो लूट ॥ ३९ ॥ चैत्र सुखी तेरस दिने, जनम्या श्री वर्धमान, कार्तिक वरी अभावसां, प्राग्या मोक्ष निदान ॥ ४० ॥ मनुष्य जन्म छे दोहिलो, पाग्यो आरज खेत जोय मित्यो साधां तणो, चेल सके तो चेत ॥ ४१ ॥ सेवाकरो सुगुरु तणी, साओ ज्ञान घन घेर, दोय घडी शुद्ध भावसुं, नवकरवाली केर ॥ ४२ ॥ अंग उपांगने छेदमें, जीव दया व्रत पाल । ततें ऋषि जयमल कहे, इसी दिवालीने मान ॥ ४३ ॥

### ( महावीर स्तवन )

वीर जिनेन्द्र शासन धणी, जिन त्रिभुवनस्वामी । ज्यारे चरण कमल चित्त नित धरूं, प्रणमूं सिरनामी । सुर स्थिति नगरी पिता मात चिन्ह अवगाहना, वर्ण आयु पुनी कुमर पद तपस परमाना । चरित्र बल प्रभु गुण घणा है छरमत्थ केवल ज्ञान, तीर्थ गणघर केवली जिन शासन परमाण ॥ १ ॥ देवलोक दशवं वीस सागर पूर्णस्थिति पाए, कुण्डनपुर नगरी में चवी थी जिनवर आए । पिता सिद्धार्थ पुत्र, मात त्रिशलादेवी नन्दा, जननी पुशिमें अवतरे धीवीर जिनन्दा । ज्यारे चरण लक्षण सिद्धनोए अवगाहना कर साठ, सन कंबन करी शोभता, ते प्रणमूं जयनाथ ॥ २ ॥ बहुतेर वर्धनो आऊपे पायो मुखकारी, तीसवर्षकेवलपदे रक्षा अभिग्रह धारी । उपसर्ग परिपह धहन करत पुनी शमरस भीनो, अनन्तबली भगवन्त जाब वीर नाम लुकीनो,



ज्यांय मातपितां खर्गति लक्ष्म्या, पुनी लियो संयम, भार। तृपसा कीधी  
 आकरी, साढा बारह वर्ष महार, ॥ ३ ॥ नव चौमासी तप कियो, इक कियो  
 छमासी। पांच दिन ऊणां अभिप्रह। पद्द मास विमासी। एक एक मासी  
 तप कियो, प्रभु द्वादश विरियां। बहत्तर पक्ष दोय २ मास छविरिया करियां।  
 दोय अढाई दिन दोय ए वली डोढमासी दोय। भद्र-महाभद्र शिवभद्र तप  
 करी, इम सोलह दिन होय, ॥ ४ ॥ भिक्वुनी पडिमा अष्ट भखिनी द्वादश  
 कीनी। दोयसे ने गुणतीस छठम तप गिनती लीनी। ग्यारह वर्ष छमास  
 पचिस दिन तपसा केरा। ग्यारह मास उगणीस दिवस पारणा भठेर। इन  
 विधि स्वामी तप कियोए पछी उपज्यो केवलज्ञान। तीस वर्ष ऊणां विचरिया,  
 ते प्रणमूं वर्धमान, ॥ ५ ॥ प्रथम 'अस्थि' बीजो 'चम्पा' दो कहिए, 'वैशाला'  
 ने 'वाणिज्य' दो मिल। द्वादश लहिए। चतुर्दश 'नालंदे' पाडे 'मिथिला'  
 छभणिया, 'महलपुरमें' दोय, सबे मिल अडलिस गिणिया। एक 'आलंभिका'  
 एक 'सावर्धी', एक अनार्य में जाण, चरमचौमासो 'पावापुरी' जहा पहुंचे  
 निर्वाण ॥ ६ ॥ मुनिवर चवदे सहस, सहस छतोस आर्यिका, इच्छत्र गुगसठ  
 सहसश्रावक, तीनलखश्राविका, अधिक अठारह सहस ग्यारह गणधर की  
 नाळा, मोतमसानी शिष्य बडा, सती चन्दनवाला। ज्यारे केवलज्ञानी  
 सातसौ, प्रभु पहुँचे निर्वाण। शासन बते स्वामीने, अन्द इक्कि सहस प्रमाण  
 ॥ ७ ॥ पूर्वा तीनसो धार, तेरासौ भवधि ज्ञानी, मन पर्यय पांचसे जान,  
 नातसौ केवलज्ञानी ॥ विक्रिया लन्धिरा जान, सातसो मुनिवर कहिए। बाटी  
 चारसौ बडे, भिष्य भिन चरचा लहिए ॥ एकाद्री चारित्र लियो, एकाद्री  
 निर्वाण। चौसठ वर्ष तक चालियो, दर्शन-केवल ज्ञान ॥ ५ ॥ बारह नरवल  
 रूपभ, रूपभ दश ज्यो ए हय नर, बारह हय एक महिप, महिप पांचसौ सुं  
 गयवर। पांचसे गज हरि एक, सहस हरि इक अष्टपद, दश लख अष्टपद  
 एक राम, दोय राम एक वासुदेव। दोय वासुदेव एकचक्री, कोड चक्री इक  
 सुर लियो, कोडी सुरा इक इंद धनन्तासुं नहीं नमे, चिट्टी अगुजी अम्र जिनेंद्र  
 ॥ ९ ॥ आप तणां प्रभु गुण अनन्त, कोई पार न पावे, लन्धिरा प्रभावे कोडि,  
 घाय कोडी सीस बनावे। तिर २ कोडा कोडी वदन, कोड कोड जिभ्यानी,  
 जिभ्या २ सुं कोड २ गुण करे मुत्तानी। कोडा कोडी सागर लगेए, करे ज्ञान  
 गुण गार। आपतणां प्रभु गुण अनन्त, कोई कहत न आवे जी पार ॥ १० ॥  
 वीर. १९

चन्दे राजु लोक भरे बालरा कनियां, सर्वे जीवनी रोमरुप नही बावे  
निमिया । एक बाल तप करे, गुण गण करे भलन्त, पूज्य प्रसाद नृपि  
बालचंद कहे नही आवे अन्त । संवत् १८९२ ए-मास शुभ श्रावण चंद ।  
स्वामपुरे गुणगणिया, पत्र २ वीर चिचंद ॥ ११ ॥

### वीरस्तुति-परिशिष्ट नं० ५

#### शान्तरसपूर्ण शान्तिप्रकाशः

प्रार्थनाङ्गम्-

प्रेमसहित चन्दौ प्रथम, जिनपद कमल अनूप ।  
ताके सुमरत अधमनर, होवत शांत स्वरूप ॥ १ ॥  
पूर्व नमामि संसई, जिनाङ्गिकमलं शुभम् ।  
यस्य स्मृत्वा नरा नीचा, जायन्ते शान्तिरूपचाः ॥ १ ॥  
तुम शरणे आयो प्रभु, राख लेऊ निज डेक ।  
निर्विकल्प मम सिद्धजी, देवो विमल विवेक ॥ २ ॥  
शरणं ते प्रभो ! प्रप्तः, सरस्वो निजयातुकः ।  
कल्पनातीतविदेह ! बोधं वितर निम्मोक्षम् ॥ २ ॥  
करुं चंदना भावयुत, त्रिविध योग धिर धार ।  
रतन ! रतन सम देय मुद्य, ज्ञान जवाहर सार ॥ ३ ॥  
श्रुत्वा स्पर्ध्वं त्रियोगेण, सभारं प्रणाम्यहम् ।  
देहि मे रत्न ! विज्ञानं, रत्नतुल्यं शुभं परम् ॥ ३ ॥  
उपाध्याय आध्ययन श्रुति, निशिदिन करत अम्यास ।  
दीनयन्तु मुद्य दीजिप, राम वम ज्ञानविलास ॥ ४ ॥  
श्रुत्वाध्ययनसनिश, निलमन्वदिसंरताः ।  
उपाध्यायाः प्रदत्ताशु, ज्ञानं शान्ति रत्नं परम् ॥ ४ ॥  
सो साधु वाधा हरो, कर्मदाशु रणजीत ।  
निपुण जीहरी ज्यो लक्ष्यो, आतम रतन पुनीत ॥ ५ ॥  
कर्मचक्रं रणे विला, दत्तशक्तिचक्रप्रभु ।  
आत्मरत्नं शुभं वैशु, रतिधितं ज्ञानचक्रुषा ॥  
साधवः कृपया द्वाशु, नम साधां हरन्तु ते ॥ ५ ॥

अधिक प्रिय नव रसनमें, है रस शान्ति विशेष ।

स्थायी भाव निर्वेदसे, मेटो सकल कलेश ॥ ६ ॥

नवस्वपि रसेष्वत्र, प्रेष्ठः शान्तो विशेषतः ।

निर्वेदात्स्यैर्ष्यमायातः, कृतं ह्येवं हरत्वयम् ॥ ६ ॥

विकलमति अभिलाप अति, कपटक्रिया गुणचोर ।

में चाहत कछु शान्त रस, तुमसे करी निहोर ॥ ७ ॥

महेच्छुर्विमतिः स्वामिन् । निर्गुणो दम्भसंबुतः ।

त्वां प्रणिपत्य याचेऽहं, किञ्चिच्छान्तं रसं प्रियम् ॥ ७ ॥

कापे जाचुं जायकर, तुम सम नहीं दातार ।

करुणानिधि करुणा करी, दीजे शान्त विचार ॥ ८ ॥

यत्वाऽहमत्र कं याचे, त्वत्समो नहि दायक ।

दयानिधे । दयां कृत्वा, शान्ति मे यच्छ सस्विराम् ॥ ८ ॥

में गुलाम हों राबरो, मेरो विगरत फाज ।

ताहि सुधारे यनि रहे, मेरी तेरी लाज ॥ ९ ॥

दासोऽस्मि ते प्रभोऽहं वै, कृत्यं नश्यति मेऽधुना ।

साफल्ये तस्य मे ते वै, लज्जा स्थास्यत्यसंशयम् ॥ ९ ॥

शान्ति छवि निरखत रहूं, जान्चूं नहीं कछु और ।

अरजी हुकम चढाय द्यो, पखो रहूं तुम पौर ॥ १० ॥

नान्यत्किमप्यहं याचे, याचेऽहं केवलं विभो ।

लोकेऽस्मिन्वीक्षणं दुःखाः, शान्तेरस्तु सदा मम ॥

आवेदने मयाऽऽदेशस्त्वया देवः प्रभो । ह्ययम् ।

भूत्वा चैवं कृतार्थोऽहं, द्वारे विप्रमि ते सदा ॥ १० ॥

जिहि गुणतें खुश होहु तुम, सो गुण नहीं लवलेश ।

तुम चर्जन आथित रहूं, सो बुध देहु जिनेश ॥ ११ ॥

प्रसादस्ते गुणेन स्यादेन स्वल्पोऽपि मे स न ।

मतिर्विनेश । सा देया, यया सां चरणाथितः ॥ ११ ॥

तडफत दुःखिया में अति, पलक परत नहीं चैन ।

अव सुदृष्टि करि निरखिप, दीले रहे वने न ॥ १२ ॥

विकलोऽतीव दुःखेन, सुखं प्राप्नोमि न क्षणम् ।

अधुनेऽस्यः सुदृष्ट्याऽहं, सिद्धिर्नोऽपि क्षणे कृतेः ॥ १२ ॥

यह सम्बन्ध भलो बन्यो, हम तुमसौं सर्व्वज्ञ ।

त्यागे ताहि न संग रखे, पिता पुत्र लखि अज्ञ ॥ १३ ॥

मया त्वया च सर्व्वज्ञ । जातः सज्जः सुशोभनः ।

नो त्याज्यथ सदा रक्षयः, पित्रेवाऽहोऽपि पुत्रकः ॥ १३ ॥

मेढहु कठिन कलेश तुम, परमात्म परमेश ।

दीन जानिकर बकसिये, दिन दिन शान विशेष ॥ १४ ॥

परमात्मन् । परेश । त्वं, क्लिष्टं क्लेशं विनाशय ।

दीनं ज्ञात्वा च देहि त्वं, नित्यं ज्ञानं शुभं मम ॥ १४ ॥

कृपा करो निर्वुद्धि वै, लखुं जुं अनुभव रीति ।

अशुभ और शुभ देखके, करुं न कबहुं प्रीति ॥ १५ ॥

कुरु कृपां च निर्वुद्धौ, येनेक्षेऽनुभवक्रमम् ।

वीक्ष्याऽऽशुभं शुभं चैव, दुर्व्यां नो तत्र संरतिम् ॥ १५ ॥

सब प्रकार धनवन्त हो, सुनहु गरीब नियाज ।

आरत-रुद्र कुध्यानते, बकसि बकसि महाराज ॥ १६ ॥

शृणु त्वं दीनबन्धोऽसि, सर्व्वैश्वर्य्यसंपुतः ।

आर्ताश्रीश्रात्कुप्यानाथ, सवो वारय मां प्रभो ! ॥ १६ ॥

धर्मं शुक्लं ध्यायत रहं, दोय ध्यान सुखकार ।

या जग ममता उदधि ते, दीजे पार उत्तार ॥ १७ ॥

ध्यायामि सुखदं ध्यानं, धर्मं शुक्लं च नित्यतः ।

निस्तारय विभो ! मां तु, लोकसम्मोहसागरतः ॥ १७ ॥

करुणा करिके मेटिये, विषय वासना रोग ।

में कुपथी वेदन प्रबल, लखि मत जोग अजोग ॥ १८ ॥

दयां विधाय देव । त्वं, विषयेच्छामयं हर ।

ममोन्नागंस्व सम्बायो, योग्याऽयोग्यं न पश्य भो ॥ १८ ॥

में गरजी धरजी करुं, सुनिहो जग प्रतिपाल ।

चाह सताये दास कौं, यह दुःख दीजे टाल ॥ १९ ॥

निवेदयाम्यहं ह्यर्थां, शृणु ? त्वं लोकपालक । ।

तर्पस्तु बाधते दासं, दुःखमेतद्विनाशय ॥ १९ ॥

प्रभु, तव सन्मुख हो रहूं, जगकूं देऊं पूठ ।

कृपादृष्टि अस करहु तुम, ज्युं भव जावे छूट ॥ २० ॥

लोकं तु पृष्ठतः कृत्वा, त्वत्समक्षः प्रभो ब्रह्म ।

स्यामेवं तु कृपादृष्टिः, कर्तव्या भवमोचनात् ॥ २० ॥

मैंने जे फुकरम किये, दीखत हूँ सब तोय ।

महर करो ज्युं दीन पे, फेर न दुःख दें मोय ॥ २१ ॥

मया कृतानि पापानि, सर्वानि देव ! पश्यसि ।

तथा वीने कृपा कार्प्यां, बाधन्तां नो यथा पुनः ॥ २१ ॥

विपत्ति रही मो घेरके, सुनी न अजहु पुकार ।

मेरी विरियां नाथ तुम, कहां लगाई वार ॥ २२ ॥

नाधुनाप्यशुभोर्लपं, विपन्मां परितः स्थिता ।

मम वारे त्वया नाथ ! विलम्बं क्रियते कथम् ॥ २२ ॥

पेसी विरियां में किधों, टरि गये दीनदयाल ।

विना कहां कैसे रहूं, अब तो करि प्रतिपाल ॥ २३ ॥

इदृश्या किल वेल्यायां, वीनबन्धो ! कुतस्त्वगाः ।

उत्तया विना कथं स्थयामधुना रक्ष मां विभो ॥ २३ ॥

जो कहलाऊं और पे, न मिटे मम उर झार ।

मेरी तेरे सामने, मिटसी मनकी रार ॥ २४ ॥

अन्येनोष्ठी न शान्तः स्याच्चित्तोद्रेगः कथंचन ।

समक्ष एव चातस्त्रे, मनोवादो\* विनङ्क्ष्यति ॥ २४ ॥

दुष्ट अनेक उधार के, थकि रहे किधों दयाल ।

धीरे धीरे तारिये, मेरो भी लखि हाल ॥ २५ ॥

गतिं ममाऽपि संवीक्ष्य, शनैः सन्तारय प्रभो !

उद्धार्याऽनेकदुष्टान्वा, जातः धान्तो दयानिधे ! ॥ २५ ॥

॥ इति प्रार्थनाः ॥

॥ अथ रागनिवारणाङ्गम् ॥

अरे जीव भव घन विषे, तेरा कवण सहाय ।  
 जाके कारण पचि रह्यो, ते सब तेरे नाय ॥ २६ ॥  
 भवारण्येऽत्र रे त्रिव । सहायः कोऽस्ति ते वद ।  
 यदर्धं पितृभे नित्यं, त्वं ते सन्ति नो भुवि ॥ २६ ॥  
 संसारी को देखले, सुखी न एक छिगार ।  
 अब तो पीछा छोडदे, मत घर सिर पर भार ॥ २७ ॥  
 पश्य संसारिणं जीवं, न कोऽपि मुक्तभाग्भुवि ।  
 अनुसृतिं लजेदानी, शीघ्रं मा धर भारकम् ॥ २७ ॥  
 झुंठे जगके कारणे, तू मत कर्म बंधाय ।  
 तू तो रीता ही रहे, धन पेला ही खाय ॥ २८ ॥  
 मिथ्यासंसारमुद्दिरय, कर्मबन्धं तु मा कुरु ।  
 रिक्तो यास्यसि जीव । त्वं, भोक्ष्यन्ते हीतरे धनम् ॥ २८ ॥  
 तन धन संपत् पायके, मगन न हो मन मांय ।  
 कैसे सुखिया होयगा, सोबत \*ठाय लगाय ॥ २९ ॥  
 तनुं वित्तं विभूर्ति च, कण्ठ्या दृष्टस्तु मा भव ।  
 बन्धिं प्रज्वाल्य रोषे किं, स्वास्त्यि त्वं क्वं सुखी ॥ २९ ॥  
 ठाठ देख भूले मति, यह पुद्रल पर्याय ।  
 देखत देखत ताहरे, जासी धिर न रदाय ॥ ३० ॥  
 भूर्तिं दृष्ट्वा श्रमाय त्वं, मेवं जता तु उद्रलेः ।  
 नक्ष्यति पश्यतस्ते वा, न स्थिरेवं कदापि च ॥ ३० ॥  
 लूटेंगे ज्ञानादि धन, ठगसम यह संसार ।  
 मोठे चवन उच्चारिके, †मोह फांसी गळ डार ॥ ३१ ॥  
 श्रियं प्रोच्य गळे मोहपातं शिष्या तिमि जनाः ।  
 ज्ञानादिधनहारं ते, धरिष्यन्ति प्रवचनघः ॥ ३१ ॥  
 किर्घीं भूत तोकीं लग्यो, करे न तनक विचार ।  
 ना माने तो परखले, मतलयको संसार ॥ ३२ ॥

कैसे गाफिल हो रहा, नेडा भ्रात करार ।

निपजी खेती देय क्यों, बाटी सटे गधार ॥ ३९ ॥

प्रमत्तोऽसि कथं भ्रातरायात्वाश्रुतमन्तिकम् ।

प्रतियच्छसि रौद्र्यं \*कथं सञ्जातस्यकम् ॥ ३९ ॥

धर्मविहार कियो नहीं, कीन्हो विषय विहार ।

गांठ खाय रीते चले, आके जग हटवार ॥ ४० ॥

धर्माचारः कृतो नाऽत्र, विहारो विषये कृतः ।

॥ लोकापणे समागल्य, मूल्यशी रिक्तको गतः ॥ ४० ॥

काज करत पर, घरनके, अपनो काज बिगार ।

सीत निवारे जगत्का, अपनी झाँपरी चार ॥ ४१ ॥

विनाश्य त्वं सकं कार्यं, कुक्षे परकुलकम् ।

कुटीं निजा तु सञ्चाल्य, लोकसीतं व्यपोहसि ॥ ४१ ॥

नहिं विचार तेने किया, करना था क्या काज ।

उदय होयगा कर्मफल, तब उपजेगी लाज ॥ ४२ ॥

आसीति तव कर्तव्यं, कृता नाऽस्य विचारणा ।

कर्मविपाककाले च, शीघ्रं यास्यसि वै सखे ! ॥ ४२ ॥

झूठी संसारीनकी, छूटेगी जब लाज ।

तब सुखिया तू होयगा, इनते अलगा भाज ॥ ४३ ॥

असत्संसारिभोगानां, यदा नश्यति वै रुचिः ।

एतेभ्यस्तु पृथग्भूत्वा, तदा सौख्यमवाप्स्यसि ॥ ४३ ॥

अपनी पूंजी सौं करो, निश्चल कार विहार ।

चांध्या सोही भोगले, मत कर और उधार ॥ ४४ ॥

आत्मीयेनैव वित्तेन, कार्यमाचर निश्चलम् ।

वद्धमेव हि मुंक्षस्व, ऋणमन्यत्तु मा कुर्व ॥ ४४ ॥

नया कर्म ऋण फाटके, करसी कार विहार ।

देणा पडसी पारका, किम होसी छुटकार ॥ ४५ ॥

कर्मणं नूतनं कृत्वा, यदि कार्यं विधास्यसि ।

उद्धारस्तु कथं भावी, दातव्यं स्यात्परस्य यत् ॥ ४५ ॥

विषय भोग किम्पाक संम, लखि दुःख फल परिणाम ।

जब विरक्त तू होयगा, तब सुधरेगा काम ॥ ४६ ॥

भोगः किम्पाकतुल्योऽस्ति, तदन्ते वीक्ष्य सद्दुटम् ।

विरक्तस्तु यदा भावी, तदा कार्थ्यं तु सेत्स्यति ॥ ४६ ॥

एरे ! मन मेरे पथिक, तू न जाव वहाँ टोर ।

यटमारा पाँचों जहाँ, करै साहकों चोर ॥ ४७ ॥

मम पाथ मनस्त्वं रे ! गच्छ मा तत्र कर्हिचित् ।

दस्यवो यत्र पद्मापि, साधुं चौरं प्रकुर्वते ॥ ४७ ॥

आरम्भ विषय कपायकों, कीनी बहुतिक वार ।

कारज कहु सरिया नहीं, उलटा हूवा रघार ॥ ४८ ॥

भोगारम्भकपायास्तु, बहुशो विहितास्त्वया ।

कार्यसिद्धिस्तु नो जाता, जातः प्रत्युत लजितः ॥ ४८ ॥

चारों संझामें सदा, सुते निपुण चित्त लाग ।

शुरु समझार्थे कठिनसाँ, उपजे तउ न विराग ॥ ४९ ॥

प्रनोधयति सज्ञाभिर्गुह्यतत्तत्तुभिर्धुवम् ।

ज्ञानाय चित्तवैराग्यं, जायते ते तथापि नो ॥ ४९ ॥

खैर हुआ जो कुछ हुआ, अब करनो नहीं जोग ।

विना विचारे तैं किया, ताका ही फल भोग ॥ ५० ॥

अस्तु जातं तु यज्जातं, प्रमादं नाधुना कुरु ।

असमीक्ष्य कृतं यत्तु, भुंक्त्व तस्य फलं ध्रुवम् ॥ ५० ॥

इति रागनिवारणाद्वम्

अथ द्वेषनिवारणाङ्गं कथ्यते

बुरो कहे कोऊ तो भनीं, तो तू भला जु मान ।

बूरा मीठा होतहै, सब वनिहै पकवान ॥ ५१ ॥

अप्रियं \*वक्ति यस्तुभ्यं, त्वं तु जानीहि तत्प्रियम् ।

‡बुरा †मिष्टं भवत्ययं, पक्वानं तेन जायते ॥ ५१ ॥

\* 'बुरा' इति भाषायाम् । † 'भला इति भाषायाम् । ‡ 'बुरा' इति  
 नन्दस्य द्वेषोकारत्वेन प्रयोगस्तदा भाषायां शर्करापरीयः ।



कटु तीक्ष्ण अति विषभरी, गाली शख समान ।  
 अशुभकर्म गुम्मड भिद्यो, यों जिय सुलटी जान ॥ ५२ ॥  
 कटुस्त्रीष्णा विषोपेता, शखतुल्या हि गालिका ।  
 श्रुतेति तां विजानीहि, स्फोटो भिन्नः कुर्मवः ॥ ५२ ॥  
 कटुक वचन कोऊ कह दिया, लगे जु दिलमें तीर ।  
 समदृष्टि यों समझले, मोय जान्यो अतिवीर ॥ ५३ ॥  
 कटुक्तिः परसम्प्रोक्ता, वाणवद्विनति सा ।  
 समदृष्टिर्विजानीयाज्ज्ञातोऽहं वीरमुख्यकः ॥ ५३ ॥  
 चैरी होता तो कबहु, नहीं कहता कटु बात ।  
 सज्जन दीसत माहरो, रुज लखि कटुक खवात ॥ ५४ ॥  
 अभविष्यदयं शत्रुनांविष्यत्तदा कटुः ।  
 सज्जनो दृश्यते मेऽयं, कटुशयति रोगदह ॥ ५४ ॥  
 अचगुण सुनिके आपणां, रे मन ! सुलटी धार ।  
 मो गरीबकों जानिके, लीना चोख उतार ॥ ५५ ॥  
 आत्मनो दोषमाकर्ष्यं, सर्वं धारय हे मनः ।  
 ज्ञात्वाऽनेन तु मां वीनं, शीर्षाद्भारोऽवतारितः ॥ ५५ ॥  
 में भूल्यो शुभ राहकों, इननै दई बताय ।  
 दुर्जन जानि पेरे नहीं, सज्जन सो दर्शाय ॥ ५६ ॥  
 सुमार्गो विस्मृतो नूनं, मया चायं व्यवोषयत् ।  
 ज्ञायते दुर्जनो नायं, सज्जनस्तु विलक्ष्यते ॥ ५६ ॥  
 ज्ञान अस्त सूरज हुआ, में भूल्यो निजलाह ।  
 निन्दा रूप मसालले, इने दिखाइ राह ॥ ५७ ॥  
 अहं गते हि बोधार्थे, जातोऽहं विस्मृताश्रकः ।  
 निन्दाप्रवीपमादाय, जातोऽयं मार्गदर्शकः ॥ ५७ ॥  
 सुनि निन्दकके वचनकों, चित मति करे उचाट ।  
 यह दुर्गन्धित पवन अति, बहती कुं मति डाट ॥ ५८ ॥  
 निन्दकोक्तिं समाकर्ष्यं, स्लानिं मा कुह मानसे ।  
 रुन्धि मा. त्वं तखे ! पृथिगन्धं वाते सनीरपम् ॥ ५८ ॥

कुवचन शर फ्या कर सके, तू होजा पापाण ।  
 तेरा कुछ विगरे नहीं, चाका ही अपमान ॥ ५९ ॥  
 सखे ! पापाणवद्भ्याः कृत्तियुः किं करिष्यति ।  
 न स्याते कापि वा हानिर्ह्यपमानस्तु तस्य च ॥ ५९ ॥  
 कुवचन गोलीके लगे, जो ले मनको मार ।  
 आपही ठंडी होयगी, होजा शीतल मार ॥ ६० ॥  
 कृत्तिलोलीसमाघाते, मनः शान्तं करोति यः ।  
 भविता सा स्वयं शीता, शान्तस्त्वं भव हे सखे ! ॥ ६० ॥  
 तैने ऊपरसों कही, मैंने समझी ठेठ ।  
 खटका सवही मिटगया, एक रह गयो पेट ॥ ६१ ॥  
 उपरिष्ठास्त्वया शोकं, तत्त्वं बुद्धं मया किल ।  
 चिन्ता कृत्वा विनष्टा मेऽवशिष्टा समता खलु ॥ ६१ ॥  
 रे चेतन सुलटी समझ, तेरा सुधरा काज ।  
 कुवचन घर घर ताहरी, इणने सौंपी आज ॥ ६२ ॥  
 सम्यक् चेतन ! बुध्यस्व, सिद्धं कार्यं तवाद्य वै ।  
 तावकः कृत्तिनिक्षेपोऽग्नेनेदानीं समर्पितः ॥ ६२ ॥  
 होगी सोई नीसरे, वस्तु भरी जिदि माहिं ।  
 याका गाहक मत वने, तेरे लायक नाहिं ॥ ६३ ॥  
 यस्मिन् वस्तु यदेवास्ति, निस्सारिष्यति तत्किल ।  
 नोचितं ते समस्त्येद्ग्राहकस्त्वस्य मा भव ॥ ६३ ॥  
 अपना अवगुण सुणकरी, मत माने जिय रीस ।  
 मनमें तू यों समझले, मुझको देत असीस ॥ ६४ ॥  
 आत्मदोषं समाकर्ष्य, चित्ते खेदं तु मा कृथाः ।  
 आश्रियं मे ददालेप, कार्या वैषा विचारणा ॥ ६४ ॥  
 क्रोध अगन दिल मत लगा, सुनि अयथारथ बोल ।  
 क्षमारूप जल छिडकिए, नेक न लागे मोल ॥ ६५ ॥  
 असदुक्तं वचः श्रुत्वा, क्रोधाग्रौ शिप मा मनः ।  
 सिद्ध वारि क्षमारूपं, भवेत्तापो न कथन ॥ ६५ ॥

दुर्जन चुप हो है नहीं, तू तो छिन चुप साथ ।

तृण विन. परिहे अगनि कहुं, आपदि होय समाध ॥६६॥

न तूष्णीं दुर्जनः स्थाता, त्वं तु तूष्णीं भव क्षणम् ।

निस्तृणे पतितो बन्धिः स्वयमेवोपशाम्यति ॥ ६६ ॥

तू तृण सम कटु वचन सुन, क्रोध अगन मत दाइ ।

उपल नीर सम करहु मन, तव मिलिहै शिवराज ॥६७॥

श्रुत्वा तृणनिभां कृत्स्निं, कुदामिं भा प्रवीपय ।

कुरु नीरसमं स्रान्तं, मुक्तिराज्यं तदैष्यसि ॥ ६७ ॥

आई गई कर गालिफौं, क्रोध चंडाल समान ।

न तर पिछानि चंडालिनी, पहो पकरे आन ॥ ६८ ॥

उपेक्ष सखे । गालिं, सज कोपं स्वपाकवत् ।

स्वपाक्यनुगता नोचेद्गृहीता वल्लसन्दशाः ॥ ६८ ॥

प्रभु सहाय नहीं होयँगे, रे जिय सांची जान ।

क्रोध करी ज्युं होगयो, साधु रजक समान ॥ ६९ ॥

ईशोऽपि नो सहायः स्वात्सत्यं मन्यस्य चित्त । इ ।

पश्य कोपं विधायैवं, साधू रजकतां गतः ॥ ६९ ॥

वात्म वख्र मेला लखी, इणने दीना धोय ।

कटुक वचन साधुन करी, निबल जानिके मोय ॥ ७० ॥

निर्बलं वीक्ष्य मामेव, आत्मवत्त्रं मलीमसम् ।

कट्वक्लिषापनेनाऽऽशु, तदधावद्दयाद्रकः ॥ ७० ॥

औदरी बहैके मति करे, कुंजडी के संग रार ।

रतन बिखरसी ताहरा, भाजी सटै गवाँर ॥ ७१ ॥

विवादं शाकविकेभ्या, राशिकस्त्वं हि मा चर ।

भविता रत्नविक्षेपो, शाकार्यं मूढ । घत्वरम् ॥ ७१ ॥

सांलाफी गाली दई, यह विचार चित ठार ।

भगिनी सम इनकी प्रिया, मोय समश्यो यतधार ॥७२॥

श्रुत्वा शाल्यकगालिं तु, चित्ते चिन्तय तरक्षणम् ।

भार्यासखवदसेति, सम्यग्बुद्धं प्रतं मम ॥ ७२ ॥

किरतघनी घननो न ह्यौ, दइ गारि इण मोहि,  
 अस आतम शीतल करौ, मम उधार तव होहि ॥ ७३ ॥  
 दत्ता मम गालिरेतेन, कृतप्रो भवित्तासि नो ।  
 एवं कुर्या यदा शीतं \*खं तदोद्धारमाप्नुयाम् ॥ ७३ ॥  
 गाली एक ही होत है, बोलत होत अनेक ।  
 रे जिय! तू घोले नहीं, तो वही एक की एक ॥ ७४ ॥  
 गालिरेका प्रतीवादेऽनैका सैव विजायते ।  
 विचार्यैवं तु मा ब्रूहि, सा स्यादेकैव तित्त! ह ॥ ७४ ॥  
 अनन्तकाल पहले प्रभु, देख रखे यह भाव ।  
 परिहै कट्टु बच श्रवणमें, ते किम टाल्यो जाव ॥ ७५ ॥  
 प्रागेवानन्तकालाद्दे, जिनो भावं निरक्षत ।  
 कट्टुक्तिपतनं श्रोत्रे, शक्यं वारयितुं कथम् ॥ ७५ ॥

इति द्वैपनिवारणाद्भम्

अथ धैर्यधारणाद्भम्

अय दिल चाहे परमपद, उर धीरज गुण धार ।  
 निन्दा स्तुति रिपु प्रिय, एक हि दृष्टि निहार ॥ ७६ ॥  
 निर्व्वानिच्छामनस्ते चेतदा धैर्यं गुणं धर ।  
 निन्दास्तुति रिपुप्रीतौ, समदृष्ट्वा विलोक्य ॥ ७६ ॥  
 धीरज धर भ्रमको तजो, एह पुद्गलको ख्याल ।  
 पर परछांही पर रही, तू तो चेतन लाल ॥ ७७ ॥  
 धैर्यं धृत्वा ह्यज भ्रान्तिभेतत्पुद्गलनाव्यकम् ।  
 चेतनोऽस्ति प्रिय! त्वं तु, त्वयि निम्बं परं गतम् ॥ ७७ ॥  
 चञ्चलताको छोडिदे, धीरजकी कर हाट ।  
 कर विहार गुण माल को, ज्युं होवे बहु ठाट ॥ ७८ ॥  
 ह्यक्त्वा स्थैर्यं विधेहि त्वं, धैर्यहृदं सजे! मम ।  
 आद्रियस्व गुणधामं, येन सर्व्वं सुखं भवेत् ॥ ७८ ॥

चाह किए कछु ना मिले, करिके जहँ तहँ देख ।  
 चाह छाँडि धीरज धरहु, पद पद मिलत विशेष ॥ ८६ ॥  
 इच्छयाऽऽप्नोति नो किञ्चित्पश्य कृत्वा तु मानव ।  
 विहायेच्छां कृते धैर्ये, विशेषाग्निः पदे पदे ॥ ८६ ॥  
 सुनि उझले मति रे जिया ! कर विचार चुप साध ।  
 यही अमोलिक औपधि, मेटे भत्र दुःख व्याध ॥ ८७ ॥  
 श्रुत्वोत्पत मनो मा त्वं, मौनं धृत्वा विचारय ।  
 अमूल्यमौषधं ह्येतद्भवतापाऽऽमयाऽपहम् ॥ ८७ ॥  
 रे चेतन ! संसार लखि, दृढ कर नेक विचार ।  
 जैसी दे तैसी मिले, कूपकी गुंजार ॥ ८८ ॥  
 चेतन ! वीक्ष्य संसारं, कुरु धृत्वा विचारणाम् ।  
 लभ्यतेऽत्र यथादत्तं, कूपप्रतिध्वनिर्यदा ॥ ८८ ॥  
 चञ्चलताकौं छाँडीकै, काट मोह गल फांश ।  
 सम दम यम दृढता किये, निज गुण होय प्रकाश ॥ ८९ ॥  
 त्यक्त्वा चापत्यमाच्छिन्धि, गलपाशं च मोहजम् ।  
 शमे दमे यमे दाढीं, कृते स्वगुणभासनम् ॥ ८९ ॥  
 अभिलाषाकौं त्यागिके, मनकौं रख मजबूत ।  
 तव कुछ सूझे अगमकी, यह सांची करतूत ॥ ९० ॥  
 अभिलाषं परित्यज्य, मानस कुरु निश्चलम् ।  
 तदायत्नाशुकर्तव्यं, द्रक्ष्यते च यथार्थतः ॥ ९० ॥  
 वो तो ह्यां ही वस्तु है, जाकी तेरे चाय ।  
 क्षण इक धीरज धारले, सहजे ही मिलजाय ॥ ९१ ॥  
 अभिलाषोऽस्ति ते यस्य, तद्वस्त्वत्रैव विद्यते ।  
 क्षणं धैर्यं कुरु स्वान्ते, विनाऽऽयात्तेन लप्स्यते ॥ ९१ ॥  
 मतकर परगुणमें रमण, ज्यों न लगे गल तोप ।  
 निश्चल रह निज गुणनमें, आपही होगी मोक्ष ॥ ९२ ॥  
 रमस्वाऽन्यगुणे मा त्वं, येन दोषो भवेन्नहि ।  
 निश्चलः स्वगुणे भूयाः, स्वतो निर्व्याणमेष्यसि ॥ ९२ ॥

निश्चलतासुं होयगा, रे जिय ! ब्रह्म समान ।  
 तृण का ही घृत होत है, गाय चरे पय पान ॥ ९३ ॥  
 स्वैर्येण भविता जीव । ब्रह्मनुस्यो ह्यसंशयम् ।  
 सर्पित्सेन तृणं स्यादन्नैश्वरति जलेन च ॥ ९३ ॥  
 जो तू चाहे अमर पद, करि दृढता अखत्यार ।  
 बाल न बांका होयगा, जीवत ही मनमार ॥ ९४ ॥  
 ययमरपदेच्छा ते, धैर्यमन्नीकुह्य वै ।  
 जहि मनस्तु जीवदा, नैवं केशस नकता ॥ ९४ ॥  
 धीरज गुण धारण किये, सब ही दुःख कट जाय ।  
 जैसे ठंडे लोहसे, तत्ता लोह कटाय ॥ ९५ ॥  
 धृतधैर्यगुणे सर्व, दुःखं नश्यति सत्वरम् ।  
 यथा शीतेन लोहेन, तप्ताऽऽग्निच्छियते ध्रुवम् ॥ ९५ ॥  
 अल जिम निर्मल मधुर मृदु, करत तप्तको अन्त ।  
 इम धीरज गुण धार लखि, करो ग्रहण बुधवन्त ॥ ९६ ॥  
 निर्मलं मधुरं वारि, मृदुस्वापविनाशनम् ।  
 एवं चतुर्गुणं धैर्यं, वीक्ष्य गृणीत वै बुधाः ॥ ९६ ॥  
 कला घटत अरु बढत है, नहीं शशिमण्डल जान ।  
 जन्म मरण गति देहकी, यों लखि धीरज ठान ॥ ९७ ॥  
 हानिरुद्धी कलायाध, नहीन्दुमण्डलस्य वा ।  
 देहस्यैवं गति जन्म, मृत्युं वीक्ष्य धृति धर ॥ ९७ ॥  
 सुखदुःख दोनों एकसे, है समझणको फेर ।  
 एक शब्द दो अर्थ ज्यों, लाख टकेकी सेर ॥ ९८ ॥  
 सुखदुःखे समे वै तु, बोधभेदस्तु लक्ष्यते ।  
 लोके \*लाख टकाकी सेरेदं द्रव्यं क्वाक्यकम् ॥ ९८ ॥

\* "लाख टका की सेर" इदं वाक्यं लोके द्रव्यधर्मकमस्ति, तदप्या—पण-  
 द्रव्येन लाक्षा प्रस्थमिता मिलतीति प्रथमोऽर्थः । लक्षसंख्याकपणमुमेः कियि-  
 ज्ञानवस्तुप्रस्थपरिमितं मिलति, इति च द्वितीयोऽर्थः ।

सुखदुःख दौऊ वेदे मति, वेदे तो सम भाव ।  
 जैसे मकरी जालकों, पूरे अरु खा जाय ॥ ९९ ॥  
 सुखदुःखानुभूति मा, कुरु नो चेत्समानतः ।  
 दत्ताज्जलं यथा पूर्णं, कुरुतेऽश्नाति तत्र वा ॥ ९९ ॥  
 समताको धारण किये, क्यों न डटे मन लहर ।  
 भरणी सुण २ कर मिटे, स्यांपां हुंदा जहर ॥ १०० ॥  
 समताधारणे किं वा, मानसोर्मिर्न शाम्यति ।  
 पश्य सर्ववियं श्रुत्वा, गारुडी नश्यति भुवम् ॥ १०० ॥  
 इति धैर्याङ्गम्

### अथानुभवविचारज्ञानाङ्गम्

कुकस विषय विकार सम, मति भखि मूढ गवाँर ।  
 अनुभवरस तू चाखिले, गुरु मुख करि निर्धार ॥ १०१ ॥  
 मूढ ! धनीण ! मा भुङ्क्ष्व, भोगान्कूचंसन्निभान् ।  
 गुरोर्मुखानु सम्प्राप्य, ह्यनुभूतिरसं पिव ॥ १०१ ॥  
 किये पाठ अनुभव विना, न मिटे भीतर पाप ।  
 याहर शीशी धोयके, करी चहै तू साफ ॥ १०२ ॥  
 अनुभूत्या विना पाठात्पापं नश्यति नान्तरम् ।  
 ऋचक्रीं बहिर्भावाग्निर्मलं कर्तुमिच्छसि ॥ १०२ ॥  
 अहभार पापाणको, जिमलागत जल माहिं ।  
 तिमि अनुभव विच कर्मको, बहुबन्धन द्वै नाहिं ॥ १०३ ॥  
 अल्प एवात्मनो भारो, यथा तोये प्रतीयते ।  
 अनुभूत्या तथा कर्मबन्धो भूरिर्न जायते ॥ १०३ ॥  
 मन बच-तन धिरतैं भयो, जो सुख अनुभवमाहिं ।  
 इन्द नरिन्द फनीन्दके, ता समान सुख नाहिं ॥ १०४ ॥  
 स्थैयं देहमनोवाचामनुभवे तु यत्सुखम् ।  
 तादृक् सुखं न शक्यस्य, मानवेन्द्रफणीन्द्रयोः ॥ १०४ ॥  
 अनुभवसौं प्रभु मिलतहै, अनुभव सुखको मूल ।  
 अनुभव चिन्तामणि तजि, मति भटके कहुं भूल १०५  
 वीर. २०

अनुभूत्याः प्रभोः प्राप्तिः, सैव मूलं सुखस्य च ।

खकवा चिन्तामणिं मूढाऽनुभूतिं कापि मा भ्रम ॥ १०५ ॥

अति अगाध संसार नद, विषय नीर गम्भीर ।

अनुभव विन पार न लहत, कोटि करहु तद्वीर ॥ १०६ ॥

भवो नदोऽस्त्यगाधोऽत्र, विषया बहु वारिषत् ।

कोष्णपायेऽपि पारं नो, बाल्यनुभूतिमन्तर ॥ १०६ ॥

जिहिं विचारतें पाप है, मनकीं धिर सुखदौर ।

ताकीं अनुभव जानिये, अनुभव नहिं कुछ और ॥ १०७ ॥

मन-स्यैर्ये सुखस्थानं, येनाऽऽप्नोति विचारतः ।

बुध्यस्वानुभवं तं च, परन्त्वनुभवो न हि ॥ १०७ ॥

विना विचारे ज्ञानके, तू जङ्गलको रोझ ।

मिथ्या यों ही पचत है, क्यों न करे अब खोज ॥ १०८ ॥

विना ज्ञानविचारेण, आरण्यगवयो ननु ।

व्यर्थं खेदमवाप्नोति, कुरुषे किं न विचारणाम् ॥ १०८ ॥

मन मतङ्ग वश करनकीं, धानाङ्कुश चित धार ।

क्षमार्थभसे वांधकर, लज्जा शृंखल डार ॥ १०९ ॥

मनो गजं वशं कर्तुं, चित्तं ज्ञानशृणि धर ।

क्षमा खम्भेन यच्चा च, क्षिप लज्जां मुशङ्कलाम् ॥ १०९ ॥

अमतो मन रवि डाटिले, ज्ञान मुकुरके म्यान ।

विंदु सुभ उपयोगसे, कर्म तूलकी हान ॥ ११० ॥

अमन्मनो रविं रुन्धि, ज्ञानदर्पणके मुखे ।

विन्दुना सूपयोगेन, कर्मतूलविनाशनम् ॥ ११० ॥

सीसा सम संसार है, गुरु कृपा आदित्य ।

ज्ञान नेत्र विन किम लखे, आपनपो सुपवित्र ॥ १११ ॥

संसारो दर्पणभस्तु, भारकरोऽस्ति गुरोः कृपा ।

विशुद्धात्मत्वबोधस्तु, ज्ञाननेत्रं विना न हि ॥ १११ ॥

विषय-वासना करत जो, आवे ज्ञान जंगीश ।

त्रेशदका उन समयमें, छिन्नमें होय छत्तीस ॥ ११२ ॥



भोग्यानां वासनायां चेज्ज्ञानमुत्पद्यते सखे ।  
 सद्यस्त्रिपष्टिसङ्ख्यायाः, पद्मत्रिंशद्भाषते भुक्तम् ॥ ११२ ॥  
 जो तू चाहे ज्ञान सुख, तो विषयन मनफेर ।  
 और ठौर भटके मती, अपने ही में हेर ॥ ११३ ॥  
 व्यावर्तय मनो भोगाद्बोधसीस्यं यदीच्छसि ।  
 रे रे ! त्वं भ्राम्य माऽन्यत्र, तदाऽऽत्मनि च मार्गय ॥ ११३ ॥  
 ज्ञानरूप दीपक कने, न बचे कर्म पतङ्ग ।  
 जो रहे तो दोनोनमें, झूठो एक प्रसङ्ग ॥ ११४ ॥  
 अन्तिके ज्ञानदीपस्य, नो कर्मशलभः स्थिरः ।  
 तिष्ठतो यदि तौ द्वौ वा, मृपैकस्तु प्रसङ्गकः ॥ ११४ ॥  
 ज्ञान सञ्चरे जिहि समें, न रहे कर्म समाज ।  
 और न पंछी डट सके, जहां बसेरा बाज ॥ ११५ ॥  
 यदा सञ्चरति ज्ञानं, कर्मजालं तु नो तदा ।  
 श्येनबासो भवेद्यत्र, तत्र तिष्ठन्ति नो खगाः ॥ ११५ ॥  
 घर नहिं छूट्यो एकसौं, छूट्यो कर्म कुडंग ।  
 ज्ञान तणे सत्सङ्गथी, देखो ठाणायंग ॥ ११६ ॥  
 गृहं लकं न वैकेन, लकं कर्म तु कुलितम् ।  
 सत्सङ्गोत्पन्नबोधेन, पश्य स्थानाद्भस्वरूपम् ॥ ११६ ॥  
 क्षण इक ज्ञान विचारले, विषय दृष्टि कौ फेर ।  
 मेरी मेरी त्यागदे, यों होवे सुरक्षेर ॥ ११७ ॥  
 भोगादृष्टिं परावृत्त्य, क्षणं विन्तय बोधकम् ।  
 लज्ज सयो मनस्वं च, सर्वं सम्यग्भविष्यति ॥ ११७ ॥  
 आठ पहर ढिंग राखले, ज्ञान सरूपी ढाल ।  
 मोह अरीके विषय शर, लगे न ताकी भाल ॥ ११८ ॥  
 संरक्षायामु यामेषु, ज्ञानरूपं तु चर्मच्छम् ।  
 विषयेषुर्न-मोहारेमंस्तके न लनिष्यति ॥ ११८ ॥  
 माया मोह निवारके, विषयनसौं मनखीच  
 जो सुख चाहे आपणा, तो रहो ज्ञानके वीच ॥ ११९ ॥

मायामोहं निवाप्यैवं विषयेभ्यो मनो हर ।

वाञ्छस्यात्मसुखं चेद्वि, ज्ञाने विहर मे सखे ॥ ११९ ॥

सेद लहे विन ज्ञानके, मत भूसे जिम स्वान ।

लोग गडरिया चाल तज, आपनपो पहिचान ॥ १२० ॥

मा कुरु भयणं श्वेव, ज्ञानमेदातिमन्तरा ।

॥ लोकमेपीगतिं त्यक्त्वा, स्वात्मानं परिबोधय ॥ १२० ॥

कामधेनु अरु कल्पतरु, इण भव सुख दातार ।

इणभव परभव दुहुनमें, ज्ञान करत निस्तार ॥ १२१ ॥

कल्पद्रुः कामधेनुश्च, लोकेऽत्रैव सुखप्रदौ ।

निस्तारयति बोधस्तु, जगत्त्र परत्र च ॥ १२१ ॥

जगत् मोह फांसी प्रबल, कटै न और उपाय ।

सत्सङ्गति कर ज्ञानकी, सहज मुक्ति हो जाय ॥ १२२ ॥

मोहपाशो दहो लोके, चिद्यते नान्ययत्नतः ।

कुरु बोधस्य सत्सङ्गं, मुक्तिः स्वास्वयमेव हि ॥ १२२ ॥

विच पारस अरु ज्ञानके, अन्तर जान महन्त ।

यह लोहा कञ्चन करत, वह गुण देय अनन्त ॥ १२३ ॥

पारसादमनि बोधे च, जानीहि महदन्तरम् ।

लोहं स्वर्णं करोत्येव, स त्वनन्तगुणप्रदः ॥ १२३ ॥

प्रथम ज्ञान पीछे दया, यह जिनमतको सार ।

ज्ञान सहित किरिया करूं, तव उतरूं भव पार ॥ १२४ ॥

जैनसिद्धान्तसारोऽयं, पूर्वं ज्ञानं ततो दया ।

सज्ञाना चेत्किर्यां कुर्यां, तदा स्यां भवपारगः ॥ १२४ ॥

अथोपसंहारः

अति आलस परमादियो, भञ्जुलाल मुझ नाम ।

ज्ञानोद्यम कछु ना बने, किम सुधरे मुझ काम ॥ १२५ ॥

अहं च भञ्जुलालाख्यः, प्रमत्तश्च सुसायकः ।

ज्ञानोद्यमो न मे कश्चित्कथं कार्यं तु सेत्स्यति ॥ १२५ ॥

दर्शन पुनि निश्चल नहीं, नहीं निश्चल चरित्र ।  
मन भ्रमतां निशिदिन रहे, नहीं ठहरे एकत्र ॥ १२६ ॥  
सम्यक्त्वं निश्चलं मे नो, चारित्रमपि नैव च ।  
नित्यं भ्राम्यति चित्तं तु, तदेकत्र न तिष्ठति ॥ १२६ ॥  
ऐसी करी विचारणा, रे जिय ! अगतो चेत ।  
चार घरण गुरु 'रतनजी', ऐसो करि सङ्केत ॥ १२७ ॥  
एवं जाते विचारे तु, चेत जीव । किलाधुना ।  
चतुर्वर्णगुरु 'रतनजी', सङ्केतं कृतवानिमम् ॥ १२७ ॥  
चार वर्णं गुरु 'रतनजी', तास मेद चौवीस ।  
तामें मेद जु तेरवें, करी ध्यान बकसीस ॥ १२८ ॥  
चातुर्वर्ण्यगुरु 'रतनजी', तद्भेदा युगविंशतिः ।  
त्रयोदशे तु भेदे च, ज्ञानदानं व्यधादसौ ॥ १२८ ॥  
ज्ञान पाय हुलसी मती, शुक्ला छठ मधुमास ।  
संवत् रसं अग्नि कं भू, रच्यो शान्ति परकाश ॥ १२९ ॥  
ज्ञानं प्राप्य मतिर्दृष्टा, रनाऽऽप्त्येन्दुरन्दके ।  
सिते पद्मां मधौ "शान्तिप्रकाशो" रचितो मया ॥ १२९ ॥

आशिवचनम्

अरिहंत-सिद्ध-गण-ईशजी, उपाध्याय सब साध ।  
पंच परमगुरु दीजिये, निम्मेल ज्ञान समाध ॥ १३० ॥  
अर्हन्सिद्धोऽधवाऽऽचार्य, उपाध्यायो मुनिलया ।  
पधेते गुरवो दयुः, शुद्धबोधसमाधिकौ ॥ १३० ॥

इति श्रीमज्जैनाचार्यभद्रलालकृतशान्तिप्रकाशः समाप्तः ॥

"मुसंस्कृतानुवादस्तु, कृतः पुष्पेन्दुभिक्षुणा  
शान्ते वीररसं प्राप्य, मोक्षः सज्जायते ध्रुवम्"



## वीरस्तुति-परिशिष्ट नं० ६

## वीरस्तु भगवान्स्वयम्

जैनेषां निखिलाऽमराऽऽनुत्पदं सर्वान्तरायापहं, हार्दध्वान्तरवि च योग-  
सदनं श्राद्धैकगम्यं परम् । संसारार्णवपोतमत्र निखिलऽऽनन्दालयं तापहं,  
ध्यायेऽहं मनसा धिया च सततं श्रीवर्धमानं जिनम् ॥ १ ॥ महावीरं नमस्कृत्य,  
स्याद्दादगीःपतिं जिनम् । निगदे तज्जन्मवृत्तं, भव्यानां हितहेतवे ॥ १ ॥  
भवार्णवोद्धारकरः, श्रीवीरभगवान् प्रभुः । पवित्रं शासनं यस्य, तदुत्थाने मनोऽ-  
र्पय ॥ २ ॥ अतश्च शासनोत्थाने, भवन्तः पक्षपातिनः । सम्बन्धादिति  
विह्वेयाधोत्थानस्तथके मुदा ॥ ३ ॥ सजितं भाषिखोत्थानकुसुमं स्ववशं नय ।  
सम्भवेऽस्ति श्रिरत्नादिजलधेचनकैरपि ॥ ४ ॥ स्वत्पत्न्यादुपचारस्य, चास्मिन्पुत्या-  
नरूपके । सौरभाभावहेतोश्च, मनो मधुक्रो न हि । ॥ ५ ॥ भवद्भो भगवतं  
चेदं, निशामय ततः परम् । स्वयं कस्य प्रभावेण, इत्यस्त्ववशमानयेत् ॥ ६ ॥  
कृपाकटाक्षं जानीत, भगवत्स्त्वन्विन्तवाः । अस्त्वेतावथ चैतस्य, स्वल्पत्वं  
किञ्चिदस्ति हि ॥ ७ ॥ अस्य विधासमात्रेण, प्रयत्ने करणे पुनः । साहसत्वं  
न सञ्जातमस्मिन्नवसरेऽपि नः ॥ ८ ॥ शासनोत्थानपुष्पान्तर्गतो निरतिशा-  
यकः । मकरन्दः कियानस्ति, प्रोत्थानरूपपुष्पके ॥ ९ ॥ 'वीरस्तु भगवान्  
स्वयं'मिति स्वादे रसस्य हि । अभिलाषो यदोत्पन्नसदा पाठकसङ्घकः  
॥ १० ॥ किञ्चिद्धारय धैर्यं तु, मत्तः सर्वं प्रयासतः । निबन्धस्यास्य सम्बन्धे,  
कथनीयं कियन्मया ॥ ११ ॥ प्रथमं प्रतिपादस्य, विषयस्येदमस्ति हि ।  
सिद्धिः प्रमाणतो ज्ञेया, सिद्धान्तस्येति सम्मतम् ॥ १२ ॥ सौत्र सिद्धान्त-शास्त्रस्य  
प्राचीनेयं मुपदतिः । जैनशास्त्रेषु सूत्रेषु, मुख्यत्वेन मुवर्णितम् ॥ १३ ॥  
'सम्प्रगज्ञानं प्रमाणं' च, प्रत्यक्षेतरमेदतः । द्विविधं शास्त्रतो ज्ञेयं, श्रुतिज्ञानादि  
भावय । ॥ १४ ॥ अवधिमनःपर्ययावेकदेशप्रत्यक्षकौ । केवलं सर्व्वप्रत्यक्षं,  
परोक्षे मतिश्रुतेऽपि च ॥ १५ ॥ इति नीत्या मुविज्ञेयं, प्रमाणद्वयसम्मतम् ।  
प्रत्यक्षं च परोक्षं वा, नान्यदस्ति पृथक् पुनः ॥ १६ ॥ एतद्भयप्रमाणे वै,  
अन्तर्भावोऽन्यकस्य हि । अतश्चैतद्भयस्यैव, निबन्धेऽस्मिन्निबोधनम् ॥ १७ ॥  
हि केषांचिन्मवे न स्यादेतयोरन्तरं पुनः । मान्यतयाऽनयाभावे, वार्ता किं  
बहुल्येवतः ॥ १८ ॥ सुसंकेतोपलब्धिभ्यां, शंका विषयजा पुनः । निब-

रणीया यत्नेन, नात्र कार्या विचारणा ॥ १९ ॥ वार्ताऽन्याप्यस्ति चात्रैव,  
 लेखवृद्धिः प्रजायते । वास्तवज्ञानशून्यं स्यात्कठिन्यं विदुषां भवेत् ॥ २० ॥  
 इति शंका भिया नैव, प्रत्येकविषयस्य हि । प्रमाण स्पष्टरूपेण, न निर्दिष्टमिह  
 स्फुटम् ॥ २१ ॥ जिज्ञासूनां विजिज्ञासा, दृढाय ह्यनुरूपतः । तदा तेषां  
 विनिर्देशोऽवश्यं स्यात्प्रकटं पुनः ॥ २२ ॥ हेतुस्तृतीयो शातव्यो, विवेचनमवा-  
 प्यति । प्रस्तुतविषयस्यापि, \*सम्प्रदायानुसारतः ॥ २३ ॥ लक्ष्ये विशेषं  
 संस्थाप्य, सूक्ष्ममात्रैकदृष्टितः । प्रत्येकस्यात्र लेखस्याऽनुभवाच्छास्त्रतत्सथा  
 ॥ २४ ॥ सर्वसिद्धान्ततः सार्वभौमस्य व्याप्तिरूपतः । अस्ति सम्भावना चास्य,  
 ज्ञानं सम्यक्त्वपूर्वकम् ॥ २५ ॥ कस्यचिद्धेतुतक्षिते, शङ्कोत्पत्तिर्भवेत् हि ।  
 विचारानन्तरं तेषां, शङ्का स्यान्निर्मूलिका ॥ २६ ॥ सर्वत्र भेऽस्ति विद्वांसो,  
 नैवं शंका कदापि हि । चतुर्था च सुवार्तेयं, कस्याऽपि विषयस्य च ॥ २७ ॥  
 प्रतिपादयितुं शक्यत्कयापि भाषया भवेत् । चतुर्विधत्वं सामग्या, अपेक्षा  
 जायते ध्रुवम् ॥ २८ ॥ विज्ञेया सा च सामग्री, निम्नलेखकमेण च ।  
 निर्णयस्त्वसंधानां, प्रथमानुयोगरूपतः ॥ २९ ॥ विचारार्थं च वस्तूनां,  
 साक्षाद्विषयवर्णनम् । कथनोपकथनाचेति, नान्यो हेतुर्मनागपि ॥ ३० ॥ शास्त्रे  
 पूर्वानुयोगं च, धर्मकथानुयोगकम् । कथ्यतेऽत्र विचारेण, तत्त्वज्ञानार्थिभिर्मुदा  
 ॥ ३१ ॥ “धर्मार्थकाममोक्षणानुपदेशमगन्वितम् । पूर्ववृत्तकथोपेतमितिहासं  
 प्रचक्षते” ॥ ३२ ॥ दृष्टवैतयेतिहासोऽपि, चेतना कथ्यतेऽधुना । स्थानत्रेऽपि  
 कथा सेयं, चतुर्धाऽभिनिगद्यते ॥ ३३ ॥ मुख्यं फलं कथायाश्च, तत्त्वनिर्ण-  
 यमेव हि । यः शब्दो यत्परधात्वे, तदर्थोऽपि स एव हि ॥ ३४ ॥ लक्ष्ये  
 धृत्वा पदार्थं यं, शब्दस्य कस्य चैव हि । प्रयोगं यदि कुर्वीत, स शब्दार्थवान्  
 भवेत् ॥ ३५ ॥ सर्वेषां सम्मतं चेदं, सिद्धान्तं संस्फुटं सदा । तदा सम्पद्यते  
 भावः, सर्वत्रैवं विचारय ॥ ३६ ॥ वक्ता बोधयितुं यं हि, बाण्ड्योच्चार्यतेऽ-  
 सकृत् । श्रोत्राऽपि शब्दः स एव, ज्ञायतेऽर्थसमन्वितः ॥ ३७ ॥ ततोऽन्यार्थ-  
 प्रतीतेश्च, श्रोतुर्भवति विभ्रमः । भोजनावसरे यद्वस्तैन्धवेति पदात्ततः ॥ ३८ ॥  
 जन्यते लवणाऽऽबोधो न चान्योऽर्थोऽप्रतीयते । प्रस्थाने ह्यबोधश्च, तद्वद्ब्रह्म-  
 मधारय ॥ ३९ ॥ धोत्रैवं सुविचार्यार्थो, नान्योऽर्थः प्रतिपद्यते । अबोधार्थ-  
 ज्ञापकत्वे, सति शास्त्रप्रमाणकम् ॥ ४० ॥ प्रमाणं तु तदंतत्स्यात्प्रमाण-

विषयस्य च । वास्तविकं च सत्यं च, येन ज्ञानं प्रजायते । आत्मा-  
 तन्दे परं योऽरं रमतेऽहनिशं पुमान् । तत्पदाम्भोजयुग्मेऽस्तु त्रिक्रमं मम  
 वन्दना ॥ ४१ ॥ अत्यालौकिकविधस्य, दृष्टमहृदयमुत्तमम् । स्फुटं विज्ञायते  
 विधं, विधमानन्दपूरितम् ॥ ४२ ॥ आनन्दापेक्षया विधे, विधस्त्रिभङ्गाऽस्ति  
 च । जगतो हि जगद्गमो भिन्नभावं गतोऽस्ति न ॥ ४३ ॥ एकैकप्राणी विध-  
 स्याऽस्त्यानन्दमय एव हि । अस्त्यानन्द-धियस्तेषामतस्त्वृषितस्त्वया ॥ ४४ ॥  
 अभिगन्तुं तमानन्दं विधधर्मा हि साधनम् । तान् धर्मान् प्राणिनो नैजान-  
 न्दायैवोदपीपदन् ॥ ४५ ॥ आनन्दापेक्षया सन्ति, प्राणिनः सदृशाः समे ।  
 भ्यक्तित्वापेक्षया किन्तु, नरा उत्कृष्टप्राणिनः ॥ ४६ ॥ आनन्दस्याभिवृद्धिर्ध-  
 मानवा मुमनोहरान् । आरूपं चानुपायांश्चाऽनेकान् विरचयन्ति ते ॥ ४७ ॥  
 आत्मानन्ददर्शुपायेषु, मनुष्यरचितेषु च । सर्वोऽकृष्ट उपायस्तु, धर्म एवास्ति  
 केवलम् ॥ ४८ ॥ आनन्दस्य स्वरूपं हि, तुल्यं प्रत्येकप्राणिनाम् । सामर्थ्य-  
 मात्मनस्तुल्यमस्ति प्रत्येकदेहिनाम् ॥ ४९ ॥ तुल्यं वास्तविकं रूपमस्ति प्रत्येकदे-  
 हिनाम् । भवेत्साधनधर्मस्य, सत्त्वं तुल्यतोषिता । समानमेव सम्पूर्णमस्ते-  
 तदनुसारतः ॥ ५० ॥ मनुष्यस्तादृशः प्राणी, प्रवीणकरणोऽस्ति यत् ।  
 आत्मानन्दाभिवृद्धिं च, कर्तुं शक्नोति निश्चितम् ॥ ५१ ॥ एतावदेव न परमन्य-  
 च्छृणुत सज्जनाः । अनन्तानुभवं प्राप्ता, आत्मानन्दस्य ये नराः । ते स्वप-  
 क्षाद्भविष्यन्त्या, नरजातेः कृते रातु । प्रज्ञानसाधनाधर्मं, स्थले लक्षया दिवं  
 गताः ॥ ५२ ॥ तेन धर्मस्वरूपेण, साधनेनेतरा नराः । आत्मनो लौकिकानन्द-  
 मवाप्तुं शक्नुवन्ति च ॥ ५३ ॥ लोकेऽन्यप्राणिनश्चास्य, प्रत्यक्षजगतः रातु ।  
 अलौकिकप्रभाषुर्जैर्भवत्यानन्दतुन्दिलाः ॥ ५४ ॥ परन्तियह मनुष्याख्यदेहिनेषु  
 स्वयं किल । निजानन्दमया भूत्वा, तत्रैवानन्दसम्पदा ॥ समन्वविधाप्रतिमाऽऽ-  
 नन्दवृन्दाभिवर्धनम् । उपादेयं सुरम्यं च, विधानं पारयन्ति च ॥ ५५ ॥  
 यो धर्मोऽस्ति नृणां सैवालौकिकानन्दसम्पदा । अभिवृद्धेरिहादर्शरूपोऽस्तीति  
 विभाव्यताम् ॥ ५६ ॥ इयं सृष्टिरनाद्यनन्तकालात्तदनुबन्धिनी । अनन्ततर-  
 रूपेषु, यथावत्संप्रवर्तते ॥ ५७ ॥ आन्वीयानन्ततरेषु, सा सृष्टिर्बुरूपतः ।  
 अलौकिकस्वरूपे चानन्ततरस्वरूपतः । अनन्तकालपर्यन्तं सत्यसाधारणतः ।

अलौकिकानन्दरूपे, नित्याऽवस्थाऽस्य ते स्थिरा ॥ ५८ ॥ विचित्ररूपेवं  
सृष्टिरस्त्यलौकिकवस्तु च । स्थिरा नित्या च साऽक्षीति, सृष्टिमीमांसका जगुः  
॥ ५८ ॥ अस्त्यालौकिकसामर्थ्यभृतालंकरणेषु च । सर्गस्य धर्म एवैकं, सर्वो-  
त्कृष्टं विभूषणम् ॥ ६० ॥ धर्ममीमांसका लोकेऽनेके समभवन्निह । ते लौकिक-  
परिष्काररूपेण हितकांक्षिणः ॥ नैजधर्मविचारत्मकप्रसादेन मञ्जुना । एतन्म-  
हीतलं चालं, चक्रिरेऽलं कृपालवः ॥ ६१ ॥ इदानीं समये चंपामलौकिकप्रसा-  
दिनाम् । निम्ननिर्दिष्टनामानो, भवन्तीक्षणगोचराः ॥ ६२ ॥ वेदान्तः सांख्य-  
योगौ च मीमांसा द्वितयी पुनः । न्यायो वैशेषिको शैवो, वैष्णवस्तात्रिकास्तथा ॥  
स्वामीनारायणो जैनो, बौद्धो मोहम्मदः पुनः । ईशायी पारसीयश्च, यहुदी-  
यादयः परे ॥ ६३ ॥ एषां तदितरेषाञ्च, भिन्नभिन्नमताश्रिताम् । धर्मालङ्कार-  
भूतानामुद्देश्यं त्वस्ति केवलम् । आत्मानन्दाधिगमनमित्यं तत्त्वविदो विदुः  
॥ ६४ ॥ उद्देश्ये सर्वधर्माणामेकीभावमुपागते । तत्साधनानि सर्वानि,  
मजन्तीहैकरूपताम् ॥ ६५ ॥ पृथक् पृथक् देशकालावाधारीकृत्य ते ननु ।  
अन्योऽन्यभिन्नरूपैश्च, सम्प्रवृत्ता भवन्ति च ॥ ६६ ॥ तत्रार्हतानां तद्देश्यं, ज्ञानं  
केवलमात्मनः । किं च तस्य हि कैवल्यप्रापणं केवलोदयात् ॥ ६७ ॥ एतदेवा-  
भिमन्यन्ते, योग-वेदान्ति-वैष्णवाः । स्वामिनारायणश्चापि, जैनेनेत्यमिहोच्यते  
॥ ६८ ॥ “जे एगं जाणइ से सर्वं जाणइ” एकं जानाति यो नाम, सर्वान्  
जानाति स ध्रुवम् ॥ ६९ ॥ वेदान्तीया भगवती, श्रुतिरप्याह तथथा ।  
“आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति” ज्ञाते सत्यात्मनं ज्ञातं, भवतीदम-  
शेषतः ॥ ७० ॥ “अप्पा सो परमप्ये”ति, जैना अभिदधत्यय । वेदान्त-  
कान्तसिद्धान्तभारतीत्यमुदीर्यते ॥ “अहं ब्रह्मास्मि” “तत्त्वमसि” “प्रज्ञानं  
ब्रह्म” “अयमात्मा ब्रह्म” ॥ ७१ ॥ अहं ब्रह्माऽऽस्म्यसि त्वं तत्, प्रज्ञानं ब्रह्म  
कीर्त्यते । अयमात्माऽपि तद्ब्रह्म, सच्चिदानन्दरूपि यत् ॥ ७२ ॥ सन्ति वेदस्य  
चत्वारो, भागास्तेषु चतुर्षु च । अस्त्येकैकं महावाक्यं, दर्शयते तद्यथाक्रमम्  
॥ ७३ ॥ “अहं ब्रह्मास्मि” “यजुषः” साम्नस्तत्त्वमसीति च । “प्रज्ञानं ब्रह्म”,  
ऋग्वेद’ “स्वायमात्मैत्यधर्मवः” ॥ ७४ ॥ चतुर्थेषु वाक्येषु, वाक्यं  
तत्त्वमसीति ह । उपयोगितरं शश्यन्मननीय च विद्यते ॥ ७५ ॥  
जैनानेद्यन्तसिद्धान्तनियमश्चायमस्ति च । “नाप्ये पुन नियमा आया” शानेन

॥ ७६ ॥ आर्हतैरुच्यते जन्ममृत्युरूपा तु संस्मृतिः । कर्मद्वारा प्रचलति, तच्च कर्मैर्जडं स्मृतम् ॥ ७७ ॥ कर्मणोऽस्य नियन्तात्माऽस्तीत्येवं सर्वसम्मतम् । अधिष्ठानं कर्मजन्मं, सृष्टेरत्माऽयमस्ति च ॥ ७८ ॥ वेदान्तेनोच्यते मायाद्वारं जन्मादिसम्मतम् । आत्मरूपेश्वरधास्यानियामकमुदीर्यते ॥ ७९ ॥ स्याद्वादिनो वदन्त्येवं, कर्मोपाधौ तयं मते । आत्माऽयं जन्मनरणवन्धनान्मुच्यते-तराम् ॥ ८० ॥ वेदान्तकान्तसिद्धान्तवागत्रेत्यं प्रवर्तते । मायोपाधौ, सर्वं प्राप्ते, भवादात्मा विमुच्यते ॥ ८१ ॥ जैनेनाऽ'पुनरावित्ती'त्युक्तेत्यमभिधीयते । भक्त्यपुनरावृत्तिर्भवे मुक्तस्य चात्मनः ॥ वेदान्तोऽभिदधात्वात्मा, पुनरावर्तते न हि । शीताया कृष्णचन्द्रेण, प्रोक्तमित्यं महात्मना ॥ "यद्रत्ना न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम" ॥ ८२ ॥ "एने आये" इति वाक्येन, जैनस्त्विदं प्रभाषते । 'एकोऽस्त्वात्मा'शुण-शब्द-पर्यायापेक्षया यत् ॥ "एकोऽहमिति" वेदान्तोऽप्यत्रार्थे कृतसम्मतः ॥ ८३ ॥ जैनाया च मते \*तर्को, नात्मानं वेत्ति तत्त्वतः । तथा धीयात्मरूपं हि, नातुं शक्नोति वाक्त्वम् ॥ ८४ ॥ इदतो निवर्तते वाणी, सदैव मनसा मुहुः । जैना ददन्ति चाक्षुषं, परिपूर्णतमं परम् ॥ ८५ ॥ जानयन्ति ये च तद्ब्रह्मैवम्यं प्राप्नुवन्ति ते । वेदान्तिनोऽपिष्टे चास्मिन्भये ब्रह्म सनातनम् ॥ ८६ ॥ व्यापक सच्चिदानन्दस्वरूपं वर्णयन्ति च । शास्त्रेऽच्छेयनमेवं च, तथाऽदात्मशोष्यकम् ॥ ८७ ॥ अवध्यमस्मिन्नगति, नात्मा नैव प्रहस्यते । कदाचिन्नं चक्षुभ्यां, मृग्युज्जम विवर्जितः ॥ ८८ ॥ सच्चिदानन्दरूपश्च, जीवात्मा हि स्वभावतः । शिखायाकशभूतेषु, नशये-ष्वपि सर्वतः ॥ ८९ ॥ परिपूर्णतमस्त्वधैतन्यशुणसंयुतः । जीवात्मा चैतनारूप-सच्चिदानन्दविग्रहः ॥ ९० ॥ न तदिकं किञ्चिदपि, स्थानं चाश्वि भवे कश्चिद् । चैतन्याभयजीवस्य, रष्ट्या, सर्वं सिद्धात्मकम् ॥ ९१ ॥ सागमाया च सम्भङ्ग, इति वेदान्तिनोऽप्युक्त्वा । तथा जैना वदन्तीत्यमात्माऽनन्तश्च शान्त्युक्त्वा ॥ ९२ ॥ सनातनं व्यापकं च, ब्रह्मवेदान्तिनो विदुः । स्वयं शुद्धे विद्युदथ, निजानानन्दरूपभाक्त्वा ॥ ९३ ॥ सर्वज्ञः सर्वदर्शीति, जैनाथैवं वदन्त्यदः । सुब्रह्म-

\* "तथा जल्प न विद्मद्, मद् तल्प ण गहिता ।" † "वतो वाचो, विवर्तन्ते, अप्राप्य मरणा सह" । ‡ "कैवल्यपदमस्तु ते" । § "निर्दोषपूर्णशुणविग्रह आत्मतन्त्रो, निधेतनात्मकशरीरगैथ, हीनः । आकन्दनाप्रकरणादनुगोदपदि, सर्व्यत्र च त्रिभिधनेदविचरितात्मा ॥ १ ॥



चार्यसिद्धान्ते, स्थितिरेषा सनातनी ॥ ९४ ॥ निर्दोषः पूर्णगुणवानात्मानन्द-  
 गुणाधितः । स्वतन्त्रः सर्ववित्साक्षी, शरीरगुणवर्जितः ॥ ९५ ॥ तथात्मा  
 करपादादिमुखादीन्द्रियवर्जितः । स चावयवादिभेदेन, कल्पनाकरणेऽपि च  
 ॥ ९६ ॥ सदानन्दमयो निलो, वासनारहितो विभुः । श्लोकोक्तात्मतत्त्वस्य,  
 कल्पनावयवस्य च ॥ ९७ ॥ केवलानन्दरूपश्च, नास्त्रय च विकल्पनम् । जन्म-  
 मृत्युजरादिभ्यो, व्यतिरिक्तश्च सर्वदा ॥ ९८ ॥ जन्मोत्पत्तिप्रभङ्गादिभेदशून्योऽ-  
 स्ति निर्मलः । जन्मादित्रिविधो भेदस्तद्भिन्नं चात्मरूपकम् ॥ ९९ ॥ ब्रह्मा-  
 चार्यस्य मते, ज्ञेयं तत्तत्त्वदर्शयिभिः । सज्जैनमतसिद्धान्ते, नात्मा कर्तेति निश्चयः  
 ( निश्चयनयेनेत्याशयः ) ॥ १०० ॥ साङ्ख्यशास्त्रविदश्चाह, \*कर्ताऽहङ्कार एव च ।  
 न कर्तृत्वं चात्मनश्च, निर्लेपत्वादविक्रियात् ॥ १०१ ॥ किन्तु पुरुषोऽकर्तृत्वं,  
 प्रवदन्ति मनीषिणः । ईश्वरः सर्वविजिलो, रागद्वेषादिवर्जितः ॥ १०२ ॥  
 ज्ञानविज्ञानसम्पन्न, श्लेषं वर्णयन्ति च । जेनाथेत्थ योगशास्त्रं, ज्ञेशकर्म-  
 विपाकतः ॥ १०३ ॥ आशयेनापरामृष्टेश्वरः पुरुषोत्तमः । रागद्वेषादयो  
 भावा, न स्पृशन्ति सदीश्वरम् ॥ १०४ ॥ सर्वज्ञत्वमीश्वरे चास्ति, आत्मा  
 चैतन्यरूपवान् । एवं निगद्यते शास्त्रे, चानन्तो निष्कलोऽव्ययः ॥ १०५ ॥  
 निर्विवादः सदात्मास्ति, चैतन्यगुणः संयुतः । निष्कियो निष्कलस्तद्ब्रह्मा-  
 पको गुणतः पृथक् ॥ १०६ ॥ तन्माया जगता कर्त्रा, चिच्छक्तिर्गुण-  
 विप्रहा । ईसत्यज्ञानमनन्तश्च, ब्रह्मेति श्रुतिषम्मतम् ॥ १०७ ॥ ब्रह्म-  
 स्वरूपे पापपुण्ये, न स्तो दुःखमुखे तथा । नास्ति क्विचिज्जगत्सिन्ध्यापकत्वं  
 विना स्थितम् ॥ १०८ ॥ सच्चिदानन्दरूपेण, शिवोऽहं नेतरः क्वचित् ।  
 केवलज्ञानसम्पन्नोऽत्रैव मोक्षानुभावकः ॥ १०९ ॥ इति जैनमतं शश्वज्जागर्ति  
 प्रभुरीश्वरः । इदमेव मतं ज्ञेयं, सहजानन्दस्वामिनः ॥ ११० ॥ अक्षर-  
 स्थानमात्मैव, स्वयं चाक्षयरूपवान् । आत्मानं च विजानीयादक्षरं परमं  
 परम् ॥ १११ ॥ तज्ज्ञानं सत्यमित्युक्तं, तदन्यत्सकलं मुधा ।

\* “अहङ्कारः कर्ता न पुरुष इति साख्यः” । † “ज्ञेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः” । ‡ “तत्र सर्वज्ञमीजम् ।” § सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । § न पापं न पुण्यं न दुःखं न सुखं न, चिदानन्दरूपं शिवोऽहं

आकशादिस्थले यच्च, ज्ञानं सिध्यामय । च तत् ॥ १११ ॥ प्रणामिर्गार्भ-  
 यिणो, देवचन्द्रादयो मुहुः । स्वसम्प्रदायके नित्यं, निजानन्दमतं जगुः  
 ॥ ११२ ॥ दृष्ट्याऽनया दर्शनेन, भारतेऽत्र मुधर्मिणाम् । जनानामात्मवत्त्वस्य,  
 सिद्धान्तप्राप्तये मुदा ॥ ११४ ॥ माहम्मदोऽपि वदति, भवेत्सिन्यतप्रतीयते ।  
 चैतन्यमेव तत्सर्व्वं, नान्यत्किञ्चिद्विभाव्यते ॥ ११५ ॥ सुदा निरलनः साक्षी,  
 निरकारोऽतिशक्तिमान् । तेजोमयो ह्यनन्तश्च, सवेत् इति निखयः ॥ ११६ ॥  
 मोमिन्नाख्यश्च, सततं, कृपाञ्जुं स्वसमीपगम् । परवत्त्वं सुदाऽहं च, सुदा-  
 र्हाणो निज्जालनः ॥ ११७ ॥ जिसिसक्राइष्टमतं, तद्गच्छुर्षाकाशरूपपरि ।  
 खेभूर्गिराजवे स हि, भक्तात्मा परिकीर्तितः ॥ ११८ ॥ भक्ताश्च तं प्रपश्यन्ति,  
 तथा भूमण्डलेऽपिले । निरुयातकीर्तिवृद्धोऽपि, स्पष्टं समुक्त्वानिति ॥ ११९ ॥  
 "प्रेमैवात्मा" जगत्सिन्, प्रलेक श्रानिणो मुदे । स्थापनीयं च प्रेमैवाभेदभाव-  
 समाश्रयैः ॥ १२० ॥ तत्त्वज्ञानस्य दृष्ट्या तु, दर्शनेन प्रतीयते । जैनो वेदान्त-  
 योगौ च, सांख्यबौद्धौ तथा पुनः ॥ १२१ ॥ अनुभवं चैकतायाः, कुर्व्वन्तीति  
 विभाषय । नेतुं वै चैकतायास्तु, तथानन्दस्विरुदये ॥ १२२ ॥  
 भिन्नं च भाषनं कर्तुं, भिन्नधर्मत्वात्था पुनः । भिन्नो वेद्यत्वात्था ब्रह्मो, विभिन्ना  
 पदतिः पुनः ॥ १२३ ॥ मीमांसकैर्विनिर्दिष्टा, विभिन्नं सर्वसाधनम् । अथ  
 एक बहिर्दृष्टा, ज्ञायते मत्कर्मणाम् ॥ १२४ ॥ भेदाभेदकिया सर्वा, तथापि  
 तद्विद्वान्वयम् । कुर्मात्त्वभेदभावं च, भजते प्रेमभावतः ॥ १२५ ॥ जैनाद्या-  
 हुर्महाप्रतं, यौद्धास्तत्त्ववशीलकम् । \*योगे पञ्चात्मकं प्राइ, यमं शमदमादिकम्  
 ॥ १२६ ॥ वेदान्ते प्रवर्तनीयो, नियमांऽपि महत्तमभिः । प्रत्येकं धर्मनीतिर्हि,  
 दयापरोपकारिता ॥ १२७ ॥ प्रेनादितानान्यमिति, सर्वसामान्यनिर्णये ।  
 नियमोऽपि गृहस्थानां, तथा धर्मं समानता ॥ १२८ ॥ उपयोमितोपभोवश्च,  
 कुर्व्वन्तीति निसाम्यताम् । वैराग्यलक्षणं तद्भक्तसमस्यं तुल्यमेव च  
 ॥ १२९ ॥ सर्वत्र प्राप्य चैकमेवमिति सन्धार्यतां मुहुः । ज्ञानिनां वर्तने  
 दृष्ट्या, जैनानां वर्तनं तथा ॥ १३० ॥ सित्वंश्रानिभेरिलेवं, समं भाव-  
 समानता । स्थापनीया न न्यूनतद्विभित्तव्या नियमस्तथा ॥ १३१ ॥ प्रवीति

\* "शमदमोपरतितिक्षाध्वाद्यः समाधानाः ।" ["मित्तने सम्ब-  
 भूपसु" ] "आत्मयत्सर्वभूतेषु" मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वापि भूतानि समीक्षे ॥  
 गङ्गवेद १८-३ ॥

नियमं चैव, शायतामित्यतः पुनः । सर्वं मित्रचदापश्येदात्मवत्सर्वे-  
 प्राणिषु ॥ १३२ ॥ ज्ञानी जनो निजात्मानं, जीवात्मानं तथैव च । एकी-  
 भावेन सम्पश्येदिति प्राह श्रुतिर्मुहुः ॥ १३३ ॥ देहमीमांसकानां च, अने-  
 कान्तिकदृष्टितः । औदारिकं तेजसं च, कामणं यच्च कथ्यते ॥ १३४ ॥ शरीरं  
 चैव वेदान्तमतालम्बनतत्परः । स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च, त्रिविधं वर्णयन्ति च  
 ॥ १३५ ॥ ज्ञानविज्ञानयोर्यच्च, कारणं प्रोच्यते बुधैः । जैना यज्जाग्रतं स्वप्नं,  
 तुरीयं प्रवदन्ति च ॥ १३६ ॥ वेदान्तेऽपि तथैवास्ति, त्रिधाऽवस्था स्वरू-  
 पतः । तथा संश्रुतिमीमांसाज्ञानज्ञाः प्रवदन्ति च ॥ १३७ ॥ मनसः  
 परिणामेन, बन्धो मोक्षो हि जायते । सृष्टिः सङ्कल्पतो ज्ञेया, वेदान्तम-  
 तशालिनः ॥ १३८ ॥ मानसिकं तु जैनानां, \*परिणाममथाऽपि वा । अथ-  
 वसायं च वेदान्ते, संकल्पं चैकमेव हि ॥ १३९ ॥ प्रत्यक्षं दृश्यते चैकः,  
 साधनाभेदभावतः । साध्यथात्मा हि प्रत्यक्षं, ज्ञायतेऽभेद एव हि ॥ १४० ॥  
 अनुभवेऽप्येवमेवं, प्रत्येकं च मुमुक्षुभिः । जीवात्मनि प्रेमभावः, स्थापनीयं  
 सदैव हि ॥ १४१ ॥ सर्वावस्थामु सर्वत्र, मर्मवास्ति स्वरूपकम् । पठित्वेदमभे-  
 देन, प्रेमैव स्थाप्यतां सदा ॥ १४२ ॥ एतत्प्रमाणतथात्मानन्दाप्तेः साधनानि च ।  
 कुर्वन्समन्वयं सर्वभेदभावेन सर्वदा ॥ १४३ ॥ चलंस्तिष्ठन्नपविशन्निबन्धा-  
 दन्स्वसन्स्वपन् । सर्वक्रियासु सर्वत्र, शुद्धश्चेतन्यरूपवान् ॥ १४४ ॥ अह-  
 मात्मा चेदृशी वै, भावना स्थाप्यतां मुहुः । न चैतावदि विज्ञानं, भूतमात्रं  
 मदीयकम् ॥ १४५ ॥ स्वरूपं प्रत्युतैवं च, ज्ञातव्यं च विशेषतः । ज्ञातव्यं  
 प्रतिताम्भतया, प्रेमभावप्रवर्षणम् ॥ १४६ ॥ कर्तव्यमित्थं ये चैव, पुरुषा  
 जगतीतले । स्थापयन्त्यभेदभावं, वीतरागास्त एव हि ॥ १४७ ॥ पूर्णाश्च  
 कृतकृत्याश्च, ते सन्ति भुवि चोत्तमाः । वीतरागो देवदेवो, महावीरः प्रताप-  
 वान् ॥ १४८ ॥ धन्योऽस्ति योहि निष्पक्षपातेन सुन्दरो मुहुः । मार्गोऽभेदा-  
 त्मको भावो, दर्शितो जनतामुदे ॥ १४९ ॥ विनि.स्वार्थतया यो हि, प्रकटं  
 कृतवान्मुहुः । सत्यस्वरूप एवास्ति, स एव परतः परः । स्वतन्त्रत्वस्य  
 यथास्ति, द्वारमेतत्प्रधार्प्यताम् ॥ १५० ॥ भावार्थः—जो पुरुष केवल आत्मा-  
 नन्दमें ही अहर्निश रमण करते हैं, उनको त्रिकाल वन्दना है । इस

अलौकिक विश्वके मुख्य और सौन्दर्यपूर्ण दृश्यकी ओर दृष्टि फैलानेपर स्पष्टतया नजर आता है कि अखिल विश्व आनन्दके परिपूर्ण है। अर्थात् अखिल विश्वमें आनन्दकी अपेक्षासे एकता है। जगत्के उसके धर्म निश्च नहीं हैं, विश्वके प्रत्येक प्राणी आनन्दमय हैं, उन्हें आनन्द ही प्रिय है अतः उसीकी इच्छामें तन्मय हैं। उस आनन्दको प्राप्त करनेके लिये साधन रूप ही विश्वके धर्म हैं, और उन धर्मोंको प्राणियोंने अपने 'आनन्द' के लिये ही उत्पन्न किये हैं, और आनन्दकी अपेक्षा जगत्के सब प्राणी समान हैं। तथापि व्यक्तिकी अपेक्षासे यदि देखा जाय तो मनुष्य एक उत्कृष्ट प्राणी है, और वह आनन्दकी अभिवृद्धिके लिये अनेक आकर्षण एवं मुख्य उपायोंकी रचना करता रहता है। मनुष्यके रचे हुए आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके उपायोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट उपाय है। प्रत्येक प्राणीके अन्तर्गत आनन्दका स्वरूप समान है। प्रत्येक प्राणीके आत्माका सामर्थ्य समान है। प्रत्येक प्राणीका वास्तविक स्वरूप भी समान है। तब तो इस अपेक्षासे साधन रूप धर्मोंका होना भी समान ही ठीक है, और उसके अनुसार सम्पूर्ण समान ही हैं। मनुष्य कुछ ऐसा प्राणी है कि वह आत्मानन्दकी अभिवृद्धि बहुत जल्दी कर सकता है। इतना ही नहीं बल्कि जो जो मनुष्य आत्मानन्दका अनन्त अनुभव प्राप्त कर चुके हैं वे वे मनुष्य अपने पीछेकी अर्थात् भविष्यकी मनुष्य जातिके लिये पाया हुआ आत्माका साधन रूप धर्म भूतलवादी मनुष्य जातिके लिये स्मारक रूपसे छोड़ गये हैं। उस धर्म रूपी उपकरण या साधन द्वारा इतर मनुष्य आत्मानन्दके अलौकिक आनन्दत्वको प्राप्त कर सकते हैं। जगत्के अन्य प्राणी इस प्रत्यक्ष विश्वकी अलौकिक प्रभासे आनन्दित होते हैं। परन्तु मनुष्य संज्ञका प्राणी तो स्वयं निजानन्दमय बन कर उस अपने आनन्द द्वारा अखिल विश्वके अप्रतिभ आनन्दमें मुख्य तथा उपादेयकी अभिवृद्धि कर सकता है। मनुष्योंका जो धर्म है वही अलौकिक आनन्दकी अभिवृद्धि वागणी रूप है। वह सृष्टि अनन्त कालसे अनन्ततत्त्वके रूपमें ज्योंकी त्यों चली आ रही है, और ध्रुव रूपसे अनन्त तत्त्वमें अनन्त तरंग रूपसे अलौकिक स्वरूपमें अनन्त ध्रुव तक शाश्वत स्वरूपमें ही-सब स्वरूपमें ही अलौकिक आनन्द रूपसे स्थिर और निश्च रहेगी। सृष्टि नीमांशक क्षात्री नी यही कथन करते

हैं कि यह सृष्टि अलौकिक वस्तु है, और यह नित्य तथा शाश्वत है। इस सृष्टिके अलौकिक सामर्थ्यसे भरपूर अलंकारोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट अलंकार है। जगत्में अनेक धर्ममीमांसक हो गये हैं, और वे अलौकिक अलंकार रूपसे अपने धर्मविचाररूप प्रसादीसे इस भूतलको अलंकृत कर गये हैं। इन अलौकिक प्रसादियोंमें इस समय वेदान्त, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, शैव, वैष्णव, स्वामी-नारायण, मुस्लिम, इसाई, यहूदी, पारसी आदि मुख्यतासे दृष्टिगोचर होते हैं। इनका तथा इनके अतिरिक्त और और अनेक धर्मालंकारोंका हेतु केवल आत्मानन्दको ही प्राप्त करनेका है। सर्वे धर्मका हेतु एक होकर उनके साधन भी एक ही हो जाते हैं, और वे अलग अलग देस कालपर आधार रखकर अलग अलग रूपोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं। जैनका हेतु केवल आत्माका पहचानना और उसे मोक्ष तक ले जाना ही है। वेदान्तिक, वैष्णव, स्वामीनारायण, तथा योनीजन भी यही कहते हैं। जिनमें जैन कहते हैं कि—‘एगं जाणइ से सब्बं जाणइ’ जो एकको जानता है वह सबको जानता है। वेदान्तकी भगवती श्रुति भी कहती है—‘आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।’ एक आत्माके जाननेसे यह सब कुछ जाना जा सकता है। जैन कहते हैं कि—“अप्पा सो परमप्पा” आत्मा ही परमात्मा है। तब वेदान्त कहता है कि—‘अहं ब्रह्मासि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।’ ‘मैं ब्रह्म अर्थात् परमात्मा हूँ’ ‘तू भी वही है’ प्रकर्ष तथा सम्यग्ज्ञान ही ब्रह्म है। ‘यह आत्मा ब्रह्म है’। वेदके चार खंड हैं, इन चारों खंडोंमें एक एक महावाक्य है। ‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ यह ऋग्वेदका, ‘अहं ब्रह्मासि’ यह यजुर्वेदका, ‘अयमात्मा ब्रह्म’ यह अथर्ववेदका और ‘तत्त्वमसि’ यह सामवेदके छादग्योपनिषद्का महावाक्य है। जैन सिद्धान्तका नियम है कि—“नाणे पुण नियमा आया।” ‘ज्ञानमें नियमसे आत्मा है’ वेदान्त भी यही कहता है कि—“प्रज्ञानं ब्रह्म” ‘प्रज्ञान ही आत्मा है’ जैन कहते हैं कि—जन्ममृत्यु रूपक सृष्टि कर्मके द्वारा चलती है, और वे कर्म जड़ हैं। इन कर्मोंका नियामक आत्मा है। यानी आत्मा कर्मजन्य सृष्टिका अधिष्ठान है। वेदान्त कहता है कि—मायाके द्वारा ये जन्मादि हैं और इसका नियामक आत्मारूप ईश्वर है। जैन कहते हैं कि—कर्मों-

पाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष होता है । वेदान्त कहता है कि मायो-  
पाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष है । जैन कहते हैं कि—आत्माका  
मोक्ष होनेपर 'अपुनराविति' संसारमें पुनरागमन नहीं होता अर्थात्  
आत्माको फिरसे जन्म मरणके चक्रमें नहीं आना पड़ता । वेदान्त कहता है  
कि—“न पुनरावर्तते” आत्माकी पुनरावृत्ति नहीं होती । गीताजीमें भी  
कृष्णचन्द्रजीने कहा है कि—“यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्वाम परमं मम” ‘जहां  
गये बाद फिर आना नहीं पड़ता’ वही मेरा परमधाम है । अर्थात् पर-  
मात्माके धामको परमधाम कहते हैं या मोक्ष कहते हैं । वहां जानेपर  
फिर वापस नहीं आना होता । जैन कहते हैं कि—‘एणे आया’ आत्मा  
द्रव्य गुण पर्यायकी दृष्टिसे एक है । वेदान्त कहता है कि “एकोऽहम्”  
में एक हूं । जैन कहते हैं कि—“तद्वा जत्थ ण विज्झइ, मइ तथ ण गाहिता”  
तर्क आत्माके स्वरूप तक नहीं पहुंच सकता, और मति उस आत्माके  
स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सकती । वेदान्त कहता है कि—“यतो वाचो  
निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह” जहांसे वाणी वापस फिर जाती है वह  
आत्म-स्वरूप मन द्वारा अप्राप्य है । भावार्थ यह है कि—मन और वाणी  
उस आत्मा का वर्णन नहीं कर सकते । जैन कहते हैं कि—आत्माको सम्पूर्ण  
या अखंड रूपमें जानने वाले मनुष्य कैवल्य ज्ञानको पाते हैं । वेदान्त कहता  
है कि—“कैवल्यपदमस्तुते” आत्मा कैवल्य पदका अनुभव करता है ।  
वेदान्त कहता है कि—अखिल विश्वमें सच्चिदानन्द परब्रह्म सर्वभ्यापक है ।  
जैन कहते हैं कि—अखिल विश्वमें नारनेसे मरता नहीं, जलानेसे जलता  
नहीं, काटनेसे कटता नहीं, भेदन करनेसे भेदित नहीं होता, और चर्म-  
चक्षु द्वारा बीस नहीं सकता, ऐसा सच्चिदानन्द स्वरूप जीव स्वाभाविकतासे  
सघनः रूपमें भरे पड़े हैं । आकाश, पर्वत, पृथ्वी, नक्षत्र आदि कोई  
भी स्थान जीवसे खाली नहीं है । अर्थात् चैतन्यलक्षणयुक्त जीवकी दृष्टिसे  
देखनेपर चैतन्यदेव समस्त लोकमें भरपूर है । वेदान्त कहता है कि आत्मा  
सर्व सर्वज्ञ है, जैन भी यही कहते हैं कि आत्मा अनन्त ज्ञानमय है ।  
वेदान्त कहता है कि ब्रह्म सनातन है । जैन कहते हैं कि आत्मा सर्व  
शुद्ध-शुद्ध आनन्द स्वरूप है और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है । वेदान्त और  
सांख्यादि भी यही कहते हैं । ब्रह्मभाचार्य मतप्रवर्तक कहते हैं कि—निर्दोष-

पूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा ॥  
 आत्मतन्त्र अर्थात् मात्र आत्म-स्वरूप निर्दोष है । पूर्णगुण विग्रह है । पुनः जडात्मक शरीर और गुणसे भिन्न है । इस आत्म स्वरूपके हाथ, पैर, मुख, उदर इत्यादि अवयवोंकी कल्पना करने पर मात्र आनन्द ही है अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दमय भेद भाव रहित है । आत्म-तत्त्वके अवयवोंसे श्लोकमें की गई कल्पनामें केवल आनन्द ही इसके अवयव हैं । यह स्पष्टतासे समझमें आ जाता है । इस आत्म-स्वरूपमें जन्म, जरा और मृत्यु रूपी भेद नहीं है । उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप त्रिविध भेदसे यह आत्म-स्वरूप भिन्न है । जैन कहता है कि—निश्चय नयसे तो आत्मा अकर्ता ही है । सांख्य शास्त्र कहता है कि—“अहंकारः कर्ता न पुरुषः ।” कर्ता, धर्ता अहंकार है पुरुष नहीं, अर्थात् आत्मा कुछ नहीं कर्ता, प्रत्युत अकर्ता है । जैन कहता है कि—“ईश्वर सर्वज्ञ होता है, तथा उसमें राग द्वेष आदि कुछ भी नहीं हैं । योग शास्त्र कहता है कि—“क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।” क्लेश, कर्म, विपाकके आशयोंके साथ असंस्पृष्ट-अलिप्त है, वही पुरुष विशेष पुरुषोत्तम और ईश्वर है यानी ईश्वरको राग द्वेष क्लेश कर्मविपाक नहीं छू सकते । “तत्र सर्वज्ञवीजं” उस ईश्वरमें सर्वज्ञत्व होता है । आत्मा अनन्त तत्त्व रूप है । वेदान्त कहता है कि—“सर्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।” ब्रह्म स्वरूपमें पाप, पुण्य, सुख या दुःख नहीं है । पुनः वेदान्त कहता है कि—“न पापं न पुण्यं न दुःखं सुखं न । चिदानन्दरूपं शिवोऽहं शिवोऽहं ॥” “मेरा आत्म-स्वरूप शिव है, और उस शिवस्वरूप आत्मामें पाप, पुण्य, सुख दुःख नहीं है, क्योंकि वह सच्चिदानन्द रूप है । जैन कहते हैं कि—केवलज्ञानी यहाँ ही मोक्षका अनुभव करते हैं । इसीसे मिलता जुलता स्वामीनारायण मत प्रवर्तक श्री सहजानन्द स्वामीका भी यही मत है कि—“अक्षर धाम यहीं है, आत्मा स्वयं अक्षर स्वरूप है । जो आत्माको यहाँके लिये भी अक्षरधाम समझता है उसीकी समझ सही है, और जो अक्षरधामको किसी अन्य स्थल आकाशादिमें समझते हैं उनकी समझ मिथ्या है । प्रणामीपंथ अर्थात् खीजडापंथ प्रवर्तक महेरात ठाकुर तथा श्री देवचन्द्रजी वीर. २१

अपनी सम्प्रदायको निजानन्द सम्प्रदाय कहते हैं। इस दृष्टिसे देवनेपर पता चलता है कि भारतके धर्मात्मा पुरुषोंका सिद्धान्त आत्मानन्दके पानेका ही है। मुहम्मद साहब भी यही कहते हैं कि जगतमें जो भी कुछ चैतन्य प्रतीत होता है वह खुदाकी रवानी है, खुदा निरंजन, निराकार, तेजोमय और सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है। मोमिन तो कृपाळु खुदाको अपने पास ही देखते हैं। खुदाका अर्थ भी खुद ही होता है। जिसिसफाइस्टका भी यही उपदेश है कि चाँधे आत्मानपर प्रभु विराजमान हैं। वह प्रभु भक्तोंका आत्मा है, और परम भक्त उस प्रभुको प्राप्त करते हैं। अखिल भूमण्डलमें सर्वोत्कृष्ट कीर्तियोंके पानेवाले सुद्धदेव भी स्पष्ट कह गये हैं कि प्रेम ही आत्मा है। अतः जगत्के प्रत्येक प्राणीमें अनेक प्रेम रक्तो। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो जैन, वेदान्त योग, सांख्य, बौद्ध आदि सब एकतावा ही अनुभव करते हैं। एकता पानेके लिये अर्थात् आत्मानन्दमें अभिवृद्धि करनेके लिये साधनोंको भिन्न भिन्न धर्म भीमांसकोंने भिन्न-भिन्न देश कालमें भिन्न-भिन्न पद्धतिसे समझाया है। अतएव बहिर्दृष्टिसे देखा जानेपर उन मतोंकी क्रियाओंमें भेद जान पड़ता है। तथापि उन क्रियाओंका समन्वय किया जाय तो वे भेद भी अनेक भाव भजने लगते हैं। जैन जिसे पाँच महाप्रत कहते हैं, बौद्ध उन्हें पाच शील कहते हैं, और योगी उन्हें पाँच यम कहते हैं। वेदान्तके शम, दम, उपरति, वितिक्षा, श्रद्धा और समान भी ऐसे ही हैं। परमहंसोंके बर्तन करने योग्य नियम भी अन्तमें एक ही हैं। प्रत्येक धर्मके नीति, दया, परोपकार, प्रेम आदिके सामान्य और सर्वमान्य नियम भी गृहस्थ धर्ममें समानता तथा उपयोगिताका उपयोग करते हैं। समतादि वैराग्यके लक्षण भी सबमें समान रूपसे ही पाये जाते हैं। ज्ञानी पुरुषोंके बर्तावकी ओर दृष्टि डालते हुए जैनोंका बर्ताव "मिस्ति मे सब्व भूयेसु" सब प्राणियोंके साथ मित्रता अर्थात् समान भाव रक्षना चाहिये न्यूनाधिक न होना चाहिये। वेद भी कहता है कि— "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।" 'सबको मित्रकी दृष्टिसे देखना चाहिये।' 'आत्मधत्सर्वभूतेषु' ज्ञानी पुरुष अपनी आत्माके समान सब जीवोंको देखते हैं। वेद भीमावकोंकी तरफ दृष्टि डालनेपर जैन मुह्य-



साधे, औदारिक, तेजस, कामेण शरीर कहते हैं । इसी प्रकार वेदान्ती भी उन ही शरीरोंको स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहते हैं । जैन जिसे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और उजागर या त्र्यावस्था मानते हैं, उन अवस्थाओंका वर्णन वेदान्ती भी उसी प्रकार करते हुए सन्तोष प्रगट करते हैं । संसृति मीमांसकोंके कथनको देखते हुए जैन यह कहते हैं कि—“परिणामो बन्धो परिणामे मोक्षो ।” “मनके परिणामसे ही बन्ध और मोक्ष है ।” वेदान्ती संकल्पसे छट्टि मानते हैं । जैनोंका मानसिक अध्यवसाय और परिणाम तथा वेदान्तका संकल्प एक ही बात है । इन प्रमाणोंसे आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके साधनोंका यानी धर्मोंका समन्वय करते हुए वे सब अमेद भावमें प्रत्यक्ष समाये हुये दीखते हैं । साधन अमेद होनेसे साध्य आत्मा भी प्रत्यक्षमें अमेद ही समझा जाता है, और अनुभवमें भी यही आता है । अतः प्रत्येक सुसुष्ठु जीवको प्रत्येक जीवमें प्रेम भाव रखना चाहिये, और सब जगहोंमें ही सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है, यही पाठ पढकर अमेद प्रेम रखना चाहिये । हलते, चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते इत्यादि सब क्रियाओंमें सुद्ध चैतन्य आत्म-स्वरूप हूं यही भावना रखनी चाहिये । इतना ही नहीं, बल्कि—जगत्के सब भूत भी मेरे ही स्वरूप हैं । यह जानकर उनके प्रति अमेद प्रेमकी बर्षा करनी चाहिये । इस प्रकार जो पुरुष सब जगत्पर अमेद भाव रखते हैं, वे ही वीतराग हैं, पूर्ण हैं, और कृतकृत्य हैं । धन्य उग्र वीतराग देवको है कि जिसने निष्पक्षपातसे ऐसा सुन्दर अमेद मार्ग जगत्के कल्याणके लिये निस्वार्थभावसे प्रगट किया है ।

शातार्थस्य पदार्थस्य, ज्ञानं प्रबोधनाद्भवेत् ॥ १५१ ॥ तदनुवादरूपं हि, विज्ञेयं न प्रमायता । प्रबन्धस्याथ शास्त्रस्य, निर्णेतुं यस्य कस्यचिद् ॥ १५२ ॥ विचारोऽत्र प्रकर्तव्यो, नान्यथा विद्विष्यते । यथोपक्रमप्रारम्भावुपसंहर-  
समाप्तिकौ ॥ १५३ ॥ अभ्यासः स हि विज्ञेयो, यद्विचारं समभ्यसेत् । अपूर्वं नूतनं क्रियियद्बन्धो विनिरूपितम् ॥ १५४ ॥ फलं मुपरिणामं चाप्यर्थवा-  
दस्त्वथैव च । प्रहृत्तात्मकवास्यं च, सोपपत्तुपपादनम् ॥ १५५ ॥ सम्प्रधा-  
यौकवाक्यं च, प्रहृतमकरन्दकम् । तद्रसास्वादं सम्यक्, कर्तव्यं रसतरववत् ॥ १५६ ॥ कुतस्समस्तजीवास्तु, भव्यमुद्वयरसस्य हि । आस्वादनार्थमेवात्र,  
प्रवृत्ताथ तृपार्दिताः ॥ १५७ ॥ सुवार्तेयं द्वितीयाऽस्ति, तथेष्टा करणेऽपि च ।

प्राप्यते नाऽपि गौणेन, लभ्यते स्वादनं ततः ॥ १५८ ॥ तदेदमपि ज्ञातव्यं,  
 गौणतोपाधिकारणम् । पुद्गलस्यैव सम्बन्धाज्जायते न च वस्तुतः ॥ १५९ ॥  
 सच्चित्तसुखे तु गौणत्वमेतदर्थमवेक्ष्यते । यदानादिस्वभावेन, बहिरङ्गत्वमेव हि  
 अन्तरङ्गत्वदृष्ट्या तु, केवलानन्दरूपकः ॥ १६० ॥ आत्मानन्तकार्मणवर्गणा  
 सन्धितो भवेत् । 'गुणविकाराः पर्यायाः' पर्यायेण समन्वितः ॥ १६१ ॥  
 कार्मणवस्तु सर्वत्र, सर्वदा परिवर्तते । परिवर्तनं परं साक्षात्तानुकूलमिदं भवेत्  
 ॥ १६२ ॥ तत्रेष्टाऽनिष्टयोर्योगधान्योऽन्यं मिश्रितः स्थितः । प्रवृत्तेरुत्पन्नतः  
 संविभावादेव दुःखकः ॥ १६३ ॥ सम्बन्धवशकाभावाच्चिवृत्तिः स्वस्य भावना ।  
 कार्यं करोति सर्वत्र, हेतुं सर्वं विचारतः ॥ १६४ ॥ सच्चिदानन्दकन्दस्य,  
 सत्तायाथेति बोधनम् । मुगमत्वेन संसिद्धेद्विषयेऽखिलभ्रान्तिता ॥ १६५ ॥  
 अनुमानापमानस्य, करणं जायते ततः । परिणामस्य वस्तुसि, निग्रहत्वं ततः  
 स्फुटम् ॥ १६६ ॥ अतो यस्मिंश्च कार्मणवर्गणानामवाधतः । अत्यन्ताभाव एव  
 स्याद्विशुद्धं भगवत्पदम् ॥ १६७ ॥ लभ्यते तदि परमं, नान्यथा कोटियजतः ।  
 परं यत्र नृदेहेन, सहितो भगवत्पि ॥ १६८ ॥ चतुष्टयमनन्तं च, भाति  
 तद्भगवत्पदम् । अर्थान्सर्वानतीतावीन, ज्ञातव्योऽवदयमेव च ॥ १६९ ॥  
 यस्मिन्सर्वैर्यदीर्घे च, यशो धर्मश्च ज्ञानकम् । थीर्वैरग्यं तथा मोक्ष, इमे  
 पदसंख्यका गुणाः ॥ १७० ॥ समुदायस्य शब्देषु, 'भगवत्ज्ञा' प्रकीर्तिता ।  
 भगवच्छन्दकस्याऽस्य, लक्षणं समुदाहृतम् ॥ १७१ ॥ कुण्डिनेशनरेशस्य,  
 सिद्धार्थनन्दनेन च । विशालाङ्गजवीरेण, त्रिजगद्गुणामुहुः ॥ १७२ ॥  
 सम्पूर्णरीत्या विज्ञातत्वेन तत्रास्ति लक्षणम् । इति विवेचनेनैव "वीरस्तु भगवात्  
 स्वयम्" ॥ १७३ ॥ इत्यस्याक्षरशयार्थो, भविष्यति समर्थनम् । निरूपणं तथा  
 तस्य, समेष्यति विचारतः ॥ १७४ ॥ "दिश्वर्यस्य समग्रस्य" इत्यसार्थोऽनुकू-  
 लतः । भगवद्दीरदेवस्य, जन्मकाल्यत्ततो मुहुः ॥ १७५ ॥ निर्वाणपदप्राप्त्यन्तं,  
 जन्मकालादनुकृमात् । निखिलस्येतिहासस्य, प्रत्येकं लघुभावतः ॥ १७६ ॥  
 सिद्धोऽस्तीति महावीरो, भगवानादिपूरुषः । सम्प्राप्य पूर्णरूपेण, चतुष्टयम-  
 नन्तकम् ॥ १७७ ॥ अनन्तशक्तियोगेन, सर्वैश्वर्यं तथाप्तवान् । अनन्तवैज-  
 र्वाद्वय, प्रथमयाऽवस्थया मुदा ॥ १७८ ॥ सकलैश्वर्यसात्वेन, युक्त्यासीन्न-  
 थामय । स्वर्गाजतकपर्द्यावपूर्तिं कृत्वाऽथ नाहतः ॥ १७९ ॥ स्वर्गात्पूर्वथ  
 देवायुः, शरीरं वैक्रियं तथा । एवमद्वारसम्पूर्णं, कृत्वा राश्याः सुकृशितः

॥ १८० ॥ त्रिशल्ययाः समुद्रय, चतुर्दशविधं पुनः । महास्वप्नं प्रदष्टं च,  
स्वर्गवृष्टिरसंख्यका ॥ १८१ ॥ जन्मोत्सवं सुराणां वै, शक्रस्यागमनं तथा ।  
विधानुसुत्सवं सर्वं, सुरेन्द्रसेवनं पुनः ॥ १८२ ॥ प्रतिक्षणसपर्यायाः, सामभ्या  
च मुहुर्मुहुः । नेयमल्पस्य वीर्यस्य, वार्तास्ति सुप्रद्युभ्यताम् ॥ १८३ ॥  
स्वसयमस्य येलयां, तेनानन्तरस्वीर्यतः । ऐश्वर्यस्यानुकूलत्वप्रतिकूलवधातना  
॥ १८४ ॥ इति परिषदं जित्वा, सम्प्राप्य विजयं तथा । जिनत्वं तेन संलब्धं,  
तदाऽसंख्यसुरासुरैः ॥ १८५ ॥ नरैर्नरेन्द्रैर्देवेन्द्रैः, समुत्कृष्टभयोपशमात् । एत-  
द्भारैव सद्भावाऽनुभवश्च कृतो महान् ॥ १८६ ॥ “स्वयन्तु भगवान् वीर”  
इति निश्चिन्तमानसे । एगद्यान्तरिकान्शत्रून्, विनिर्जित्वा विभुर्जिनः ॥ १८७ ॥  
अतथानन्तररूपेण, प्राप्तयन्न्तरमेव हि । भगवद्दीरदेवस्य, समप्रैश्वर्यरूपकम्  
॥ १८८ ॥ सुस्पष्टं लक्षणं चास्ति, विवरणत्वं तदाधिकम् । निरूपणत्वमेवं च,  
नावश्यं तस्य वर्णनम् ॥ १८९ ॥ “समग्रस्य च धर्मस्य”, लक्षणं संनि-  
रूप्यते । तथा साधनसामभ्या, धर्मो नात्रोच्यते बुद्धेः ॥ १९० ॥ दुर्गतौ  
पतमानं यो, जीवं धारयते मुहुः । स एव धर्मो विज्ञेयो, यतोऽनन्तसुखोद्भवः  
॥ १९१ ॥ दुर्गतौ पतितं तद्बद्धदन्तं जीवमित्यपि । संरक्षत्युन्नतिपयि, तिरो  
भावं करोति न ॥ १९२ ॥ “स चात्मपुरुषार्थस्य, धर्मं इत्युच्यते बुधैः ।”  
तदाऽऽत्मपुरुषार्थस्य, धर्मं धृष्ट्वा भुवन्ति च । एतद्दृष्ट्वा तु भगवान्, सदा वीरो  
हितावहः ॥ १९३ ॥ धर्ममूर्तस्त्वया साक्षाद्भूदिति निश्चानय । “परमेष्ठी  
परज्योतिर्विरागो विमलः कृती । सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्व्वः शास्त्रो-  
पलास्यते ॥” इत्युक्त्वानुरोधेन, भूत्वा सर्वोपदेशकः ॥ १९४ ॥ सच्छास्त्र-  
द्वादशाक्षस्य, निरां प्रकथानकं पुनः । विधाय शास्त्ररूपे च, कृतवान् परिणतं  
मुदा ॥ १९५ ॥ “आप्तोपज्ञमनुलङ्घयमदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्त्वोपदेशकृत्सार्व्वं,  
शास्त्रं कापथघटनम् ॥” शास्त्रमित्यं च निरवयं, प्रदाय भगवान् जिनः ।  
स्वीयाभूतमयं रूपं, तथेष्टं सकलं पुनः ॥ १९६ ॥ अनेकान्तं समाश्रित्य, ध्रष्टो-  
पदेशकैरपि । तथाऽऽदर्शमयाऽनन्तं, चरित्रं नः प्रदर्श्यं च ॥ १९७ ॥ एवं  
आनुपमं दिव्यं, धावकध्रवणार्हकम् । गृह्णधर्ममनागारं, साधुधर्मरहस्यकम्,  
॥ १९८ ॥ कृतकृत्यं भव्यसृष्टेः, कृतवान् यः समासतः । विनिर्वाणपथादर्शो,  
भूत्वा भव्यात्मनां मुहुः ॥ १९९ ॥ कर्मणवर्षणानां च, भारमुत्तार्यं यत्नतः ।  
लघूस्त्वान् कृतवान् सर्वान्, वर्धमानो नयान्वितः ॥ २०० ॥ प्रयात्सकं ययो

द्विष्टं, रत्नं नयप्रमाणकम् । तत्त्वनिक्षेपसंज्ञं वै, गभीरत्वं महत्त्वकम् ॥ २०१ ॥  
 परिपूर्णं तदाऽप्यासीद्यत्तुल्यमहत्त्वयोः । चतुरस्रेण वै तद्विहास्यने लेखने  
 तथा ॥ २०२ ॥ वर्णनं क्वचिदस्तीह, ज्ञेयमन्यद्विचारणात् । स्थालीपुलाह्न्या-  
 येन, प्रत्येकं लघुभावतः ॥ २०३ ॥ किञ्चिन्मुदन्त्वभावेन, विन्दर्शनमतोऽ-  
 करोत् । निगद्यते पुनः स्पष्टं, भगवद्दीरस्वामिनः ॥ २०४ ॥ निर्व्याणं परमार्थेन,  
 सह व्यवहारिकी दशा । कियद्दुष्काररूपेण, तथा पुष्कलभावतः ॥ २०५ ॥  
 आसीद्यतः सहस्रेषु, जगरत्सम्बन्धमाश्रयतः । गार्हस्थ्यजीवनं तेषां, समुज्वल-  
 तयाऽस्ति चेत् ॥ २०६ ॥ तत्प्रमाणान्तभूतं हि, उपासकदशाङ्के । तूनेऽपि  
 विद्यते तावदीमता तत्र दृश्यताम् ॥ २०७ ॥ गृहाश्रमे बहुविधे, कार्यादर्शक-  
 रूपिणि । कुर्वन् परिणतं त्वासीत्स्वयं तत्र निशामय ॥ २०८ ॥ (१) 'वीरस्तु  
 भगवान् प्रभुः', पितरावभितः प्रति । पूर्वं गर्भाशये मातुर्जनकस्य च सेवनम् ॥  
 श्रुत्वाऽथ दर्शनावैवं, ज्ञानानुभवतस्त्वया ॥ २०९ ॥ स्वयं प्रतिज्ञां कृतवान्,  
 यावन्मे जननी पिता । जीवतस्तावदस्मिन्तमर्हद्दीक्षां मुस्यंमम् । योगाभ्यासं न  
 चाहं वै, स्वीकरोमि कदापि हि ॥ २१० ॥ यतो मे जनको माता, मोहदृष्ट्याऽ-  
 नुरागवान् । न तु समतया दृष्ट्वा, इति चिन्तापरोऽभवत् ॥ यतोऽहमनयो-  
 रमत्वे, संन्यासं संयमं व्रतम् ॥ २११ ॥ चरिष्यामि प्रसंगेऽपि, न हेतोऽप्य-  
 नयोर्नयः । हृदये पुनराघातः, स्वान्महानिति मे मतिः ॥ २१२ ॥ दुःसाध्यं  
 च भवेत्तस्मात्सह नं चेतसा कुतः । जीवनसाऽनया रीत्या, ससारसापेदैक्षिमी  
 ॥ २१३ ॥ घटनयाऽनया शिक्षा लभ्यते नो विद्यामय । पित्रोराज्ञां विना  
 तद्वदौदासीन्यं न कर्हिचित् ॥ २१४ ॥ कोऽपि त्यक्त्वा गृहारम्भं, मुनिचर्यां  
 न धारयेत् । घटनयाऽनया तेषां, वदाज्ञापालनं तयोः ॥ २१५ ॥ विज्ञाना-  
 वस्यकत्वेन, सेवायाश्च कियत्फलम् । संसाध्य दर्शनं तस्य, मौलिकं च विभावयेत्  
 ॥ २१६ ॥ तीर्थद्वतोऽपि भगवान्, प्रथमे जीवनेऽपि यत् । सेवाधर्मस्थापनं  
 वै, कुर्वते दिक्भावतः ॥ २१७ ॥ कथ्यतां किं च वीरस्य, स्वामिनधरमद्भुतम् ।  
 आदर्शरूपं सेवायाः, पितृणां किमनल्पकम् ॥ २१८ ॥ महत्वं विषयधासि,  
 सुहृमदृष्ट्याऽवलोक्यताम् । प्रतिज्येष्ठं भ्रातरं च, अत्युपोदारशीलता ॥ २१९ ॥  
 नन्दीवर्धननामानं, भ्रातरं भगवान् इहः । एकस्मिन् दिवसेऽवोचन्, मयीयोऽ-  
 मिमहोऽपुन्य । सम्यगोऽभ्युत्थाय, भवदाज्ञां प्रच्छा.च ॥ २२० ॥ वीक्षितेषां  
 करोम्यद्य, तदा ज्येष्ठोऽब्रवीद्वचः । निर्मोहं च प्रभुं ज्ञत्वा, स्वयं नु नोदपीठितः

॥ २२१ ॥ भवन्तं शायते शुद्धं, स्वर्गारोहणयोगतः । पितुर्मातुः स्फोटकोर्ध्वं,  
 लवणक्षेपणैः समः ॥ २२२ ॥ भविष्यति न सन्देह, इति कृत्वा दयां भवान् ।  
 मदीयकथनेनैव, समुपित्वा गृहे पुनः ॥ २२३ ॥ अब्दद्वयसुपर्यन्तं, दर्शनाध-  
 मुदारताम् । दर्शयेच्चन्महान् देवानुग्रहः स्यान्मयि प्रभो । ॥ २२४ ॥ तथैव  
 भगवान् वीरः, कृतवाचान्यथा क्वचित् । भ्रातुः पूज्यतमस्यापि, चेच्छया  
 वापि नम्मतः ॥ २२५ ॥ त्यागोऽनुकूलगमनं, नोचितोऽथ निवृत्तितः । तथापि  
 भगवान् वीरः, स्वयं च जगदीश्वरः ॥ २२६ ॥ ज्येष्ठो भ्राता दर्शनेन, विनयेन  
 च तोषितः । तद्वच सुखिनः कृत्वा, ज्येष्ठभ्रातुः सुसेवनं ॥ २२७ ॥ पाठोऽपि  
 पाठितस्तेन, वर्षद्वयमभूद्गृही । भ्रातुराज्ञानुरोधेन, वीक्षाऽपि नैव धारिता  
 ॥ २२८ ॥ एवं संयमसंकल्पं, हित्वा निर्वाणदं ध्रुवम् । प्राश्नुकमोजी भूत्वा  
 च, गृहमेवाधयत्पुनः ॥ २२९ ॥ धन्योऽसि ! भगवत्स्वं हि, नाऽप्रसन्नः कृतोऽ-  
 नुजः । अतः पाठमिमं लोक, स्वयमाप विना ध्रमम् ॥ २३० ॥ भगवद्दी-  
 रवत्स्वस्य, भ्राता पितृसमः स्मृतः । इति ज्ञात्वा सेवया च, सुखिनं तं विधाय  
 च ॥ २३१ ॥ सन्नुष्टत्वेन संस्थाप्यस्तथा मान्योऽनुजो मुहुः । तेऽपि रक्षयाः  
 प्रयत्नेन, धर्मोऽयं व्यावहारिकः ॥ २३२ ॥ तद्दार्ढ्ये च वैराग्यमष्टविंशति-  
 सख्यकं । वयस्येव सुसम्पन्ने, पित्रोः स्वर्गतयोस्तदा ॥ २३३ ॥ तदा वर्षद्वयं  
 स्थित्वा, गृहेऽध्यात्मस्वरूपके । चिन्तनं योगिचर्यायाः, समास्मोऽप्यकारि च  
 ॥ २३४ ॥ तेनास्माद्योगतः सम्यग्बोधिता वीक्षणेप्सवः । वीक्षाधारणतः पूर्वं,  
 गृहिधर्मं समभ्यसेत् ॥ २३५ ॥ विशेषतो योगचर्यां, यया विशदया सदा ।  
 चर्याया च सुभाविन्या, स्यान्नित्यतिर्यथाकमम् ॥ २३६ ॥ इत्थं तस्याः स्वयं  
 ज्ञानं, जायेत तदनन्तरम् । सहिष्णुतायास्व्यागस्य, भवेज्ज्ञानं तथा पुनः  
 ॥ २३७ ॥ अद्यावधिक्रियजातमुदारोत्तीर्णता यदि । अभिप्रायोऽस्ति मे चाद्य,  
 सचर्यायां विपाकतः ॥ २३८ ॥ भूत्वा दृढस्ततः पादौ, धर्तव्यस्तापुषाधने ।  
 न तु पूर्वं ततथैवं, विज्ञानां गतिरीदृशी ॥ २३९ ॥ (३) राजनैतिक-  
 शिक्षायाः, शिक्षको यत्र कालके । अमालनृपतीनां च, पुत्राणां भूभुजां  
 पुनः ॥ २४० ॥ यदाऽभूज्ज्ञानमेतदि, नरराजसिद्धार्थस्यत् । महिष्या त्रिशा-  
 ल्याऽदर्शि, स्वप्रथमुर्दशविधः ॥ २४१ ॥ यौवने सार्वभौमश्च, चक्रवर्ती भवि-  
 ष्यति । एतद्दत्तान्तधवणाच्छ्रेणिकेन्दुप्रयोतनौ ॥ २४२ ॥ दधिवाहनप्रभृतिराज-  
 पुत्राः समागताः । भगवद्दीरसेवायां, संलम्बाश्च मुहुर्मुहुः ॥ २४३ ॥ क्षत्रिया-

ह्यंविता सेवा, ततोऽतिरिक्ते शिक्षणे । प्रवृत्ता भावुकत्वात्, मुग्धाद्धोचित-  
 कर्मणि ॥ २४४ ॥ तेभ्योपि भगवान् वीरो, गृहस्यक्षात्रशोरपि । बोधयित्वा  
 च सद्धर्मा, सदैवान् सम्प्रयुज्य च ॥ २४५ ॥ व्यवहारेऽथ न्याये च, निपुणत्वं  
 स्वधर्मणि । निदुष्का राजपुत्रास्ते, चान्तरङ्गस्वभावतः ॥ २४६ ॥ जाताव-  
 बोधस्तेनायं, धर्मेधीश्वनुरन्तकः । चक्रवर्ती तथाऽयं हि, भविष्यति न संशयः  
 ॥ २४७ ॥ तन्निरीहविचारोप्राप्तान्प्रतिस्पर्णवद्गतः । प्रभावस्तेन ते सर्वे,  
 सराज्ये सुकलप्रकम् । परिग्रहे च सन्तोषं, आप्याऽऽगता यथागृहम् ॥ २४८ ॥  
 राज्यशासनकर्मादौ, दक्षं प्रजासको हाभूत् । प्रजारक्षणनिष्ठावान्, भूत्वा तद-  
 वर्नं कृतम् ॥ २४९ ॥ “दमनं तु शठानां चावनमसठानां तथा । समाश्रितानां  
 भरणं, राज्यचिह्नमिति स्मृतम् ॥ २५० ॥ चरितार्थमेतदुक्तेः, करणे  
 जातं निरन्तरम् । अथातः सम्प्रवक्ष्यामि, धार्पिकदावसुतमम् ॥ २५१ ॥  
 अथ सांवत्सरिकदानम्—धीक्षाधारणतः पूर्वमेकवर्षप्रमाणतः । त्रिंशद्द्वय-  
 समारम्भे, जिताचारसुभावतः ॥ २५२ ॥ निरीहत्वेन यद्दानं, वीर्यतेऽनुपकारिणे ।  
 इत्यादिदानधर्मस्य, प्रारम्भं कृतवान् मुदा ॥ २५३ ॥ वर्षावधिं मुमन्व्येभ्यो,  
 मानवेभ्यः प्रदत्तवान् । पुष्कलत्वेन दानं यत्नवै तेनाऽऽवृणः कृताः ॥ २५४ ॥  
 केऽपि कस्यापि न जाता, शृणिन इति मुग्रथा । तथा पुद्गलवर्गे च, ममत्वं तु  
 ह्यपाकृतम् ॥ २५५ ॥ रीत्याऽनया पुनस्तेषां, न मोहस्मृतिविभ्रमः । न जातं  
 च ततश्चेयं, शिक्षा नः स्थापिता पुरा ॥ २५६ ॥ नीत्वा संन्यासमैश्वर्यं,  
 भौतिकाच्च तथेयती । समुत्तीर्ष्य पदार्थास्तु, वतो भाविविकर्मणि ॥ २५७ ॥  
 नात्मावरोधो जायेत, तथारम्भपरिग्रहात् । निवृत्तोऽप्रतिबद्ध, भूत्वाऽष्वात्मन्य-  
 माश्रया । ततो विलीनो भावाच्च, भवेदत्र न संशयः ॥ २५८ ॥ अथ शैशवे  
 निर्भयक्रीडनम् । वस्तुतोऽन्तकपर्यन्तं, निर्भयत्वेन संस्थितः । परं भयं  
 न बाल्येऽपि, कृतवान् च कदापि हि ॥ २५९ ॥ विपान्वितोरुषं रज्जुमिवो-  
 त्पाप्य प्रक्षिप्यते । श्यापदाजीवसंघर्षाथ, सदास्रजान्स्वतेजसा ॥ २६० ॥ करोति  
 स्म भवन्तं च, दृष्ट्वा दूरमावजन् । महतो भयङ्करन्देवान्मुरान् राक्षसास्तथा  
 ॥ २६१ ॥ बलिनो विद्रिपस्तद्दनायासेन लीलया । विजित्वा जयमाप्नोति,  
 संशयं नात्र कर्हिचित् ॥ २६२ ॥ अथाबोधाभीरकप्रकरणम्—अबोधाऽऽ-  
 भीरवन्त्यानां, गोमहिष्यादिचारिणाम् । कस्मिन्देसे च तेषां वै, संज्ञा ‘पाळी’ वि-  
 कस्यते ॥ २६३ ॥ त्रलङ्घिमनुजैः साकं, मुपैव वस्तुधर्षणम् । अज्ञान

क्रोधकरणं, क्षेत्रविध्वंसनं तथा ॥ २६४ ॥ प्रतिद्वन्द्विनामिदं कर्म, तेषां सुगम-  
मस्ति हि । ध्यानमग्नौ बने संस्थः, कायोत्सर्गे व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥ तत्क्षणेऽ-  
ज्ञानावस्था, रज्जुभिस्ताडयन्ति च । निर्माय तस्य पार्श्वे तु, त्रुटिहकां पायसं  
यदा ॥ २६६ ॥ पाचयन्ति क्षणे तस्मिन्, तापयन्त्यग्नितस्तथा । म च वीरतया  
सर्वं, सोढवाच्च च दुःखभान् ॥ २६७ ॥ एकमेव क्षोप्यबोधो, विनोदेन शत्रु-  
कया । वंशस्य तीक्ष्णया कर्णे, भेदितो रक्षधारया; आश्रुतश्च ततः काये,  
दुर्बलत्वमजायत । तथाऽप्यनुग्रहस्तस्मै, कृतस्तेन महात्मना ॥ २६८ ॥ नानिष्टं  
प्रोक्तवोस्तस्मै, किञ्चिदपि च दुःखतः । दृष्ट्वा समानया तद्वत्समभावनया तथा  
॥ २६९ ॥ यातनां सहनशीलोऽप्यभूदादित एव सः । ध्यानावस्था एवा जाता,  
मानसीवृत्तिरीदृशी ॥ २७० ॥ मेरुवत्तस्य सञ्जाता, ध्यानवृत्तिः मुनिधला ।  
सागरवच्च गम्भीरा, सूर्यवत्सा प्रकाशिका ॥ २७१ ॥ सद्विष्णुता समुत्पन्ना  
स्वर्गेऽपि तत्प्रशंसनम् । सभायां शक इन्द्रोऽपि, प्रशंसां कृतवान्मुहुः ॥ २७२ ॥  
दुर्बिदग्धाः सभायां ये, ज्ञानशून्याः सुरास्तथा । विश्वास नैव कुर्वन्ति, दर्शना-  
शेन वज्रिता ॥ २७३ ॥ देवाद्गनासहस्राणि, गृहीत्वैकः समाययी । परीक्षार्थं  
भगवतः, संकल्पमथाववीत्पुरः ॥ २७४ ॥ “ध्यानव्याजेत्यादि” चेति, वाक्यं  
तद्विषयाधर्मैः । ध्यानं तु केवलं देव । व्याजमात्रं प्रदर्श्यते ॥ २७५ ॥ नेत्रे  
सम्मील्य भगवन् ! प्रियां कामपि ध्यायसे । देव ! त्वदग्रे कामोऽपि, हावभावमु-  
विभ्रमैः ॥ स्त्रियः कटाक्षपातं हि, कुर्वन्ति त्व मनोहरम् ॥ २७६ ॥ किञ्चिदु-  
न्नील्य नेत्रे च, दृश्यतां नो जगत्प्रभो ! कामवाणार्दितास्तास्तु, सम्मील्य हृदयं  
मुहुः । स्थिताः क्षिप्रं गृहीत्वैव, बाहुं स्ववशमानय ॥ २७७ ॥ भवान् दयालुः  
पद्मशरक्षणे सम्प्रवर्तते । परं नो मन्मयो देव ! सन्तापं कुरुते रहः ॥  
तत्प्रतीक्षरहेतुश्च, भवानेव हि दृश्यते ॥ अतो वयं भगवतः, शरणं च गमा-  
नताः ॥ २७८ ॥ वचनार्थमतः स्वाग्निन् ! तवाङ्घ्रिपतिता वयम् । देहि नो स्थानं  
भगवन् ! शारदा त्वां हि कृपानिधिम् ॥ २७९ ॥ शरणागता इति ज्ञात्वा,  
शीनानां त्राहि मारतः । महान् खेदस्य विषयो, यत्र वा रक्षतीधर ! ॥ २८० ॥  
न किञ्चिच्छयतेऽस्माकं, न चोत्साहं प्रीयते । श्राता भूत्वा न कुरुते, रक्षामपि  
दयापरः ॥ २८१ ॥ मुस्पष्टं ज्ञायतेऽग्नेन, मिथ्याकामनिधौ भवान् । वर्पतस्ते  
वयं कुर्मः, सेवां न त्वं प्रसीदसि ॥ २८२ ॥ कर्णान्ते ते न यूद्यसि, चळते  
चित्ततः परम् । वयं पशुवयं मत्वा, ज्ञातवन्तस्ततोऽपिहम् ॥ २८३ ॥ नान्योऽ-

विनिर्घृणतरो, कठोरहृदयोऽपि च । त्वत्समो नास्ति संसारे, परिपक्वो दया-  
 तिथेः ॥ २८४ ॥ एवमुक्त्वा चालयन्तो, ध्यानाद्बुद्धिममानसाः । समाश्रित्य  
 स्वमागं ता, गता स्वसदनं प्रति ॥ २८५ ॥ अतोऽस्माकमियं शिक्षा, सामा-  
 यिके च संवरे । प्रौपथे प्रतिक्रमणे, समाराधनके क्षणे ॥ २८६ ॥ रचनीये  
 दृष्टी चर्या, यतः स्यादचलाऽनया । भूत्वा विषयतस्तद्द्विजयःस्यादनुकमात्  
 ॥ २८७ ॥ इत्युपदेश्य सञ्जातो, शायता मनसा हृदा । अथ शरणागतान्  
 रक्षणम्—अथार्ताभ्यर्चनापञ्चान्प्रति वीरस्य सद्गुरोः । छात्रावस्था त्यागपरं,  
 निष्कामजीवनं ततः ॥ निर्वाह्यति संसारे, तपश्चर्यात्रतेन च ॥ २८८ ॥ आर्ताः  
 सन्तापिताश्चान्यैर्यदा तच्छरणागताः । तेषामाव्हानमादौ हि, शृणोति च यथा-  
 र्थतः ॥ २८९ ॥ तत्रैका ध्यानं तपश्चर्या, तेषां रक्षा कृताऽनिशम् । महतोऽ-  
 साध्यकष्टाच्च, सुरक्षयति तान् श्रमात् ॥ २९० ॥ स चर्मेन्द्रो हि शकस्य,  
 ह्यपमानं विधाय वै । पलायतोऽशनिपाताद्ब्रध्नार्थं च तस्य हि ॥ २९१ ॥  
 शरणं पादपद्मस्य, समागत्य स्वजीवनम् । शक्रोऽभ्यहं च जेतुं तं, तेनेत्युक्तं यदा  
 प्रभुः । ततो रक्षितवोऽसं च, वीरः सदयवान् जिनः ॥ २९२ ॥ एकदा  
 मगधे देशे, भरुकरीच गोशालकः । यदा तत्पृष्ठो जातो, वीक्ष्यमेकं तपस्विनम्  
 ॥ २९३ ॥ परस्तु वृक्षशाखाग्रं, लम्बमानमधः शिरः । कृत्वोर्ध्वपादं यथोग्रं, तप-  
 स्तपति नित्यशः ॥ २९४ ॥ तज्जटाजूटतो यूवा, निस्सृत्य पतिता भुवि । तदा  
 ता दयया युक्तः, पुनः स्वकचमण्डले । स्थापयति च तं दृष्ट्वा, गोशालक  
 प्रहस्य वै ॥ २९५ ॥ उवाच नेहरो दृष्टो, यूक्ताशय्यातरस्तथा । इति दुष्ट-  
 खाभावेन, ह्यवज्ञां कृतवान्पुनः ॥ २९६ ॥ गठं प्रति च शब्दं वै, कुर्यादिति  
 विचार्य च । कोपावेशसमाविष्टस्तपस्वी स्वतपोबलात् ॥ २९७ ॥ नेत्रद्वारं  
 प्रति तं, तेजोऽशतीक्ष्णरश्मयः । पातिवा येन तडितो, यातनेवातिदुःसहम्  
 ॥ २९८ ॥ प्राप्य दुःखं ददाहायो, खरमन्देन प्राह च । शरणागतं च मां  
 ग्राहीत्वेवं वाचं जगद सः ॥ २९९ ॥ तदा पितामहर्षैवं, दयां कृत्वा  
 खनेत्रतः । हिमवच्छीतल्य डेऽप्या, तस्योपरिप्रक्षिप्तवान् ॥ ३०० ॥ तमनार्थं  
 मृत्युपाशाङ्गमुक्त्वान् कृपया मुहुः । विभो! त्वं हि धन्यतरस्त्वकीयेयं कृपा मयि  
 ॥ ३०१ ॥ न कृत्रिमा वासाविक्री, स्फुटं मे सुप्रतीयते । श्रीमद्भगवतश्चैर्दं,  
 चरित्रं शिक्षणप्रदम् ॥ ३०२ ॥ प्रविष्टमिति तच्चित्ते, पद्मकायप्रतिपालकम् ।  
 शंकरान्मोचनीयं च, प्रथमं चोपदेशनम् ॥ ३०३ ॥ कृतवोध स्वयं सार्धा-



हृदये चावधार्यताम् । अपुनरावृत्त्य भावस्य, पन्था तेनैव दर्शितः ॥ ३०४ ॥  
 अथ मनुष्यवन्मूकपशुरक्षणम्—मनुष्यवन्मूकपशुरक्षणरक्षयस्त्वयं जिनः । यदा  
 हि वाममार्गाणां, प्रसारमधिकं ह्यभूत् । तदा ते दयया हीना, व्याजाशङ्काश्च  
 कोटिशः । पशवो बहवस्तैश्च, हता मूका निरागसाः ॥ ३०५ ॥ तस्मिन्काळे  
 च शमिना, घातकास्ते तपोबलात् । अवहृद्वाश्च वीर्येणानन्तशक्त्या तथा पुनः  
 ॥ ३०६ ॥ न हन्तव्या न हन्तव्या, घोषणैवं मुहुः कृता । अवहृद्य भीषणं  
 क्राण्डं, ससारस्थितप्राग्जिनाम् ॥ ३०७ ॥ रक्षिताधानन्तजीवास्तथाऽसिघात-  
 नादपि । तस्यायमुपकारस्तु, धर्मोऽयं च पुरातनः ॥ ३०८ ॥ मुद्राङ्किताः कृता-  
 स्तेन, तस्मृतिर्वर्ततेऽधुना । महोदयो बालगङ्गाधरतिलकसंज्ञकः ॥ ३०९ ॥  
 नेता श्रीभारतस्यासीद्धन्यवादं प्रदत्तवान् । जैनसमाजवृन्देभ्यो, नैतच्चा-  
 ल्पमहत्त्वकम् ॥ ३१० ॥ अपकर्तृपशुद्धारो, मनुष्य इव सत्कृत । हिंसकादेरप-  
 कर्तुः, पशोरप्यपकारणम् ॥ ३११ ॥ सदोपेक्षैव सद्भावा, कृता तेतिति संस्फुटम् ।  
 हिंसावृत्तिरतानां तु, पशूनां वृत्तिपाशवीम् ॥ मोचयित्वा समाधेश्च, दत्त्वा  
 बोधमनामयम् ॥ ३१२ ॥ सदाचाराधिकारं च, ददाति स्म न संशयः । यथा  
 चण्डकौशिकेन, विप्राकान्तमहोरगे ॥ ३१३ ॥ वेदना दंशजा शश्वच्छान्त्या  
 सर्वं विशोढवान् । कृपया तं च सन्मागं, सदाचारे तथा पुनः ॥ ३१४ ॥  
 स्थापयित्वा प्रबोधेन, श्रीमुखेन च भाषितम् । चण्डकौशिक! बुध्यस्व,  
 ज्ञान्तिर्युक्तो निशामथ ॥ ३१५ ॥ शब्दा एवं प्रकथिता, नरकायेन रक्षितः ।  
 पतनतोऽवनं जातो, जगद्गुरुप्रसादतः ॥ ३१६ ॥ शान्त्यैवं सुबोधितोऽपि,  
 मुक्तावस्थां गतोऽप्यसौ । शिष्यं जागरितो बुद्धो, विवेकसमशक्तितः ॥ ३१७ ॥  
 साधयति स्म कार्यं च, किं मया श्रूयतेऽधुना ॥ एवं विचारितस्तेन, किं शब्दोऽयं  
 कृपामयः ॥ ३१८ ॥ पूर्णा दया च तस्याऽस्ति, न वा चेति विचार्यते ।  
 एतद्वाक्यकदम्बानां, न जाने स्वाशयं पृथक् । एतद्बुधिरपानेन, सितां च शर्करा-  
 मपि । तिरस्करोति स्वादेन, नो लब्धा चेदृशी मया ॥ ज्ञाते मयाव  
 संचारः, शान्तेरस्य च नाडियु ॥ ३१९ ॥ आत्रा नामापि नास्त्वत्र, श्रुतुभयस्य  
 का कथा । परमस्ति क्षमायास्तु, पराकाशेति धारय ॥ ३२० ॥ अपकारकारि-  
 ष्यपि, क्षमा स्वाभाविकी कृता । आवश्यकाधिकानन्ता, शान्त्याख्यकवचोपरि  
 ॥ ३२१ ॥ सन्मागं मा च ह्यानेतुं, कियच्छ्लाघ्यो महानपि । समालोचनपूर्वं  
 हि, तस्मै स्वदर्शनं वभौ ॥ ३२२ ॥ जातिस्मृतिकं सजातं, ज्ञानं गतजन्मस्मार-

कम् । क्रोडोऽयं चातिपापात्मा, सच्चरित्राच्च नां पुनः ॥ ३२३ ॥ पावितशानत्र  
 योनौ, निकृष्टायामिति स्थितिः । जन्मत्रयेणात्र बद्धो, विभो । वन्दिगृहाच्च  
 माम् ॥ ३२४ ॥ भीषणाद्यंत्रणाच्छीघ्रं, मोक्षय मामिति प्रार्थना । प्राप्य  
 चैवं विरुंवादं, विवेकपद्धतिं गतः ॥ ३२५ ॥ सम-संवेद-निर्वेदं, बलादध्यात्मकं  
 रसम् । पिबन्नास्ते मुखैर्नैव, आयुरन्तिमकान्तकम् ॥ ३२६ ॥ श्वासोद्गू-  
 सकपर्यन्तं, परमुत्कृष्टसमाधिना । सल्लेखनायाः प्रारम्भं, कृतवान् शान्ति-  
 तत्परः ॥ ३२७ ॥ अभ्यस्तपारीणमहानामः पञ्चमके दिने । मृत्वाऽष्टमसहस्रा-  
 रस्वर्गातिविजयायत ॥ ३२८ ॥ धन्योऽस्ति भगवंस्त्वं हि, पशूनपि मनुष्यवत् ।  
 धादधर्माधिकारं च, दत्त्वा तेभ्योऽपि तान्पुनः ॥ ३२९ ॥ भव्यात्मकैस्त्वथा  
 चके, भावुकानथ भावतः । घटनयाऽनया स्वष्टं, सिद्धं जातं पुरातनम्  
 ॥ ३३० ॥ यथा मम प्रियाः प्राणास्त्वथाऽन्वेपां हि देहिनाम् । इत्युक्तेन प्रका-  
 रेणाऽर्हिसाधुव्रतधारणे ॥ ३३१ ॥ “क्रोधाद्बन्धच्छविच्छेदोऽधिकभारविधोष-  
 णम् । प्रहाराच्चादिरोधश्चा, हिंसायाः परिकीर्तता” । जीवान्स्थापितवर्तनोके,  
 तेभ्यश्चात्मतपोबलात् । सिद्धान्ग्वात्मयोगस्य, दत्तवाङ्मयायोगतः ॥ ३३२ ॥  
 यतस्ते भवतो मुक्ता, पशूनामिति ज्ञायताम् ॥ अधास्पृश्यनामुद्धारम्-  
 पतितोऽस्पृश्यकोद्धार, इति सिद्धान्तभावनाम् । संस्थाप्य सर्वज्जातीनां, मनु-  
 ष्येषु स्वयं प्रभुः ॥ ३३३ ॥ तुल्यधर्माधिभारथ, सुप्रदत्तो विधानतः । “शूद्रो  
 भवति धर्मात्मा, शूद्रवच्छान्तिं नियच्छति” इति कृत्वाऽनुवादं च, उच्चावच-  
 विभागशः ॥ ३३४ ॥ स्पृश्याऽस्पृश्यविचारस्य, संसारतस्थानमुद्रतम् । स च  
 निर्मलसङ्घे खे, ‘हरिकेशबलो’ यथा ॥ ३३५ ॥ जाल्सा चाण्डालयोनिस्थो,  
 मुनिसङ्घे स्थानमाप्तवान् । ऐतिहासिकदृष्ट्या तु, शासनेऽपि तस्य हि ॥ ३३६ ॥  
 उत्तराध्ययनसूत्रेषु, सुवाक्यमार्गारवेण च । दृश्यते ध्रुवते चापि, तत्र हेतुरयं  
 पुनः ॥ ३३७ ॥ यथा ‘तेन्दुक’ देवोऽपि, तदपारां भक्तिमहत्त । तस्मैदमेव  
 मन्तव्यं, गुणस्थानप्रतिक्षणम् ॥ ३३८ ॥ यद्य कथं समाकूढो, न श्रेयं तस्य  
 पातकम् । बहूणस्थानसंश्लिष्टतरोत्तरभावतः ॥ ३३९ ॥ म हि तावच्च निर्व्या-  
 णापुनरुत्तिसन्निधिम् । गतोऽनो धार्मिके तद्वद्रूपावहारिके पुनः ॥ ३४० ॥  
 नो विचारोऽस्ति जालादेः, कर्हिचित्सन्धिनाऽनया । शासनस्य च्चजावयः,  
 शौकरः पशुपातकः ॥ ३४१ ॥ जातीयस्याप्यभेदेन, विधामो विहितस्ततः ।  
 भावोऽयं तस्य विज्ञेयः, स्पृश्याऽस्पृश्यस्य बन्धनम् ॥ ३४२ ॥ सिधिल्लरं प्रशुवैर्व,

समूलं तद्विनाशितम् । प्राचीनव्यवहारस्य, सन्मतेन स्थिरे पुरा ॥ ३४३ ॥  
 विस्वाखिलावतारैस्त्वं निर्वहणं कृतम् । यथा शासनपतेर्वारभगवतः शास-  
 नादनु ॥ ३४४ ॥ अयं सारतरब्धेत्वं, विचारस्य हृदा पुनः । अथ शश्रूणामुप  
 खपि-परोपकारिता-शत्रुं प्रत्युपकारस्य, करणे रचान्स्वयं प्रभुः । सज्जमः  
 शूलपाणिश्च, व्यन्तरीकटपूतना । दानवैः पशुभिश्चैवोपसर्गं च महत्कृतम्  
 ॥ ३४५ ॥ इति शत्रुगणैर्दत्तां, यन्त्रणां दासणां तथा । सहित्वा साम्यभावेन,  
 कृतं परिपहे जयम् ॥ ३४६ ॥ पण्मासान्तं च सततं, ददन्कष्टं महाऽसुरः ।  
 तदाऽवस्थगितो भूत्वा, हारितः स गतस्त्वया ॥ ३४७ ॥ तदा तद्ययनाम्भोजा-  
 दशुबिन्दुद्वयं त्रिकम् । पतितं च यथा न्याये, इत्यवेहि च मानसे ॥ ३४८ ॥  
 “कृतापराधेपि जने” इत्याद्युक्तं पुरैव च । अभिप्रायोस्ति तस्यायमपराधशुक्लार्था  
 ॥ ३४९ ॥ पात्रोऽयं सखितस्यास्य, कुतिसतस्य च कर्मणः । भावि तत्परिणामं  
 हि, कथं सक्षयति कुत्र वा ॥ ३५० ॥ दुस्सहं यद्भवेत्तदेतदर्थं निशामय ।  
 अहो विज्ञायते चाय, शत्रूपरिशिवसृष्टहाम् ॥ ३५१ ॥ कृतमाध्यस्थभावेनौदार्य-  
 गाम्भीर्यशौर्यकम् । इति गुणसमूहानां, वैतक्षण्यं क्षमा वरा ॥ ३५२ ॥  
 महिमा चेति नान्यस्मिन्वीराद्भिजे प्रदृश्यते । अनार्यदेशेऽपि तथा, विहारो  
 भ्रमणं तथा ॥ ३५३ ॥ निरन्तर नावरुद्धं, धर्मात्मसदृशं मुहुः । दर्शनम-  
 नार्प्यसुधेभ्यो, धर्मकोटिनयाय च ॥ ३५४ ॥ म्लेच्छदेशेऽपि तस्यासीदनि-  
 वार्यभ्रमणं मुहुः । तत्राऽपि च भवन्तं हि, कश्चिजानाति दूरग ॥ ३५५ ॥  
 देशान्तरस्थं कश्चिच्च, भेदकं तस्करं तथा । ज्ञात्वा प्रन्ति च बध्नन्ति, कृपाधो  
 लम्बयन्ति च ॥ ३५६ ॥ ते केचित्तच्छरीरे च, मृगयारत्तिका मुहुः । सारमेया-  
 नबोधश्च, लगयन्ति च ते पुनः ॥ ३५७ ॥ स्वतीक्ष्णखाघातैर्दन्तैश्च तच्छ-  
 रीरके । क्षतं कुर्वन्श्च जातस्ते, सशशा स्थगिता रहः ॥ ३५८ ॥ परं स्वयं  
 स गिरिवदबलोऽभूदवनीतले । तथाऽधमा नराधेदं, दृष्ट्वा धैर्यं सहिष्णुताम्  
 ॥ ३५९ ॥ प्रभावाद्भाविता भूत्वाऽऽधर्मयुक्ताश्च तेऽभवन् । ततः पराजिता  
 जाताः, पतितास्तपदाम्बुजे ॥ ३६० ॥ ततश्च धृदया जैने, भूत्वा ध्रुवालवो  
 मते । महाप्रताऽणुप्रतयोर्लोनाः संसाधने मुदा ॥ ३६१ ॥ अनन्तां यातनां  
 भुक्त्वा, मिथ्यावादिष्वनार्यकेष्वनिवार्यजनेष्वत्र, जैनधर्मस्य चोत्तमाः ॥ संस्कारः  
 स्थापितस्तेन, सत्यं सत्याग्रहात्मनाम् । कठोरहृदयानां च, लब्धवान् विजयं  
 तथा ॥ ३६२ ॥ चर्ययाऽनया नश्च, शिक्षा सञ्जायते परा । भगवतो वीर-

देवस्य, सुपुत्रो निर्भवो भवेत् ॥ ३६३ ॥ अनाद्यर्ममतिनां शश्वलोकानां वीर-  
 स्वाभिनः । धर्मोऽप्यनादिसङ्घेऽपि, गत्वा च प्रसरेदिति ॥ ३६४ ॥ तत्रासोध-  
 नरास्त्रद्वन्द्वमंसरकम्मंबधिता । प्राणितो च च तत्रापि, धर्मोऽनेकान्तिकस्य हि  
 ॥ ३६५ ॥ संस्थापितो मूढतरुस्रोथ धीवीरस्वामिनः । सुधर्मस्याप्यनुगामिनः,  
 कृतवानस्य दयापरः ॥ ३६६ ॥ हृद्यदिदमहं पश्ये, मयीया मुनिभ्रातरः ।  
 न दत्तं ध्यानमत्रापि, कदापि न हि सम्मतम् ॥ ३६७ ॥ भूत्वा प्रयुतदेशस्य,  
 ग्रामस्य नगरस्य च । पिण्डोलको मोहवशे, ममतायां प्रमादके ॥ ३६८ ॥  
 कृत्वा क्लृप्तं स्वं च, नोचितं म्यानतां गतम् । तत्रैतत्कारणं क्षेत्रं, प्रार्थनाथ  
 मुनेरिदम् ॥ ३६९ ॥ वाराणसीति पार्श्वस्य, क्षेत्रं भगवतः परम् । वीरस्य  
 कुण्डिनपुरी विख्यातं मगधे पुनः ॥ ३७० ॥ विहारशरीफनाग्रध, मण्डले  
 वर्तते च या । पुःच्छब्देन नायातं, मुनिभ्रमणमित्यपि ॥ ३७१ ॥ धर्मप्रचारः  
 श्रवणे, नायातथ यदानये । भगवतो वीरदेवस्य, चकविस्रसहस्रकम् ॥ ३७२ ॥  
 शासनस्य प्रचारः स्यात्तदा किं कारणं वद । तच्छासनसंगृह्यार्थं, नात्रि  
 तस्य च पूज्यवान् । प्रसन्न ये जनाश्चासंस्तजन्मभुवि मानवाः ॥ ३७३ ॥  
 तेषु धर्मप्रचारोऽपि, न भवेदिति चिन्तने । शोचनीया मुकर्तये, सद्वाप्रगम्य-  
 भ्रातरः । एतदुपलक्षितेऽपि, भवन्तधेन्मतं परम् । जैनं तस्य नोदनार्थं,  
 यदासि परिचयो महान् ॥ ३७४ ॥ ज्ञातव्यं भवतां नाम, संनश्यति  
 यजेन्द्रवत् । अतो हि विदुषां तद्विक्रियाऽऽपन्नमुनीनपि ॥ ३७५ ॥ पुधरत्न-  
 प्रसिद्धानां, वक्त्राणां सर्वसम्मते । व्याख्यानवाचस्पतीनां, संन्यासपारिणां  
 तथा ॥ ३७६ ॥ चिन्तयामि यदा सम्यक्सप्रचारस्य क्षेत्रम् । भगवता  
 वीरदेवेन, समं कुरु विशालकम् ॥ ३७७ ॥ जैनधर्मे तथा श्रद्धाद्भिद्भ्याप्यं  
 तथा कुरु । भवन्तो तेषु चास्यैव, रोगस्य परिनाशकः ॥ ३७८ ॥ सुन्दोष-  
 धिरशुभाप्र, न वा चेति विचार्यताम् । धर्म भक्तः गृहस्थान्प्रति-रानघन्य-  
 दस्थान्प्रति जीर्णक-तौकरिदादिम् ॥ ३७९ ॥ पूर्णवेति स्वधर्मे च, एतपेति  
 वितृष्णकः । सरत्वेन तथा चासीत्प्रसंघा च वर्णिता ॥ ३८० ॥ श्रीधरस्य भक्ति-  
 भावना, पूर्णवत्स्य सान्नायिकम् । सुधिकेतुः पूनिकेति, यदासि जीविष्य पुनः  
 ॥ ३८१ ॥ सान्नायिकं पवित्रं च, सौमिकस्त्राऽप्यनुमतम् । जैन संघारकृत्यन्तं,  
 न हि तद्विस्मरिष्यति ॥ ३८२ ॥ इतोऽतिरेके तस्मात्सि, सुभागमनसूचना ।

यदा भग्यानुभावेभ्यो, भक्तेभ्यश्चापि जायते ॥ ३८३ ॥ नगराच्च बहिर्देवो,  
 निर्जने कानने स्वयम् । वीरथ भगवान्स्वागी, समायातोऽतिपुण्यतः ॥ ३८४ ॥  
 दाम्नादिदेवैः सर्वैश्च, समवसरणनिर्मितम् । महान् कलरवो जातो, नगरेऽपरिमिता  
 जनाः ॥ ३८५ ॥ धर्मानुराधाः श्रोतारो, जिज्ञासव इतीतरे । तेभ्योऽति-  
 रिक्तपद्मादिश्रापदाः पक्षिणस्तथा ॥ ३८६ ॥ आयान्ति समितौ ते तु, रचिते  
 समवसरणके । महत्सम्मेलनं जातं, तदा ते जातिभावनाम् । स्वाभाविकं पाश-  
 बिकं, व्यषा हि वैरभावनाम् । शान्तिच्छट्टां नीतवन्तो, जातास्त धम्मंतत्पराः  
 ॥ ३८७ ॥ उपदेशानन्तरं भूषाः, सार्वभौमास्तथाऽपरे । राज्यसत्तां परिलज्य,  
 गृहीतमुनिमुनताः ॥ ३८८ ॥ गृहीणोऽपि गृहे स्थित्वा, पद्मानुनततत्पराः ।  
 तृष्णाभारं समुत्तार्य, सम्यक्त्वभावमागताः । जीवनं सफलं जाता, कुर्वन्तस्ते पदं  
 परम् । आदासिन्यं हृद्भावं, भोग्यं कर्मोपभुज्य च ॥ ३८९ ॥ अन्ते निवृत्ति-  
 मार्गं च, लब्ध्वाऽश्वयुखं पुनः । अनेकानि प्रमाणानि, लभ्यतेऽनेकशस्तथा  
 ॥ ३९० ॥ अथ शास्त्रार्थप्रकरणम्—अथ शास्त्रार्थरत्तीनां, वादिना प्रतिवादि-  
 नाम् । ऋजुवाङ्मनसाथ, तट्टे श्यामाकक्षेत्रगे ॥ चतुष्टयानन्तमापन्ना, सद्धर्म-  
 प्रतिपत्तये ॥ ३९१ ॥ गोरसमण्डले ग्रामे, 'पडरोणेति' विश्रुते । पावापुर्यां चोपवने,  
 धाजते स्म जगत्प्रभुः ॥ स्नाद्वादमहावाचा, महानादेन शब्दिताः ॥ ३९२ ॥  
 दिशाः कुर्वन्तदा काले, कस्यचिद्गङ्गणस्य हि । महाध्वरोत्सवो जातस्तत्रैकादश  
 पण्डिताः ॥ ३९३ ॥ श्राहुतास्त्रेनेन्द्रभृतिर्महामान्यथ वेदगः । आसीत्स्याभवे-  
 ष्टात्राथत्वारिषच्छतसहस्रगाः ॥ ३९४ ॥ वेदाध्ययनसम्पन्ना, विशार्थिन इति  
 ह्युक्ताः । भगणितानां च देवानामाचव्ययादि गौतमः ॥ ३९५ ॥ ज्ञानं जातं  
 तथैवात्राऽनेकान्तवादवित्तथा । समायातो जिनेन्द्रथ, सर्व्वज्ञो विश्वरक्षकः  
 ॥ ३९६ ॥ शास्त्रार्थं तेन साकं वै, शर्म्मा समवसरणकम् । गच्छति स्म तदा-  
 ऽऽयातं, दृष्ट्वा तं जगतः प्रभुः ॥ ३९७ ॥ आगन्तुकस्य सञ्छिद्यचारं शिक्षणाम  
 च । स्वभाविगणधरस्य, स्वागतं चेन्द्रभूतये ॥ ३९८ ॥ तरुक्मानसिकं भावं,  
 तस्य सशयसंतिगम् । तन्निवृत्तः कृता तेन, तथा सवेदिनी मुहुः ॥ ३९९ ॥  
 शिक्षा दत्ता प्रभावोत्था, चार्हसी चोपकारिणी । तदिन्द्रभूतये तद्ब्रह्मवेद-  
 मेताय च ॥ ४०० ॥ महानुभावश्रेष्ठेभ्यः मुप्रदत्ता गरीरसी । हेयं ह्येयमुपादे-  
 चन्मिति च त्रिपरी मता ॥ ४०१ ॥ हानोत्गादधित्री म्ना, सोत्तारव्ययध्रान्वयकम् ।  
 पद्दन्वात्मकं वैध, द्वादशानिगिरा सह ॥ ४०२ ॥ चतुर्दशानकं पूर्वं, यदुजं

तद्विशालके । ज्ञाने परिणतं कृत्वा, स्थविरान् रुद्रसंख्यकान् ॥ ४०३ ॥ पणधर-  
 पदे सम्यक्स्थापिताः सर्वसंयतैः । प्रथमं चेत्यमनिशं, स्वर्गीवानन्तज्ञानके  
 ॥ ४०४ ॥ लाभमुत्पाद्य तेभ्यश्च, खणदिद्विगु ४४०० द्विजातये । दत्ता निर्व्याण-  
 मार्गं च, तत्पथि पथिकः कृता ॥ ४०५ ॥ अधानाथवालिकोद्धारणम्—अथा-  
 नाथवालिकाया, उद्धरणं कृतं स्वयम् । सार्धद्वादशवर्षाणां, तथा पञ्चदशे दिने  
 ॥ ४०६ ॥ [ उन्नावधौ दुष्करं च, तपः कुर्व्यश्च विश्वदृक् ] तदैकस्मिँस्तु काठेऽव,  
 प्रयोदशविधारणकः । कृतो भीष्माभिग्रहश्च, कृतवान् पणधारणम् ॥ पष्मासान्तं  
 न यत्पूर्णं, न शक्यं भवितुं पुनः ॥ ४०७ ॥ परन्तत्रयं त्वचलितस्तस्मात्पणमया-  
 ल्पभुः । प्रयागमण्डलतद्दत्तकौशार्म्बी नगरीं ततः । अमन्सैधन्दनाख्याया,  
 बालायाः कर्तुमुत्सुकः । सूदारं धनवाहस्य, श्रेष्ठितश्च गृह्णादने ॥ ४०८ ॥ समा-  
 गल्य स्थिरथाभुद्गृहस्यास्य सुशोष्ठके । द्वापये च सती बाला, चन्दनाऽवीव-  
 भक्षितः ॥ ४०९ ॥ शृङ्खलानिगडैर्बद्धा, तिष्ठतीति विलोक्य च । अन्येषते तथा  
 मार्गं, भगवतो धर्मतत्परा ॥ ४१० ॥ अनाया वन्दिनी वीरं, भगवन्तं निरीक्ष्य  
 च । मुह्यं प्रकटं कृत्वा, कुर्वन्ती भाववन्दनाम् ॥ ४११ ॥ प्राह जगद्गुरो ! देव !  
 सूर्ये लोहमये पुनः । मापात्रवाङ्मूली चास्ति, तद्गृहीत्वा च मां पुनः ॥ ४१२ ॥  
 कृतकृत्यां द्रुतं कुर्या, इति मे प्रार्थनां दृष्टु । समयेऽलत्र तस्याश्च, प्रफुलितसुरा-  
 म्बुजम् ॥ ४१३ ॥ परं भगवतश्चास्या, सत्यमस्मिन्नभिग्रहे । तथाऽप्यशुप्रवाहस्य,  
 न्यूनत्वं चास्यवर्तत ॥ ४१४ ॥ स्वयं स च पण्डित, चलयानीपद्वितस्वतः ।  
 चन्दनाऽपि तदाऽपरयद्ग्राह्यहीना गृहं मयि ॥ ४१५ ॥ स्वयं देववरो भानुः,  
 समागलालयं मम । स्वप्रवादी समाह्वय, पश्यन्त्या मे गतोऽद्यम् ॥ ४१६ ॥  
 अस्यां दशायां वीनायाश्चायलयाः प्ररोदनम् । विनाऽन्यद्वर्षनं तस्यै, नास्ति कस्य  
 प्रयोजनम् ॥ ४१७ ॥ चक्षुर्भ्यां यमुनागद्वाप्रवाहो बहति द्विधा । महादवालवीरस्या-  
 भिग्रहं पूर्णतां गतम् । स्वाभिग्रहस्य दग्धा नु, स्वाहृत्वा भक्षितत्परा । सदा  
 सक्तानुरक्षायाः [ कण्ठ ] मापधान्यस्य याचल्यम्\* । गृहीत्वा दानातिशयादेवैर्मुखाश्च  
 यन्धनात् । केवलज्ञानभवनात्पथादार्यात्वमाप्स्यति ॥ ४१८ ॥ दत्ता स्वतन्त्रतां  
 तस्यै, जीवन्मुक्तत्वयोगतः । कथितश्चातिङ्गतेन, ज्ञका तस्यायमुत्तमम् ॥ ४२० ॥  
 शेषमायुं प्रभुस्त्वा च, निर्व्याणरदनागतम् । वीरस्येति प्रभाकटा, कन्याधनात्मकं

\* अमिपजाक्षतधान्यस्य वाक्प्रसङ्गेति भाषायाम् ।

वातगतो । धर्मकण्ठाचलितान्किञ्चिद्विगद्यते । कस्मिंश्चित्समये । राजगृहाधीशः  
 सुध्रेणिकः ॥ ४४४ ॥ तनयस्त्वस्य - यैकोऽस्ति, मेघकुमारनामकः । शुत्वोपदेशं  
 वीरस्य, संवेगात्प्रतिजगृहे ॥ ४४५ ॥ वीक्षोत्तमा तदा, तस्य, वीक्षितस्य नवस्य च ।  
 सर्वमुनीनां पथात्तु, तदाऽऽसनमवेशयत् ॥ ४४६ ॥ परन्त्वावर्यकं अर्थ, कर्तुमा-  
 यान्ति यान्ति च । मुनयोऽनुपयोगत्वाभिशायाः समवस्तथा ॥ ४४७ ॥ तेषाम्पी-  
 र्याभङ्गवशात्पादस्पर्शो सुहुर्मुहुः ॥ ४४८ ॥ जातस्ततः पराभूय, व्याकुलोऽभून्महाननाः  
 ॥ ४४९ ॥ निद्राऽभावसमापन्नो, विचारे तत्परोऽभवत् । किं मेघायुर्मदीयं च,  
 पादप्रहरणाद्गतम् ॥ ४५० ॥ प्रसह्यैवं व्यतीतं स्याद्व्येतस्यै मुनिर्वृतः । प्रातरेव  
 हि दत्वेदं, धर्मोपकरणं मुदा । गत्वा च जननीं सां च, मिलिष्यामि सुप्रेमतः  
 ॥ ४५१ ॥ साधुरथैव सम्भूय, रलितः पादत्कमतः । नेत्वं विनिर्वहेचाय, प्रहृष्टं  
 पूर्वमेव तत् ॥ ४५२ ॥ सदा चायाति भक्त्यैव, तदाऽप्यादरतोऽवदत् । अथ भूत्वा  
 सुसंयमबाध जानन्ति कथंचन ॥ ४५३ ॥ न जानन्ति कथं चाय, किमाश्चर्यमतः  
 परम् ] निदानन्त्वत्र प्रातर्हि, मुनिर्मघकुमारकः । वीरस्य धरणाभोज-  
 वन्दनार्थं समागतः ॥ ४५४ ॥ गुरोः प्रहृष्टं समुत्पन्ना, लब्धा तस्य मुनेरदः ।  
 नतं शिरश्चकाराद्यु, कुमारः क्षत्रियस्य च ॥ ४५५ ॥ स त्वन्तेवासी भूत्वा च,  
 तस्य च सद्वलाध्रयः । संसारतारको वीरो, निशादृतं च ज्ञातवान् ॥ ४५६ ॥  
 सर्ववृत्तं निशाजन्वं, निगद्य पुनरुक्तवान् । रात्रौ वक्तुं मुनीनां च, पादप्रहारं  
 तस्त्वया ॥ ४५७ ॥ लब्धा निद्रा न खान्तर्वे, तेनातर्भ्यानमागतम् । अतो  
 निद्रा मुविच्छिन्ना, निशाऽशीताऽतिकृष्टा ॥ ४५८ ॥ परं विचेरुग्न्धानं, मार्गयस्व  
 समागतः । तदा स्यात्पूर्वकं ज्ञानं, जन्म पाशविकं तव ॥ ४५९ ॥ तत्र कष्टं  
 महत्किं वा, निशापादप्रहारकम् । एतावन्तं प्रतिशुल्य, मेघनाभो मुनेर्दत्तम् ४५९  
 जातिसरोऽभवत्पूर्वजन्मद्वयगतस्य च । तिर्यग्भावगता वार्ता, समाहृष्टा स्मृतेः  
 पथम् ॥ ४६० ॥ पूर्वसंवेदिनी तद्दृष्ट्वा जातेधमद्भृता । तदा योगी पुनर्जातो,  
 वीक्षादानविधानतः ॥ ४६१ ॥ तर्पयन्मासपर्यन्तं, धृत्वा सङ्घेसनां गुरोः । अन्ते  
 द्वाविंशतिसर्गसाहसिन्द्रोऽभवत्ततः ॥ ४६२ ॥ कर्ममाननगं चेनं, सुस्थिरं कृत-  
 वान्पुनः । भगवान्वीरदेवध, ज्ञातव्यमुत्तमं तपः ॥ ४६३ ॥ प्राणमृतामसह्या-  
 नामित्थं अमरजालके । ममा नौरुद्धता वीरदेवेन भवचक्रतः ॥ ४६४ ॥ भवा-  
 म्मोघेस्वारकृत्वात्तारकः परिगीयते । निपुणः शक्तिमत्त्वाच्च, कर्तव्यश्चि च कथ्यते  
 ॥ ४६५ ॥ अथ सहर्षं प्रति-यदानन्दकर्मदेवादिवर्धनां गृहमेधिनाम् । गृहिणः

अयन्ति । च तदुणात् । बुद्धकल्पा जनाद्यापि, बहुवः स्वमुखेन वै ॥ ४८९ ॥  
 ज्ञातपुत्रमहावीरस्वदन्तचरित्रकम् । मुष्ककण्ठेन तस्यापि, सर्वञ्जलं प्रशंसिदे  
 ॥ ४९० ॥ आध्यात्मिकस्य तत्त्वस्य, पदार्थे तत्त्वचिन्तकः । ये ये प्रसिद्धा लोकेऽ-  
 स्मिन्महानुभावभाविताः ॥ ४९१ ॥ यान् यान्साहित्यविषये, ग्रन्थान्प्रति सुधी-  
 मतः । भगवन्महावीरस्यादर्शजीवनरूपकम् ॥ ४९२ ॥ चरितोपदेशकानां यः,  
 प्रभावः पठितो भुवि । सूचीपत्रविनिर्मातुं, सर्वथा तदसम्भवः ॥ ४९३ ॥  
 एतावदेव सङ्क्षेपात्कथितं च महोदयैः । एतादृशो जनः धेष्टस्या साहित्यकृतविद्  
 ॥ ४९४ ॥ संसारे विरलधास्ति, ज्ञात्वाऽज्ञात्या विशेषतः । भगवन्महावीरस्य, जिनस्य  
 प्रतिपासरम् ॥ ४९५ ॥ अनेक्यन्तवादतत्त्वस्य, सेतिहासोपदेशकैः । लाभो नोत्था-  
 पितो लोकेऽर्थायतां परमार्थतः ॥ ४९६ ॥ यत्र धीर्बर्धमानस्य, जिनस्य न हि  
 दृश्यते । चिन्हं किमिन्मस्त्वल्पं, सर्वत्रैवं विचारय ॥ ४९७ ॥ साधारणात्मव्यपीनां,  
 महत्वं न वचस्सपि । परं भारतवर्षस्य, यावन्तथेतिहासके ॥ ४९८ ॥ महान्तो  
 मनुजा जातास्त्रेऽवश्यं वीरस्वामिनम् । येन केन प्रकारेण, स्मृतवन्तो मुहुर्मुहुः  
 ॥ ४९९ ॥ इति वार्तातिरिक्तं च, सिद्धं जातमिति स्फुटम् । विद्वांसः पूर्वम-  
 लीना, वर्धमानजिनस्य च ॥ ५०० ॥ चरिते स्वाहादकस्य, सिद्धान्तस्य प्रशसनम् ।  
 पठितं परमाधिक्यं, नानाख्यानान्वितं पुनः ॥ ५०१ ॥ पठनायस्य ज्ञातापे,  
 ज्ञास्यन्तीति विशेषतः । पाधालैर्नितिकैर्लोकैर्नानेशुस्यस्य दृश्यते ॥ ५०२ ॥  
 तथापि महावीरस्य, चरित्रे जीवनस्य हि । तथा सदुपदेशस्य, सिद्धिरेये लघु-  
 र्भूयम् ॥ ५०३ ॥ तदा किमियमाशा वै, न कर्तुं शक्यते मया । पाधालभाषिणि  
 भवे, वीरस्य विरव्यापिनः ॥ ५०४ ॥ प्रभावोऽयतनानुत्था, ज्ञानस्याथ वा  
 मुदा । प्रत्युतानन्तप्रख्यातप्रकरत्वेन संस्फुटम् ॥ ५०५ ॥ सुपाधालैर्जनैर्विधे,  
 वर्णितं मुष्ककण्ठतः । भगवन्तं श्रेष्ठतमं, मन्यन्ते न्यानुभाषतः ॥ ५०६ ॥  
 सुतात्पर्यमिदं तस्य, समग्रयज्ञसः परम् । लक्षणं च महावीरे, परिपूर्णम-  
 न्वयः ॥ ५०७ ॥ धियः समग्रायाः—धीर्मांथ मग्वान्नीचे, जन्मजन्मान्तय-  
 तुमः । स्त्रीयः गणधरधेन्द्रभूतिरुत्सले द्विजाय च ॥ ५०८ ॥ दिग्गम-  
 कविज्ञानं, इत्येत्वं द्वादशाक्षरम् । चतुर्दशपूर्वज्ञानं, तन्मै धीर्मांथमाय च ॥ ५०९ ॥  
 पूर्वधरधुतेऽपारपातीनं मुविषाय तम् । गणधरे मुनिपुत्रवं, भूमावान्यदयात्मनः  
 ॥ ५१० ॥ यस्मानन्तज्ञानत्वम्या, नेतुं स्वभे च रोहकः । गात्रेयादिनाद्यक्षरं,  
 भगवतां पञ्चमाक्षरं ॥ ५११ ॥ इतर्वीर्यदिशेभेन, ज्ञातव्यं सुप्रचटकेः । किं



तन्मुक्तावसङ्ख्यानां, प्राणिनां प्रेपके पत्नौ ॥ ५१२ ॥ मुक्तौ धियः समप्राया, लक्ष-  
 नेति समन्वये । निरूपणे तथाऽवश्यं, यज्ञः कार्यो विशेषतः ॥ ५१३ ॥ यथ  
 सहस्रपतेथापि, वसुगम्पत्तितो \*रहः । सम्पत्तिमन्तं कृतवानिति जानीत ज्ञानतः  
 ॥ ५१४ ॥ वैराग्यस्य समग्रस्य-चतुष्टयाऽनन्तसम्पत्प्रातिहाय्याद्यनेकधा । धर्म-  
 सम्पत्सङ्घसम्पत्कीर्तिसम्पत्तथाऽपरा ॥ ५१५ ॥ अष्टैव प्रातिहाय्याख्यामुखैभव-  
 सम्पदः । एतावन्त्यो यत्र सन्ति, भगवत्त्रिदशधरे ॥ ५१६ ॥ तद्गार्हस्थ्योऽपि  
 वैराग्यसम्पत्तिरुपवृद्धिता । तथाऽनासक्तिसम्पत्तिर्वैरीवर्ति स्म तत्र वै ॥ ५१७ ॥  
 [तदद्भुतं चमत्कारं, को वा वर्णयितुं क्षमः ॥] पुष्कलं भोगमासाद्य, तत्रोत्पद्य स्वयं  
 मधुः । पट्टजं पट्टजमिव, पृथगेव विभाव्यते ॥ ५१८ ॥ सेयं तत्त्यागवैराग्यसम्पत्तिः  
 सिद्धिदायिनी । विद्योतते भगवति, वैराग्यस्येति लक्षणम् ॥ ५१९ ॥ मोक्षस्याथ  
 समग्रस्यापुनरावृत्तिरूपकः । समन्वयो यथाह वै, जायते तन्निश्चयताम् ॥ ५२० ॥  
 व्याचाराङ्गं तथा व्याख्यामुपद्रव्यादिरूपका । आधारभूतेतिहासाद्य, सिद्धं  
 तन्निर्विवादतः ॥ ५२१ ॥ महावीरभगवान् वीक्षादशातः पूर्वतोऽपि वा । पुद्गल-  
 स्यप्रबन्धेषु, पदार्ये बन्धने पुनः ॥ ५२२ ॥ भावसंयतयुक्तोऽभूत्प्रापेक्षा विद्यते विभोः ।  
 सर्वथा ते च मुक्त्यर्थं, सवेष्टाः सन्ति भावतः ॥ ५२३ ॥ सम्बन्धे चात्र चैता-  
 यत्कथनं जातमलं तथा । अनन्तचतुष्टयमाप्य, जातः सिद्धः सक्रायिकः ॥ ५२४ ॥  
 जीवन्मुक्तोऽभवत्तत्र, विज्ञेयं तच्चरित्रकम् । प्राणिनस्तस्य घरणं, समायाताश्च येऽ-  
 निशम् ॥ ५२५ ॥ स्वयं तेभ्यः मुमोक्षस्य, सम्प्रदायरहस्यकम् । स्वसमाप्ते कृता-  
 स्तेन, तत्त्वहाशु निसेवनम् ॥ ५२६ ॥ मुक्तिमूलं पर स्थानं, तदस्तीति विभावय ।  
 तत्र मोक्षसमग्रस्य, समन्वयप्रसक्तितः ॥ कथं प्रभावकशः स्यादित्यं च तुष्यतां  
 धिया ॥ ५२७ ॥ अतो भगवते मोक्षसमग्रस्य समन्वयः । षष्ठमलक्षणस्याऽयं,  
 समन्वय इति स्फुटम् ॥ ५२८ ॥ अथोपसंहारः-एवमुक्तपडाख्यानाऽऽलक्ष-  
 णानां समन्वयात् । सिद्धो जातस्तु जगति, "वीरस्तु भगवान् स्वयम्" ॥ ५२९ ॥  
 अस्ति सर्व्वज्ञ इत्थं यः, समदर्शी च वीर्यवान् । द्वितीयो सर्व्वजीवानां, तथातोऽ-  
 नन्तशक्तिमान् ॥ ५३० ॥ शास्त्रा सर्व्वः स एव स्याज्जगद्गुरुरिहार्तिहः । अतस्त-  
 द्दक्षणं प्रोक्तं, निम्नं तन्निबोधतः ॥ ५३१ ॥ "गुणरस्त्वन्वक्वरस्तु, द्ध्वरस्त-  
 न्नितोधकः । अन्धक्वरविनाशेन, गुरुरित्त्वभिधीयते" ॥ अज्ञानं च गुणन्दस्य,

दशब्दस्त्रिभक्तकः । मिलित्वा च द्वयोरर्थो, गुणरित्युच्येते बुधैः ॥ ५३२ ॥  
 अज्ञाननाशनाम्नातो, जगद्गुरुर्योच्यते । सर्वज्ञथापि सोऽप्येव, "वीरस्तु भग-  
 वान्स्वयम्" ॥ ५३३ ॥ यतोऽन्यदज्ञाननाशं, कृत्वा च स स्वयं प्रभुः । "त्रिषाप"  
 मित्याशखिलो, न्यायस्त्रय सुष्यथे ॥ ५३४ ॥ रत्नत्रयस्वरूपस्य, "वीरस्तु भग-  
 वान्स्वयम् ॥" वरयित्वा ज्ञानमदो, देवगुणो रहस्यधम् ॥ ५३५ ॥ तथा धर्म्म-  
 रहस्यं च, सम्प्रकाश्य स्वयं प्रभुः । सर्वसंसारमुक्तेध, मार्ग संवरनिजरे ५३६  
 ज्ञापितोऽप्यस्ति यस्येत्यं, करणादनुभवस्य हि । मननध्यानमोक्षस्य, साधनाऽऽ-  
 सकचेतसः ॥ ५३७ ॥ जना हि निखिलाः सन्तः, शीघ्रं प्रापुर्महात्मनः । अतो  
 हि भगवान्वीरो, भवस्यास्याखिलस्य च ॥ ५३८ ॥ कलेऽवसीर्षिणीससे, चतु-  
 र्विंशतिसङ्गकः । तीर्थद्वरोऽन्तिमोऽप्यस्ति, गुरुर्वन्योऽपितैर्नरैः ॥ ५३९ ॥  
 तद्दशितोऽस्ति दशधा, व्याप्तो धर्म्मो दिग्बन्तरे । जैनधर्मः स एवात्र, सर्वदा  
 नाऽपरः क्वचित् ॥ ५४० ॥ इत्थं भगवतो महावीरदेवोपदेशतः । शुद्धभावेन  
 परमस्तत्त्वनिष्पेपहेतुकः ॥ ५४१ ॥ पदार्थं स्वात्मनीलेयं, कृत्वा सन्धानमेव च ।  
 तदागमस्य सिद्धान्तमार्गस्य मननं तथा ॥ ५४२ ॥ कुर्वन्नुभवं तद्द्रच्छुक्रभासाधि-  
 वेदानम् । गद्गदान्वितकण्ठेन, गार्वेस्तद्गुणविग्रहम् ॥ ५४३ ॥ रत्नयं मा प्रमादी-  
 धेवि चर्यासमाहितः । अमूल्यममयं स्वस्य, यापयन्तु मुष्यानतः ॥ ५४४ ॥  
 धन्यः स एव लोकेऽस्मिन्धीर्निमोघः सुधीर्गुणी । वृतः स एष संसारे, स्यादादा-  
 लकृतो नरः ॥ ५४५ ॥ तदन्तगतं सर्वमहिकं शान्तिमत्युनः । जीवनोत्थं मोक्ष-  
 रूपमपुनरोत्थितसंनतम् ॥ ५४६ ॥ समुत्थानमयं लोके, चाक्षयं बन्धवर्जितम् ।  
 कुञ्चिकर सैव विज्ञेया, अव्याबापस्य धामनि ॥ ५४७ ॥ पर्वोद्भूतवंभूयं, विष्णु-  
 र्कुस्य संवति । मधुमासेऽथ धवले, पञ्चे दशमीर्वात्तपौ ॥ ५४८ ॥ निष्णोऽयं  
 समाप्तध, धीपुष्प-मिक्षुणा शतः । श्रीमत्फकीरचन्द्रस्य, मुनेः शिष्येण  
 धीमता ॥ शतपुत्रमहापीरजैनसद्गानुयायिना ॥ ५४९ ॥

मङ्गलं भगवान्वीरो, मङ्गलं गौतमः प्रभुः ।

मङ्गलं स्थूलभद्राद्या, जैनधर्मस्तु मङ्गलम् ॥

शिवमस्तु सर्व्यजगतः, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।

दोषाः प्रयान्तु जातं, सर्व्यत्र सुखितो भवन्तु लोकाः ॥ १ ॥

वीरस्तुति-परिशिष्ट नं० ७ ।

॥ अथ वीरयोगतरङ्गः ॥

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

योगाज्जानाति स्वात्मानं, योगः शान्तिं प्रयच्छति । योगान्मोक्षोऽभिसंयाति, योगाद्देशसमुन्नतिः ॥ योगाच्चिर्वरतामेति, समाधिरचला भवेत् । योगेन समताऽऽप्नोति, तस्माद्योगात्मने नमः ॥ १ ॥ योगिनां सर्वतो मैत्री, योगी सम्मुदितां गतः । करुणान्वितो भवेद्योगी, योगे माध्यास्थ्यभावना ॥ २ ॥ योगशास्त्रे तथाऽन्यत्र, योगस्य प्रतिग्रहिता । तेन योगतरङ्गस्य ध्याख्या पद्येन गीयते ॥ ३ ॥ योगेन भित्वा पट् चक्रं, वायुं संस्थाप्य मूर्द्धनि । ब्रह्मरंभ्रस्थकमले, सहस्रदलसंश्रुते ॥ ४ ॥ स्वान्तमाकृष्य विषयाज्जलबुद्बुदसञ्चिभात् । संस्थाप्य ज्ञानतो बध्वा, ध्रुवं ब्रह्मणि निष्कले ॥ ५ ॥ द्विविधं कर्म संन्यस्य, योगी याल्लपुनर्भवम् । तस्माच्च योगमाहात्म्यं, वर्तते सर्वतोऽविचम् ॥ ६ ॥ अतथ योगशास्त्रस्य, महत्त्वं वर्णितं बुधैः । तद्भाष्यात्मानं मयेदानीं, गीयतेऽभीष्टसिद्धये ॥ ७ ॥ योगो निर्मलचेतसां वितनुतेऽप्यष्टास्रसिद्धिं पुनर्योगाङ्गेन मनो नियम्य यतयो याताः पदं निर्भयम् । योगोऽज्ञानमयान्धकारतरणियोंमात्र चान्योऽपरस्वस्माद्योगमुपाश्रयन्त्वनुदिनं यो योगिनामिष्टदः ॥ ८ ॥ संसारेऽत्र मुखं प्राणं, हेयं दुःखमिति स्थितिः । इत्यनुसृत्य चान्छन्ति, मुखं प्रत्येकप्राणिनः ॥ ९ ॥ दुःखं तत्कारणं वेति, तेनेच्छन्ति कदाचन । तस्मात्सुखाप्तये योगः, सेवनीयः सुखार्थिभिः ॥ १० ॥ न ह्येतावद्धि मात्रेण, प्रत्युत्तवं सुखदैव्ये । निर्लभं कुर्वन्त्युपायं ते, शतशो यन्नतो मुदा ॥ ११ ॥ तैरुपायैर्यदात्तन्तं, जायते सफलं क्रियाः । तदानन्तमुखावाप्तिं, लब्ध्वा यान्ति कृतार्थताम् ॥ १२ ॥ इत्थं मत्वा सुखाप्त्यर्थं, सर्वसाधकसाधने । मुख्यो धर्मो न चान्योस्ति, तस्माद्धर्ममुपाश्रयेत् ॥ १३ ॥ स च योगात्परो नान्यो, ज्ञातव्यो योगसाधकैः । एवं धर्मो धारणीयः, सत्सुखाप्तिकरो यतः ॥ १४ ॥ योगतो लभ्यते स्वर्गोऽपवर्गश्च महात्मभिः । कायस्य चैधते कान्तिरुच्चलात्मसुखोदया ॥ १५ ॥ वर्तमाने युगे चास्मिन्ननेकमतवर्त्मनि । पार्तिवाजी सम्प्रदानसद्वाङ्गच्छदोलकाः ॥ १६ ॥ वर्तन्ते ये च धर्मस्य, नामोपरिचलन्ति ते । तेऽमरशहीदका भुक्त्वा विहरन्ति यथेच्छया ॥ १७ ॥ योगसाधनतत्त्वे च, विमुक्तो निजशिष्यके । सुखसाधनदानार्थमसमर्था भवन्ति ते ॥ १८ ॥ स्वसम्प्रदायसधस्या

निर्वाहार्थं बहुक्रियाः । परम्परया विज्ञानं, बोधयन्ति सद्गार्थिनः ॥ १९ ॥ तथा  
 परम्पराचक्रानुसारेणैव शिष्यकाः । कुर्वन्ति ताः क्रियाः शश्वत्तर्नर्नर्तनमुदा ॥ २० ॥  
 अस्यां दशायां केचित्तु, कदाचित्सुखवाञ्छया । प्राग्निधेदशाः सन्ति, येषां  
 चित्तं न सुस्थिरम् ॥ २१ ॥ सन्तोषः सुखसिद्ध्यर्थमसन्तोषाद्दोहदशी । भद्र-  
 रिणामवन्तो, जीवाः सुखविवृद्धये ॥ २२ ॥ रणं खेदं च कुर्वन्ति, सर्दकीभाव-  
 नास्थिताः । रजः प्रक्षेपणेऽप्येवं, न पृथग्भावमधुते ॥ २३ ॥ सुखं तत्साधनं  
 तद्वत्सर्म ये चाप्नुवन्ति ते । नान्यथाऽभ्यन्तरोपर्यर्दश्यतामिह चार्थिभिः ॥ २४ ॥  
 एवं प्रवर्तितं चक्रं, तदग्रे सफ़लीभवेत् । सत्वात्मकस्य स्वैस्य, सुखस्य साधनं  
 बहु ॥ २५ ॥ समये प्राप्नुवन्त्येवं, न वाचेति सनातनम् । इत्थं दयामयीं तेषां,  
 स्थितिं प्रतिपुत्रक्यते ॥ २६ ॥ सप्रं ज्ञातुं स्थायिनं च, सुखं वास्तविकं पुनः ।  
 सत्यसाधनसभारं, कर्तुमशक्यवश्यम् ॥ २७ ॥ सत्यसाधनयोगो हि, सर्वोपरि  
 विराजते । तथाऽद्वितीयं संमान्यं, चमत्कारकरं पुनः ॥ २८ ॥ अस्ति साधनकं  
 पुण्यं, प्राप्यते तद्गुरोर्मुखात् । उपयोगे प्रकुर्वन्तः, स्वल्पकालेन तत्सुखम् ॥ २९ ॥  
 अवश्यमेव लब्धव्यमसम्पन्नमव्ययं ध्रुवम् । योगधैतादृशं वस्तु, न स्वयं ज्ञायते  
 क्वचित् ॥ ३० ॥ योगयुक्तादात्मविदः, कस्मादपि महात्मनः । ज्ञातव्यो विषया-  
 सत्ताभाष्यते स हि योगिनः ॥ ३१ ॥ यद्योदरभरो योगी, संसारासक्तचेतनः ।  
 बाह्यतः साधुवद्वृत्तिस्तस्मै योगोऽस्ति दुर्लभः ॥ ३२ ॥ एवं भूतायोगिनश्च, नाप्यते  
 योगसाधनम् । तस्माच्छास्त्रपरोयोगः, शिष्यणीयो महात्मनः ॥ ३३ ॥ योगिनोऽयं  
 न लभ्यन्ते, भारते योगधारकाः । परं प्रयासकरणाच्छोधय्या योगिनोऽनुना  
 ॥ ३४ ॥ मुयोगान्म्यासतो नित्यं, समाधानेन चेतसा । अथवा दूरतः स्वैर्यं,  
 केचियोगविदं जनम् ॥ ३५ ॥ समाधयन्तु येन स्यात्साध्यसाधनमुत्तमम् । पर-  
 न्द्वियं कर्तव्यं, स्मरणं साधनं विना ॥ ३६ ॥ नाप्यते सुसुख वैधिविति  
 जानन्तु साधकाः । परन्तु स्वधर्मापेऽस्ति, तत्सुखं स्वात्मनि स्थितम् ॥ ३७ ॥  
 अन्तर्दृष्टितोऽभ्यासाज्ज्ञापयन्ति सुखं परम् । येषां सनातनस्वैवं, सुखावीद्योपलब्धये  
 ॥ ३८ ॥ योगसाधनवाञ्छा चेशोजनीयं मनो मुहुः । योगस्य योगिनां चात्र,  
 महत्त्वं परमोदकैः ॥ ३९ ॥ गीताया तच्च कृष्णेन, सर्वमुक्तं महात्मना । तपस्वि-  
 भ्योऽधिष्ठे योगी, इति श्लोकेन वार्णितम् ॥ ४० ॥ अनेकधोपकासादितपो  
 दीर्घाद्विदीर्घकम् । श्रुत्वाऽपि च न लभ्येत, योगी ऋषिन्महोदयः ॥ ४१ ॥ अतो  
 योगी महानसि, सर्वतो भारते कलौ । नयनिक्षेपदेवादेरपुण्यमङ्गकं तथा ॥ ४२ ॥

जीवादिसंख्यां संख्यातुमुत्सुका ज्ञानिनां वराः । तेभ्योऽप्यस्त्रि महान् योगी, तथा  
 कर्मकरादपि ॥४३॥ अतोऽर्जुन ! भव त्वं हि, योगी योगात्परो न हि । योगयुक्तो  
 विशुद्धात्मेत्यादिश्लोकेन वर्णितम् ॥४४॥ धीमत्कृष्णेन महता, चार्जुनाय विदे मुहुः ।  
 तदाश्रयथेत्थमस्त्रि, ज्ञातव्यो योगवित्तमैः ॥ ४५ ॥ आत्मजेतेन्द्रियाहर्ता, तथा  
 भूतेषु भावना । स्थापनीया समा शश्वदिवि शास्त्रमतं सदा ॥ ४६ ॥ योगी जनः  
 कर्म कुर्वन्निष्कर्मैव स जायते । अर्थात् कर्मलेपनाच्च, न कदापि स लिप्यते ॥४७॥  
 यथाऽम्भसि गतं पद्मं, न स्पृशेत्तज्जलं क्वचित् । तथैव योगसम्पन्ना, न लिप्यन्ति  
 च कर्मभिः ॥ ४८ ॥ एवमेव च सम्प्रोक्तं, जैनशास्त्रेऽपि न्यायतः । [ अगमं च मूलं ]  
 चे त्यादिज्ञेयं स्याद्ब्रह्मकं पुनः ॥ ४९ ॥ मूलकर्मोऽप्रकर्मणो, मेदं ज्ञात्वा विवे-  
 क्तः । एवं ज्ञात्वा मुकर्माऽपि, निष्कर्मा साधको भवेत् ॥ ५० ॥ निष्कर्मकारिणां  
 चेत्यं, न भवेच्च कदाचन । उपाध्युत्पातकं चेति, लौकिकं सर्वकर्म च ॥ ५१ ॥  
 केवलं दर्शनार्थाय, दृश्यते चेदृशं क्वचित् । योगयुक्तात्मनः कार्यं, योगक्षेत्रस्य  
 वाहकम् ॥ ५२ ॥ भवेद्यं च योगो हि, चिरकालात्समागतः । प्रवर्तकश्चास्य  
 योगस्थानादेः ऋषभो जिनः ॥ ५३ ॥ तीर्थकृतामादिभूतः, श्रीमानृषभदेवकः ।  
 जिनराजोऽभवद्योगी योगिनां प्रवरो मुनिः ॥ ५४ ॥ मनोनिग्रहणाऽऽदेशो,  
 निर्दिष्टः पूर्वमेव च । तेनाज्ञा च प्रदत्ताऽत्र, सर्वाधिक्येन ज्ञानतः ॥ ५५ ॥  
 बहुजीवनिष्पयानां, सन्मुख जगतः परम् । दृष्टिमात्रेण यत्सोभं, मनः प्राप्तं च  
 यन्मुहुः ॥ ५६ ॥ भूत्वाऽधुब्धं पुनथात्मसंमुखं यत्प्रवर्तितम् । पुनस्तदेवानन्तं  
 च, लब्ध्वा प्रत्यक्षमेव वा ॥ ५७ ॥ करोल्लनुभवं तस्य, मनसोऽतो निरोधनम् ।  
 कर्तव्यं हि तदेवास्त्रि, योगो योगविदां मते ॥ ५८ ॥ इदमेव हि योगस्य, लक्षणं  
 प्रोक्तवानिति । पतञ्जलिमुनिश्चापि, योगसूत्रेण ज्ञायताम् ॥ ५९ ॥ चित्तवृत्ति-  
 निरोधाख्यो, योगश्चोक्तः पुरातनः । अत्युत्तमस्य योगस्य, पात्रं हि क्षीनरादयः  
 ॥ ६० ॥ चतुर्वर्णाधमाणां च, लोकानानत्र चास्त्रि वै । अधिकरश्च योगस्य,  
 साधनेनास्त्रि निर्णयः ॥ ६१ ॥ योगेनैव यशस्वेजो, वर्धते योगिनां मुहुः । योग-  
 तश्चरूपं च, नित्योर्जुं याति साधकः ॥ ६२ ॥ निर्वाणपदमागल्य, जगामरणव-  
 ज्जितः । अतोऽत्र निर्णयो नास्त्रि, योगे जातिभिदो मुषा ॥६३॥ जातिमेवात्मधे  
 मेदो, नावस्था प्रविचारणा । चाण्डालजातिसम्पन्नो, जनोऽपि योगवित्तमः ॥६४॥  
 भवितुं शक्यते योगी, महात्माऽपि स्वतन्त्रतः । पञ्चविंशतिसतात्पूर्व, हरिकेशी  
 मुनीश्वरः ॥ ६५ ॥ स च चाण्डालजातीयो, जातश्चेति तथाऽपि च । योगतो

योगाभ्याससंघिद्विस्तत्रैव रल्ल जायते । यत्सुखं वीतरागस्य, मुनेरेक्यन्तवासिनः ।  
 तत्सुखं देवराजस्य, चक्रिणो न कदाचन ॥ ९१ ॥ नासनेन विना सिद्धिर्जायते  
 न रजोवृते । रहःस्थाने चेदासनस्य, ज्ञेयमावश्यकं मुहुः ॥ ९२ ॥ दर्भासनं प्रशस्तं  
 स्याद्योगिनां च मुदे पुनः । कम्बलेन तदाच्छाद्यं, सर्वथा योगधारकैः । एतादृशे  
 साधकानामासने शक्तिरुज्ज्वल । जायते ननु कायस्य, विद्युत्कोटिसमप्रभा ॥ ९३ ॥  
 बुद्धिरत्युत्तमा वेति, नो विशेषत्सूत्रकासने । तत्रासने साधनत्वे, योगो निष्फलतां  
 प्रजेत् ॥ ९४ ॥ भगवत्सादिसूत्रेषु, प्रोक्तं दर्भासनं शुभम् । 'दग्ध-संधारणं'  
 चेति, सूत्रार्थेनोपवर्णितम् ॥ ९५ ॥ गणधरस्य मुनेध, गौतमस्य तथा पुनः ।  
 केशिखामीत्यादिना च, स्वागतार्थं समाहितम् ॥ ९६ ॥ आगन्तुकेभ्यो नितरां,  
 मुदर्भासनमेव हि । प्रदत्तं चोपवेशार्थमित्येवं च तदासनम् ॥ ९७ ॥ प्रशस्तं  
 सर्वासनेभ्यो, मुदर्भासनमुच्यते । जैनानां च तथा रीतिरेषा दर्भासनार्थे ॥ ९८ ॥  
 तदभावे प्रशस्तं स्यात्कम्बलासनमेव च । दर्भासनोपरिष्ठात्तु, कम्बलासनमित्यते  
 ॥ ९९ ॥ ततः पद्मासनं बद्धा, मनसोऽप्यनुकूलतः । पुनरासनेदृशे च, साधनं  
 समुपविश्य च ॥ १०० ॥ साधयेच्छुद्धमनसा, योगं योगस्य सिद्धये । दिशि पूर्वं  
 चोत्तरे च, मुखं कृत्वा समभ्यसेत् ॥ १०१ ॥ तदेवोक्तं 'पुरत्थामिमुहे'  
 'सपलियंकनिसण्णया' इत्येवं कथितं सर्वमासनं क्रमतो जिनैः ॥ १०२ ॥  
 कमलाख्ये वा पर्यङ्के, स्थित्वा चाप्युत्तमाने । मुखं पूर्वदिशि कृत्वा, वामहस्ते च  
 दक्षिणम् ॥ १०३ ॥ करं धृत्वा कटिं तद्गतकण्ठे चैवं च मस्तकम् । सदैकपङ्क्तौ संस्थाप्य,  
 साधयेदप्रमादतः ॥ १०४ ॥ स्थाप्यं दमश्रुविभागेऽधो, हनौ स्वन्तर्गते पुनः ।  
 ईदृगासनमाह्वो, योगी याति परं शमम् ॥ १०५ ॥ प्रातर्दिनान्ते च पुनर्निशायां,  
 पूर्वं परे वामभवे च काले । मध्याह्नवेलासुसमाहितः सन्, योगी सदाऽनेन सदास-  
 नेन ॥ १०६ ॥ करोतु योगस्य सुसाधनं वै, यथेक्यामन्तमुखेन योगी । भूत्वा  
 स्थिरो जातु सदा, मुशक्यस्वाद च ज्ञेया विजयोपलब्धिः ॥ १०७ ॥ जातासने  
 चासनसिद्धिरुप्रा, विनासनाद्धि विजयो न योगः । सिद्धयेत्पथो प्राणशरीरवृत्तौ, तदा  
 मुदृष्टौ विजयोऽपि लभ्यः ॥ १०८ ॥ प्राणेन्द्रिये वापि तनौ मुदृष्टौ, प्राप्नोति  
 योगी, विजयं समन्तात् । सदेत्यमेवं च, विना न योगमात्मोपलब्धिर्भवतीति  
 ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥ अतो नितान्तं धमतो गुरोरेध, युक्तेर्विशेषेण च प्रापणीयः ।  
 जयोऽप्यजस्रं खल्ल स्वासनस्य, जानन्तु सर्वे मुनयो नितान्तम् ॥ ११० ॥ जितास-  
 नान्तरमेव शश्वत्तमादिनियमादिजयोऽपि लभ्यः । जितासनानन्तरसाधकेन, संल-

॥ १२८ ॥ अथ प्रयातो यदा वृद्धिमेति, प्रकृतिप्रत्येकं पदार्थान्तरेऽपि, । तदा प्रेमवृद्धिः प्रयात्येव नूनं, तथा सृष्टिप्रत्येकमंशेऽपि ज्ञेया ॥ १२९ ॥ मुदा वीतरागत्वमुत्कृष्टतायाः, प्रभावस्य स्याद्द्वर्तनं योगसिद्धौ । प्रयत्नोऽपि स्यादुत्कृष्टत्वेन शश्वत्तदानीं मुहुर्तान्तमुत्थापनीयः ॥ १३० ॥ ततः सृष्टिभागेऽपि स्यात्वेत्सुदृष्टिः-मुक्तं स्वापयित्वा च तत्रैव सृष्टिः । स्थिरीभावमागत्य क्रयस्य स्वस्य, स्वपिण्डादिनिः, स्वस्य दुःखं पुनश्च ॥ १३१ ॥ मुहुः पश्यते तादृशावस्थया, मुक्तं साधके नाप्यते शीघ्रतः । प्रभुनाम्नो मुहुर्भावनानामकं, जपं प्रेमतो योगजन्यं पुनः ॥ १३२ ॥ तदा प्रारभेतेच्छया शब्दकोच्चारणं ॐ नमो जापमेवं जपेत् । अनेनार्हदेवं भजे-त्प्रेमतः, सर्वकाले तदा ॐ पदं लुप्यते; पुनः शश्वदेव स्वयं नामतः ॥ १३३ ॥ ततश्चात्मनि प्रेमतथाहति, प्रभावैक्यकरामुच्यतिस्ततः । स्वयं सक्षणं जायते प्रेमतो, यथा चावकाशं परं तत्त्वतः ॥ १३४ ॥ चलंशोपशान्त्या भ्रमन्वा विशन्सदोत्तिष्ठ-मानः शयानोऽपि च । तथा जाग्रतो भुञ्जमानश्च तत्र ध्यानं कदाचित्सरेत्कथयतः ॥ १३५ ॥ निशान्ते दिनान्ते च मध्याह्नके, निशायां सुयोगः क्रियामारभेत ॥ सदाऽजापजापं जपेत्सस्तरञ्जेकतो योगद्वारैव सद्भावना, दृढत्वं भवेद्योगतो नान्यतः ॥ १३६ ॥ जापमेवं जपेत्प्रेमभावेन च, तथा हि द्वयं साधनं सर्वतो । मिलित्वा मनः शान्तभावं प्रजेन्मनोऽश्वो भयंकरको दुःखदः ॥ १३७ ॥ तथा साहसाधाररूपं भवेन्मनो रूपमधस्तया चेन्द्रियं, षोडशोऽस्ति बलिष्ठ इति ज्ञायतां, परं चेदृशेन प्रयासेन च ॥ १३८ ॥ ततो मत्तता याति तेषां बहिः । ततस्ते भवेयुः प्रशान्ताः पुनः ॥ ततश्चेदृशेन प्रसरेण च, भवेत्साधकानां विवेकान्विता ॥ १३९ ॥ तथैवं च दृष्टिश्च सूक्ष्मा मुहुः, महैयानयेदात्मिकानन्दकम् । इदं साधनं स्याच्च सन्तोषकहेतुस्तदा साधक्यः स्वस्य च, प्रकृतिं निवृत्तिं च सपश्यत ॥ १४० ॥ आत्मानं स्मरति विद्धि, शरीरं रथमेव तु । इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्मनः प्रग्रहमेव च ॥ १४१ ॥ परावृत्त्य यत्राटकं वाद्यवृत्त्या, कृतं तत्र उर्वन्तु वाऽभ्यन्तरीया । शुभं श्राटकं दृष्टितो योगसिद्धौ, भवेद्योगिनां साधने सम्प्रकृतिः ॥ १४२ ॥ श्वासोच्छ्वासक्योर्दृष्टिः, पूर्वं स्थाप्या प्रदत्ततः । बहिर्घाति यदा श्वासस्तदा 'सो' शब्द इर्यते ॥ १४३ ॥ जाते चाभ्यन्तरे शश्वदहं शब्दः स्वभावतः । जायते च द्वयो-यांगे, 'सोह' मित्युपयुज्यते ॥ १४४ ॥ जापं विनैव संतिष्ठेदजपाज्ञापमुनमम् । तेनैवापापवर्गस्य, प्राप्तिर्भवति योगिनाम् ॥ १४५ ॥ ध्यानेन तत्र सम्पश्येदहं श्वासोऽभिजन्यते । यत्र स्थितो भवेच्छ्वासस्तत्र कृतिप्रयासतः ॥ १४६ ॥ स्थापये-

मुदे ॥ १६५ ॥ अन्ते च विन्दानतिलीनभावं, ब्रजे च सिद्धं प्रतिभाति योगी ।  
 शान्तौ च नादानुभवं च याति, विन्दोरपेक्षा तु विशेषनादे ॥ १६६ ॥ श्रीविन्दो-  
 रवलोकनेऽनुदिवस . जाते ततश्चैवते, शक्तियोगधियां ततश्च श्रवणं नादस्य जज्ञ-  
 ह्यते । पश्चादात्ममुखं स्वयं विलसति श्रीसाधकानां ततो, वैवं शून्यगुहां निचद्ध-  
 मनसां मुक्तिः . करान्जे . स्थिता ॥ १६७ ॥ नादोऽनेकविधोऽस्ति . सास्त्रविहितः  
 संश्रूयते योगिभिर्घण्टानादसमस्तथास्ति निन्दः शङ्खस्य वीणारवः । पेणूपातरवश्च  
 चक्रसहस्रं शास्त्रार्थि शब्दस्वभा, एवं विन्दवलोकनादनुमुहुर्नादः समुत्पद्यते ॥ १६८ ॥  
 योगामृतस्य पानेन, नादस्य श्रवणात्पुनः । विन्दुदर्शनतो योगी, जरामरणवर्जितः  
 ॥ १६९ ॥ नादानन्दे समुत्पन्ने, विन्दुर्गणतमो भवेत् । नादस्य चापिशेषेण, जायते  
 श्रवणं मुहुः ॥ १७० ॥ घनगर्जनतोऽन्यूनं, श्रूयते गर्जनं बहु । दिव्यनादप्रभावे  
 णाऽप्यन्ते योगी प्रलीयते ॥ १७१ ॥ नादे ध्वन्यनुभवस्य, सर्वाविययेन वर्धनम् ।  
 तदा स्यात्साधकजनो, भ्रमणे चत्प्रे तथा ॥ १७२ ॥ उपविश्यातने वैवं, स्थितः  
 सर्वक्रियासु च । नादानुभवमेवास्ति, नान्यो भाति विशेषतः ॥ १७३ ॥ नादानु-  
 भवतो लोके, सङ्गीतस्य प्रचारकः । योगिभिश्च कृनोऽजस्रं, यथा नादः प्रियंकरः  
 ॥ १७४ ॥ मुञ्चन्ति रोदनं वासाः, क्रोधं मुञ्चन्ति पद्मगाः । गृणाः प्राणान् विमु-  
 च्चन्ति, नास्ति नादसमो रसः ॥ १७५ ॥ साधकानां तथा लोके, सङ्गीतोऽपि-  
 प्रियंकरः । अतः सङ्गीतगानेन, मनोऽवृत्त्या संदेकताम् । साधकः प्रमज्ज्यापि,  
 शनैर्नूनं प्रयासतः ॥ १७६ ॥ वस्तुतो नादो वाद्योऽभूत्सङ्गीतस्य प्रसाधने । वाद्य-  
 नादस्य द्वारेणाऽन्यन्तरो नादमेवनात् ॥ प्राप्तुं च दास्यते योगी, नाद्य पर्यं  
 विचारणम् । यदा साधकजनो नादेर्दृष्टिमेति तथामतः ॥ १७८ ॥ तदा तस्य च  
 यत्रोऽभूत्तादोऽनुभवमेव हि । तदा ध्रमणुहायां तु, शङ्खाकारः प्रतीयते ॥ १७९ ॥  
 तदूर्ध्वं प्रमभावेन, चक्रः शुद्धः प्रदृश्यते । तस्य शिरसमध्ये तु, महानेवो विरा-  
 जते ॥ १८० ॥ ततश्चोर्ध्वं पश्येद्भ्रमणुगुहां यत्र रवितः, स्रष्टाद्वाद्भेर्षोऽस्यविक्र-  
 बहुतेजोऽस्ति विततम् । तदा विन्दोर्नादश्रवणविलयं, यात्यनुदिनं, सदा योगी  
 लीनो भवति नितरां यत्र सुखतः ॥ १८१ ॥ तस्य चानुभवं नित्यं, कुर्याद्योगी  
 विशेषतः । प्रकशरूपदार्थोऽयं, वर्तुल्यकार इष्यते ॥ १८२ ॥ अधो मुखात्पत्रेण,  
 समं सम्प्राजते मतः । छत्राकारमिदं तद्वत्सहस्रदलसंबुद्धम् ॥ १८३ ॥ सिद्धि-  
 शिलाहृपकेऽप्राऽजरामरणचक्रके । शिरोऽग्रभागलोकस्य, चाग्रभागोपरिस्थितम्  
 ॥ १८४ ॥ अजरामरचकेऽत्र, श्रुतिलीनादनन्तरम् । साधकानामरणं . चाऽ-



स्वयं स्वस्मिन्प्रजायते ॥ २०७ ॥ भावनोदयते शशस्तिद्वेषु प्रेमवर्धिनी । यदा  
यदा प्रयासश्च, वर्धते च तदा तदा । आभ्यन्तरे विशेषेणानन्दस्य जायतिर्भवेत्  
॥ २०८ ॥ मूलधारं समुद्गाढ्य, चक्रं चक्रान्तरं नयेत् । नाभ्यां बद्धःस्थले कण्ठे,  
त्रिकुड्यामलिगङ्गरे ॥ २०९ ॥ शिरसरस्थगुहान्ते च, ब्रह्मरन्ध्रे मेलयेत् ।  
मिल्वैवं ब्रह्मरन्ध्रं च, योगी निर्वाणतां व्रजेत् ॥ २१० ॥ न ह्येतावन्मात्रं हि,  
प्रत्युतं चाद्वतोपि वा । आनन्दस्यैवानुभवो, जायते नु क्षणं पुनः ॥ २११ ॥  
पूर्णानन्दमवधान्ते, भूत्वा सर्वत्र भावना । ईश्वरे स्थापयेन्नित्यं, भूत्वा  
प्रेमप्रयोगतः ॥ २१२ ॥ पश्येदहार्नशं नित्यं, महानन्दो विक्रसने । वीतराग-  
स्ततो याति, विज्ञेयं योगवित्तमैः ॥ २१३ ॥ पूर्वोक्तप्रकारेण, प्रमाणमनुसारतः ।  
साधकार्थं स्वल्पमयी, प्रक्रिया कथितार्थिभिः ॥ २१४ ॥ एवं विचारकरणा-  
त्तथोक्तस्य प्रसरतः । भवेदलभ्यलाभश्च, मननात्स्मरणादपि ॥ २१५ ॥ तथा-  
ऽपरिमितं चेत्यं, सामर्थ्यं लभते मुहुः । अल्पन्तो योगविषयो, विशालो  
गहनस्तथा ॥ २१६ ॥ विना गुह्यदृष्यानाञ्च कश्चियोगसाधकः । योगं शिक्ष-  
यितुं योगी, न भवत्योगवित्तमम् ॥ २१७ ॥ योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो, मुनिभिरुक्तव-  
दर्थिभिः । हठयोगो मन्त्रयोगो, लययोगस्तथैव च ॥ राजयोग इति ख्यात-  
श्चतुर्धा योगसाधने ॥ २१८ ॥ यमो नियमश्चासनं, प्राणायामस्तथा पुनः ।  
प्रत्याहारो धारणा च, ध्यानं चैव समाधिकः ॥ २१९ ॥ स चेत्यष्टाङ्गयोगोऽस्ति,  
विज्ञेयो मुनिभिर्मुदा । तत्रास्त्यपेक्षा चैकस्य, उत्तरोत्तरतः पृथक् ॥ २२० ॥  
प्राणायामो बहुविधो, दृश्यते योगशास्त्रके । तद्वचान्तरभेदश्च, कथ्यते शास्त्रसम्मतः  
॥ २२१ ॥ परन्तु तत्र मुख्योऽस्ति, पूरकः कुम्भकस्तथा । रेचको भस्त्रिकायस्ति,  
प्राणायामोपयोगकम् ॥ २२२ ॥ प्राणायामसहायार्थं, नेतिर्धौतिश्च नौलिकश्च ।  
वस्तिः कपालभातिश्च, गजकर्णात्यादिरस्ति च ॥ २२३ ॥ प्रक्रिया हठयोगस्य,  
बन्धः सन्ति पृथक् पृथक् । नास्ति कारन्ध्रतः सूत्रं, प्रवेशान्तर्वहिः पुनः ॥ २२४ ॥  
मुक्तात्रि.सारयेद्वाङ्मं, नेतिः सा कीर्त्यते बुधैः । बन्धमुत्तार्य जठरे, मलं निस्तार-  
येद्बहिः ॥ २२५ ॥ धौतिः क्रिया च कथिता, योगे साहाय्यकारिणी । भ्रामगित्वा  
नलं योगी, नित्यं प्रति मुहुर्मुहुः ॥ नोलिक्रियेयं सम्प्रोक्ता, योगाभ्यासविशारदैः  
॥ २२६ ॥ गुदास्थानगतं तद्वन्मलं सम्मार्जयेद्बहिः । वस्तीक्रियेति विज्ञेया, योग-  
सिद्धिकरी मता ॥ २२७ ॥ कपालभातिर्विज्ञेया, गजकर्णां तथैव च । हठयोगे  
क्रियाश्चेता, योगविद्विर्निर्दिशिता ॥ २२८ ॥ खेचर्येकं महामुद्रा, सर्वमुद्रोत्तमा  
वीर. २३

लौकिकानन्दमेव च ॥ १८५ ॥ योगिनोऽनुभवन्तीत्थं, वर्द्धते तदहर्निशम् । यत्र  
 योगात्मनो लीना, भवन्त्यधिकतो मुहुः ॥ १८६ ॥ अपूर्वोऽऽनन्दसन्दोहाऽनुभवो  
 वर्द्धते स्वयम् । आशरीरे ( अखिले ) स्वयं तस्य, प्रसारो जायतेऽसह्य  
 ॥ १८७ ॥ अर्थादानन्दसन्दोहः, स्वयं सर्वाङ्गकेऽसकृत् । अलौकिक्यऽऽनन्दस्वयं,  
 स्वयं स्फूर्त्या विभाव्यते ॥ १८८ ॥ अवस्थयाऽनया यो हि, स्वयं साधकसंज्ञकम् ।  
 विहाय योगी सिद्धय, विदेहोऽपि तथा पुनः ॥ १८९ ॥ महात्मा जीवनमुक्ता,  
 कथ्यते योगवित्तमैः । महात्मनधेदशस्य, देहादृष्टिर्यदा स्थले ॥ १९० ॥ यत्र  
 यत्र प्रसरति, तत्र तत्राऽप्यलौकिकम् । दिव्यानन्दानुभवनं, करोति साधकोत्तमः  
 ॥ १९१ ॥ जनपदे जले स्थले, तथा वसुमतां स्थले । राजस्थले पशुमये, गग-  
 नादिमुखस्थले ॥ १९२ ॥ एतस्थानेषु साधूनां, दृष्टिर्याति महात्मनाम् । तत्र  
 तत्र स्थले नित्यमानन्दानुभवान्मयम् ॥ १९३ ॥ सर्वत्राऽमेददृष्ट्या च, तथाऽ-  
 नुभवतः सदा । द्वैतभावस्य भ्रान्तेषु, जातेऽभावे स कथ्यते ॥ १९४ ॥ तदहो  
 वीतरागश्च, योगी भवति निश्चलः । कृतकृत्योऽपि सिद्धय, जायत आत्मवत्सलः  
 ॥ १९५ ॥ योगिनामीदृशानां च, दर्शनं लोकपावनम् । कुरुते सततं योगाद्रे  
 चैव निशाम्यताम् ॥ १९६ ॥ यथाऽभ्यन्तरवृत्तीनां, द्वारेणापि प्रयोगके । सम्बन्धे  
 ज्ञावते तद्दृष्ट्या स बाह्यभागतः ॥ १९७ ॥ नामेष्टपरिभागे च, स्थापनीयो विशे-  
 पतः । यदा तत्र प्रयासे तु, चक्षुषो नाभिमध्यगे ॥ १९८ ॥ अत्युज्वलतमं तेजो,  
 दृश्यते चानुरूपतः । तदा नाभिगतां दृष्टे, विहाय बधसोर्मुहः । स्थापनीया  
 प्रयत्नेन, मध्यभागे सुभावतः ॥ १९९ ॥ तत्तेजो नासिद्धारन्ध्रे, स्थापनीयं च  
 ध्यानतः । नासिद्धाप्रभिकुट्यां तु, ततो भ्रमरगह्वरे ॥ २०० ॥ अजरामरचकस्य,  
 सिद्धाः सिद्धाक्षिण्यु च । ततोऽप्यनुभवे गच्छेत्तन्मार्गं च प्रवर्तते ॥ २०१ ॥ भक्ते-  
 रेवं महत्त्वं च, साधनं जन्यते परम् । भक्त्या चोत्पद्यते प्रेम, तेनैवात्मा प्रदृश्यते  
 ॥ २०२ ॥ कस्यचिच्छास्त्रतत्त्वस्थस्यैकोपरि विचारणम् । कुर्वन्कुर्वन् गम्भीराशयं  
 चोत्तीर्यते पुनः ॥ २०२ ॥ तद्द्वाराप्रतधापीद् वर्धते तच्चिदात्मय । एकाक्षि रीति-  
 रीदृशी, यत्र पश्चासने स्थितः ॥ २०३ ॥ विचारयति चित्तचित्तटे स्थित्वा प्रप-  
 द्यतु । परन्तु नावरोधन्यो, विचारो योगसाधने ॥ २०४ ॥ अभ्यासवत्त्वासाध,  
 स्वयं शान्तिर्भवेत्पुनः । विचारधारा चालन्तमेतद्वैव प्रशाम्यति ॥ २०५ ॥  
 विचारशान्तिवः पश्चात्साधकानामलौकिकम् । आनन्दानुभवो याति, ततोऽखिल-  
 भवोपरि ॥ २०६ ॥ प्रेमदृष्टिर्विज्ञानं स्याद्भावं सर्वत्र सत्सम् । स्थापयत्येव योगात्मा;

स्वयं स्वस्मिन्प्रजायते ॥ २०७ ॥ भावनोदयते शश्वत्सिद्धेषु प्रेमवर्धिनी । यदा  
यदा प्रयासश्च, वर्धते च तदा तदा । आभ्यन्तरे विशेषेणानन्दस्य जागृतिर्भवेत्  
॥ २०८ ॥ मूलाधारं समुद्राव्य, चक्रं चक्रान्तरं नयेत् । नाभ्यां वक्षःस्थले कण्ठे,  
त्रिकुड्यामलिगह्वरे ॥ २०९ ॥ शिखरस्थगुहान्ते च, ब्रह्मरन्ध्रे मेलयेत् ।  
भित्तैवं ब्रह्मरन्ध्रं च, योगी निर्वाणतां ब्रजेत् ॥ २१० ॥ न ह्येतावन्मात्रं हि,  
प्रत्युतं चाद्यतोपि वा । आनन्दस्यैवानुभवो, जायते नु क्षणं पुनः ॥ २११ ॥  
पूर्णानन्दमवधान्ते, भूत्वा सर्वत्र भावना । ईश्वरे स्थापयेन्नित्यं, भूत्वा  
प्रेमप्रयोगतः ॥ २१२ ॥ पश्येदहर्निश नित्यं, महानन्दो विक्रसने । वीतराग-  
स्ततो याति, विज्ञेयं योगवित्तमैः ॥ २१३ ॥ पूर्वोक्तप्रकारेण, प्रमाणमनुसारतः ।  
साधकार्यं स्वल्पमयी, प्रक्रिया कथिताविभिः ॥ २१४ ॥ एवं विचारकरणा-  
त्तथोक्तस्य प्रकारतः । भवेदलभ्यत्वाभश्च, मननात्स्मरणादपि ॥ २१५ ॥ तथा-  
ऽपरिमितं चेत्यं, सामर्थ्यं लभते मुहुः । अत्यन्तो योगविषयो, विशाले  
गहनस्तथा ॥ २१६ ॥ विना गुह्यदध्यानात् कश्चियोगसाधकः । योगं शिधु-  
यितुं योगी, न भवयोगवित्तमम् ॥ २१७ ॥ योगधनुर्विध. प्रोक्तो, मुनिभित्तत्त्व-  
दर्शिभिः । हठयोगो मन्त्रयोगो, लययोगस्तथैव च ॥ राजयोग इति ख्यात-  
श्चतुर्धा योगसाधने ॥ २१८ ॥ यमो नियमश्चासनं, प्राणायामस्तथा पुनः ।  
प्रत्याहारो धारणा च, ध्यानं चैव समाधिकः ॥ २१९ ॥ स चैवष्टाङ्गयोगोऽस्ति,  
विज्ञेयो मुनिभिर्मुदा । तत्रास्त्वपेक्षा वैरुस्य, उत्तरोत्तरत. पृथक् ॥ २२० ॥  
प्राणायामो बहुविधो, दृश्यते योगशास्त्रके । तद्वान्तरमेदश्च, कथ्यते शास्त्रसम्मतः  
॥ २२१ ॥ परन्तु तत्र मुख्योऽस्ति, पूरकः कुम्भकस्तथा । रेचको भस्त्रिकाश्चि,  
प्राणायामोपयोगश्च ॥ २२२ ॥ प्राणायामसहायार्थं, नेतिर्धौतिश्च नौलिम्ब ।  
वस्तिः कपालभातिश्च, गजकर्णाद्यादिरस्ति च ॥ २२३ ॥ प्रक्रिया हठयोगस्य,  
बन्धः सन्ति पृथक् पृथक् । नासिकारन्ध्रतः सूत्रं, प्रवेदान्तवह्निः पुनः ॥ २२४ ॥  
मुखाभिःसारवेद्वाद्यं, नेतिः सा कीर्त्यते बुधैः । बन्धमुत्तार्य जठरे, मलं निस्तार-  
येद्बहिः ॥ २२५ ॥ धौतिः क्रिया च कथिता, योगे साहाय्यकारिणी । भ्रामित्वा  
नलं योगी, नित्यं प्रति मुहुर्मुहुः ॥ नोलिक्रियेयं सम्प्रोक्ता, योगाभ्यासविशारदैः  
॥ २२६ ॥ शुदास्थानगतं तद्वन्मलं सम्मार्जयेद्बहिः । वस्तीक्रियेति विज्ञेया, योग-  
सिद्धिकरी मता ॥ २२७ ॥ कपालभातिर्विज्ञेया, गजकर्णा तथैव च । हठयोगे  
क्रियाधैता, योगविद्विर्निर्दशिता ॥ २२८ ॥ खेचर्येका महामुद्रा, सर्वमुद्रोत्तमा  
वीर. २३

मत्ता । तथा बन्धनैर्वं प्रोक्तं, योगसाधनकर्म्मणि ॥ ३२९ ॥ खेचरीति महामुद्रा,  
 महाबन्धकरी तथा । वज्रमुदेति विषय, मुद्राः प्रोक्ताः छत्रावर्कैः ॥ २३० ॥  
 तश्च मुद्रा महायोगी, गुरुदेवप्रसादतः । शक्तुं शक्नोति योगतो, नान्यथा सिद्ध्यति  
 स्फुटम् ॥ २३१ ॥ प्राणायामविचारोऽपि, वर्ण्यतेऽनुभवानुम्ना । वस्तुनीमानि  
 योगेऽस्मिन्, ज्ञातव्यानि विशेषतः ॥ २३२ ॥ अतो महात्मनामन्ते, स्थित्वा  
 शिक्षादिक्रमः क्रियाः । संसारे योगतो ज्ञान्यः, पथा मोक्षाप विद्यते ॥ २३३ ॥  
 यो योगं कुरुते नित्यं, स याति परमास्पदम् । निर्भयं कर्मबन्धाच्च  
 मुच्यते नात्र संशयः ॥ २३४ ॥ इत्युपदेशानुसारेण, ज्ञातव्यं मोक्षार्थक्षिभिः ।  
 अप्रानेके जनाः काले, बहुपायकृता भवे ॥ २३५ ॥ दृश्यन्ते च तथाऽन्तेऽपि,  
 कथं तेषां मुखोदयः । सुपुण्डरूपं तैरसं, नीजं पूर्वं ततश्च ह ॥ २३६ ॥ सुखा-  
 त्मकं फलं शशङ्कुजन्ते तेन ज्ञायताम् । परन्त्वय च जीवेभ्यो, दत्त्वा दुःखं निर-  
 न्तरम् ॥ २३७ ॥ वर्णन्ति दुःखनीजं ते, भविष्यन्ति सुखेतराः । फलं दुःख-  
 मयं तेषामन्ते स्यात्तत्र संशयः ॥ २३८ ॥ इत्थं वध सुखी भूत्वा, पापिष्ठोऽपि  
 भवे भवात् । पापानुबन्धिपुण्यात्मा, ज्ञायतां जगतीतले ॥ २३९ ॥ तदत्र वर्तते  
 हेतुः, पूर्वपुण्यप्रसातः । जायन्ते सुखिनः पथाहुःसिनोऽपि भवन्त्यदः ॥ २४० ॥  
 वर्तमाने पापयोगात्पापिनोऽपि ततः परम् । दृश्यन्ते सुखिनोऽप्येवं, ज्ञातव्यं तत्त्व-  
 विधयैः ॥ २४१ ॥ धर्मात्मानो जन्तुः केचित्सन्ति व्येके सुखार्थिनः । कियन्ते  
 दुःखभोक्तरः, पापपुञ्जप्रभाकतः ॥ २४२ ॥ कियन्तश्च सुखावराः, पुण्योदयप्रभा-  
 वतः । एवं दुःखसमाप्तौ च, सुखोदकः प्रजायते ॥ सुखभोगरुनातो तु, दुःखो-  
 दकः प्रपद्यते ॥ २४३ ॥ अतस्ते सुखिनश्चाप्ये, भविष्यन्ति परारुताः । ईदृशान्म-  
 तुजान् शास्त्रे, पुण्यानुबन्धिपापिनः ॥ २४४ ॥ कथयन्ति जगत्सिन्धुर्नृपापप्रभा-  
 वतः । भुञ्जन्ति तेऽथ पापौषं, वर्तमाने तथा पुनः ॥ २४५ ॥ पुण्योदयवशात्ते  
 च, भविष्ये मुखभोगिनः । ज्ञातव्यं दुःखभोक्त्वैर्न, तथा सुखभुजां मुनि ॥ २४६ ॥  
 ततः किं कथयन्त्वय, वर्तमाने च पापिनः । भविष्येऽपि तथा सन्ति, नियमोऽ-  
 प्यस्ति किमीदृशः ॥ नियमोऽप्येतद्वदशाखापि, जनाश्च बहवो भुवि । पूर्वपापबन्ध-  
 दन, दुःखिता जीवन्तुःसदाः ॥ २४७ ॥ तेऽप्यजन्मन्यन्ते च, दुःखिनो मनुजाः  
 पुनः । तथेदृशजनानान्तु, क्व संशेति वदन्तु नः ॥ २४८ ॥ पापानुबन्धि-  
 पापिनो, ज्ञातव्यं शास्त्रमानतः । पूर्वजन्मार्जितानां च, दुःखानां भोगिनोऽ-  
 भुना ॥ २४९ ॥ इदानीं कुरुते पापं, तद्भोक्ताऽप्ये भविष्यति । किञ्चिदाहस्यो  
 नियमः, शास्त्रेऽप्यस्ति प्रमाणतः ॥ वर्तमाने सुखं भुञ्जे, भविष्येऽपि पुनः सुखम्

॥ २५० ॥ योगोऽनघो महत्तत्त्वप्रापकोऽस्त्यमरद्भुमः । तंस्य सेर्वनमात्रेण, याति  
योगी परम्पदम् ॥ २५१ ॥ भवितुं शक्यते चेत्यं, भूतकाले च ये नराः ।  
प्राणिनां सुखशतारो, बन्धयित्वाऽतिपुण्यकम् ॥ २५२ ॥ तेनाय सुखसम्पन्नाः,  
पुण्यमेवाश्रयन्ति ते । भविव्येऽपि पुनस्तद्वत्पुण्यस्यैवानुबन्धनम् ॥ २५३ ॥ एता-  
द्वशजनस्यात्र, शास्त्रे पुण्यानुबन्धकृत् । पुण्यवान्कथ्यते लोके, पूर्वपुण्यप्रभावतः  
॥ २५४ ॥ सुखी भूत्वा स चेदानीं, वर्तमाने करोति चेत् । पुण्यं भविष्यकालेऽपि,  
पश्चादपि सुखी भवेत् ॥ २५५ ॥ कर्मणां चतुष्टयं चेत्यमनुबन्धं भवत्यदः । विज्ञे-  
यधानुबन्धाद्यौ, बन्धनं शास्त्रसम्मतम् ॥ २५६ ॥ भुंक्ते च तत्फलमग्रे, शुभाशुभानु-  
बन्धनैः । अस्लेवं च सुखीदानीमशुभेन च दुःखभाक् ॥ २५७ ॥ पापानु-  
बन्धिपापश्च, पापानुबन्धिपुण्यकृत् । पुण्यानुबन्धिपापश्च, पुण्यानु-  
बन्धिपुण्यवान् ॥ २५८ ॥ चतुर्विधं सुविज्ञेयमनुबन्धस्य साधकैः । समयेऽ-  
त्र सुखं पश्चादप्येऽपि सुखप्रापणम् ॥ २५९ ॥ इत्थं कर्मफलं दुःखमथवा सुखसं-  
भवः । परन्त्वव्याधिमोक्षस्य, सुखस्यापि कदाचन ॥ २६० ॥ तस्मात्तिर्न भवेच्चैव-  
मध्यात्मिकसुखाप्तये । काथिके सुखभोगश्च, हेयं सर्वत्र सर्वदा ॥ २६१ ॥  
अर्थाच्चपुण्यपापानां, धयं नीत्वाऽऽत्मरूपके । स्थातव्यो मनसाऽप्ये च, कीदृशोऽ-  
प्यनुबन्धनम् [ न बन्धनीयो हेयश्च, नयविद्भिरिहोच्यते ] ॥ २६२ ॥  
यत्तानुभूलात्सवतेऽमृतं हि, योगी जनस्तत्पिबति प्रथ्यानात् । तेनैव तृप्तिश्च तथा  
विमुक्तिः, सञ्जायते योगिजनस्य निलम् ॥ २६३ ॥ बन्धव्योऽस्त्यनुबन्ध-  
श्चेत्पुण्यस्यैवानुबन्धनम् । पापानुबन्धं नो कुर्याद्वेय पचास्ति सर्वदा  
॥ २६४ ॥ कुतः पुण्यानुबन्धस्य, बलादेवं फलं भवेत् । यतः स्वात्कर्मविर्जरा,  
न पुनः कर्मसम्भवः ॥ २६५ ॥ स्वतन्त्रतायाश्चेत्तद्धि, द्वितीयं द्वारमिष्यते ।  
ज्ञात्वैवं च विवेकेन, साध्यो योगश्च साधकैः ॥ २६६ ॥ योगाग्नास्त्यपरः  
कश्चिन्मुक्तिसिद्धिकरोऽधुना । तस्माद्योगमुपाधित्य, याति योगी  
परम्पदम् ॥ २६७ ॥ योगः कल्पतरुर्विपातितरपिरज्ञाननाशोद्यतो, येन स्वात्  
जराऽपमृत्युहरणं योगार्थिनां दुःखहा । वृत्तिः स्यादचलाऽऽत्मनि प्रवितते यस्मा-  
त्परा निर्मला, योगे निर्मलचेतसां इदि सुहृमुक्तिश्च वा भ्राजते ॥ २६८ ॥  
योगो हि निर्मलादर्शां, यत्रात्मा च प्रदृश्यते । लोकस्वान्तर्गतं  
वस्तु, निशामय गुरोर्मुखात् ॥ ॥ २६९ ॥

इति वीरयोगतरङ्गः समाप्तः ॥

**भावार्थः—**प्रलोक प्राणी मुखकी इच्छा प्रकट करता है, इतना ही नहीं वरिष्ठ मुखकी प्राप्तिके लिये अनेक उपाय करता है । उन उपायोंसे जब वह सफलीभूत होता है और अनन्त मुखको पाता है तब वह सर्वथा हतकृत्व हुआ समझा जाता है । मुखको पानेके लिये अनेक साधनोंमें धर्म सर्वतो मुख साधन है । वर्तमान समयमें अनेक मत, पंथ, वादावंशी सम्प्रदाय, संघादा, गच्छ, टोला, पार्दवाजी आदि जो धर्मके नामपर चलकर अमर शहीद बनने जा रही हैं, वे सब मुखके साधनसे विमुख बनकर अपने शिष्योंको मुखका साधन प्राप्त करानेमें असमर्थसे ही हैं । मात्र अपनी सम्प्रदाय और टोलेको निभानेके लिये अमुक वामुक क्रियाएँ रच डाली हैं । उर्दूको परम्पराके अनुसार अपने शिष्योंको भी बताते रहते हैं, और वे शिष्य भी उस परम्पराके अरपट्ट चक्रके अनुसार उन क्रियाओंको उनके इशारेपर नाच-नाचकर करते रहते हैं । ऐसी स्थितिमें जो कश्चित् कश्चित् मुखकी इच्छावाले प्राणी हैं उनको सन्तोष नहीं होता । सन्तोष न होनेसे ऐसे भ्रमपरिणामवाले जीवोंको मुखके साधनके लिये खूब परीक्षा एक करना पड़ता है । बहुत कुछ धूल टाक उड़ानेपर भी मुखके सच्चे साधन समयपर मिलते हैं और नहीं भी मिलते । इस प्रकार उनकी दृश्यनीय स्थितिपर स्पष्ट समझा जा सकता है कि स्थायी मुखके वास्तविक और सच्चे साधनोंके प्रचार करनेकी जगत्के लिये पूरी आवश्यकता है ।

मुखके साधनोंमें योग सबसे भारी और अद्वितीय चमत्कारिक तथा सर्वमान्य साधन है । यदि इन साधनोंका शुद्धम द्वारा उपयोग किया जावे तो अवश्यमेव अल्प समयमें सनातन अखंड मुखकी प्राप्ति हो सकती है । योग एक ऐसी वस्तु है कि वह अपने आप नहीं सीखा जा सकता, अतः किसी महात्मा, योगनिष्ठ, आत्मवित् पुरुषके द्वारा उसे सीखना चाहिये । आजकल योगी पुरुष इस भारतमें सब जगह नहीं मिलते अतः सतत प्रयास द्वारा योगियोंकी शोध करनी पड़ेगी, परन्तु नकली योगियोंसे तो सावधान ही नहीं बल्कि दूर रहना चाहिये और किसी सच्चे योगीको खोजकर साम्यकी साधना करनी चाहिये । एवं इतना स्पष्ट रहे कि योगकी साधनाके बिना सब मुखको कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता, परन्तु वह सब मुख अपने पास और अपनी आत्मानमें ही है, और योग अन्तर्दृष्टिके अभ्यास द्वारा उसे बता

सकता है। जिस मनुष्यको सनातन गुरु अभीष्ट हो उसे योगकी साधनामें लगाना चाहिये। योग और योगीकी महत्ता वही ही ऊंची है। श्री गीता भगवतीमें श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

(अध्याय ६, श्लोक ४७)

भावार्थ—उपवासादिक अनेक प्रकारके लम्बे-लम्बे तप करनेवालोंसे योगी बड़ा है। नय, निक्षेप, देवादिकी आयुष्यके भंग (भांगे) तथा जीवादिकी संख्याकी गणना करनेवाले वाचाल ज्ञानियोंसे भी योगी बड़ा है, आवश्यकदि कार्य करनेवालेसे भी योगी बहुत बड़ा है। अतः हे अर्जुन ! तू योगी बन ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नापि न लिप्यते ॥

(गीता अध्याय ७, श्लोक ५)

भावार्थ—आत्म-विजेता, इन्द्रियजित् और सब भूतोंपर समभाव रखनेवाला योगी पुरुष कर्म करनेपर भी निष्कर्म समझा जाता है। अर्थात् कर्म लेपसे लिप्त नहीं होता।

इसी प्रकार जैन-दर्शनमें भी कहा है कि—

“अग्गं च मूलं विलं च विगिं च धीरे ।

पलिच्छिन्दियाणं णिकम्मदंती ॥”

(आचार्यग)

अप्रकर्म और मूलकर्मके नेदको समझ कर विवेक द्वारा कर्म कर। इस प्रकार कर्म करनेपर वह साधक निष्कर्मा कहलाता है।

अकम्मस्स वचहारो ण विज्जइ । कम्मणा उवादि जायइ ॥

(आचार्यग १-१-३)

भावार्थ—निष्कर्मके जीवनमें उपाधि या उत्पात नहीं होता। इसी प्रकार श्रेष्ठिक दीपटाप और दिवाव नकार भी नहीं होता। स्वयं शरीर मात्र योग क्षेत्रस्य वाहन होता है, इत्यादि।

यह योग अनादि कालसे चलय आ रहा है, और इसके आदि प्रवर्तक आदिनाथ अर्थात् आदि तीर्थंकर श्रीऋषभदेवजी जिनराज हो गये हैं । उन्होंने मनो निग्रहका आदेश सर्व प्रथम देकर यह फर्माया है कि अधिकतर बहुतसे जीवोंका जगत्के सम्मुख दृष्टि द्वारा क्षोभ प्राप्त मन अशुच्य होकर आत्मके सम्मुख प्रवर्तित होता है, और वह फिर अनन्त सुखका माशाकार पाकर उसका अनुभव करता है अतः मनका निरोध करना ही योग है । भगवान् पतंजलिने भी योगका यही लक्षण बताया है ।

“योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।” ‘चित्तवृत्तिय निरोध करना योग है ।’

इस अत्युत्तम योगके पात्र छी पुरुष या चारों वर्षके लोक हैं । योग साधनामें जाति भेदकी कोई आवश्यकता नहीं है । चाण्डाल जाति भी योगी महात्मा हो सकता है । २५०० वर्ष पूर्व हरिकेशी मुनि जातिके चाण्डाल थे तथापि योगके द्वारा महात्मा पदको पा गये । यथा—

सौधागकुलसंभूभो, गुणुत्तरधरो मुनिः । ( उत्तराध्यायन )

साधार्थ—चाण्डाल कुलमें जन्म लेनेपर भी हरिकेशी मुनि उष गुणके धारणकरनेवाले मुनि थे, पुनश्च ।

सक्यं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइं जाईं विसेसु कोई ।

सोधागपुचं हरिपससाइं, जस्सेरिस्ता इदि महाणुभागा ॥

( १७, उत्तराध्यायन १२ )

“योगका महात्म्य आर्यों आने प्रलक्षमें स्पष्ट रह रहा है जिसमें जातिकी कोई आवश्यकता विशेष नहीं है । हरिकेशयोगी चाण्डाल जाति है । परन्तु इसके योग कदिके सामने सबकी आँखें चौंरिया गईं हैं ।”

परन्तु रामच वृत्तिसाधोते योग साधना नहीं हो सकती । अतः योग सियाके त्रिसुखोंको पो, दूध, तेल, प्राणुक्त भोजन आदि सात्विक आहारका उपयोग करना चाहिये । यथा—

आयुःसत्वचटारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः,

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृषा आहाराः सात्विक प्रियाः ।

( गीता श्लोक १७, अध्याय ८ )

रसपुष्ट, चिकना, स्थिर, हृष आहार सात्विक जनोंके प्रिय है, यमोकि इनमें आरुण्य, कुट्टि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है ।”



परन्तु अधिक मिरचें, अति तेल, अति खटाई आदि तामसी पदार्थोंका उपयोग कभी भी न करना चाहिये । इसके उपरान्त आवश्यकतासे अधिक न बोलकर अधिकांश मौन रहना चाहिये । निकम्मा वाग्व्यय करनेसे योगमें विकार आ जाता है । योग साधना करनेवाले महात्मा पुरुषके पाससे योगकी तालिका सीखकर उसकी साधना करनेके लिये एकान्त तथा पवित्र विज्ञान प्रदेशमें जाना चाहिये । पहाड, पर्वत आदि एकान्तप्रदेशके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानमें जैसी चाहिये वैसी अच्छी रीतिसे योगकी साधना नहीं कर सकता । इसीलिये प्राचीन कालके पुरुष अनेक पहाडोंमें जहां नाना सात्विक वनस्पति होनेसे तथा बहा अनेक महात्माओंके शुद्ध रजःकण होनेकी स्मृति रहनेसे, वातावरण भी एकान्त और पवित्र रहनेसे उस स्थलपर एकदम शान्त और अचपल मन हो जाता है । अतः वह स्थान उनका मनपसंद है । बड़े राजमहल या धर्म स्थानमें जिस आनन्दका स्वप्न भी अनुभव न हुआ हो उस आनन्दका अनुभव कुलु और शिमले तथा हंस तीर्थके बर्फानी पहाडोंमें जानेसे होता है । अतः योगीको किसी ऐसे ही प्रकारका स्थान पसन्द करना चाहिये । यदि कारणवश इन स्थानोंपर न जा सके तो जहां तक अपनी ही बस्तीमें रहता हो उसके आसपास किसी रमणीक वनस्पतियाले उपवनको चुनना चाहिये, और वही योगाभ्यास करना चाहिये । धूलपर बँठकर योगकी साधना नहीं की जा सकती बल्कि बैठनेके लिये आसनकी भी आवश्यकता है ।

योगियोंके लिये दर्भासन अत्युत्तम है, और दर्भासनपर कम्बलसन धिष्ठाना चाहिये । दर्भासन तथा कम्बलसनमें साधकके शरीरकी विद्युत्-शक्तिको टिकवये रखनेकी शक्ति बसी ही उत्तम है । इसीलिये सूतके कपड़ेपर योगी अपने योगाभ्यासकी साधना न करे ।

भगवती आदि सूत्रोंमें भी बड़े स्थानोंपर दर्भासनका पाठ ही दिया गया है । यथा—

“दग्धसंधारगं संधरत्ता ।”

इसीकी पुष्टिके लिये उत्तराखण्डमें केशी मुनि और गौतम गणधर जहां मिलते हैं वहां वे भागन्तुक मुनिछ खागत “पुरा तपाणिय” दर्भाके भागनसे करते हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—जैन जातिमें भी आदानप्रदानके प्रसङ्गमें पहले सर्वत्र दर्भासनका ही रिवाज था ।

दर्भासनके अभावमें कंबलसन पिछाना चाहिये। दर्भासनके ऊपर कंबलसन पिछाकर उसपर पद्मासनसे मन पसंद आसन लगा कर तथा स्थिर होकर पूर्व या उत्तरमें मुद्रा करके बैठना चाहिये। स्थानमें पद्मासन लगाकर पूर्वमें मुख करना बताना है।

### “पुररथाभिमुद्धे’ सपलियंकनिसण्णे”

पर्यंवासन या पद्मासनसे बैठकर पूर्वमें मुख रखये। पद्मासन लगाकर बायें हाथकी हथेलीपर दाहिना हाथ सीधा रखकर, कमर, सर्वन, मध्यकक्षी एक पंक्तिमें रखकर बैठना चाहिये, और दाइयोकी हंसतीरीसे चार तल्लुके अन्तरपर रहने दे। इस आसनसे संधेरे, सांझ या मध्याह्नमें तथा छविके पहले और, पिछले पहरमें सतत अभ्यास करना चाहिये। एक पहर यदि आरामसे स्थिर होकर बैठ सके तब समझो कि आसनपर विजय प्राप्तकर ली गई है। आसनपर विजय पानेके बाद प्राण और शरीर तथा दृष्टिपर विजय पाना चाहिये। परन्तु आसनपर विजय पावे बिना शेष सिद्ध नहीं हो सकता। इसके बिना आत्म उपाशत्कार अर्थात् सम्यक्सूत्री प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सतत प्रयास द्वारा शुद्धमते पाई हुई मुक्तिके अनुसार आसनपर जम पा लेना चाहिये। आसनके जयमें मन और विजयपर जीव प्राप्त करनी चाहिये।

आसनकी जीतनेके पश्चात् साधकजन अनेक प्रकारकी क्रियाएँ सीख सकता है। परन्तु आसनकी जीतकर दृष्टिको जीतनेकी पूर्ण आवश्यकता है। दृष्टि जयका पहला लक्षण आंखका न मीचना है। उगते नेत्रोन्मेष दृष्टि हो जाती है। रोग परिभाषामें इसे प्राटक कहा जाता है। स्थानमें भी नेत्रोन्मेष दृष्टि होनेके कई उपाह प्रमाण मिलते हैं।

दृष्टिको जीतनेकेलिये वा प्राटकमुद्राको सिद्ध करनेकेलिये संधेरे और सांझमें साधकको चोपेठ आसनपर बैठकर अपनेसे शका हाथके अन्तर पर डिकी रुईकी मोटीकी बनाकर रख देना चाहिये और उठ बने जितनी घोंगीपर दृष्टि जमाये रहो। अगुरु समयके अन्तर आंखमें पानी धारण। आरंभमें अष्ट आनेपर प्राटक रोक देना चाहिये। चार वा जाठ दिन तक आशुनोंको पीछे रहना चाहिये, और प्राटक अरंभ रखना चाहिये। प्रयास ऐसा करना चाहिये जिससे पलक बन्द न हो सके, और इस प्रयासमें शान्तिपूर्वक प्राँट दिन रुक रखना चाहिये। जब एक पक्षमें अधिक पलकमें अक्ष शेष तब

कई नवीन बातोंके अचरज साधकपुरुष स्वयं देखने लगेगा, और ज्यों ज्यों इससे भी अगाड़ी बढ़ेगा ल्यों ल्यों उस साधकको अत्यधिक आनन्दकी अंश अंशमें प्राप्ति होगी। ज्यों ज्यों दृष्टिको जीतता जायगा ल्यों ल्यों उसका मन शांत होता जायगा और दृष्टिके जयमें मनका भी जय होता है। अधिकतर आंखकी भवोंपर दृष्टि रखना इसीलिये सूत्रोंमें भी बताया है।

“एग पोगलनिविट्टिदिट्टि।” ‘एक पुद्गलपर दृष्टिकी स्थापना करे।’

इस प्रकार ध्यानकी प्रक्रियाएँ महात्मा पुरुषोंके पास सीखनी चाहिये। जब एक घंटा तक दृष्टिविजयका अभ्यास हो जाय तदनन्तर साधकको चाहिये कि दिनके पहले भागमें किसी सुन्दर पहाडके शिखरपर या वृक्षकी चोटीपर दृष्टि जमाना चाहिये। रात्रिमें चान्द या शुक्र तथा मंगल तारेपर नजरको जमाना चाहिये। यह प्रयास ज्यों ज्यों बढ़ेगा ल्यों ल्यों प्रकृतिके प्रत्येक पदार्थकी ओर पवित्र प्रेम उत्पन्न होगा, और दृष्टिके प्रत्येक अंशमें धीतरागताका प्रकटीकरण होगा। परन्तु यह प्रयास भी एक घंटा तक रखना चाहिये इसके अनन्तर दृष्टिके चाहे जिस भागपर दृष्टि डालोगे तब एकदम वह वहीं स्थिर हो जायगी, और शरीरके कोयलेमेंसे दुःख निकल कर भागेगा, इस कक्षापर पहुंचनेपर साधकको तुरन्त प्रभु नामका भावना नामक जाप परम प्रेम पूर्वक शुरु कर देना चाहिये। जापमें इच्छानुसार शब्दोच्चार या ‘नमो अरिहताणं’ जपना चाहिये। परन्तु कुछ समयके पश्चात् नमो पद आपसे आप उठ जायगा, और आत्मा अर्हन् प्रभुमें एकाकार हो जायगा। प्रति समय यथावसर पाकर हिलते, चलते, उठते, बैठते, सोते, जागते वह ध्यान दिमागसे न निकल सकेगा। साझ, सवेरे, मध्यान्ह और रात्रिमें योगकी क्रियाका आरम्भ रखकर जाप जपते रहना आवश्यक है। एक ओरसे योग क्रिया द्वारा सद्भावनाही दृढता और दूसरी ओरसे जाप, इन दो साधनोंके मिलनेसे मन एकदम शान्त हो जायगा। क्योंकि—“मणो साहसिओ भीमो, दुष्टस्सो।” मनरूपी घोडा साहसिक और भयंकर दुष्ट है। “इन्द्रिय चयल तुरंगो” इन्द्रियोंके घोडे अधिक बलवान् होते हैं, परन्तु इस प्रयाससे उनकी मस्ती निकल जाती है, और वे शान्तिमय हो जाते हैं। इस प्रकारके संयोगोंने साधककी विवेक दृष्टिमें अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि हो जायगी तथा साथ-साथ आनन्दकी वृद्धि भी। यह साधना सन्तोष जनक होनेपर साधकको अपने योगकी

मृत्युका भय नहीं हो सकता, और साधकके संशय शक्तियोंका नाश हो जाता है। इसीको समझनेके लिये कहा जाता है कि शंकरका तीसरा नेत्र उघड़ आता है। तब संशय शक्तरूप विधका प्रलय हो जाता है।

त्रिकुटीमें बिन्दु दर्शन होनेपर साधक ज्यों-ज्यों विशेष प्रयास करता है ल्यों-ल्यों वह बिन्दु विशेष प्रकाशित होने लगता है, और अन्तमें साधक उस बिन्दुमें इतना विलीन हो जाता है कि उस शान्तिमें उसे नादका अनुभव होने लगता है। तब बिन्दुकी अपेक्षा नादमें विशेष आनन्द आनेसे बिन्दु गाय होने लगजाता है, और नाद विशेषातिविशेष ध्वनगोचर होता है। नाद भी अनेक तरहका सुनाई पडने लगता है, और वह चक्की, सितार, सरंगी और नौबतखानेसे भी अधिक और उत्कृष्ट होता है। भेषकी गर्जनासे भी अधिक गर्जना सुनाई देने लगती है। अन्तमें दिव्य नादका अनुभव होनेपर साधक उस नादमें अत्यधिक लीन हो जाता है। इस ध्वनिका अनुभव इतना अधिक बढ जाता है कि साधककी हिलने, चलने, उठने, बैठने आदिकी क्रियाओंमें भी नादका अनुमन्धान रहा करता है। नादके अनुभवसे ही जगत्में संगीतका प्रचार योगी लोकोंने किया है। जिस प्रकार नाद साधकको प्रिय है उसी भाँति जगत्कोभी संगीत प्रिय है। अतः संगीत (गुणगान) द्वारा मनको एकाग्र बनाकर साधकजन आगे बढ सकते हैं। वास्तवमें संगीत बाह्य नाद हो गया है, और इस बाह्य नाद द्वारा अभ्यन्तर नादको मिलाकर पाया जा सकता है। साधक जब नादमें और भी आगे बढता है, तब उसको नादका अनुभव जहाँ होता है वह भ्रमर गुफाके ऊपर शंकुके आकारकी एक पोली प्रतीत होगी, और उस पोलके शिखरपर एक महान् प्रकाशवाले पदार्थका अनुभव होगा। यह प्रकाशमान पदार्थ गोलाकार और उलटे छत्रके आकारकी तरहका जान पडेगा। यह छत्राकार सहस्र दल

लगता है। इस अवस्थामें वह साधक रूपसे भिन्नतर सिद्ध, योगी, विवेकी, महात्मा जीवन्मुक्त कहलाता है। उस योगीकी दृष्टि देखते अन्व्य स्थलपर जहां जहां जाती है वहां वहां वह अलौकिक दिव्य आनन्दका अनुभव करता है। जलस्थान, स्थलस्थान, राजस्थान, धनिकस्थान, पशुस्थान, आकाश स्थान आदि जिन जिन स्थानोंपर उस महात्माकी दृष्टि होती है वहां वहां वह आनन्दका ही अनुभव करता है। सब जगह अनेक रूपसे अलौकिक अनुभव करनेसे द्वैत भावकी आंशु न रहनेसे वह वीतराग कहल्यता है। ऐसा योगी पुरुष ही कृतकृत्त और सिद्ध है। ऐसे योगीके दर्शन भी जगत्की पावन करते हैं।

जिस प्रकार अभ्यन्तररूति द्वारा हम योगके सम्बन्धमें समत सके हैं। उसी दृष्टिसे बाहरके भागमें नाभिके ऊपर स्थापन करनेमें आता है, और जब उस प्रयासमें नाभि और चक्षुके बीचमें एक चमकनेवाली तेजसी लकीर अर्धचन्द्ररूपसे झिलने लगे तब नाभिसे दृष्टि हटाकर छातीके मध्य भागमें स्थापन करनी चाहिये, और वहां भी जब इसी भांति तेजसी लकीर भातने लगे तब नाभिके अप्रभे स्थापन करे। नासाग्रसे त्रिजुटीमें, वहासे ध्रुवसे शुभ्रमें होते हुए अजरामर चक्ररूप सिद्धसिद्धामें और वहांसे स्वस्व-अनुभवमें पहुंचा जाता है।

इस अनुभव मार्गमें भक्ति है, वह एक महान् साधन है, भक्तिये प्रेम प्रकट होता है, और प्रेमके द्वारा भी आत्माका साधारणर हो सकता है। किसी शास्त्रके श्लोकार विचार करते-काले संकीर तहमें उतर जाता है, और उसके द्वारा भी आगे बढ़ सकता है।

एक ऐसी भी रीति है कि त्रिभुमें पद्यासनसे बैठकर जो विचार आते उनको तटस्थ बैठकर देखा करे, परन्तु विचारोंको अटलने न दे। अन्वयके प्रबल प्रयत्नसे विचारधारा स्वयं ठंडी पडने लग जाती है, और अन्तमें एहद्वन घान्त हो जाती है। विचारोंके शान्त होनेपर साधकको अर्धचन्द्र जलन्द होने लगता है। तब अचित्त विचार विचार और उत्कृष्टप्रेमकी दृष्टि हो जाती है। गमान भाव तो धरने लगता है। अपने आगमें ईश्वर भाव उदय होने लगता है। ज्यों-ज्यों वह प्रयास बढ़ता है, त्यों-त्यों अन्तरमें आनन्दकी विद्येव जागृति हो जावनी। इतना ही नहीं, बल्कि बाहर भी उस पद्मगह आनन्दका ही अनुभव होने लगेगा। और अन्तमें वह पूर्ण आनन्दमय

बन जायगा। सब जगह ईश्वरभारको स्थापन करता हुआ अति प्रेममय बनकर, प्रेमकी दृष्टिसे विषम दिन रात अरुलोकन करनेसे सहजानन्द प्रगट होता है, और वह वीतराग हो जाता है।

पहले कहे गये प्रमाणानुसार साधकोंके लिये धोती सी प्रक्रियाएँ संक्षेपमें बताई गई हैं। इन्हें विचारकर तथा उसी प्रकार मनन करनेसे अवश्य अलभ्य लाभ होगा। तथा अपरिमित सामर्थ्य पा सकेगा। योगका विषय अत्यन्त विशाल और गहन है, और इसे शुरुगमकी छाड़ी बिना सीख भी नहीं सकता। दृष्ट्योग, मंत्रयोग, लययोग और राजयोग इस भांति योग चार प्रकारोंमें विभक्त है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अंग हैं, और इनमें प्रत्येकके उत्तरोत्तर एकको एककी अपेक्षा है। प्राणायाम कई प्रकारोंसे हो सकता है, परन्तु उनमें पूरक, कुंभक और रेचक मुख्य हैं, भस्त्रिका आदि प्राणायाम भी उपयोगी हैं। प्राणायामको सहायता देनेके लिये नेत्रि अर्थात् नाकमेंसे डोरा पिरोकर मुखाद्वारसे निकालना; तथा धोती अर्थात् कपड़ेको पेटमें उतारकर मलका निकालना; नौली अर्थात् नलोंको गुमाकर किराना, बस्त्रि यानी गुदासे मल गाफ करना, तथा कपाल-भाति गजकरणी आदि दृष्ट्योगकी अनेक क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार ऐचरी-मुद्रा, महाबन्धमुद्रा, वज्रमुद्रा इत्यादि मुद्राएँ शुरुगमके बिना न कर सकनेके कारण प्राणायाम आदि की बातें फिर बताई जायेंगी, क्योंकि ये वस्तुएँ भी विशेष हेतुरूप हैं। अतः उनको महात्मा पुरुषोंकी संगतिमें रहकर सीखना चाहिये। योगसे बढकर सगारमें कोई अन्य विद्या उत्तम नहीं है। जो पुरुष योगकी साधना करेंगे अन्तमें वे परमपदको पायेंगे, और कर्मोंसे मुक्त होंगे। अतः उनको कर्मबंधके चार प्रकार समझना चाहिये जिनके ये प्रमेद हैं।

### कर्मबन्धके ४ प्रकार और दुःख सुख

इस समय अनेक मनुष्य नाना पाप करते देखे जाते हैं तथापि वे सुखी क्यों हैं ?

उन्होंने पुण्यरूपी बीज बोये थे, इसीलिये आज वे उनके सुखरूप फलोंको खा रहे हैं, परन्तु इस समय अन्य जीवोंको दुःख देकर पापके बीज बोते हैं, इससे भविष्यमें इसके अनन्तर उनके फल उन्हें दुःखरूप होंगे। इस प्रकार जो मनुष्य सुखी होकर भी पापिष्ठ होता है वह मनुष्य

“पापानुबंधी पुण्यवान्” समझा जाता है। इसीलिये कि इस समय पूर्वपुण्यके कारण सुखी है और वर्तमान पापके कारण भविष्यमें दुःखी होगा।

कितनेक मनुष्य धर्मा होते हैं, अच्छे कार्य करते हैं, पुण्य भी करते हैं, तथापि दुःखित क्यों है ?

इसका कारण यह है कि पहले उन जीवोंने पाप किये थे, अतः वर्तमानमें दुःख भोगते हैं, इतनेपर भी इन कार्य करते हुए इस समय पुण्य बांध रहे हैं। अतः वे आगे सुखी होंगे। ऐसे मनुष्योंको शास्त्रमें ‘पुण्यानुबंधी पापी’ कहा है। इसीलिये कि भूतकालके पापके कारण दुःख भोग रहे हैं, परन्तु वे वर्तमानके पुण्य कार्यके द्वारा भविष्यमें सुख भोगेंगे।

तब क्या वर्तमान कालमें कोई मनुष्य दुःखान्ना भोगता हो और उसे भविष्यमें भी दुःख भोगना पड़े क्या ऐसा भी कोई नियम है !

हां हां क्यों नहीं, बहुतसे मनुष्य पूर्वके पापके कारण इस समय दुःखोंको भोगते हैं इतनेपर भी इस समय अन्य जीवोंको दुःख देते हैं तो वे अपने जन्मोंमें भी सुखी ही होंगे।

ऐसे मनुष्योंकी शास्त्रमें क्या संज्ञा बताई है !

वे ‘पापानुबंधी पापी’ अर्थात् पूर्वजन्ममें पाप किया था उसका फल तो भोग रहे हैं, और इस समय पाप करते हैं अर्थात् उसका दुःखका फल भी भोगेंगे।

तब क्या यह भी हो सकता है कि इस समय सुखी हो और आगे भी सुखी ही रहे !

हां यह भी हो सकता है, भूतकालमें खाने अन्य प्राणियोंको सुख देकर पुण्य बांधा है, वे अब सुखी हैं, और अब पुण्य बांधकर भविष्यमें भी सुखी ही उपभोग करेंगे।

ऐसे पुरुषको शास्त्रमें क्या कहा है !

इसे ‘पुण्यानुबंधी पुण्यवान्’ कहा है, क्योंकि पहले पुण्य करनेसे अब सुखी है, और वर्तमानमें पुण्य करता है जिससे आगे भी सुख ही पावगा।

सार—ये दोनोंके कार प्रकारके अनुबंध होते हैं, अनुबंध का भव्य बंध है जिसका फल आगे भोगा जाता है। अच्छा अनुबंध होनेपर

अग्नीमुखोंका उपभोग करेगा। अशुभ अनुबंध हो तो अग्नी मुख भोगना पड़ेगा।

( १ ) 'पापानुबंधी पाप' इस समय दुःख और पीछे भी दुःख।

( २ ) 'पापानुबंधी पुण्य' इस समय सुख और पीछे दुःख।

( ३ ) 'पुण्यानुबंधी पाप' इस समय दुःख और फिर सुख।

( ४ ) 'पुण्यानुबंधी पुण्य' इस समय सुख और फिर भी सुख।

इस प्रकारके कर्मोंसे या तो दुःख मिलता है या सुख मिलता है, परन्तु मोक्षके अन्वावाध सुख जो कि कभी समाप्त नहीं होते, ऐसा आत्मिक सुख पानेके अर्थ शारीरिक सुखोंका भोग छोड़ना चाहिये। अर्थात् पाप पुण्यका क्षय करके आत्मस्वरूपमें रहना सीखिये, और किसी भी प्रकारका अनुबंध न बाधना चाहिये। यदि अनुबंध डालना हो तो पुण्यका ही बाधना चाहिये। पापका अनुबंध तो बिल्कुल ही न डालना चाहिये क्योंकि पुण्यके अनुबंधसे कुछ ऐसा बल प्राप्त करता है कि जिससे कर्मोंका क्षय भी कर सकता है।

## ॥ अध्याऽऽलोचनापुष्पाञ्जली योगस्य पुष्टये ॥

वीतरागोऽसि विज्ञानमयो मुख्वरोऽसि त्वम् । गुणगरोऽसि देवेश ।  
सदा भव्यावने रतः ॥ १ ॥ इत्थं ते स्मरणान्वितं, नरा यान्ति भवाम्बुधेः ।  
पारं मुखेन धीवीर । नान्योपायोऽस्ति भूतले ॥ २ ॥ शुभाऽऽनन्दस्य फेलिस्त्वं,  
शुणोत्तमगृहं जिन । मुरामुरनरैस्त्वं हि, सेव्योऽस्सवनिमण्डले ॥ ३ ॥ त्वरीये  
चरणाम्भोजे, मतिमें स्यादकामतः । सर्वोच्चोऽसि सर्वशो, रक्ष संसार-  
सर्पतः ॥ ४ ॥ महोदधिः कलाबुद्धेरादर्शस्त्वं शुभस्य च । आचारस्याऽनव-  
द्यस्य, संघतेर्दुःखभञ्जकः ॥ ५ ॥ वैयो लोकत्रयस्यैव, रत्नाकर । जयोऽस्तु ते ।  
श्रीशो जिनवरोऽसि त्वं, कृपाकर । दयानिधे । ॥ ६ ॥ कर्ममो जातसर्वर ।  
विरागिमें त्वयि प्रभो ! वीतरागमयोऽसि त्वं, दुर्बुद्धिमें निशामय । ॥ ७ ॥  
विज्ञोऽसि हे प्रभो ! देहि, वरं चाभयदं शुभम् । पित्रोरप्रे शिशुः स्पष्टं, नोचा-  
रयति किं ? पुनः ॥ ८ ॥ मोदाय तस्य किं लीला, न भवेत्त्वं विचारय । हे  
मनः ! स्वगुह्यं च, रीतिं नैव स्वस्त्रीयकीम् ॥ ९ ॥ नमो भूत्वा स्वयं प्रीतिं,  
विभो कुरु मुदाऽनिशम् । भवेऽस्मिषहं शुद्धेन, मनसा दत्तवाक्षु किम् ॥ १० ॥  
दानं किञ्चित्सदाचारो, ज्ञानं नैव तपश्च मे । पवित्रं नो मनो मेऽलं, कवमारु-  
धये विभुम् ॥ ११ ॥ अद्यापि वासनाहानिर्न जाता पुद्गलेषु च । भ्रमान्मे



भ्रमणं सिध्वा; संसारान्धौ दयानिधे ! ॥ १२ ॥ लोधाग्निना प्रदग्धोऽहं, दिवा-  
 राग्नि शुभाशुभे । लोभोरगेन सन्दधो, देहि मे ज्ञानमेपजम् ॥ १३ ॥ अभि-  
 मानप्रहप्रस्रंथाज्ञानवशतो ह्यहम् । जायते न गुरो ! ज्ञानं, कपटावृतचेतसः  
 ॥ १४ ॥ जगत्त्रय मया क्रिषिन्न, कृतं परहितं विभो ! शोकसागरममस्य, सुखं  
 मे स्यात्कथं किल ॥ १५ ॥ मादसस्य नरस्याय, जातं जन्म मुपैव च ।  
 मन्यतां पूर्णये, क्षमजिनदेव ! भवस्य च ॥ १६ ॥ दर्शनं च त्वया दत्तं,  
 स्वमुखस्यैव निर्मलम् । सुखिरो भवताञ्जिते, मरीये जायते फलम् ॥ १७ ॥  
 आनन्दरससन्ने, न भवेत्सल्लयवर्तनम् । ममास्ति हृदयं वज्रसमं जानीहि  
 सतिप्रिय ! ॥ १८ ॥ दुर्लभं च मया प्राप्तं, ज्ञानरत्नं दयाकर ! भ्रमणे बहुदिना-  
 ज्जाते, न निरृतो मनो मन ॥ १९ ॥ नष्टं मे ज्ञानरत्नं च, सदाऽऽलस्यप्रभा-  
 वतः । कस्मान्तिकमुपागम्य, राट्टीमि मुहुर्मुहुः ॥ २० ॥ जगतो दयनायैव,  
 वैराग्यं विभूतं मया । ह्यास्यमर्थे भवे जातं, धर्मलेखं न लब्धवान् ॥ २१ ॥  
 मरीये रक्षणाप्रे च, विद्या वसति निर्मला । तथापि कलहो निलं, क्षणादिगुण-  
 नाशकः ॥ २२ ॥ तथापि निगृहीतश्च, जातोऽहं तेन मे रतिः । हास्ये प्र-  
 लियते धैव, जायते च महान्प्रभो ! ॥ २३ ॥ भ्रमणोऽप्येतेऽप्यस्मिन्, रागवर्जावो  
 हि नित्यशः । अतोऽहं चाधमो लोके, सुखं लक्षं विचारय ॥ २४ ॥ सदाऽ-  
 न्यान्दूपयित्वाऽहं, मन्ये स्वमुखनिर्मलम् । परदारान्विलोचयैवं, जाते नेत्रे च  
 वैकृते ॥ २५ ॥ परनिन्दारतत्वेन, चित्तं मे मलिनं गुरो ! कस्मादितं भवेन्नेऽद्य,  
 न जातं विमलं मनः ॥ २६ ॥ गुप्ता वै आग्निनी चैव, तथेद्यो रतिरोऽर्दकः ।  
 मत्प्रतिज्ञा तदायता, कदापि न च तिष्ठति ॥ २७ ॥ करोमि प्रकृतं तुन्वं,  
 लब्ध्वां लोपां गुरोऽशुभा । त्वया तु ज्ञायतां सर्वं, जगत्कर्म दयानिधे ! ॥ २८ ॥  
 गुरोर्वचनमलन्तं, मया लक्षं च हे प्रभो ! तथा सच्छास्त्रवचनं, निध्या युग्मा  
 हितं परम् ॥ २९ ॥ दुष्कर्मनिरतो निलं, दुस्वप्नी च तथैव हि । सिध्वात्पङ्क-  
 संलितमधमं विद्धि मां गुरो ! ॥ ३० ॥ मये भ्रमो न मे नष्ट इति वेद पिया  
 गुरो ! लक्षं लब्ध्वा च त्वां देव ! निरिच्छं भवकृष्टकम् ॥ ३१ ॥ अज्ञानं च मे  
 पापं, दृष्ट्वाऽज्ञानवशादहो ! हाहाकारस्तदा जातोऽनेनेति मयि नो मुगम् ॥ ३२ ॥  
 मृगाशीकुचदग्दे मे, लभं चतुरारुर्निशम् । दया प्यां तथा लब्धं, न प्यातः  
 श्रीजिनेश्वरः ॥ ३३ ॥ चन्ताननं मनोदायि, दृष्ट्वाऽक्षिमुगानेपते । इति त्वयि  
 परे लभं, मनो जातं क्वचित् मे ॥ ३४ ॥ सच्छास्त्रस्य च सिद्धान्तमिधि

श्रुत्वापि नो भयम् । संसारतारकं श्रुत्वा, ज्ञातं नो कारणं मया ॥ ३५ ॥ स्वात्स्व  
मयि नो भासो, जातेषु सुमनोरमः । गुर्णाष्वथ मयि स्वामिन् ! विमला नो रतेः  
कथं ॥ ३६ ॥ प्रभुत्वं न च मे जातं, स्वप्नेऽपि दृश्यतां प्रभो ! तथापि गवेषवे-  
द्यात्करिष्येऽहं कथं हितम् ॥ ३७ ॥ प्रतिक्षणमायुर्हृतते, मनस्तापो न याल्यसौ ।  
दुःखदा च जराऽवस्था, सम्पन्ना विषयादरात् ॥ ३८ ॥ निवर्तते न चाद्यापि,  
तस्मात्त्वच्छरणागतः । मेपजेच्छा मदीयाऽस्ति, धर्मवृत्ती न मे मतिः ॥ ३९ ॥  
मोहरूपप्रहाविष्टो, न शिष्टः कोऽपि चाधुना । चैतन्येन समाविष्टो, लभते पद-  
मव्ययम् ॥ ४० ॥ इत्यायमन्यमानोऽहं, गुरो ! रक्षां मयि कुरु । सन्मुचे त्वं  
मदीये हि, स्थितो दैन्यविमोचकः ॥ ४१ ॥ तथापि दीनवाक्यानि, शृणोमि तव  
सश्रीधौ । धिक्कारं मे दयागार ! मुधा मे जननं भवे ॥ ४२ ॥ जिनसेवा कृता  
नैव, सविधिगृहसेवनम् । तथा कर्म कृतं धर्मपालनं न क्वचित्कृतम् ॥ ४३ ॥  
दत्तं नो दानमायुषं, न चित्ते सरणं तव । केवलं त्वयि संलग्नो, यथायोग्यं  
निशामय ॥ ४४ ॥ नृदेहं दुर्लभं प्राप्य, तदाशय मया कृतः । यथैकाकी  
नरोऽरण्ये, रोरवीति मुधा तथा ॥ ४५ ॥ प्रत्यक्षफलदातृत्वाद्धर्मं जैनं शुभं  
मतम् । तत्र जाता च नो प्रीतिर्मदीया दुःखनाशिनी ॥ ४६ ॥ महामौख्यं च मे  
पश्य, यतो जातं भयं मुहुः । कल्पवृक्षं तथा कामदुष्या प्राप्य द्वयं मया ॥ ४७ ॥  
सहसा दुःखसमूहं च, सहमानेन नाशितम् । दुर्लभं जन्म प्राप्याशु, न मया  
साधितं तपः ॥ ४८ ॥ रोगदुःखे निरुद्धे नो, दृष्टौ च मुखभोगकौ । इति मे  
ह्यपराधं च, क्षमस्व कृपया गुरो ! ॥ ४९ ॥ अपमृत्युभयापत्तिनाशार्थं न कृतं  
क्वचित् । क्रान्ताजनसमासक्तो, धनादेः सद्ग्रहः कृतः ॥ ५० ॥ कारागृहममा  
नारी, नरकागारखलप्रहा । तत्रासक्तमनाश्वाहं, न जिनं ध्यातवान् पुनः ॥ ५१ ॥  
नो साधितं च साधुत्वं, सद्बृत्तिर्नो धृता मया । अतुल्य नार्जिता कीर्तिर्न परेषु  
दया कृता ॥ ५२ ॥ परदुःखं प्रहाणेच्छ, तथा दीनजने दया । स्वप्नेऽपि नोप-  
कारश्च, कृतं न गृहसेवनम् ॥ ५३ ॥ रत्नकल्पं नृजन्मादिग्रामीणजनसेवया ।  
नष्टं जातं मुधा विद्वन् ! तद्रक्षस्वाधुना गुरो ! ॥ ५४ ॥ वैराग्ये च समायाते,  
शास्त्रज्ञानं न जायते । कोपाविष्टं दुर्जनस्य, वाक्यं मा सोढुमर्हसि ॥ ५५ ॥  
आध्यात्मिकी च विद्या नो, नास्त्युत्तमकलाऽपि च । कथं भवान्धेः पारं च,  
गमिष्यामि सुबोधय ॥ ५६ ॥ भवान्तरे चोत्तमं कर्म, न कृतं क्विचिदुत्तमम् ।  
जन्मान्तरे करिष्यामि, नास्त्याशा मे गुरो ! किल ॥ ५७ ॥ जिनदेवेद्दशं चाहं,  
वीर. २४

कटे न स्वात्कथं न हि । चेतनो यो भवारम्भे, पटः शोऽपि प्रजायते ॥५८॥  
 चरित्रं चनेकविधं, कथं श्रेयं मयाऽनघ । महीयमममयं वृत्तं, न पुत्रं ते मह्य-  
 प्रभो । ॥ ५९ ॥ जगन्नयस्वरूपस्त्वं, प्रजानासि प्रभो । ध्रुवम् । मार्गदर्शकित्वा  
 त्वं हि, मनोऽभिप्रायवित्तया ॥ ६० ॥ स्वत्समो नास्ति हे नारा । परो दुःख-  
 प्रणाशकः । दुःखवशांमहं शप्य, नो वाचेऽन्वयज्ञमादधि ॥ ६१ ॥ अहंभोषा-  
 त्वकं ज्ञानं, वाचे त्वतो भवापहम् । शिवदो जगताम्योय । प्रार्थनेच प्रकाशय  
 ॥ ६२ ॥ संपंदुःखान्तरास्यं च, हर । ज्ञानं प्रथीयताम् । फलित्विद्विषये चित्तो,  
 समुत्सवं ह्युपशुषी ॥ ६३ ॥ फलकस्ताऽभिधे रम्ये, मतिर्मे मुक्ता मवेत् ।  
 वतो जगज्जलम्भोधे, पारं वास्यामि यत्नतः ॥ ६४ ॥ तस्मिन् सज्जनानां च,  
 चित्तवृत्तं प्रमोदतः । प्रकृतं करोमि संपेक्ष । येनाप्पाद्योचना भवेत् ॥ ६५ ॥  
 यथा चित्तप्रकाशः स्वात्तया कुरु महामते । शब्दज्ञानं न मे चास्ति, तथा चित्त-  
 छन्दताम् ॥ ६६ ॥ इंसकृत्यो नरो यय, ए पठेदित्थाम्यया । वेदोऽहंमृण-  
 शेरुने, यत्सरे निर्मिता त्वियम् ॥ ६७ ॥ वीरस्तुतेरभ्यासस्य, टीक्ष्ण ए तुण्ड-  
 निद्रुता । रचिता चोत्पन्नमत्त्व, वीरपुङ्गव तुष्ये ॥ ६८ ॥ शुद्धमदीयांऽस्ति  
 फकीरचन्द्रो, ज्ञानं मया लब्धमिदं यतश्च । योषं च ताप्या  
 सुभियां करोमि, ततोऽ\*मरत्वं च भवेत्सुकुटं मे ॥ ६९ ॥

इति धीमज्जातपुत्रमहावीरज्ञानसह्यायमुनिर्धाफकीर-  
 चन्द्रजिच्छिद्यपुष्पभिधुदिरचिताऽपूर्वशान्तिवा-  
 ऽऽलोचना पुष्पाञ्जली समाप्ता ।

### भगवान् महावीरकी चैराग्य भावना.

हो भिदंजुन आज महावीर महावीर, हरदस हो नरो पर दपेठइपीर  
 महावीर । आत्मन्दी जिवा इद्वी तनवीर महावीर, अदरुचधे नू इत्यधे  
 वरवीर महावीर । आत्मन्के लिए मर्गाके सुरर्धादेवराकृत, दुनिकावेडिए  
 यतनए इवएरे हरेकृत ॥ १ ॥ इह वार महावीर नुवा पर भगर भावा,  
 उत हांठए चर्याअ पशु इन्धे छावा । हर जेकेभपुंरत वा हुआ उरुधे  
 वपुया, जेगे भमत्र इद्वी हसी से तुभावा । क्या नामया शिथ नामधे

फुदरतकी झलक थी, क्या ज्ञात थी जिस ज्ञातमें फितरतकी चमक थी ॥ २ ॥  
 महसूस हुआ जब इसे दरपेश सफ़र है, मंज़िल है कड़ी राहमें गुमराही का  
 का डर है । दुनिया जिसे कहते हैं वह एक ख़ानए शर है, आराम कहां  
 दर्दोमुसीबतका यह घर है । सोचा के यह क्या है के हूं छुद में भी इसी  
 में, नाफ़हमी से नाख़ूज़ हूं रहते तल्बी में ॥ ३ ॥ जब ग़ौर किया हस्तीए  
 अशिया नज़र आई, दर असल अजब सैर सरापा नज़र आई । बधोंका  
 परोदा सा यह दुनिया नज़र आई, मिट मिटके भी होती हुई पैदा नज़र आई ।  
 जौहरके अरज़क नहीं कुछ ठीक ठिकाना, गिरगटकी तरह रंग बदलता है  
 ज़माना ॥ ४ ॥ बेसचाती ( अनित्यता ) हर रंगेजहां अस्लमें विजलीकी  
 चमक है, जो शक़ हवेदा है वह शोलेकी लपक है । गुंचोंकी बटक है न वह  
 फूलोकी महक है, एक हस्तीएमोहूमकी यों ही सी झलक है । पल भरमें न  
 वह शक़ न वह शान न सूरत, था वहमे नज़र आंखने देखी थी जो मूरत  
 ॥ ५ ॥ हर चीज़ के जिस चीज़पे होनेका गुमां हो, बेहरकतो बेजान हो  
 या साहिबेजां हो । एक शक़ हो तस्वीर हो हस्तीअ निशा हो, कमज़ोर  
 हो शहज़ोर हो बाताबोतवां हो । बफ़ आए तो फिर ज़ोर किसीका  
 नहीं चलता, वह हुक्मेक़ज़ा है के जो टाळे नहीं टलता ॥ ६ ॥ कहते  
 हैं जबानी जिसे बचपनकी फ़ना है, पीरी जिसे कहते हैं जबानीकी क़ज़ा है ।  
 हर अहदमें एक लफ़ है हर लफ़ जुदा है, एक लफ़में सौ दर्द हैं हरदर्द  
 सिवा हैं । फिर दर्द के राहत कोई कायम भी कहीं है, क्या है जिसे "हे"  
 कहिए के है भी तो नहीं है ॥ ७ ॥ बेपनाही ( अशरणता ) मादर  
 पिदर व दुक़्तरो फ़र्ज़न्दो विरदार, यागने बफ़दार रफ़ीक़ान दिलावर ।  
 ओरग कुल्हे मही छदकने जवाहर, इन्सानोंकी फौजें हों के देवोंका हो  
 लश्कर । होनी कनी टलती नहीं आपहुंचे जब इज़ाम, हर सुबहके दामनछे  
 है वाबस्ता यहां शाम ॥ ८ ॥ कमज़ोर हो मज़बूत हो बाशानो अमर हो,  
 मुफ़लिस हो गदा हो कोई या साहिबेज़र हो । जंगी हो फिरंगी हो कोई रक्के  
 क़मर हो, हो खारेनज़र सबक़ के मंज़ूर नज़र हो । बफ़ आया तो फिर नोए  
 शिगर हो नहीं सकता, यमराजके पंजेसे मफ़र हो नहीं सकता ॥ ९ ॥ मरता  
 है पिसर बापसे रोक़ नहीं जाता, मां रोती है दम बेटेका यामा नहीं जाता ।  
 मुंह तकते हैं सच बापसे बोला नहीं जाता, भाईसे भी भाईको बचाया नहीं

खाता । तद्वीर किसी तरह किसीकी नहीं चलती, माँत ऐसी बला है के  
 जो टाळे नहीं टकती ॥ १० ॥ सदाका कोई देता है के कुछ रहेका हो,  
 पढ़ता है अमल कोई के तासीर दुवा हो । कइता है तबीबोंसे के कुछ  
 ऐसी दवा हो, झूठ किसी सूरतसे कहीं दुक्मकजा हो । होनी की मगर कोई  
 दुआ है न दवा है, जो होना है आखिरको नहीं होके रहा है ॥ ११ ॥  
 फितरतका तकाजा है के होकर ही रहेगा, जो जिसने किया है उसे भोगेगा  
 सहेगा । कुछ बर नहीं काफिर जो मुझे कोई कहेगा, जिस रूपसे बहा  
 जाता है दरिया वह बहेगा । हामी कोई बंदा है किसीका न खुदा है, सम-  
 रह है उसी फलका जो जिसने किया है ॥ १२ ॥ अज्ञतरावे दुनिया  
 ( संसारता ) इस पर भी तो दिल बक्के तमजा व तलब है, राहत जिसे  
 कहते हैं मयस्सर ही वह कब है । इक आरजू सौ रंजो सुखीबतका सबब है,  
 और हसरतें आखों हैं फिर एक एक गूजाय है । वह कौन है ? जो सौक  
 का रोदा नहीं होता, किस दिलमें यहाँ खूनेतमत्ता नहीं होता ॥ १३ ॥  
 मुहिसको अगर गम है के रोटी नहीं परमें, जरदार है मुजतर हबिसे  
 दोस्तो जरमें । इक दर्दभी तस्वीर है इक जौके दिगरमें, राहत न इसे  
 है न उसे आठ पहरमें । इक आंख तो फर्जन्दके अरमानमें नम है, आंख-  
 दकी कसरतसे कहीं नाकमें दम है ॥ १४ ॥ आराम समझता है कोई मालको  
 जरघे, कन्धे लिए फिरता है कोई दुष्टोपिसर को । रोता है कोई फुरकते  
 मंजूरनजरको, तानीर कराता है कोई मुन्बदोदरको । यह मेरा है मैं इसका  
 हूँ यह मान रहा है, दुख दर्दके सामानको सुख जान रहा है ॥ १५ ॥ दिख  
 सौकसे रंजर है और सौक फिर है, आखोंमें जो नम है किसी अरमानका  
 मूं है । राहत जिसे कहते हैं वह इक सत्रोसकूं है, हाल आपना मगर  
 फरचेतमजा से जुव है । इक आरजू पूरी हुई सौ करघई पैदा, आराम  
 किसी शकसे मिलने नहीं पाता ॥ १६ ॥ दुनिया और चहम इमददी  
 ( अन्यस्वता ) हर आत्मा दुनियामें अकेली ही अजलचे, । पावंद तन्यमुप  
 है मगर बंद अमलसे । मर मरके कहीं-मुठती है यह नैद इमलसे, इक कुदतीसी  
 लडती हुई ब्याती है अजलचे । बीमारीमें आजिज रही दरमां तलबीसे, जब  
 मरती है तो पाती है दुखनां बलबीसे ॥ १७ ॥ घन शब्दे ताकुच हैं गलत  
 शून्य चरहा, कइनेकी मुहब्बत है मिखावेकी रिफाकत । बीमारी हो ना

मौत हो या दौरे मुचीवत, मुमकिन ही नहीं उसमें किसी गैर की शरकत।  
 मुंह तकते हैं हैरतसे मदद कर नहीं सकते, मां बाप भी बेटेके लिए मर  
 नहीं सकते ॥१८॥ अलेहदगी बेइलायकी और तनहाई (एकत्वता)  
 ये महलोमकां हमने जो तानीर किए हैं, यह ऐशका सामान के दम जिसपे  
 दिए हैं। यह लालो गुहर औरोंसे जो छीन लिए हैं, औलाद के जिसके लिए  
 मर-मरके दिए हैं। हम जायेंगे ये साथ न जायेंगे हमारे, ये हमसे जुदा हैं यहीं  
 रह जायेंगे सारे ॥१९॥ यह रूप यह रंग और यह नकशा ये खूत व खाल, है  
 नूरके सांचेमें ढला आइने तमसाल। गो रूहसे मसखत नज़र आता है फ़िल-  
 हाल, लेकिन है जुदा जानसे यह जानका जंजाल। यों आत्मा इस पैकरे-  
 खाकी में बसा है, है आइनेमें अवस मगर उससे जुदा है ॥ २० ॥ नापाकी  
 और गिलाज़त [अशुचिता] यह पैकरेखाकी के हर इक जिसपे फ़िदा  
 है, हर शरसको मंज़ूर नज़र जां से सिवा है। कुछ गोश्त है कुछ खून है  
 बलगमसे भरा है, इक ज़रफ़े गिलाज़त है जो शिल्लीसे ढका है। बोल और  
 निजासतके सिवा खाक नहीं है, नापाक है इतना के कमी पाक नहीं है ॥२१॥  
 मशहूरे ज़माना हो जो हुस्ने नमकीं से, दिल छीन लिया करता है जो शक्के-  
 हसीं से। उसके हो कोई ज़ख़म कटे जिस कहीं से, फ़ुवारह छुटे पीपका  
 और खूँका वहीं से। देखे न नज़र चाहनेवालोंकी पलटके, मक्खीके सिवा  
 गैर कोई पास न फटके ॥ २२ ॥ आमद-ज़राते अमल [आस्रचता]  
 कर देते हैं ज़राते अमल रूहको नाचार, फल देके ही टलते हैं ये अगुयार  
 सितमगार। गो कर्म हैं दो किसके बदकारो निकोकार, होना ही मगर इनका  
 है सद बाहसे आज़ार। इक इक नुफ़ए रूहपे बैठे हैं हज़ारों, उठता है अगर  
 एक तो आजाते हैं लाखों ॥ २३ ॥ जो टलता है वह खून झलक अपनी  
 दिखाके, ग़ज़ो ग़ज़बो किन्नसे दीवाना धनाके। जज़बो फ़शिशे ज़ंगे अमल हदसे  
 बढ़ाके, खुद छोड़ता है सारके फंदोंमें फँसाके। बंधती है योंही रूह इस  
 आमदसे अमलकी, गर्दिस नहीं मिटती के यह है रोज़ अज़लकी ॥ २४ ॥  
 सहेबाव [संवरता] अथ जब कनी इस मोहका कुछ जोर घटा हो, खुश  
 तालइसे दुःमनेजां ज़ेर हुआ हो। उस वक्त कोई रहबरे हक़ राहुमा हो,  
 तब रूहका कुछ होश ठिकाने हो बजा हो। जाने ही न दे ध्यानको गैरोंकी  
 फ़िज़ामें, रोके रविशेशमको सुद उसकी ज़ियामें ॥ २५ ॥ ज़राते अम-  
 लका इख़राज [निर्जरा] काफ़ूर शबे कुफ़ हो मिटजाए जहालत, तावां

हो मूर्खत्वं बड़े नूरसदाकत । क्यूँ होँ हवासोंपे हो दिल महवेरियाजत, गुनि  
 सुमति शील हो सन्तोष हो आदत । यह बाइसे सरगस्तगी फिर थाप ही टक  
 जाएँ, ज़रते अमल रुहके जुषोंसे निकलजाएँ ॥ २६ ॥ आमद भी रुके बंदे  
 अमल छूटने लग जाएँ, फंदेसे खुले दाम कुहन टूटने लग जाएँ । वे मोह की  
 मदिराका घड़ा फूटने लग जाएँ, सुद आत्मा अपने ही मजे टूटने लग जाएँ ।  
 फिर अपना तमाशा हो और अपनी ही नज़र हो, अगियारसे अगियारकी सोह-  
 वतसे हज़र हो ॥ २७ ॥ आलिये अस्तथाय [ संसार ] यह जहाँ क़ानी  
 जिसे सब कहते हैं संसार, उःद्रव्य हकूटे हैं यह इक जावसद इसरार । फाइल  
 कोई इनका न कोई मालिको सर्दार, पैदा कमी होते हैं न मिटते हैं ये जिन-  
 हार । छःसे कमी कम और सिवा हो नहीं सकते, धनते हैं विगडते हैं फूना हो  
 नहीं सकते ॥ २८ ॥ पांच इनमें हैं बेदोस तो इक साहिने अदराक, पांच इनमें  
 सबी एक मकां खाली बक़वाक । चार इनमें जुपा रहते हैं बेबोस तदा पाक,  
 दो मिलते हैं आपसमें तो हो जाते हैं नापक । इक मादह इक रूह जब  
 हो जाते हैं मसहल, खोली न खुले ऐसी गिरह लगती है मज़बूत ॥ २९ ॥  
 पांच ऐसे के जिनकी कोई रंगत है न सरत, एक ऐसा के दर हिसको है बर  
 बाइसे लखत । कहते हैं उसे मादह सब अहले स्कीरत, जब रूहे मिटता  
 है तो यह होती है हालत । जां रूह तो वह जिस है और बंद अमल है, जो  
 तादरे जाँ के लिए सय्याद अत्रल है ॥ ३० ॥ वह आंख गुलापीसी वह अवरु जो  
 कभी है, वह शोल नज़र जो सरे ज़निक किमनी है । मंज़ूर गुरजु सबको  
 जो नाज़ुकबदनी है, हर सुरतेदिलक़ुछ इन्हीं दोनोंसे पनी है । महजुप है  
 इन्को नज़रे रूह अज़लसे, बहकी हुई फिरती है गरीप अपने अमलसे ॥ ३१ ॥  
 इन्सान भी हैवान भी और हूरो परी भी, यह नजम यह अफ़्काक यह  
 सुदकी भी तरी भी । गुलशारू वे और कोहमें हर बान जरी भी, जो शकूके है  
 धामने खोटी भी खरी भी, बेजाव भी जीरू भी अच्छे के बुरे हैं,  
 अत्वे इन्हीं दो के हैं के आंखोंमें तुवे हैं ॥ ३२ ॥ यह असल है दुनिया  
 की यह आलमकी हज़ीकत, कावाकमें है टोस जवाहरकी तकूनत, हाँ तूक  
 बहुत इश्क़र बहुत इशकी है जुसअल, रूहोंके लिए है यही मैदान अजीयत ।  
 वे इन्में सही आत्मा कज़िब नज़री से, आवाह व सरगस्ता है गुद बेसगी  
 से ॥ ३३ ॥ इसले इन्म सही की दुश्चारी [ योधि दुर्लभ ] आपोंके  
 कभी जोब दिखान नहीं जाता, क्या आंख क़िछी हिससे बतमा नहीं जाता ।

बेचक्रको अशकालमें लाया नहीं जाता, जुजू कदफ़ज़मीरी उसे पाया नहीं जाता । इन्द्रा मगर रुहकी हस्तीसे सूता है, हर शैको फ़क़त इल्मने मालूम किया है ॥ ३४ ॥ होशो खिरदो इल्म फ़क़त रुह की है ज़ात, जुजू रुह किसी और को हासिल नहीं ये बात । लिपटी है अज़लसे जो उसे बंदकी आफ़ात, इनके ही सबब बहकी हुई फिरती है दिन रात । फिर भी सिफ़ते जात कमी जा नहीं सकती, ये होशको होश और खिरद आ नहीं असकती ॥ ३५ ॥ सब जड़ हैं मगर आत्मा है ज्ञानका भंडार, जो ज्ञान है और इल्म है चेतनका चमत्कार । खुद इल्म भीमालूम का बाहोशो खबरदार, उस ज़ातमें मुमकिन ही नहीं शरकते अग़ियार । पुद्गलने मगर ज्ञानको आवरण किया है, खुद भूलसे अपनी ये गिरफ़्तारे बला है ॥ ३६ ॥ इक बार अगर भूल कोई इसकी मिटादे, शक़ आइनेमें इसकी कोई उसको दिखादे । खुद ज़ातका इसकी इसे दीदार करादे, यह बंद अमल काटसे फिर दममें उडादे । ज़ायिदनो मुरदनकी यला इक आनमें टलजाए, आज़ाद हो जू इल्मकी बंदिशसे निकल जाए ॥ ३७ ॥ दुनिया है अजब चश्म फ़रेब आइना खाना, सौ बार यहां मिलके छुटा ऐशो सूजाना । बार ऐसे बफ़ादार के बेमिस्त्रो यगाना, वह हुझके जिस हुझका मुस्ताक़ ज़माना । मिल जायें यह आसान है दुश्वार नहीं है, मुश्क़ल तो फ़क़त ज़ातका अपनी ही यकी है ॥ ३८ ॥ रूहानियत या सिफ़ते ज़ाति [ धर्म ] कहते हैं जिसे धर्म वह कुछ और नहीं है, वस ज़ातका अपनी ही क़फ़त इल्मोयकी है । लारेब है इसमें न चुना और चुनी है, सच ऐसा के रोशन सिफ़ते मेहरेमबी है । भटकी है जो आपेते वही रुह है नाशाद, और मुहयते यक़जाईसे है नैरकी वरबाद ॥ ३९ ॥ परिणाम—यह राज़की सूरत थी जो पाबन्द हुआ थी, अब उठ गया पर्दा तो वही जल्बहनुमां थी । गो इल्म सरीहीकी अभी जू न जिमा थी, लेकिन वरके दहरकी तफ़सीर तो वा थी । देखा तो इन ओरफ़क़ पे यह साफ़ लिखा है, भूला है जो आपेको वह कर्मोंसे बंधा है ॥ ४० ॥ भगवान् विचार—भगवान् महावीर ये दर असल महावीर, मति-श्रुति-अवधिज्ञानकी थी रुहमें तनवीर । पढते ही यह समझे वरके दहरकी तहरीर, है भूल खुद अपनी सबब ज़िह्नतो सहकीर । सोचा के अब इस मोहको निर्मूल करूंगा, फिर जन्म न हो जिससे वह चारित्र धरूंगा ॥ ४१ ॥ हूं ज्ञान फ़क़त ज्ञानघी जू बनके रहूंगा, मैं होश हूं बेहोश का पाचंद न हूंगा । आज़ाद है फ़ितरत मेरी आज़ाद बनूंगा,



हूँ पाक तो अब गैरकी शरदतसे बचूंगा । वह ज्ञात हूँ रहता हूँ मैं जो अपनी सफा में, है अवसफ़िगत चीज़ हर एक मेरी ज़िया में ॥ ४२ ॥ यह है विपत्ते ज्ञात मिटाई नहीं जाती, पुत्रलसे किसी तरह दयाई नहीं जाती । चौ जंग लगे फिर भी सफ़ाई नहीं जाती, यह शान यह एजाज़ुमाई नहीं जाती । इस पर मिरी हस्तीमें है एक झुटक़ एक आनन्द, और ऐसा के जिसका कोई हमसर है न मानन्द ॥ ४३ ॥ धी भूल के था महवे तमाशाए जहाँ में, फिरता था तलाशो हविस कासो ज़बा में । नादान था जो फ़द था इस बंदेगिरां में, ग़फ़लत थी मसफ़जु ही न था सुदो ज़ियांमें । आया है जो अब होश तो बेहोश न हूंगा, चिद्रूप हूँ चिद्रूप ही मैं मगन रहूंगा ॥ ४४ ॥ असवाबो तआलुक़ जो बज़ाहिर थे किए दूर । दिल शर्मसे मजबूर न जज़वातसे मामूर । था जामए उरियां ही लिखते तने पुरनूर, जो रूप यथाजात था वस था वही मुंजूर । कइने को तसग्युर था अहिंसा थी दया थी, किलअसल वह एक रूह थी और उसमें लिफ़ा थी ॥ ४५ ॥ वह जोर जो था बादे मुज़ातिफ़का रुका था, तूफ़ान जो उठा था अज़ल से वो यना था । लहरोंमें जो था शोर वह रामोश हुआ था, उस ज्ञानके सावरमें क़ार आया हुआ था । सादिन जो हुआ आव तो आव आगइ ऐसी, साफ़ उसमें झलकने लगी जो चीज़ थी जैसी ॥ ४६ ॥ यह इत्म सरीही था वस एक शान था केवल, सूरजसा निकल आया लुटा कर्मका वादल । हर सुहम-स्यूल हर एक आल्य व अस्फ़ल, थे उसमें अयां थी न था पर्दा कोई हायल । सर्वज्ञ इबादां हुए वया उनसे छुपा था, जो आठिमे अस्वाब में था जान लिया था ॥ ४७ ॥ रास लइजा एदा एक तने पाकसे निकली, थी रूहकी आवाज़ मगर साकसे निकली । वह साक भी बेहतर कहीं अफ़लाकसे निकली, नतज़द जोहर चाहिये अदराकसे निकली । विजदह उसे इन्सान भी करते थे मुल्क भी, कितरतकी ज़िया थी वह हकीक़नदी सलक थी ॥ ४८ ॥ रूहोंका इपर पुण्य पषनका था उपर जोश, किरनेक़मी अब वर्गना मुननेक़ो सन घोश । हर राज़ अनां होगया आने क़ा सन्तोप, विजदेमें मुके जिषो मशर दोष सरे दोष । हां नेरे महावीर इस आवाज़के सदवे, इस ग़लब मायल हूँ इन अंदाज़के सदके ॥ ४९ ॥

(फ़कीर मायल).

मङ्गलाचरणम् ।

सर्वं एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः ।  
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥ १ ॥

रत्नत्रयपुरस्काराः, पञ्चापि परमेष्ठिनः ।  
भव्यरत्नाकरानन्दं, कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ॥ २ ॥

[अर्हन् परमेष्ठी] ॐ निखिलभुवनपतिविहितनिरतिशयसपर्यापरम्परस्य, परानपेक्ष्यापर्यायप्रवृत्तसमस्तार्थावलोकलोचनकेवलज्ञान-साम्राज्यलाञ्छनपञ्चमहाकल्याणाष्टकमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशय-विराजितस्य, षोडशार्धलक्षणसहस्रांकितदिव्यदेहमाहात्म्यस्य, द्वादश-गुणप्रमुखमहामुनिमनःप्रणिधानसंनिधीयमानपरमेश्वरपरमसर्वज्ञादिनाम-सहस्रस्य, विरहितारिरजोरहःकुहकभावस्य, समवसरणसरोऽवतीर्णजग-न्नयपुण्डरीकखण्डमार्तण्डमण्डलस्य, दुष्पाराजवंजवीभावजलनिमज्ज-न्तुजातहस्तावलम्बपरमागमस्य, भक्तिभरविनतविष्टपत्रयीपालमौलिमणि-प्रभाभोगनभोविनृम्भमाणचरणनक्षत्रनिकुरुम्बस्य, सरस्वतीवरप्रसादचि-न्तामणेर्लक्ष्मीलतानिकेतकल्पानोकहस्य, कीर्तिपोतिकाप्रवर्धनिकामध्ये नीरवीचिपरिचयखलीकारकारणाभिधानपात्रमन्नप्रभावस्य, सौभाग्यसौर-भसंपादनपारिजातप्रसवस्तवकस्य, सौरूप्योत्पत्तिमणिमकरिकाघटनवि-कटाकारस्य, रत्नत्रयपुरःसरस्य, भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

नरोरगसुराम्भोजविरोचनरुचिथ्रियम् ।

आरोग्याय जिनाधीशं, करोम्यर्चनगोचरम् ॥ १ ॥

[सिद्धपरमेष्ठी] ❀ सहचरसमीचीनचार्वात्रयविचारगोचरोचित-  
हिताहितप्रविभागस्य, अत एव परनिरपेक्षतया स्वयंभुवः सलिलान्मु-  
क्ताफलमिव उपलादिव च कीचनमदेवात्मनः कारणविशेषोपसर्पण-  
वशादाविभूतमखिलंबलविलयलब्धात्मस्वभावमसमसहायकमवधीरिता-  
न्यसंनिधिव्यवधानमनवधिमयत्तसाध्यमवसितातिशयस्तीमानमात्मस्वरूपे-  
कनिबन्धनमन्तःप्रकाशमध्यासितवन्तमनन्तदर्शनवैशद्यविशेषसाक्षात्कृ-  
तसकलवस्तुसर्वस्वमनवसानमुखस्रोतसमर्पयन्तदीर्यमचाक्षुपसूक्ष्मावभास-  
मसदृशाभिनिवेशावगाहमलघुव्यपदेशमपगतवायापराकारसंकममतिवि-  
शुद्धस्वभावतया, निवृत्ताशेषशारीरद्वारतया च, मनाञ्चुक्तपूर्वपस्तान्तर-  
मरूपरसागन्धशब्दस्पर्शमशेषभुवमाशिरःशेखरायमाणपद्मविधंभरमुप-  
शान्तसकलसंसारदोषमसरं, परमात्मानमुपेयुषो गुरुणापि प्रतिपद्यगुरु-  
भावस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं  
करोमीति स्ताहा, अपि च—

प्रज्ञकर्मविनिर्मुक्ताज्ञानकर्मविवर्जितान् ।

यत्नतः संस्तुवे सिद्धान्, रत्नत्रयमहीयसः ॥ २ ॥

[आचार्यपरमेष्ठी] ❀ पूज्यतमस्य उदिनेतोतदिकुलर्षाडगुरु-  
परम्परोपाचसमद्योतिहरहस्यसारस्य, अध्ययनाध्यायविनियोगविनयनि-  
यमोपनयनादिक्रियाकाण्डनिष्णातचित्तस्य चातुर्येष्वसंप्रदर्भनाधुरंधरस्य,  
द्विविधात्मधर्मावभोपनविपूतैहिकव्यपेक्षासम्बन्धस्य, सकलवर्णाश्रमसम-  
यसमाचारविचारोचितवचनप्रपद्यमरीचिपिदलितजिसिलज्वनतारविन्द-  
नीमिथ्यात्वमोहान्धकारपटलस्य ज्ञानतपःप्रभावमकाशितजिनशामन्तं  
शिष्यसम्पदादोषमिव भुवनशुद्धतृप्तुपतस्य भगवतो रत्नत्रयस्य पुरःसर-  
त्वाचार्यपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्ताहा । अपि च—

विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्य्यकमुपेयुषः ।

आचार्य्यवर्यान्चामि, सञ्चार्य्य हृदयाम्युजे ॥ १ ॥

[उपाध्यायपरमेष्ठी] ॐ श्रीमद्भगवद्दर्हद्वदनारविन्दविनिर्गत-  
द्वादशांगचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णध्रुतपाराचारपारभ्रमस्य, अपारसम्प-  
राधारण्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गणनिरतविनेयजनशरण्यस्य दुरन्तैकान्त-  
वाद्मदमपीमलिनपरवादिकरिक्ण्टीरवोत्कण्ठकण्ठारवायमाणप्रमाणनय-  
निशेषानुयोगवाभ्यतिकरस्य, श्रवणभ्रह्णायगाहनावधारणप्रयोगवाग्भि-  
त्वकवित्वगमिकशक्तिविसापितविततनरनिलिम्पाम्बरचरचक्रवर्तिस्तीम-  
न्तप्रीतपर्य्यस्रोत्ससप्तसूरमाधिवासितपादपीटोपकण्ठस्य प्रतविधानव-  
यहृदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनो भूयो भूयः  
स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

अपात्तैकान्तवादीन्द्रानपरागमपारगान् ।

उपाध्यायानुपासेहमुपायाय श्रुताप्तये ॥ १ ॥

[सर्वसाधुपरमेष्ठी] ॐ विदितवेदितव्यस्य चाद्याभ्यन्तराचरण-  
करणत्रयविशुद्धिप्रपथगायगाप्रवाहनिर्गूलितमनोजकुजकुडुम्बाडम्बरस्य  
अमराम्बरचरनितम्बिनीकदम्बनदमादुर्भूतमदनमदमकरन्ददुर्दिनविनो-  
दारविन्दचन्द्रायमाणोदितोदितप्रतप्रातापहसितार्वाचीयफामनचरित्रच्यु-  
तविराड्विविरोचनादिवैस्नानसरसस्य, अनेकशस्त्रिभुवनक्षोभविधायिभिर्म-  
नोगोचरातिचरैराध्वर्य्यप्रभावभूमिभिरनवधारितविधानैस्त्रैस्त्रैर्मूलोत्तरगुण-  
ग्रामर्णाभिस्त्रपःप्रारम्भैः सकलैहिके सुखसाम्राज्यवरप्रदानावहितायाताव-  
धीरितविस्मितोपनतवनदेवतालकालिकुलविलुप्यमानचरणसरसिरुहपरा-  
गस्य निर्वाणपथनिष्ठितात्मनो रत्नत्रयस्य पुरःसरस्य भगवतो लोके सर्व-  
साधुपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

बोधोपगाप्रवाहेण, विध्यातानगवह्वयः ।

विध्याराध्याग्रयः सन्तु, साध्यबोधाय साधवः ॥ १ ॥

[सम्यग्दर्शनम्] ॐ जिनजिनागमजिनधर्मजिनोक्तजीवादित-  
त्वावधारणद्वयविजृम्भितनिरतिशयाभिनिवेशाधिष्ठानासु, प्रकाशितशं-  
काप्राकाश्यावहादनकुमतातिशयलोद्धारासु, प्रशमसवैगानुकम्पाऽऽस्ति-  
क्यस्त्रंभसंभृतासु, स्थितिकरणोपगूहनवात्सल्यप्रभावनोपचरितोत्सवस-  
पर्यासु, अनेकत्रिदशविशेषनिर्मापितभूमिकानु, सुकृतचेतःप्रासादपर-  
म्परासु कृतक्रीडाविहारमपि च, यन्निसर्गान्महामुनिमनःपयोधिपरिचि-  
तमशेषभरतैरावतविदेहवर्षधरचक्रवर्तिचूडामणिकुलदैवतं, अमरेश्वर-  
सतिदेवतावतंसकल्पवल्लीपल्लवं, अम्बरचरलोकहृदयैकमण्डनं, अपवर्ग-  
पुरप्रवेशागण्यपण्यात्मसात्करणसत्यंकारं, अनुल्लङ्घ्यदुर्घनपटादुर्दिने-  
ष्वपि जन्तुषु, ज्योतिर्लोकादिगतिगर्तपातनमकाण्डभेदनमामनन्ति  
मनीषिणस्तस्य संसारपादपोच्छेदप्रथमकारणस्य सकलमंगलविधायिनः  
पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यग्दर्शनरत्नस्य पुनः पुनः शुद्धिं  
करोमीति स्वाहा । अपि च—

शुक्तिलक्ष्मीलतामूलं, युक्तिश्रीवल्लरीवनम् ।

भक्तितोऽर्हामि सम्यक्त्वं, भुक्तिचिन्तामणिप्रदम् ॥१॥

[सम्यग्ज्ञानरत्नम्] ॐ यस्मिन्सिलभुवनतार्तीयलोचनं, आत्महि-  
ताहितविवेकयाथात्म्यावबोधसमासादितसमीचीनभावं, अधिगमसम्य-  
क्त्वरत्नोत्पत्तिस्यानं, अखिलास्वपि दशासु क्षेत्रज्ञत्वभावसाग्राज्यपरम-  
लान्छनं, अपि च यस्मिन्निदानीमपि नदीस्रातचेतोभिः सम्यगुपाहितो-  
पयोगसमावर्तने धुमणिमणिदर्पण इव साक्षाद्भवन्ति ते ते भावैकसम्प्र-  
त्ययाः स्वभावक्षेत्रसमयविप्रकर्षिणोऽपि भावात्सत्यात्मलाभनिबन्धमय-

हेतुविहितविचित्रपरिणतिभिः, मतिश्रुतावधिमतःपर्यायकेवलैः पञ्च-  
तयीमवस्थामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरसरस्य  
भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्नस्य पौनःपुन्येनादरणं करोमीति स्वाहा । अपि च—

नेत्रं हिताहितालोके, सूत्रं धीसौधसाधने ।

पात्रं पूजाविधेः कुर्वे, क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥ १ ॥

[ सम्यक्चरित्रम् ] ॐ यत्सकललोकालोकावलोकनप्रतिबन्ध-  
कान्धकारविध्वंसनं, अनवद्यविद्यामन्दाकिनीधरं, अशेषसत्वोत्सवानन्द-  
चन्द्रोदयं, अखिलव्रतगुप्तिसमितिलतारामपुष्पाकरसमयं, अनल्पफल-  
प्रदायितरुःकल्पद्रुमप्रसवभूमिमस्सयीपशमसौमनस्यवृत्तिधैर्यप्रधानैरनु-  
ष्ठीयमानमुशन्ति सद्धीमनाः परमपदप्राप्तेः प्रथममिव सोपानं, तस्य  
पञ्चतथात्मनः सर्वक्रियोपशमानिशपावनस्य, सकलमङ्गलविधायिनः  
पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यक्चरित्ररत्नस्य सम्यगवधारणं करो-  
मीति स्वाहा । अपि च—

धर्मयोगिनरेन्द्रस्य, कर्मवैरिजयार्जने ।

शर्मकृत्सर्वतत्वानां, धर्मधीर्दृत्तमाश्रये ॥ १ ॥

जिनसिद्धसुरिदेशकसाधुश्रद्धानबोधरत्नानाम् ।

कृत्वाष्टतयीं स्मृतिं विदधामि ततः स्तवं युक्त्या ॥ २ ॥

अथ ममाक्रन्दनकाव्यम् ।

श्रीमद्वन्धुपदारविन्दयुगलो ध्यानैकवेद्योऽस्ति यो, व्याप्तं येन चरा-  
चरात्मकमिदं क्षीरं यथा सर्पिषा । यद्भासा तरणिर्विभाति दहनश्चे-  
न्दुर्निशान्धापहस्तं वन्दे मनसा गिरा च शिरसा जैनैज्यमीशं जिनम्

॥ १ ॥ संसारोगवैनतेयसदृशो विज्ञानकोशाल्यः, कल्पद्रुष्टजिनाट-  
 नैश्च हुतमुग्ज्वालाजटालवृतः । वीजं धर्मतरोश्च विध्वजलधौ पोतो-  
 ऽस्ति यस्सेविनां, घ्येयस्रं मुनयो भजन्तु नितरामानन्दकन्दाल्यम्  
 ॥ २ ॥ पञ्चकेशनिरासवासरमणिर्विज्ञानवाराम्बुधिर्भव्याभीष्टशतप्रपूरण-  
 विधौ चैतन्यचिन्तामणिः । सज्जैनेप्सितसाधुभक्तिनलिनीव्याङ्गेशहेतू-  
 दयः, सोऽस्माकं कुल्तात्कपायशमनं श्रीमौञ्जिनेन्द्रः प्रभुः ॥ ३ ॥  
 जैना भिक्षुवराः ! पिताऽस्ति परमोऽस्माकं हि वीरो जिनो, यो दीपो-  
 त्सवसंज्ञके शुभदिने निर्वाणतामाप्तवान् । योऽन्ते नो निगमागमादि-  
 जनितज्ञानात्मके चक्षुषी, प्रादात्संयमिनो विधाय सुस्रदं ध्यायन्व-  
 त्स्रं विभुम् ॥ ४ ॥ धर्मज्ञानचरित्रसंयमवयोयोगाङ्गभाषानदात्, यो  
 नो जैनमत्तावरोधनकरप्रध्वंसनार्थं विभुः । हित्वा तौंश्च वयं भवाब्धि-  
 पतिव्राः किञ्चिन्न कर्तुं क्षमास्तस्मादुक्तविधौ समाहितधियो यत्र च  
 कुर्मो मुहुः ॥ ५ ॥ नायाजालमपास्य चात्मनि मनस्संघीयते योगिभि-  
 र्योगाभ्यासतपोऽपरिग्रहबलात्सत्तद्गतेः संवरात् । ते विप्रा जिनपाद-  
 पद्मरजसः सेवानुरक्तस्य च, तस्मात्तान् परिहृत्य चैक्यकरणे चेतस्स-  
 मापीयताम् ॥ ६ ॥ चक्रे द्वादशधा तपोवलमदो दत्त्वा तपस्यान्वि-  
 तान्, द्वारा मुक्तपिया विवेकपटवो जाता विरक्ता यतः । श्रीलदे-  
 र्निल्याश्च चैतनगुणैरात्मैयभावाध्यास्तस्मादात्मविचारणं मुनिवरा  
 यथाङ्गसिद्धिमदम् ॥ ७ ॥ स्याद्वादो विदुषां हिताय गदितोऽनेकान्त-  
 वादस्तथा, सिद्धान्तप्रतिपादनं मतभिदां येनाक्षयं जायते । सर्वं तच्च  
 विहाय मोहजलधौ ममा वयं दुस्तरे, रागद्वेषद्वेषाकुले च मुनवो भयं  
 नृतो नो भवेत् ॥ ८ ॥ नायानिर्मितशोकसारविषये वैरान्यमेवाम्भ्यं,

दत्त्वा नश्च महाव्रतादिनियमान्प्रववाक्यैस्तथा । संसारे जिनदेवधर्म-  
 तरणिं प्रादादथो संयमान्, तं साधुं सुखसागरं प्रतिपदं ध्यायन्त्वतिप्रे-  
 मतः ॥ ९ ॥ अहिंसा तथा सत्यमस्तेयमाहुर्महद्ब्रह्मचर्यं सुनिर्वाणहे-  
 तुम् । यतस्तत्त्वबोधस्समुत्पद्यते च, ह्यतो रक्षणीयाश्च ते भिक्षु-  
 चर्यैः ॥ १० ॥ यस्यामोघात्मशक्तिं प्रबलगुणगणैर्नो प्रवक्तुं समर्था,  
 नास्माकं साधुबोधस्तदनु च कथने तत्स्वरूपस्य तत्वम् । तस्य  
 ज्योतिःप्रवाहं प्रबलगुणकरं वक्तुमीशाः कथंचिन्नो वा घाता-  
 स्यशक्तौ मतिरपि सुतरां नेदृशी तादृशी च ॥ ११ ॥ श्राम-  
 ष्यप्रतिपालनाय सुधिया जातावतारा वयं, कामक्रोधविमोहलोभमम-  
 तामानावरोधाशयाः । चेतः संघपदारविन्दयुगले जित्वेन्द्रियप्रा-  
 मकं, संसारानृतभोगरोगशमने विद्युमये धार्यताम् ॥ १२ ॥  
 कामक्रोधविमर्दनेन च पुनर्लोभः समुत्पद्यते, तस्मान्मोहसमुद्भवः स्मृति-  
 हरो विज्ञाननाशस्ततः । पश्चाद्दर्म्मविपर्ययोऽनृतमयी भोगैपणा  
 जायत, इत्थं दुःखमये विचित्रविषये जीवोऽनिशं वध्यते ॥ १३ ॥  
 आदाविन्द्रियनिग्रहे च विषया नश्यन्त्यनायासतः, काये चारुपरिग्रहादि-  
 शमने ज्ञानोदयो भासते । पश्चात्कर्मसमुच्चयप्रणशनं धर्मे प्रवृत्तिः  
 स्थिरा, - तस्मादिन्द्रियसंयमे हि मुनिभिश्चेतः प्रदेयं सदा ॥ १४ ॥  
 तच्छक्तेरात्मयोगात्सकलगुणमयः स्यात्प्रतापोदयश्च, तस्याग्रे चोत्थि-  
 तायाः प्रचलति नितरां वर्द्धमानाः समस्ताः । जाते शीले महत्त्वे सक-  
 लगुणविधेः सुप्रवाहं नियुज्य, वीर्यं चान्तेऽवरोधं वृत्तमतिविमलं  
 नो मनः शान्तिमत्वम् ॥ १५ ॥ चित्तं मे विमलायतं जिनवरे लग्नं  
 गुरोर्भावनात्, सेवाभावबलं च संयमबलं प्रोक्तुष्टमप्रेऽकरोत् । रक्ष्यं



संघवलं प्रतापसहितं कार्यं सुवाक्याचिनमीर्षाशून्यवलं विघातकवलं  
 तत्त्वात्मकं धार्यताम् ॥ १६ ॥ धैर्येण क्षमया विभान्ति मुनयः क्लेशै-  
 र्यथाम्बवाशयाः, सत्यासत्यविमर्शनेन विषयासक्तं मनः शान्ति ।  
 तच्छान्तेः सकलेन्द्रियाणि विषमाच्छाम्यन्त्यसद्भावनात्, साक्षात्कारतरं  
 भवेद्धृदि पुनः रूपं परस्वात्मनः ॥ १७ ॥ दृश्यादृश्यभिदापवारणकरे  
 लोलयुपश्वेतसा, सौत्राः सच्चरितानृतादिविलसच्छास्त्राश्रये स्वीयताम् ।  
 चार्वाचारविचारसारस्पटवो येनासिलाऽभीष्टदा, तस्मिन् ज्ञानमये जगत्य-  
 नुदिनं सत्संयमैरन्विताः ॥ १८ ॥ रुद्धं सर्वमनर्थकं भगवता हिंसावलं  
 नर्कदं, साधूनां प्रवळारिनाशनकरं साध्वीगणानां तथा । तीव्रं भावक-  
 पायकादिश्रमनं तत्वानुरूपं महतीर्थं स्थापितवान् स्वनामविजितं सार्ध-  
 क्यमेवं कृतम् ॥ १९ ॥ तत्कालीनगुणानुरूपमभिधां बोधात्मिकीं  
 नृत्तनां, सधे सस्यितिभेकतां सुमधुरां कृत्वा स्वधर्मार्थिने । योग्यत्वं  
 समये विधाय हृदये जाता यतो योगिनः, सूत्रोक्ते वचने कुरुष्वम-  
 निशं विश्वासमेवं मुहुः ॥ २० ॥ येनोद्धातवलं च हिंसकवलं पूर्णा-  
 त्तना सम्मुखो, भूत्वा नष्टतरं कृतं सुमनसा रुद्धं च मिथ्यावलम् ।  
 शुद्धश्रावकश्राविकागणभयं संस्थाप्य तीर्थं शुभं, श्रीतीर्थङ्करनाम सं  
 सुललितं सार्धक्यमेवाकरोत् ॥ २१ ॥ तत्काले जनता स्वधर्मनिरता  
 सहे सदा सम्मता, भावैक्यस्य रसस्य पानमसकृद्यत्नायितं प्रेमतः ।  
 आज्ञा विश्वहिता सुबोधजननी संस्थापिताऽमानदा, धैर्यं शौर्यमथा-  
 वलम्ब्य सुखदं प्रयोतितं नो मुदे ॥ २२ ॥ धैर्यदिर्वलधारणं च  
 विषयासक्तेन्द्रियाणां गणं, रुद्धा योगतपोऽसिना च जगतो जन्यं महा-  
 नर्थदम् । दुःस्वापायकरे तमोऽपहरणे ज्ञाने मनो दीयतां, स्याच्चित्तं

सकलेन्द्रियैः सह ततः शान्तं प्रयासं विना ॥ २३ ॥ पश्चाच्छान्ति-  
गतं मनो न विषये लभं कदाचिद्भवेत्पूर्वाचार्यवैरैः सुसंयमरतैरित्येव-  
मुक्तं पुरा । साधूनां जगदन्तरायशमने मोक्षाप्तये साधनं, हित्वाऽऽशा-  
न्तिकरान् समस्तविषयांश्चेतो गिरौ स्थाप्यताम् ॥ २४ ॥ कामिन्याः  
कनकात्कषायत्रिषयाद्ये साधवो विभ्यति, जीवात्राणकरादसत्यवचना-  
द्भ्रजानकृष्णोरगात् । स्वाद्बलाशनतः परिग्रहरतात्ते भव्यभावाशया, लोके  
भ्रुव्यजनानवन्ति सततं सहोपतत्त्वामृतैः ॥ २५ ॥ तेजस्तस्य प्रकाशतां  
गतमदो भव्याशयानां हृदि, काण्डं भीषणवत्त्वमत्र गहनं संस्थापितं  
संयमे । जैनाचार्यवैरैः परस्परमथो संस्थाप्य चैक्यं बलं, संयुक्ताखिल-  
शक्त्यमोघसहिता संघादिविद्युत्प्रभा ॥ २६ ॥ विद्युच्छक्तिरिवारविन्द-  
हृदये प्रोद्भासिता येन नः, सद्ये शक्तिमदोच्चयोऽतिकृपया जाता यत्-  
शैकता । तां विस्मृत्य च मोहमानममताक्रान्ता वयं दुःखिनस्तामुद्भा-  
वयितुं मुहुर्यतिवरा यत्ने मनो धीयताम् ॥ २७ ॥ पूर्वाचार्यगणैः पर-  
स्परमदशैक्यं सुसंस्थापितं, शक्त्यानन्तप्रवाहसङ्घतडितः शक्तिः समु-  
त्पादिता । वीरं शासनमेव निम्नपतित येनोद्धृतं शान्तित, एतावन्नहि  
किन्तु शासनवरं संवर्द्धितं न्यायतः ॥ २८ ॥ योगासक्तधियो जिने-  
न्द्रमृदुलम्भोजांघ्रिसेवारता, मिथ्यात्वादिनिरस्तसर्वविषयाः कारुण्यवन्तो  
द्रयाम् । धृत्वा चेतसि त्रयो निधाय, च गुरोर्निर्द्वन्द्वपादाम्बुजं, व्याख्या-  
त्राय निबन्धरूपममलं ह्याक्रन्दनाख्यं द्रुवे ॥ २९ ॥ ॥ इति प्रस्ता-  
वना ॥ अद्याऽनघमयेक्षते च महती हानिः समाजस्य च, भाग्यान्म-  
न्दमयादुतावरयुगाद्यच्छासनाख्यं बलम् । क्षीणत्वं प्रतिपद्यतेऽनुदिवसं  
न शायते कारणं, द्वन्द्वारम्भत्रिधौ च कष्टमधिकं संवर्धते हानिकृत्  
॥ ३० ॥ ईर्ष्याकारणतो न कोऽपि कमपिऽभूते न सम्मन्यते, दृष्टेदं  
वीर. २५

मतभेदकारकमिदं चेतस्ततो धावति । विद्याऽपि हसते तथाप्यनवतो  
 धर्मो विलुप्तो भवेन्न्यायान्यायविचारदुर्वल्लतरो जातोऽधुना बुध्यताम्  
 ॥ ३१ ॥ जातोऽयं मतभेदभेदकवशादाचारभेदोऽपि च, संख्या  
 त्रिंशत्तितोऽपि जातमधिकं किं वर्णयामो वयम् । साम्प्रदायिकभेद-  
 वैशकरणादाचारभेदोऽपि च, ज्ञात्वैवं शमसाधनेऽनुदिवसं धर्मे प्रवृ-  
 त्तिर्दमे ॥ ३२ ॥ द्येर्म विषयं च कस्य न मनस्तोदं हितेच्छावतां,  
 प्राप्नोत्यन्तमनन्तशासनवतां केषां मनस्तोकताम् । यात्याधीरतया च  
 हेति सुमहच्छब्दः समुत्पद्यते, जाते सत्यपि साधुचेतसि पुनर्नोत्पद्यते  
 भावना ॥ ३३ ॥ तद्दौर्बल्यमहचरं न कुरुते प्रत्येकमत्रान्तरे, सर्वेषां  
 मनसा विचारकरणे नो भेदभावोऽधुना । वासं नो कुरुते परस्परमहो  
 सम्मेलनं नैकतां, नान्येषां, हितमीहते शुभधिषा कश्चिन्नरः प्रेमतः;  
 दृष्ट्वा चोन्नतकं पदं परजनस्वार्ता भवेयुर्जनाः ॥ ३४ ॥ केषां  
 ज्ञानोपलब्धिर्न भवति सुतरां नास्ति शिक्षोपलब्धिस्यक्ता सेवापि  
 नित्या निजमुनिचरणाम्भोजयोः साधुवर्ग्यैः । सेवाधर्मापलापोऽजनि  
 जनहृदयात्त्वप्रतुल्यो नराणां, क्रोधाविष्टैश्च लिलं प्रतिदिनमखिलं  
 सम्यमूलं विहिंसैः ॥ ३५ ॥ योऽन्येषां धर्मलोपे प्रबलबलमथो धार-  
 यित्वा प्रवृत्तः, प्राप्तुं शिक्षाविभागे प्रचुरसमबलं संविमर्तुं समर्थः ।  
 सोऽनर्थं स्फोटयित्वा रिपुदलगहनं दग्धुमग्निस्वरूपः, कार्यं तस्यापि  
 नित्यं वितरति समयेनाभिमानप्रयोगः ॥ ३६ ॥ सम्मेले विलयं  
 गते च कियती सम्भावना दुर्दशा, जातोऽहं पतितो मवे च कियती  
 चाषातसंवेदना । यक्ष्मा मे महती तृतीयजवनी क्रान्तातिदुःखादरा,  
 हा किञ्चिन्नहि मेखि तद्विगणना कार्ये प्रसिद्धे सति ॥ ३७ ॥ मान-  
 क्रोधपरिमहोदयवशाद्गर्भक्षयो जायते, तत्क्षीणे विनवेवशासनबले द्वासः

समुत्पद्यते । तद्भासे च कलङ्कितं जिनमतं निष्ठा ततो भावना, तस्माद्दोष-  
समुच्चयापनयने चित्तं समाधीयताम् ॥ ३८ ॥ अस्माकं यदि बोधमस्त्य-  
वनतेर्मानापमानस्य च, पातस्यैव च वाऽवहेलनजनेर्जाता पराकाष्ठता ।  
लब्धज्ञानबलेऽपि कुम्भध्रुवसो निद्रालम्बाः शेरते, विद्युत्तेजसममिजं किमु  
पुनर्मानूदये तिष्ठति ॥ ३९ ॥ अत्याचारसमुद्भवे च निखिलं नष्टं च  
भ्रव्यात्मनां, सर्वापारमयी क्रियापि विपुला नष्टा तथा भावना । शास्त्राणां  
पठनं प्रणष्टमधिकं जैनावतारे मुनौ, किं कर्तव्यमतः परं मुनिवराः  
सञ्चिन्तयध्वं हृदा ॥ ४० ॥ शिक्षार्थं बहुशो जनैर्विरचिताः पाठालयाः  
कालया, नो वा साधुगणैश्च विश्वविदितं संस्थापितं वा क्वचित् ।  
विद्यापीठमनल्पकं यतिवराश्छान्नाः पठेयुर्मुदा, ज्ञानाभ्यासकरा नयन्ति  
सकलं धर्मादिकं श्रेयसे ॥ ४१ ॥ धर्मे नाभिरुचिर्गुरौ न नियतिर्विद्या-  
श्रमे नो मतिः, तत्सूत्रे पठनादरो न हि रतिः सङ्घे मुनीनां तथा ।  
न्यायान्यायविचारणे न च गतियोगाश्रमे नादरः, श्रेयो नश्च कथं भवे-  
दनुदिनं चेतः परं क्षुभ्यति ॥ ४२ ॥ मोहेनाधिकतृष्णया च महति  
सञ्जायते नः क्षतिः, वर्द्धन्ते ममतादयोऽहितकरा ज्ञानं ततः क्षीयते ।  
तत्क्षीणे जिनधर्मशर्म विलयं यास्यत्यथो भावना, निष्ठा सूत्रसमुद्भवा  
सुरगुरौ लोके कथं स्यात्स्थितिः ॥ ४३ ॥ रागद्वेषविवर्धनेन च मनो  
न स्यात् स्थिरं चञ्चलं, तद्बोधानयनं विना न विषयाः शाम्यन्ति योगा-  
श्रयाः । यावत्कर्मनिरोधनं न हि भवेत्तावत्कथं भावुकं, ज्ञात्वैवं परि-  
हृत्य रागविषयं साधं बलं सेव्यताम् ॥ ४४ ॥ गर्तेऽशान्तिमये बध्ने  
निपतिताः कश्चिदल्पबन्धो न हि, सर्वाधारजिनेश्वरोपकरणे नो विस्मृति-  
योग्यता । दत्तं तेन ततोऽखिलं च विषयं संलब्धवन्तो मुदा, तत्सर्वं  
कथमन्यथापहरणं कुर्वन्ति चान्ये नराः ॥ ४५ ॥ सामाजस्य सुरक्षणं

च भवतामाधीनतामागमदेवं चाम्युदयोऽपि भिक्षुकवरा ज्ञात्वा द्वयो  
 रक्षणम् । संयुक्तेष्टवलं विना न हि भवेत् तद्रक्षणं नालसात्, संयुक्ता-  
 म्युदयप्रतापजनना चैक्यादिकं प्राप्नुयात् ॥ ४६ ॥ पूर्वं देशमवेक्ष्यतां  
 हि कियतीमत्युन्नतिं प्राप्तवान्, तद्देशोऽप्यधिवासिनो हि नितरां स्वार्था-  
 भिमाने रताः । तत्रैक्येन बलेन सज्जनजनाः कुर्वन्ति निष्कण्टकं, राज्यं  
 छत्रधराश्च भोगानिरताश्चैकाधिपत्ये स्थिताः ॥ ४७ ॥ देशोऽस्मिन्  
 दुरवस्यता प्रतिदिनं वृद्धिगता पश्यत, अत्रत्या विषयोपभोगनिरता  
 जाताः पराधीनताम् । ऐक्याभावपरा न संयमकरा नो दूरदर्शेप्सवो,  
 रागेर्ष्याशयसंयुताश्च सुतरां विज्ञानशून्याशयाः ॥ ४८ ॥ दारिद्रेण  
 सुखेतरा जनपदा साहाय्यमाप्यान्वतः, दत्तं चान्यजनेन बलमनिशं  
 सन्धार्यते दुःखतः । पश्यामोऽधमदुर्दशां च महतीं भुञ्जः पराधीनतां,  
 बद्धाः शृङ्खलया वयं परवशाः स्वातन्त्र्यहीनास्तथा ॥ ४९ ॥ पूर्वेस्वा  
 मनुजाः स्वतन्त्रनिरता राज्यं वहन्त्याहिताः, प्रत्यक्षात्मकमुल्यकेन  
 नियताः सत्यप्रमाणेन च । ऐक्यं चाधिगताः स्वधर्मविलया विस्वात-  
 सेवाः पराः, ज्ञात्वैवं समयादिकं न हि भवेत्त्याज्यं कदाचिन्नहि ॥ ५० ॥  
 जाते वस्तुनि रोदनादिकरणं मिथ्यैव होचारणं, पश्चात्तापनिवेशने न  
 हि पुनर्नेत्राश्रुपातं शुभम् । बुद्धारादिविकत्थनं किल मुधा सर्वं ज्यलीकं  
 त्यजेच्छ्रीमद्वीरजिनानुशासनवरं चोत्थाप्यतां श्रीध्वजः ॥ ५१ ॥ वीर-  
 स्वाभ्यनुशासनानुसरणं सधैक्यता सेवनं, सूत्रागाधमहोदधेश्च तरणं  
 ज्ञानक्रियाराधनम् । कापायाद्यपवारणं जिनमुनौ सेवार्पणं प्रेमतः,  
 सन्त्येतानि शुभार्थिनामनुदिनं श्रेयःकराप्यग्रतः ॥ ५२ ॥ मृत्युप्राय-  
 गतस्य चैक्यमुवलस्योत्थापनं कार्यतां, यद्येकेन समाजकेन समये साम-  
 धर्मभाजा न हि । वीरत्वेन च यत्नरत्नकरणे चेतः समाधीयतां दाढ्यं

निश्चयमाविधाय मनसः शुद्धिर्विधेया पुनः ॥ ५३ ॥ रागैश्चापि परि-  
 ग्रहैरनुदिनं मुक्त्वा भवन्त्वादरात्, सर्वानिष्टकैरर्ममत्वबलिभिः । सङ्गः  
 परित्यज्यताम् । स्वच्छाघाकरणे ममत्वकरणे दोषो महाजायते, सर्वे-  
 साद्विषयान्मनोपहरणं श्रेयस्करं स्यात्ततः ॥ ५४ ॥ शास्त्रे वस्त्रे शिष्य-  
 वर्गे शरीरे, ग्रामे देशे श्रावके चान्यकार्ये । शोकं मोहं सम्परित्यज्य  
 नैजं, स्वायत्तायां नैव ब्राह्मं कदाचित् ॥ ५५ ॥ बोधार्थं जनताहिताय  
 सकलो ग्रन्थो मुदा ह्यर्प्यतां, न स्थाप्यो निकटे कदापि मनसो भार-  
 दयं नित्यशः । त्यज्यन्तां प्रियवस्तुनोऽपि नितरां नो कार्यतां सञ्चयो,  
 नित्यैकं वसनं निधाय मुस्तदं स्वे जीवने रक्षणम् ॥ ५६ ॥ ब्राह्मं  
 गृष्मयमेव भाजनमथो नोऽनल्पमूल्यात्मकं, चैकं चाम्बरमेव धारणवरं  
 नान्यन्महर्षं क्वचित् । धार्यो नान्यपरिग्रहश्च शयनं भूमिस्वले शोभनं,  
 नो वाच्यं परुषाक्षरं क्वचिदथो जातापमानैरपि ॥ ५७ ॥ नो भोक्त-  
 व्यमनुत्तमं रसरसैर्युक्तं सदन्नं क्वचित्, गार्हस्थ्यैर्मनुजैर्न सङ्गतिरदः  
 कार्या शुभाकाङ्क्षिभिः । स्वातन्त्र्यं शुभशासनैः शमदमक्षान्त्यादिभिः  
 संयुतैरेवं जैनमुनिं समुन्नतपदारूढं भवेन्नान्यथा ॥ ५८ ॥ स्वातन्त्र्यं  
 समवाप्य चात्मनिहिता शक्तिः समाश्रीयतां, चारित्रं च निरीहता सर-  
 लता सत्यं निवासं वने । एवं संयमता क्षमत्वमनिशं सत्याग्रहत्वं तथा,  
 इत्यादेर्वलमुद्विभाव्य सकलं स्वातन्त्र्यसञ्चिन्तनम् ॥ ५९ ॥ यत्रानन्त-  
 मुखं भवत्यनुदिनं तां पद्धतिं गच्छत, श्राद्धानां भवनं त्यजन्तु मुन-  
 योऽरप्यं गुहां चेच्छत । स्थित्वा तत्र सुसंयमं प्रकुरुत नान्योऽस्ति  
 पन्थाऽपरः, सर्वसिन् विषये भवन्तु निपुणाः पारंगताः स्युः पुनः  
 ॥ ६० ॥ भगवद्वीरजिनस्य जन्मभवनं नित्यं भ्रमन्त्वाहिताः, शीताद्य-  
 न्वितदेशमार्गपथिको भूत्वा महावेदना । सोढव्या च महोष्णदेशज-

नितं चोष्णादिकं वा, तथा, सेव्यं साधुजनस्य सङ्गमखिलं हेयं गृहिस्त्री-  
 जने ॥ ६१ ॥ साध्वीस्त्रीगणसंगते न च पुनर्नो दर्शयेच्चाननं, संघस्यो-  
 दतिके मनो मुहुरथो सन्दीयतां प्रेमतः । तच्चाप्युन्नतरीखरे स्थिरयितुं  
 यत्नेन संस्थीयतां, सन्तोः भिक्षुवरः, समाजविषये, सद्गौरवं धार्यताम्  
 ॥ ६२ ॥ स्वच्छं जैनमतं तदुक्तविधिना स्याद्वादचित्तार्पणं, तत्तत्रोक्त-  
 विमर्शतत्त्वमननं शश्वद्धिताऽऽधायकम् । कर्तव्यं प्रतिवासरं सुमुनयो  
 हित्वा कपायादिकं; शास्त्रेऽन्यत्रमते ( परसमये ) सुबोधकरणे कल्पन्तु  
 सद्बुद्धिमिः ॥ ६३ ॥ शास्त्रोद्धारकृतेऽनुरक्तमनसः प्रत्यन्तदेशंप्रति,  
 मा गन्तव्यमसत्करांश्च विषयान्नो चिन्तयध्वं हृदि । सच्चित्रैर्विलसद्गृहं  
 तु धनिनां, हेयं सदा दूरतो, दध्याज्येन संमन्वितं च पयसा त्याज्यं  
 सदन्नाशनम् ॥ ६४ ॥ शीतोष्णादिकजन्यतापसहनं मौनं मिताभाषणं,  
 येन त्याज्यनतोपकारमुखदं वाक्यं च धार्यं हृदि । गन्तव्यं गहनं गिरौ न  
 मिहितं सत्कन्दरामन्दिरं, भोक्तव्यं विरसादिकं च, दृशनं धृत्वा प्रशान्ति  
 मुदा ॥ ६५ ॥ योगाभ्यासपरायणो गुरुपदाग्भोजार्चनासक्तधीः, सूत्रा-  
 भ्यासरतो द्रमादिसहितः सद्भावनासंयुतः । ध्वस्ताशैपकपायको जित-  
 महापङ्कगेश्वरुः, सद्गत्वा परिपूर्णशान्तहृदयो योगाश्रमे दक्षधीः  
 ॥ ६६ ॥ नो वै वेपविधानमात्रकरणाच्छिष्यो भवेत्कर्हिचिच्छान्तं धर्मरतं  
 गुणान्वितजनं संशिक्षयेद्दीक्षया । नानाशास्त्रविचारणोत्सुकमनास्त्यक्तैयणो  
 दुःखहृत्, एतादृग्गुणवत्तरो ह्यतिप्रियः शिष्योऽप्येयो मुहुः ॥ ६७ ॥  
 हे भिक्षुप्रवरा मयाऽद्य समये सन्दृश्यते संस्वितिः, वे केचिद् गृहिणो  
 गृहादिरहिताध्यायान्ति नष्टे धने । दुःस्वार्ताश्च बुभुक्षवो हि भवता-  
 मारात् पिपासाकुला, नो कृत्वा च परीक्षणं पुनरथो दीक्षां ददत्त्याद-  
 रात् ॥ ६८ ॥ तेभ्योऽप्योन्मत्तरेभ्य दीक्षणमहो सन्दीयते वा हटा-

दीक्षामात्रविधानकेन नियता भ्रमं प्रदत्त्वा मुदा । किञ्चिद्भाषणयुक्तिशक्तिसहिता भाषात्मिका दीयते, दशवैकालिकनन्दिसूत्रविषय उचीर्णता चेद्भवेत् ॥ ६९ ॥ नो वैराग्यरतो विचारकरणेऽदक्षो न विद्यान्वितः, क्षिप्रं श्राद्धजनाय मोहकरणेऽविधावशः सत्कथाम् । नो वा जैनमतानुसारचलनो भक्त्या विरक्त्या युतः, (नैवं शिष्यगणोऽतिदीक्षणपरो नो भावशुद्धौ रतिः) अन्येभ्यो हठवञ्चनाय नितरां शिष्योऽप्यनिष्टः स्मृतः ॥ ७० ॥ न्यायप्राकृतजन्यकाव्यविषयं सच्छाब्दिकं वा पुनर्दद्याज्ज्ञानमनन्तरं सुमुनये शिष्याय दीक्षामपि । येन स्यात्समितौ सुयोग्यगणना लब्धप्रतिष्ठो भवेन्नो चेत्कर्मविगर्हितं च भवतां निन्दालयो जायते ॥ ७१ ॥ दृष्टेमां घटनां बुधो हृदि महत्कष्टं मनस्त्रोददं, हास्यं वा विदधाति रोदनमथो वाङ्मार्थमेपो जनः । हीनं योग्यतया जनो न मनुते सत्कारमातन्यते, जन्मान्धस्य दिवाकरः प्रकथनं नामात्यन्तप्रदम् ॥ ७२ ॥ ज्ञानं नैव विभाति यस्य हृदयेऽज्ञानान्धकारापहं, नो शिक्षा विशदा सतां न मुखरो भूत्वाऽन्यथा वञ्चनम् । लोकान् वञ्चयितुं करोति विविधां धृत्वा मुखे वस्त्रिकां, जैनानां मतदूषणं प्रकुरुते न स्थापनीयो जनः ॥ ७३ ॥ साङ्गोपाङ्गतया च सूत्रविषये स्याद्वादज्ञाने तथा, छन्दःशास्त्रसमन्वितेऽन्यविषये ज्ञानं प्रदायाथवा । साधुभ्यश्च परीक्षणं सुनियतं संस्कारयित्वा पुनः, पश्चाद्दीरपदानुसारवशतो दीक्षा प्रदेयाऽन्यथा ॥ ७४ ॥ व्याख्यानप्रतिभाप्रबन्धरचना शिक्षाप्रणाली ततो, धर्माख्यानपरं च भाषणमयी सद्भावना जायते । ज्ञानं न्यायकरं समस्तजनताकल्याणकृद्भाव्यत, एवं रीतिमुपाश्रयेद्यदि मुनिधर्मप्रवाहोदयः ॥ ७५ ॥ अर्हद्दीरनिमित्तधर्मसरणीमाश्रित्य देशान्तरं, भ्रान्त्वा विश्वहिताय धर्मत-



र्णीं हिंसायभावात्मिकाम् । दत्त्वाऽनेकविवादवादनपरं निर्पूर्यं बोधाश्रये,  
 तिष्ठेतात्सिल्लेकेशनाशनपरा ज्ञाने परे तिष्ठया ॥ ७६ ॥ देशकं च  
 वर्यं सुसंयमरताः संसेवयामो मुद्रां, ताग्राचूडमयाण्डवत्प्रतिदिनं संसा-  
 रत्वाद्ब्रह्मकर्म । भूत्वा च अमणं तु निष्कलमहो कुम्भो विरामः सदा,  
 तेषां चर्णपरा मतानुकरणे जाताः प्रवृत्ता रहः ॥ ७७ ॥ चित्तं देह-  
 बलोक्यतां च गृहिणो विधासमासाद्य च, युष्माकं मनसा धिया च  
 सुतरां तिष्ठन्ति सेवाश्रये । ध्यात्वैवं च तथाविधोऽजनपदोऽथोत्थापयथ्यं  
 भुवं, नोचेन्निस्रतलं पतन्ति बहुधा कृच्छ्रात्पदादुन्नतेः ॥ ७८ ॥  
 भारत्या भवने च पुस्तकचयं संस्थाप्य साधूचमास्राद्रक्षाकरणे प्रयत्न-  
 शतकं शश्वद्विधेयं तथा । यत्नानूपणयोरेधेतरजनाः कुर्वन्ति तद्रक्षणं,  
 सूत्राणां चयनं सदा च मुनिभिः कर्तव्यमत्रालये ॥ ७९ ॥ अर्हद्दी-  
 रसुधर्मरोधकरणं यत्पुस्तकं वर्तते, नो तद्वाद्यमसत्करं च मुनिना लभे-  
 यसे सर्वदा । यत्र स्त्रीरतिवर्णनादिविषयं तद्दूरतस्त्यज्यतां, साद्वाद्य-  
 दिकशास्त्रमेव हितकृत् प्राद्यं शुभाकांक्षिभिः ॥ ८० ॥ येन ज्ञानवि-  
 वर्धनं च भवतां सञ्जायते मोदतस्तद्योग्यं च हिताय वोऽनुदिवसं  
 प्राद्यं बुधैः सत्यतः । दूतादेरनुवर्णनं च कथनं भावोऽस्ति यत्रापि  
 वा, हिंसाभावपरिग्रहप्रस्थानं हेयं सदा साधुभिः ॥ ८१ ॥ तत्रानर्थ-  
 करं सुसंयमहरं शान्त्यादिविशेषदं, न प्राद्यं मनसोदृश्यं च प्रतिभिसंगे  
 च विप्रप्रदम् । येनाध्यापनधर्मशर्मपिलसत्सद्गोभसूयोऽयत्नद् प्राद्यं  
 च पलादपि प्रयत्नतां योगार्थिनां धयसे ॥ ८२ ॥ युष्माकं परिष्ठा-  
 टिकेयमपरा यच्छास्त्रसूत्रादिकं, नोदादिमबलापतेऽधिष्ठतरं इष्ट  
 जनेऽस्त्यते । नरादभ्युत्थिपातनं च निवरां कुर्वन्ति हे भिक्षवः ।  
 पात्रे वाऽप्यथदास्यरे च मनसा सन्दश्यतेऽन्वयेनेत्तलादप्यधिष्ठं पत्र-

दिविषये मोहं समुज्जृम्भते ॥ ८३ ॥ तत्किं हीनं हि, जायते भगवतां  
दीक्षार्थिनां लोकतो, लोकानां च धनार्जनं परजनश्रेयस्करं ज्ञायताम् ।  
युष्माकं परिरक्षितं गतपदं न श्रेयसे पुस्तकं, ज्ञात्वैवं ममतां, जहत्त्व-  
नुदिनं भव्यं भवेद्येन च ॥ ८४ ॥ विद्याऽध्यापनकार्यलुप्तमधिकं तत्रापि  
पाठ्यक्रमो, हा वो हानिकरी विभाति क्रियती संख्या विरामस्य च ।  
नोऽवस्था सुव्रतग्रहस्य नियता नो वा व्रतादेस्तथा, न स्वस्यापि गुरो-  
र्विचारमननं कुर्वन्ति काऽन्यत्कथा ॥ ८५ ॥ यच्छास्त्राणि च पुस्त-  
कानि पठने चोपक्रमात्पाठने, तानीर्षाममतावशाद्बहिर्गृहे ग्रंथि विधा-  
याव्रतः । नष्टप्रायगतानि विश्वजलधौ नोद्घाटयन्त्यालसात्, शिष्येण  
प्रतिवासरं च गुरवोऽन्योन्यं प्रयुध्यन्त्यतः ॥ ८६ ॥ वैरं भावगताः  
परस्परमहो प्रेमोचकाधःपतन्, लोकान्तानि निजानि संकल्पयन्  
यान्त्या विनायासतः । ज्ञात्वेमां च दशां मदीयमनसि स्याद्दुःखसङ्गं  
पुनर्जैनाचारसुशास्त्रतत्त्वमननात्स्वाध्यायवृद्धिर्भवेत् ॥ ८७ ॥ नीतिन्या-  
यप्रमाणतत्त्वनिखिलात् सर्वं विरुद्धं मतं, कोऽपि प्रीतिपुरःसरं न कुरुते  
कर्माखिलं सज्जनः । तेनाधःपतनं मतादिविहितं धर्माच्च यायान्मुहु-  
स्तेनाऽहं च करोमि चिन्तनमहो धर्मस्य वृद्धिः कथम् ॥ ८८ ॥  
शवालयगतौ यद्वत्सारमेयौ परस्परम् । युध्यन्तः साधवस्तद्वत्,  
युध्यन्ति प्रीतिमन्तरा ॥ ८९ ॥ व्यतोऽस्माकं च साधुत्वं, गतं नास्त्यत्र  
भावना । दुर्दशा कीदृशी जाता, स्वधर्मो निधनं गतः ॥ ८९ ॥  
येनास्माकं वर्धते ज्ञानशक्तिर्यस्याधारात्नीतितत्त्वावबोधः । स्वाध्यायस्वा-  
मूल्यरत्नं वदन्ति, शान्तिर्दान्तिर्ज्ञानरूपे परेशे ॥ ९० ॥ तच्चेदानीं  
नाशभावं प्रयाति, नो वा शुद्धिः संयमादेश्च प्राप्तिः । तद्वारा वा नैव  
बोधो न भावस्तस्माच्छास्त्रं साधवोऽप्यात्मपार्श्वे ॥ ९१ ॥ तद्वदन्थोऽहो-

ककल्याणहेतोर्लोके धर्मप्राप्तये वै वहन्तु । येन स्यान्नो रक्षणं संय-  
मादेर्न स्याद्धानिः कार्यसिद्धौ मुनीशः ॥ ९२ ॥ तस्मात्सर्वान् भारती-  
गेहमध्ये, सन्तो ग्रन्थान् स्थापयन्तु प्रयत्नात् । येन स्याद्वै सर्वलोको-  
पकारो, ज्ञत्वैवं वै नो विलम्बं हि कार्यम् ॥ ९३ ॥ शुद्धस्फाटिक-  
वत्सरोजहृदयो विद्याकलावारिधिर्भाव्यस्तापत्रयापहो गुणनिधिः शिष्ये-  
ष्टकामप्रदः । यद्येतादृशभावधारणकरः, स्याच्चेद्गुरुः क्षिप्रतः, शिष्या-  
रिष्टनिनाशनं च भवतान्नास्त्यत्र सन्देहकः ॥ ९४ ॥ एवं भिक्षुवराश्च  
शिष्यरचने क्लेशप्रदा वः प्रथा, यः कश्चिद्भवति प्रदीक्षणपरः स्यात्तस्य  
दीक्षेच्छया । कायात्पारदबद्धहिंस्रप्रसरते वार्ता स्फुटान्नित्यशः, श्रुत्वा-  
ऽनेकवारिष्टसाधुचतुराः स्वास्यात्क्षरन्त्यम्बु च ॥ ९५ ॥ यत्रेनायमत-  
द्विदो यदि भवेन्मे स्याद्वरः शिष्यकस्तस्यापि प्रभवेत्सुजीवनवरं लोके  
च धन्यो जनः । अन्ते सिद्धिकृतेऽन्तरस्वघटको दुर्वासनां वर्द्धयेत्,  
नासाथं समये सुसंयमयमाश्रित्यं यतन्ते मुहुः ॥ ९६ ॥ संग्रहः पुस्त-  
कानां यो, दोषो वर्वर्ति तद्विदाम् । शिष्याणां करणे तद्वन्महान्  
दोषो हि जायते ॥ ९७ ॥ मातापित्रोर्विनाज्ञां च, व्ययं दीक्षोत्सवे  
चहु । अपव्ययमपि कर्तुं, प्रेरयन्ति मुहुर्मुहुः ॥ ९८ ॥ भिक्षवः शिष्य-  
तृष्णातो, नश्यन्ति धर्मकर्मतः । लगौरवं व्रतं चापि, नाशयन्ति मुषा  
स्वतः ॥ ९९ ॥ रोगस्यासेयमस्त्रीह, शान्तिः श्रीत्तामिनो वरा ।  
महावीरस्य संघस्य, सेवा सर्वार्थसाधिनी ॥ १०० ॥ सम्प्रदायानुरो-  
धेन, संयमादेश्च सेवनम् । गच्छवाद्दं गुरोर्वाद्दं, शिष्यवाद्दं विवर्ज-  
येत् ॥ १०१ ॥ भारतस्यास्त्रिलसैकमुस्याचार्य्यो भवेद्भुवम् । भूत्वा  
तस्यैव शिष्यास्तु, तदाज्ञां पालयन्तु च ॥ १०२ ॥ यः कश्चिद्दीक्षणं

प्राप्तुं, समीहेत मुदान्वितः । स्वदेशे संयमं दीक्षां, निर्वेदिन च धार-  
 येत् ॥ १०३ ॥ तदा व्यवस्था सन्मार्गं, गत्वोन्नतपदं ततः । गच्छेच्च  
 शिवसम्प्राप्तिः, सर्वेषां नो भविष्यति ॥ १०४ ॥ सङ्घे चैकः स्वाप-  
 नीयो गणेशः, सर्वानर्थान् वेदितुं यः समर्थः । येन स्थानः सम्प्रदा-  
 यानुरोधाद्भर्मे वृद्धिश्चिन्त्यतां भिक्षुवर्यैः ॥ १०५ ॥ कश्चित्समाजस्य  
 महत्पदास्पदं, विभर्तुमिच्छेत् किल तस्य वागुराम् । कर्तुं करे स्वस्य  
 सदेपणास्ति वा, प्रगृह्यतां चेद्वरिवर्ति शक्तिः ॥ १०६ ॥ कश्चित्स्वयं  
 सर्वसमाजकार्यकर्ता तथा धारयिता बुभूषुः । तथा व्यवस्थापि समाज-  
 शक्तौ, स्वशक्तिमास्यापयितुं प्रवृत्तः ॥ १०७ ॥ कस्यापि चेच्छास्ति  
 समाजनेता, सदा भवेयं च मुशासकोऽपि । एतद्वितेच्छा च प्रवर्ध-  
 तेऽनिशं, सर्वस्वमेवास्तु मयि प्रपन्ने, ॥ १०८ ॥ यदीदृशीच्छा परि-  
 वर्तते तदा, समाजलोपोऽपि भवेद्धि शीघ्रम् । इत्थं समाजस्य च  
 दुर्दशा भवेद्धिचिन्त्यतां जैनमुनिप्रवीणैः ॥ १०९ ॥ कृच्छ्रादाप्तपदो-  
 न्नताद्धि पतनं निम्नं समाजस्य च, एवं गौरवनाशतां परिव्रजेत् सर्वे  
 भवेयुस्त्वरम् । दुःखार्ता जिनदेवभक्तिनिरता धर्मोऽपि नाशं व्रजेत्,  
 ज्ञात्वैवं जिनशासनोऽनुदिवसं तद्रक्षणे स्वीयताम् ॥ ११० ॥ रोगो-  
 ऽनेन समाजभोगविषये वृद्धिगतो नित्यशः, साधूनामहमात्मिकाचिकृ-  
 तितो नष्टाऽधुना सम्यता । सर्वेषां हि महत्त्वत्वविषये जातेपणा  
 सर्वतो, मानं चातपधावने निपतितं मिथ्यापलापो मिथः ॥ १११ ॥  
 भिक्षूणामभिमानभावमधिकं कापायसंसेविनामेतस्यापणमार्गभागविषये  
 जातं महर्षं ध्रुवम् । योन्यायोम्यविचारणापि विलयं याता समाजस्य  
 किं, तेनैवास्ति समाजकोऽपि नितरां पिष्टस्ततो घुण्णवत् ॥ ११२ ॥

भिरुचिं विदधुः ।' लोकान्तरप्राप्तिनिमित्तभूतसज्ज्ञानकर्मादिकं  
 भवन्तु ॥ ७ ॥ अत्रान्तरे मानवलं त्यजेयुः, सत्साधुसेवा नितरां  
 विशेषा । सत्वात्मिकां वृत्तिमनूपसृत्य, मनश्च स्वाध्यायवले नियुज्य  
 ॥८॥ स्वजीवनेनाद्यसमाजसेवा, रश्मिं गृहित्वा परिरक्षणीया । निश्चित्य  
 चित्तेन समाजवृन्दे, साहाय्यदानं करणीयमाशु ॥ ९ ॥ अथाभ्या-  
 ख्यानप्रहरणम् ॥ सन्दृश्यते भिक्षुवरा ! मयाद्य, किञ्चिद्विकारान्वित-  
 साधुभावाः । तेषां च जाते परिवर्तनादिकं, कुत्सान्वितं तेन विचार-  
 णीयम् ॥ १० ॥ दुष्टस्वभावान् कथयन्ति चान्यान्, कुर्वन्ति स्वस्यैव  
 प्रशंसनं च । विद्वत्सु दोषं परिभावयन्ति, गुणं पिधायथ गुणं स्वकी-  
 यम् ॥ ११ ॥ प्रकाशयन्ते च स्वकीयदोषं, पिधाय ते संयमिनः  
 वरिष्ठाः । निन्दन्ति ते दुष्कृतिनोऽभिमानात्समाजभाजः प्रवदन्त्य-  
 सिद्धान् ॥ १२ ॥ यदापहर्तुं वरिवर्तिं शक्तिस्तदेतरस्थान् गुणदिव्य-  
 संधान् । आच्छिद्य सिद्धप्रवरा भवेम, इति प्रजल्पन्ति विचारशून्याः  
 ॥ १३ ॥ मदीयेऽत्र काये यदि शक्तिरग्रा, जगन्मात्रजातान् गुणा-  
 नाविच्छिद्य । स्वकीये तनौ स्थापयित्वा वरिष्ठो, भवेयं तदा सर्वतो  
 माननीयः ॥ १४ ॥ परन्त्वस्ति भव्यं न चेदृग् बलं वा, न विज्ञान-  
 शक्तिर्विधातुं कुतः स्यात् । परेषां च निन्दाभिधानं मुखेन, परं मन्यते  
 शाकपत्रादिकल्पम् ॥ १५ ॥ अयेऽन्यत्र निन्दे ! न लब्धं पदं ते,  
 विहाय स्वलं साधुसधे प्रवेशः । कृतस्ते न जाने सदा दूरतस्त्वां,  
 त्यजेयुर्जना मानवन्तो मनस्तः ॥ १६ ॥ अये पापिनि त्वत्कृते धर्म-  
 नाशे, भवेन्निम्नपातश्च नो धारयत्वम् । अतस्त्वैर्मुखं नीलवर्णं च नाशः,  
 समाजाद्बहिस्त्वं गता चेद्वरेष्यम् ॥ १७ ॥ अयेऽनिष्टभावे ! पिशाच-  
 स्वभावे ! मुनीनां समाजात्त्वमन्यत्र गच्छ । न भव्यं भवेत्तत्र संने-

लने च, सुजाते सुरम्ये कुतस्त्रेऽत्र वासः ॥ १८ ॥ सदा सख्यतामघ  
 ते न प्रवेशो, वयं वञ्चिता ज्ञानिनोऽज्ञातसंगाः । मुसं पश्यतेऽप्रे च  
 संमेलनं नो, भविष्यत्यनायासतश्चाजमेरे ॥ १९ ॥ न याचेऽतिरिक्तं  
 समाजान्मुनीनां, मनो मे प्रसक्तं समाजप्रसङ्गे । अतो धारणीयं नन-  
 स्वस्य सिद्धौ, यतो नो भवेद्दग्धमलमो मुनीनाः ॥ २० ॥ वयं चाप  
 (सं) भोगान्मुदोद्घाटयिष्यामहे द्वादशास्थान् सदा भेगभावात् । अरप्ये  
 निवासाय यत्नं विधाय, तनावेकयत्नं मुहुर्धारणीयम् ॥ २१ ॥ गृहा  
 निर्मितं पात्रमेकं सदैव, ध्रुवं धारणीयं गृहस्थैः समं नो । कदाचिद्वि-  
 धेयाऽशुभा सप्रतिध, दलं प्रेषणं वर्जनीयं तथैव ॥ २२ ॥ सुखावा-  
 सिहेतोश्च कर्तव्यमेव, मिताहारमेकत्र काले यरीयः । मिलित्वा च  
 सांवत्सरं पर्वचैकं, वयं चास्तिलाः साधवो यत्नतश्च ॥ २३ ॥ सदाऽऽ-  
 चार्यवय्योऽस्तिलानां मुनीनां, बुधैको भवेच्छिष्यशिक्षाप्रदायी । त्यजे-  
 युर्विचारे च यं भेदवादं, करिष्यामहे ज्ञानविज्ञानवादम् ॥ २४ ॥  
 जहो ज्ञानरूपेऽयं गन्नाप्रवाहे, सदुत्साहशक्तिं च कुर्मोऽतिहरीत् ।  
 समाजेऽत्र सर्वे मिलित्वा त्वदीयं, बहिष्कारमेव करिष्यामहे च ॥ २५ ॥  
 यदा ते भवेन्नूलभसोऽयं निन्दे ! कथं त्वं समाजे च तिष्ठेऽर्देनः ।  
 यदा ते च्युतिस्त्वाधिकाराद्भवेत्, तदा ते क्व यानं भवेद्गृहि शिमम्  
 ॥ २६ ॥ सुसम्मेलनस्य प्रसंगे बलेन, बहिष्कारभावो न जातः  
 कदाचित् । सर ! त्वं मुक्तं नायस्योके त्वदीयं, सकीयं तथा नैव सन्द-  
 र्शयामि ॥ २७ ॥ तथा नैव केनापि साकं वदामि, तथा मौननापाय  
 तिष्ठामि शध्व् । गतं वैमनस्यं शरीराय मेऽयं, त्वयि निन्दनाये गते  
 वैमनसपाद् ॥ २८ ॥ यदा द्रोहबुद्धिस्तदा ते निवासोऽप्यथा त्वं प्रया-  
 दीति संघान्मुनीनाम् । जगद्भ्रान्तिं नो वितिष्ठत निन्दे ! निव-

तस्व तूर्णं वने पर्वते वा ॥ २९ ॥ इतः पेपणं ते करिष्यन्ति  
 लोका, अतोऽन्यत्र गन्तव्यमेवं विचार्य । न वा भद्रमत्राधि-  
 वासे बलिष्ठे, जगते करिष्यत्यहोऽनादरं हि ॥ ३० ॥ भवद्भिः-  
 मुखात्स्वाच्च त्याज्या वरिष्ठैस्तपस्याबलं संयमादेर्बलं च । तथा  
 संघसेवा बलं चात्मनोऽपि, भवेन्नष्टमेवं हि सर्वस्वनाशः ॥ ३१ ॥  
 मया निश्चयं दीयतेऽद्य भवद्भिः, परित्यज्य निन्दां सकर्तव्यतां हि ।  
 तथेर्ष्याभयं क्रोधमात्सर्यमेवं, समाहृत्य धर्मं चरेयुर्विरक्तिम् ॥ ३२ ॥  
 [ अथाऽपलापविषये ] यदा कश्चिदायाति पार्श्वे स्वकीये, तमुत्थाप्य  
 हस्तेन चोर्द्ध्वं (हर्म्यं) नयन्ति । तथैकान्तगोहे च तेनैव वार्ताऽपलापं  
 प्रकुर्वन्ति मोदैः प्रमोदैः ॥ ३३ ॥ विनाज्ञानसम्पन्नमेकं स्वशिष्यं,  
 विधायाथवा द्वारपालं स्वकीयम् । विनोदेन कुर्वन्ति कार्यं विगर्हमहो  
 वर्तते कीदृशी साधुवृत्तिः ॥ ३४ ॥ मुखे चानने चक्षुषा चक्षुरेवं, तथा  
 कर्णके कर्णवृत्तिं निधाय । करोत्याहितः किञ्चिदात्मानुकूलमनिष्टप्रदां  
 सर्वनाशाय वार्ताम् ॥ ३५ ॥ निन्दा यस्य मुखेऽस्ति तापसजनाः  
 सत्कर्मतो धर्मतो, अश्यत्यत्र च तस्य नश्यति तपो ज्ञानं पुनः  
 संयमः । तस्मात्तां परिहृत्य संयमपरैश्चित्तं समाजे मुहुः । संस्थाप्योत्त-  
 मकर्मसेवनपरैर्ज्ञेने मते दीयताम् ॥ ३६ ॥ यदैकस्मिन् स्थाने निव-  
 सति मुनिस्तत्र न परान् । समाजस्थान् साधून् न हि हितकरानाहित-  
 धियः ॥ निवासार्हान् रागान्निजनिकटतो दूरयति च । तथा वार्तालापं  
 तैः सह हृदा नैव कुरुते ॥ ३७ ॥ समानीतं तैश्च मधुरजलमन्नं न  
 मनुते । न वाऽऽतिथ्यं तेषां न च किमपि सत्कारकरणम् ॥ परं चैवं  
 ज्ञात्वा परमतरताञ्छून्यहृदयः । अहं वै पश्यामि व्रतमपि च तेषां  
 मतिहरन् ॥ ३८ ॥ यथा श्वाऽन्यश्चानं परमनिजकोपेन निकटं ।

मनायं भक्ष्यांशं किमपि न हि चाक्षुं प्रभवतु ॥ विचार्येत्यं शब्दैवि-  
 कलमनसा दूरयति च । मुनीनां संघेऽयं भवति कलहो द्वेषमनसा  
 ॥ ३९ ॥ प्रसन्नोऽयं दृष्ट्वा नहि भवति कश्चिन्मुनिवरस्तथाऽन्योन्यं  
 द्वेषं विप्रममतिनोत्पाद्य कुरुते ॥ पश्यन्वेयं नीतिर्न हि न हि न जाने  
 कथमगात् । इतः श्रेष्ठश्चागः कपिरपि कपोताश्च सुधियः ॥ ४० ॥  
 मिलित्वेनेऽन्योन्यं समयमनसा रक्षणमहो । सदा कुर्वन्त्यन्ये विषय-  
 सुखभोगेऽपि नितराम् ॥ सहाया जायन्ते इति मनसि निश्चित्य  
 भवतो, (परं द्वेषा युक्ताः सुखदगुणवन्तो मुनिजनाः) विलुम्पन्त्यां  
 शक्या विषयगुणभोगैकनिपुणाः ॥ ४१ ॥ [ अथ शान्तिकराष्टकम् ]  
 न वा साधुवृत्तिर्न वा कोपशान्तिर्न वा संयमादौ प्रवृत्तिर्मुनीनाम् । न  
 हि ज्ञानसिद्धिर्न विज्ञानवृद्धिः, कथं जैनसंघे निश्चितिर्जनानाम् ॥ ४२ ॥  
 गता संघभक्तिर्गतश्चिरोधो, गतं चात्मतत्त्वं गतं शुद्ध्यात्मम् । इवा-  
 र्नीतनानां मुनीनां प्रवृत्तिः, सुखे शायके चाशने शिष्यवर्गे ॥ ४३ ॥  
 गताऽऽध्यात्मविद्या गताऽऽनन्दवृत्तिर्गता भावभक्तिर्गता संघर्षिता ।  
 गता भिक्षुसेवा गता धर्मवृत्तिर्गता शान्तचर्या निवृत्तिः शुभा न ॥ ४४ ॥  
 गतं ज्ञानमयं परं धैर्यरूपं, यतो नस्ततोऽतो भवेद्दर्शनानिः । कथं  
 स्वाद्भवाम्भोधिपारं मुनीनां, विना सत्कियां चिन्तयध्वं मनसः ॥ ४५ ॥  
 सदा शिष्यलोभाशये नः प्रवृत्तिर्न वा चिन्तनं क्रोधिदानां च सत्रे ।  
 अनेकान्तसिद्धान्तस्वाध्यायदीना, मनोरोधने नो गतिर्वा कथं स्यात्  
 ॥ ४६ ॥ गता जैनसंघाद्या साधुभावाद्गतो न्यायसिद्धान्तजन्यो विचारः ।  
 सुसम्बन्धमानन्दकन्दालयं नो, पृतं नैव चित्तं कदाचिन्मुनीन्द्रैः  
 ॥ ४७ ॥ असाध्यायतोऽज्ञानवृद्धिप्रसङ्गात्तं जेदत्तं सुसम्बन्ध-  
 कत्वम् । सदा चिन्त्यते केन भयं भवेत्तत्तथा सेर्मानं, सदा संघ-



साम्यम् ॥ ४८ ॥ न वाऽरप्यवासो न वा त्यागशक्तिर्न वा ज्ञानं  
 धर्मसत्वस्य शश्वत् । वरीवर्तिं चिन्तोदरार्थं सदैव, अतोऽहं तपाम्यात्त-  
 भावं यतीशाः ! ॥ ४९ ॥ भजन्त्वाहिता देवदेवं जिनेशं, यतो जायते  
 दुःखमूलस्य भंगः । तथा संवृतौ प्रेमभावो निवृत्तिर्भवांभोधितो  
 ज्ञायतां साधुवृन्दैः ॥ ५० ॥ गता मोक्षप्राप्तिर्गता लब्धिशक्तिर्गता रे  
 गता रे जिनेशस्य भक्तिः । मुनीनामिदानींतनानां प्रवृत्तिः, सुखे  
 शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५१ ॥ गतं वस्तुपो योगचर्यापि  
 नास्ति, गतो ध्यानस्वाध्याययोगोऽपि दूरम् । गतः सूत्रपाठो गतं न्याय-  
 सूत्रं, न स्याद्वादवादे रुचिर्वा कदाचित् ॥ ५२ ॥ गतोऽध्यात्मवादोऽ-  
 ल्पितो जैनसंघो, गतं रे ! गतं रे ! गतं प्राकृतत्वम् । इदानींतनानां मुनीनां  
 प्रवृत्तिः, सुखे शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५३ ॥ [ अध्यापाय-  
 निवृत्तेरुपायः ] रे चित्त ! चिन्तय जिनाम्बुजपादरेणुं, पारं गमिष्यसि  
 सुखेन यतो भवाब्धेः । शिष्यादयोऽन्यजनता न हि ते सहायाः,  
 सर्वं विलोक्य मुनेः मृगतृष्णिकाभम् ॥ ५४ ॥ संसारसागर-  
 मगाधमगम्यपारं, श्रीमज्जिनेन्द्रचरणाम्बुजश्रद्धया वा । उल्लङ्घयिष्यति  
 सुखेन च ते प्रयासस्तस्मात्कुरुष्व मुनिभक्तिमधौघहर्त्रिम् ॥ ५५ ॥  
 सुखे दुःखे किञ्चिन्न भवति समाजान्तरमुनेः, सहायो रागान्धो निज-  
 हठधरो द्वेषनिरतः । तथा विद्याभ्यासं प्रतिपदवमन् द्वेषमनिशं,  
 घृणां तद्बल्लोके निजमतिविरोधेन तनुते ॥ ५६ ॥ जना उच्चैर्हासं  
 विदधति घृणापात्रमिति वो, न वा संघप्रीतिर्न च सहनिवासं  
 प्रकुरुते । अतो मोहस्पन्दैर्निखिलमतके नैव भवतां, मुजातं  
 बन्धत्वं दृढतरसुरज्वा मुनिवराः ॥ ५७ ॥ यदा वृद्धिर्मोहावृत्तिरपि  
 कथं शान्तिरधुना, न वा जाताशा नः पुनरपि सहावासकरणे । निवृत्ते-

मोहस्य कथमखिललोकानुसरणे, विचार्यैवं सन्तः कुरुत मुनयो मोह-  
 शमनम् ॥ ५८ ॥ कुरीतीनां नाशो भवति हि च रुदेरपि तथा;  
 सहावासः पश्चादनुभवजविज्ञानमभवत् । तदा प्रेरणाऽऽमोदः सह  
 दमश्मादेः सुकरणं, जनाधारे जने निवसति सदा चित्तमंचलम् ॥ ५९ ॥  
 स साम्योत्कर्षे वा भवति सहावासस्य जनकं, परं च ज्ञानस्योत्कटकमपि  
 तस्वास्ति फलदम् । यदाऽभ्यासासक्तं मुनिमपि ब्रह्मन्याहितजनाः,  
 समं केन स्पृष्ट्वा निगमसकलाऽध्यात्मविदुषा ॥ ६० ॥ सुविद्यावृ-  
 द्धार्थं यदि मनसि चिन्ताऽप्युदयते । तदा स्पृष्ट्वाद्यदिनिखिलमुनिसंघे  
 प्रिलसति । तदा विद्यालाभो भवति मुनिपृष्ठैरधिगता । भये विख्यातिः  
 स्यात्त्रिजनिजमताचारवशतः ॥ ६१ ॥ विना स्पृष्ट्वा नापि प्रसारति  
 समुत्साहविषयः । सहावासे चैवं न लगति मनश्चंचलतया । विनान्तः  
 स्वाध्याये न वसति धियो वृत्तिरचला । ततो विद्यालाभो भवति विदुषां  
 मोदसहितः ॥ ६२ ॥ सहाध्यायिनं वा सहावासिनं वा, विनापीतु-  
 विद्याविनोदप्रचारः । सहाचारिणं चान्तस नो विचारी, ततो नो भवे-  
 च्छास्त्रतत्त्वावबोधः ॥ ६३ ॥ तथा नावलोक्यो भवेच्छास्त्रचर्या, विना  
 तत्कृते नैव पुष्टिं प्रयाति । न काठिन्यकं सायिभावं तथैव, चिरं  
 चित्तमित्तौ मुहुश्चिन्तयध्वम् ॥ ६४ ॥ तथाऽध्ययनतोऽध्यापनाद्वा विचा-  
 रास्तमुत्पद्यतेऽपूर्वशक्तिप्रवाहः । सदैकंजवाप्तौ मिलित्वाऽसिलानां, तदा  
 यत्र येषां प्रवेशोऽधिकोऽस्ति ॥ ६५ ॥ प्रवीणोऽथवा वै विशेषाधि-  
 कारी, सहाचारिणे वा सहाध्यायिने च । सहावासिने वा प्रवीणं  
 करोति, भवेत्तस्य सौख्यं नितान्तं मुनीनाम् ॥ ६६ ॥ स्वकीयेन तुल्यं  
 च योम्यं विधाय, समाजे समुत्तेजनां वै करोति । अतो भेदभावं  
 परित्यज्य शक्तिं, स्वकीयां तथा योम्यतां सन्वनोतु ॥ ६७ ॥

चरित्रं सुविद्यां परस्मै ददातु, सुवक्तृत्वबोधोऽस्ति क्रेपां विशेषः ।  
 तदा तत्कला चापि देया परस्माययं गो विचारे हृदा धारणीयः ॥ ६८ ॥  
 स्वविद्या मया दीयते चेत्परस्मै, तदा तस्य लोके प्रतिष्ठाऽधिका स्यात् ।  
 तथा योग्यता वृद्धिरेवं प्रयाति, विचारं च नैवं कदाचित्करोतु ॥  
 ( पठित्वा च विद्या प्रदानेऽधिका स्यात् ) ॥ ६९ ॥ तदा ज्ञानवृद्धिश्चरि-  
 त्रप्रवृत्तिर्गिरिष्ठो जनेऽथो भवेत्स्वं विचार्य्य । परस्मै कुरुष्वार्पणं स्वं  
 गुणानां, समाजे प्रवृत्तिर्विधेया सुखेन ॥ ( तथाऽनन्यभावेन प्रीतिं  
 विधाय ) ॥ ७० ॥ यथा यश्च यस्मै विधत्त च भावं, तथैवेतरोऽपि  
 करोत्यात्मभावम् । प्रिया प्रेमभावो विचार्य्यैव कार्यो, यतोऽन्योन्यसंमे-  
 लनं स्यात्सुसौम्यम् ॥ ७१ ॥ न याचे गुरोः पादसेवातिरिक्तं, विरक्तिं  
 तु वाऽऽध्यात्मविद्याप्रशक्तिम् । परं प्रेमतः साधुभावं प्रयाचे, समाजो-  
 न्नतिर्येन मे तद्विधेहि ॥ ७२ ॥ त्रिधा तापतप्तोऽहमस्मिन् भवाब्धौ,  
 कथं मे निवृत्तिर्भवेद्दुःखराशेः । अतो मेऽभिलाषामिमां पूरयस्व, गुरोः  
 स्वां दयां मे विधायाथ भावात् ॥ ७३ ॥ जीवत्राणकर्त्री निर्धाय विश-  
 दामास्येऽनिशं पट्टिकां, काये चोत्पटं विलुञ्चितशिशुः कक्षे सितां  
 मार्जनीम् । विद्याशून्यमुस्सारविन्दहृदयः श्राद्धादिकैर्गीयते, लोकान्  
 शिक्षयितुं सुवेशरचना यस्यास्ति तस्मै नमः ॥ ७४ ॥ उपर्युक्तमर्थं हृदा

स्यात् ॥ ७७ ॥ भवेत्काचिदित्यं जने योग्यता च, तथा शक्तिमा-  
 बोऽस्ति यस्मिन् विशेषः । प्रदेयस्तदान्ये नरे भक्तितथ, सुविज्ञान-  
 वृद्धिस्तथा शक्तिवृद्धिः ॥ ७८ ॥ स्वशक्तस्तथा योग्यतायां च विशेषो-  
 पयोगस्य वृद्धौ च संयुक्तवीर्ये । ध्रुवं योजनीयं ध्रुवं योजनीयं, स्वचि-  
 त्तस्य शंकां निराहृत्य लोके ॥ ७९ ॥ [ अथ परोपकृतिः ] शिक्षा-  
 प्रेमधराः पवित्रहृदया भिक्षार्थिनो ध्यान्तो, ज्ञायन्तां प्रतिजीवकार्य-  
 समये लक्ष्यात्मविन्दुं मुहुः । मत्त्वानन्तपरोपकारकरणे शूरा भवन्त्या-  
 हिता, लक्ष्यं नैव कदापि विस्मृतिपथं कर्तव्यमेवं विदुः ॥ ८० ॥  
 धर्मे नोजतिकार्यगौरववशाजान्यत्ररोधे करः, येन स्यादुपकारकेऽनु-  
 दिवसं लोकोपकारी भवेत् । न स्थानं च कचित्प्रदेयमधुना भेदस्य  
 भावस्य च, सामाजे वितरन्तु कार्यपरतां ध्यात्वा हृदा भिक्षुकाः ॥ ८१ ॥  
 साहाय्यं च भवेज्जानान्तरमुदेऽन्योन्यं विचारेण च, शक्तौ स्याद्दृढता-  
 बलं विवरणादेकं विचारस्य वा । तन्माहात्म्यबलं भविष्यति पुनः  
 स्यादुन्नतत्वेन हि, संयुक्तस्य बलस्य वर्द्धनमथो स्यान्नोऽन्यनायासतः  
 ॥ ८२ ॥ एकस्यान्यसहायकोऽनुदिवसं भूत्वा सहायं कुरु, सान्ते  
 वासकराय देयमस्त्रिलं नो वा विचारो मुने । विदेवं च समाजके  
 प्रसरति लोकोपकारस्ततो, ज्ञात्वा सर्वमिदं विचारनिरताः श्रेयस्करा  
 बुध्यताम् ॥ ८३ ॥ [ अथाऽऽधुनिका सम्यक्त्वादानरूढिः ]  
 अद्यानद्यभवे च भिक्षुकवरेष्वाधीनजनेषु च, सम्यक्त्वं प्रविधाय योग-  
 मिततः शिष्यं स्वकीयं तथा । भक्तं पक्षधरं विनेतुमसतां त्वदिर्विचिन्ना  
 गता । मांत्वा सार्द्धमियं प्रवृद्धिरतुलां वात्या स्वरूपेण च ॥ ८४ ॥  
 भूकम्पोऽयमितीव शेषविषयाज्ज्ञेयो मुनीन्द्रैरतो । वृक्षाणामिव संदतेश्च  
 नितरां स्वापेन नाशो मुहुः ॥ सम्यक्त्वस्य तथान्धसंधविटसच्-

परिष्ठाः ॥ १०२ ॥ कृते चाभिमाने तपस्याविदाशः, समाजोन्नतौ  
जायते विग्रसंपः । अतश्चाभिमानं न वै धारणीयं, न वै धारणीयं न  
वै धारणीयम् ॥ १०३ ॥ महापक्षपाताभिमानाभिभूताश्चरन्त्यात्मनः  
कुमयां लोकगर्हाम् । समुत्पद्यते योगिनी मोहमाया, ततो वच्यते  
वल्हते भोगजाले ॥ १०४ ॥ मुनिजनहृदि भानुर्गनरूपी यदति ।  
सकलदुरितनाशो जायते चापयासात् ॥ विकसति यदि पत्रं ज्ञानः  
चारित्र्यरूपं । भवति मनसि शान्तियोगसिद्धिस्रतः स्यात् ॥ १०५ ॥  
गृहस्था न चान्निन्महामोहजाले, निवद्धं त्वदीये समर्था भवन्ति ।  
महानोरसपे मिलित्वा च सर्वे, भवेयुश्च श्रद्धालवो जैनधाद्धाः ॥ १०६ ॥  
सदा संपसम्बन्धमात्रेण सर्वं, स्वकीयं विदित्वा कुलत्वात्तरूपम् ।  
[ अथ शरीरसाहाय्यदानम् ] यदा रोगयुक्तो भवेत्कोऽपि साधुः,  
क्वचित्कश्चिदेवं च देशान्तरसः ॥ १०७ ॥ न चेद्यानुकूल्यं जलं वायु-  
रेवं, न तेषां सुखाधायको देश एव । चिकित्सालयं नास्ति तद्देशमध्ये,  
न वा साधनं किञ्चिदन्यं विदित्वा । तदा तत्र देशे विहारे भवतिर्मुदा  
साधुवृत्त्यैश्च ही दोलिकायाम् ॥ १०८ ॥ समारोप्य वा स्कन्धमारोप-  
यित्वा, समानीयतामन्यदेशेऽनुकूले । यदा सम्प्रदायस्य भेदो हि  
छिन्नस्तत्रैवं भवेन्नान्यथा वै शुभ स्यात् ॥ १०९ ॥ केचित्सार्थपर-  
यणाश्च मुनयः केचित्स्वकुक्षिभराः, सन्त्यन्ये श्रुतसम्यगेऽपि निरताः  
केचित्स्वधर्मच्युताः ॥ विचारलभुवश्चित्ताल्पमतयो मूढाश्च केचिद्धुवं,  
केचित्साधनसारशून्यहृदयास्ते वै कथं पारगाः ॥ ११० ॥ मुनिः सेव-  
त्प्राप्त्यै निजे धर्मपट्टेर्मुहुश्चान्तरात्मातिपूतो विभाव्य । सुशय्यंभवैः  
स्मरिभिर्वर्णितं च, महत्त्वं भवे भव्यभावेन सिद्धः ॥ १११ ॥ इतस्तस्य  
सम्बन्धमावो महान् हि, यतस्तेन सेवास्वधर्मप्रचारः । मनाङ्ग नाम

पुनरथो तेभ्यश्च देये क्वचित् ॥ ९२ ॥ नेदं सर्वमपस्वृतिं कुंठ न  
 ज्ञेत्स्वर्गोऽपि न स्वाद्गतिर्धर्मो मोक्षपथं च नाकथयवा स्वसैव पाणौ  
 स्थितम् । जानन्त्येवमहं शुभोऽसि निखिलादन्येऽवराः सन्ति च, श्रद्धेयं  
 परिज्ञायतामविरतं स्वादन्यकारावृताः ॥ ९३ ॥ अस्त्यन्योऽपि महानु-  
 भावविषयः सन्भार्य्यतां चित्ततः, सम्यग्दृष्टप्रदत्तमन्यमुनिभिस्त्यक्त्वा च  
 तत्त्वं पुनः । सम्यक्त्वं च प्रदाय नैव कुरुते सर्वोत्पथं मानतः, केचि-  
 त्स्वस्य समीपके च रहसि संलेखयित्वा मुदा ॥ ९४ ॥ संस्थाप्योत्तम-  
 ग्राहकेण सदृशो नामाङ्कितं पुस्तकं । तीर्थस्वाश्च स्वक्रीयपत्रनिचये  
 संलिख्यते नाम च ॥ यात्रार्थं च जनाः प्रयान्ति नितरां तेषां यथा  
 यत्नतस्तद्वज्रैर्मतावलम्बनपराः कुर्वन्ति कुत्सान्विताः ॥ ९५ ॥ कठोरा-  
 लिकायाश्च निन्दास्पर्शायाः, प्रवृत्तेश्च सञ्जायते कुग्रहत्वम् । ममत्वान्य-  
 कारेण संछादनं स्यात्तथा रागद्वेषादिकस्थानमेतत् ॥ ९६ ॥ सम्यक्त्व-  
 संयुक्तवर्ते च सम्यक् मन्दलमायातमितो विचिन्त्यम् । मदीयसम्यक्त्वव-  
 लस्य मूलं, संछिद्यते कुत्सिक्रया च रीत्या ॥ ९७ ॥ अतोऽस्य रोगस्य  
 चिकित्सकत्वं, कर्तव्यमेवं कुग्रथाप्रणाशः । तदैकदेशस्य मलं विभाय,  
 धर्मं भयङ्कारि च राजयक्ष्मा ॥ ९८ ॥ रोगो यथोत्पन्नतया करोति,  
 विकारतामात्मवृत्तीयकेऽन्तः । महाननर्धो भवतीति श्रेयं, गृहस्वरागा-  
 त्मकृद्दृष्टिभावः ॥ ९९ ॥ विधाय दीपं परितः करोति, तथाऽनिशं  
 मुत्तलिकेव दृष्ट्वा । सन्नर्तयन्त्यत्र विवर्द्धनं च, वैषम्यभावस्य निरास्य  
 योगिन् ॥ १०० ॥ स्वकीयज्ञातस्य महाधिकारं, सद्योऽप्यथैव स्वयं च  
 सम्पृह । त्वदीयजातेन निशन्ति लोकाः, सुतश्च लोके प्रविशेक-  
 बुद्ध्या ॥ १०१ ॥ जानन्ति सर्वे च वरावरं वा, विचारसारस्य  
 करोति भावम् । धावन्ति ते ज्ञान्यं परम्परातो, दूरं परं क्रोशुमिव

मुञ्जाः, शृण्वन्तु, व्याख्यानमनन्यभावात् ॥ १३५ ॥ पद्माद्रिवन्तोऽपि  
 तुशासनं वरं, तन्वन्तु यत्नाच्च तंधोपदेशम् । कुर्वन्तु शृद्धिं च प्रशास-  
 नस्य, मुस्तागतं चापिः तथैव मुञ्जाः ॥ १३६ ॥ साध्यं सुखममेकमेव  
 मुनयः सर्वे मिलित्वा हृदा । स्वाचार्यं परिकल्पयन्तु मुषियं विषाच-  
 रित्रात्मकम् ॥ येन स्वाद्य समाजकोत्तितदशा शिक्षाविभगस्त च ।  
 तो चेद्बुद्धविपर्ययस्य समयो जातोऽवधार्यं बुधैः ॥ १३६ ॥  
 संस्थाप्या किल भारतस्य जनता पोते च संघात्मके । सिद्धास्यं नगरं  
 सुदारचरित्वा संस्थापयन्त्वाहिताः ॥ एतावत्करणेन याति भवतां पार-  
 त्रिकं चैहिकं । सर्वं कार्यमदभ्रमेव विपनासकं मनोहीयताम् ॥ १३७ ॥  
 स्वादर्शं च जगद्भवन्तमधुना जानातु चात्मा पुनर्त्यके नाम भवेत्तोऽ-  
 नुचिततं द्वात्मानुसन्धानतः ॥ एवं धर्मपरायणो यदि भवेत्ते स्वाद्य  
 कीर्तिः परा । तस्मात्संपविवर्धनाय भवतां स्वाधेत्वशुचिरशुभा ॥ १३८ ॥  
 [ अथ धर्माऽभ्यर्थना ] भवान् वीरपुत्रोऽस्ति शान्तात्ममूर्तिरहित्वा  
 तपस्यान्वितः सत्यप्राही । तथा ज्ञात्मनोऽत्यन्तरूढास्कोऽस्ति, पुनर्वी-  
 त्तसागानुद्धारं करोति ॥ १३९ ॥ नयनेन्दुसंस्फुरोऽरुके शतस्य, दिना-  
 पपित्तं कुरुते तपसाम् । अतश्चपसिभवरोऽस्ति लोकं, चोपाधि-  
 धार्यस्ति विचारणीयम् ॥ १४० ॥ स्वष्टुष्टतो विभक्तिर्दं, च उभयदं  
 न स्वल्पवर्तिर्न मेऽस्ति । स्वात्मानुभावोऽपि न साशुष्टेह, व्याख्यान-  
 दानेऽपि न मेऽस्ति शक्तिः ॥ १४१ ॥ मतिद्वयकानि न पालि  
 पिदान्, किन्त्वस्वबुद्धिद्वयं बालद्वोऽश्नु । सम्यक्त्वं, विदधानि  
 सेवां, तथाऽस्ति संप्रकृत्यभिलाषी ॥ १४२ ॥ एवादिहं वै विधी-  
 पोमि मन्दं, यतो यदि च्छत्रवयाऽनानम् । जातं तद्य विस्मृति-  
 परभक्ष्या हि शुभान्तरमावनात् ॥ १४३ ॥ एषा विधिपतिरु-

## शुद्धिपत्रम्



कृतेऽपि भूयस्त्रि संशोधनप्रयासे काश्चिदशुद्धयोऽवशिष्टा एवेति ताः कृपया  
अधोनिर्दिष्टसङ्केतानुसारं संशोध्यैव पठन्तु पाठयन्तु भव्यजनाः श्रावका मुनयश्चेति  
सविनयमभ्यर्थयतेऽयं लघुतमः पुष्पभिद्भुः ॥

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१६	११	जैनतरमतावलम्बी	जैनेतरमतावलम्बी
१९	५	०	अनन्तशक्ति
२१	१५	सम्यग्दर्शनका	सम्यग्दर्शनकी
२८	४	मेल	मेल
२७	२३	भावन	भावना
३९	५	निशंकसे	निःशंकसे
४८	११	नस्वर	नस्वर
"	२१	कार्माण	कार्मण
५२	२५	बुद्धिप्राक्तिने	बुद्धिशक्तिने
७३	१६	तेओ	ते
९०	११	कल्माषास्रवकारणम्	कल्मषास्रवकारणम्
९१	२२	पुरुषेष्वयि	पुरुषेष्वपि
१००	११	वहमी	वह भी
१००	२२	इनकि	इनकी
१०१	२	कि	की
१०३	२३	इत्यभिधानप्यशीपिका	इत्यभिधानप्यशीपिका
१०४	३	सबशदोंम	सब शब्दोंमें
"	२५	सेठ्ठे	सेठ्ठं
१०६	५	तेन	तेने
१०९	१०	धुनीका मताः	धुनिकाः



(३) उच्च कर्ममलके कारण इस जीवको नाना योनियोंमें अनेक उद्भूत भोगने पडते हैं और उसीके नष्ट हो जानेपर यह जीव अनन्तज्ञान-अनन्त-दर्शन-अनन्तसुख और अनन्तशक्ति आदिको जो कि इसकी निजी सम्पत्ति है और जिसे मुक्ति कहते हैं वह प्राप्त करता है ।

(४) निराकुलता लक्षणयुक्त मोक्ष मुख्यकी प्राप्ति इस जीवके अपने निजी पुरुषार्थके अधिकारमें है किसीके पास मांगनेसे नहीं मिलता ।

(५) पदार्थोंके स्वरूपका यह सत्य ध्यान [Right belief] सत्य-ज्ञान [Right knowledge] और सत्य आचरण [Right conduct] ही यथार्थमें मोक्षका साधन है ।

(६) वस्तुमें अनन्त धर्मोत्पत्ति है, त्यागही उनके प्रत्येक धर्मका सत्यतासे प्रतिपादन करता है ।

(७) सत्य आचरणमें निम्नलिखित बातें गर्भित हैं, यथा—

[क] जीव मात्र पर दया करना, कभी किसीको घरीरसे कष्ट न देना, बचनसे गुण न कहना, और मनसे गुण न विचारना ।

[ख] क्रोध-मान-माया-लोभ और मादर-भ्रादि कषायभावसे आरनाको मठिन न होने देना, उधे इनके प्रतिपक्षी गुणोंसे सदा पवित्र रक्षना ।

[ग] इन्द्रियों और मनको बन्ध करना एवं बाह्य संसारमें छिन्न न होना ।

[घ] उत्तम धर्मा-विलोम-सरलता-मृदुलता-त्यज-धीर-संयम-उप-त्याग-ज्ञान यज्ञवर्मादि सशुभ्रतमक धर्मको धारण करना ।

[च] सत्य-चोटी-कुडीर आदि निन्द्य कर्मोंसे ग्यभि करना ।

(८) यह संसार स्वयं सिद्ध अर्थात् अनादि अनन्त है, इसका कर्ता हता कोई नहीं है ।

(९) आत्मा [soul] और परमात्मा [God] में केवल विभाव और स्वभावका विशेष है । जो आत्मा रागद्वेषरूप विभाव को छोड़कर निज स्वभावरूप हो जाता है उधे ही परमात्मा कहते हैं ।

(१०) मन्वन्तीच-मृत-अष्टवद्य विभार मनुष्यका निजका किना हुआ विचार है वेधे मनुष्यमात्रमें शक्य-वैद उधे भी नहीं है ।

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४०	१८७	हि	च
२९२	१२१	धम्मः	धम्मं
२९४	१३७	जिबः	जीवः
२९६	१२	निजाः	निजां
"	१९	नक्ष्यति	नक्ष्यति
२९९	३०	समस्येद्वा	समस्येतद्वा
३०५	४	ऽश्रासि	ऽश्राति
३१३	२४	दश्यते	दर्श्यते
३१४	२०	चेतना	चेतना
३१७	१७	स्वसन्	ध्वसन्
३२०	१८	मस्युते	मस्युते
"	२२	ऐसा	ऐसे
३२९	२५	दीनानां	दीनोंध
"	२८	चलते	चलति
३३०	२७	धैदं	धेदं
"	२९	संकटान्	संकटान्
३३१	१२	तेतिवि	तेनेति
३३६	९	प्रयागमण्डल	प्रयागमण्डले
३४१	१९	निषेवनम्	निषेसनम्
३४७	२९	मादिनियमादि	यमादिद्वानां वि.
३४८	२८	जनोषू	जनैरू
३५३	१४	न भवयोगवित्तमम्	न भवेयोगवित्तनः
३६९	२५	तदक्षस्त्राधुना गुरोः	रक्षमामधुना गुरोः
३७०	९	जयञ्जल्यम्भोधे	जगञ्जल्यम्भोधेः
"	१९	पुष्पाञ्जलि	पुष्पाञ्जलिः
३७१	२१	विरदार	विरदार

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३७२	२२	आपना	अपना
”	२५	अन्यत्वता	अन्यत्व
३७३	३	एकत्वता	एकत्व
३८१	९	तदः	तद्
३८४	११	बोधार्त्तिकी	बोधात्मिका
३८७	२१	कथितप्रबन्धो	कथितप्रबन्धो
३९९	६	दीयतेऽय	दीयते यद्

गच्छतः स्खलनं ह्यापि, भवत्येव प्रमादतः ।

हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सञ्जनाः ॥

विवृतिकारः

### दानी पुरुषोक्ती नामावली

१००) शे० जगजीवन महाता, मु० शरिया, १००) शेठ मानक्यन्व  
महावीरप्रसाद, मुपुत्र शेठ ज्वालाप्रसादजी राजा बहादुर कलकत्ता, १००)  
शे० शिवलाल पोपट संघवी, शरिया, २००) शे० मनोहरलाल जैन, कान-  
पुर, २०) शे० अमरचंद नाहर, कलकत्ता, २०) शे० सुजानमल पन्नालाल  
कलकत्ता, २०) शे० गोपीचंद हीरावत कलकत्ता, ११॥) शे० चांदमल  
गुप्त कलकत्ता, १३) शे० मुंदरलाल सारड कलकत्ता १५) शे० रतन-  
दासजी पदलिया कलकत्ता, ७) शे० मांगीलाल बोरडिया सरघाड.

पुस्तकें मिलनेका पता—

मन्त्री-ज्ञातपुत्र महावीर जैनसंघ,

मु०, पो०, पाटोदी, [ स्टेट ]

वि० गुडगाँव, ( पंजाब ) :